गीता का व्यवहार-दर्शन

PRACTICAL PHILOSOPHY OF THE GITA.

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों के व्यावहारिक अर्थ
स्पष्टीकरण सहित
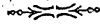
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(गी० अ० २ श्लो० ४८)
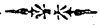
लेखक और प्रकाशक—
राव बहादुर सेठ गोवर्धनदास जी मोहता, ओ० बी० ई०
का आत्मज
रामगोपाल मोहता
कराची और बीकानेर.

तीसरा संस्करण १०,०००
मार्च १९३९

मूल्य ।।।) बारह आना
डाक-व्यय सहित ॥)

एक साथ अधिक पुस्तकें मंगाने पर रियायत दी जायगी ।
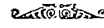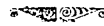
॥ ओम् तत् सत् ॥

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता पर इतनी टीकाएँ हैं जितनी कि अन्य किसी भी ग्रन्थ की शायद ही होंगी; परन्तु इसकी व्यावहारिक टीकाएँ बहुत कम हैं, और सर्वसाधारण के समझने योग्य सुगम व्यावहारिक टीका की तो बहुत ही आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए "गीता का व्यवहार-दर्शन" लिखने का विचार किया गया। परन्तु इस महान् कार्य में सफलता प्राप्त होने में बहुत ही संदेह था; इसलिए पहले इसके चार अध्यायों की टीका लिखकर प्रथम भाग के रूपमें प्रकाशित हुई। उसको सर्व-साधारण ने बहुत पसन्द की और सारी गीता का व्यावहारिक अर्थ लिखकर प्रकाशित करने की प्रेरणा की। तब, सबके आत्मा = परमात्मा के व्यक्त स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के इन वाक्यों का आश्रय लेकर कि,—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

"गीता का व्यवहार-दर्शन" सम्पूर्ण लिखकर प्रकाशित किया गया; और बड़ी ही प्रसन्नता की बात है कि विश्व-रूप-धारी भगवान् श्रीकृष्ण का इस तरह पूजन करने का, लोकनायक अणे महोदय के शब्दों में, 'Reward' अर्थात् पुरस्कार भी तुरन्त ही मिल गया। जनता-जनार्दन ने एक ही साल में पहला और दूसरा संस्करण सारा ही उठा लिया और प्रचुर संख्या में प्रशंसा-पत्र प्राप्त हुए, जिनमें अनेक ऐसे महानुभावों के थे जिनसे आशा नहीं की जा सकती थी। इस बात से हृदय बड़ा ही प्रफुल्लित हो रहा है कि इस देश के लोग अपनी प्यारी आर्य-संस्कृति का सच्चा स्वरूप जानने और व्यावहारिक वेदान्त के सर्वोच्च सिद्धान्त को समझने के लिए इतनी उत्सुकता दिखा रहे हैं, और धार्मिक एवं सामाजिक जागृति के चिन्ह सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं। "गीता का व्यवहार-दर्शन" के पहले और दूसरे संस्करण को आशातीत सफलता प्राप्त होने से उत्साहित होकर, इस तीसरे संस्करण की दस हज़ार प्रतियाँ छपाई गई हैं और कागज, छपाई आदि के लिए बारह आना कीमत रखी गई है। आशा है कि जनता-रूपी जगदीश्वर को यह प्रेम-पूर्ण भेंट भी पहले की तरह ही स्वीकार होगी।

इस पुस्तक का इतना आदर होने में एक प्रधान कारण लोकनायक माधव श्रीहरि अणे महोदय की कृपा है, जिन्होंने बड़े परिश्रम से गंभीर विचार एवं विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन लिख कर इस पुस्तक का महत्त्व बढ़ाया। इसलिए उनके प्रति फिर से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यदि कोई सज्जन इस पुस्तक को इसी रूप में अथवा अन्य भाषाओं में अनुवाद करके प्रकाशित करना चाहें, तो लेखक को पूर्व सूचना देकर कर सकते हैं।

बीकानेर, मिती फागुन बदी १० सं० १९९५
तारीख १३-२-३९ मंगलवार

विनीत—
रामगोपाल मोहता

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
Foreword (प्राक्कथन)	i-viii
उपोद्घात	१-२६
व्यावहारिक वेदान्त	२७-७०
गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका	७१-८६
पहला अध्याय:—	
श्लो० १ अर्थ	८७
,, २-११ ,,	८७-८९
,, १२-१९ ,,	८९-९०
,, २०-२३ ,,	९०
,, २४-४६ ,,	९०-९४
स्पष्टीकरण	९४-९५
,, ४७ ,,	९५
उपसंहार	९५-९६
दूसरा अध्याय:—	
श्लो० १ अर्थ	९७
,, २-३ ,,	९७
,, ४-८ ,,	९७-९८
,, ९-१० ,,	९९
स्पष्टीकरण	९९-१०२
,, ११-२१ अर्थ	१०२-१०४
स्पष्टीकरण	१०४-११०
,, २२ अर्थ	११०
स्पष्टीकरण	११०
,, २३-२५ अर्थ	११०-१११
स्पष्टीकरण	१११
श्लो० २६-२८ अर्थ	१११-११२
स्पष्टीकरण	११२-११३
,, २९ अर्थ	११३
स्पष्टीकरण	११३-११४
,, ३० अर्थ	११४
स्पष्टीकरण	११४
,, ३१-३८ अर्थ	११४-११६
स्पष्टीकरण	११६-११७
,, ३९-४० अर्थ	११७-११९
स्पष्टीकरण	११९-१२०
,, ४१-४४ अर्थ	१२०-१२१
,, ४५-४६ अर्थ	१२१-१२२
स्पष्टीकरण	१२२-१२४
,, ४७-४८ अर्थ	१२४-१२५
स्पष्टीकरण	१२५-१२९
,, ४९-५१ अर्थ	१२९-१३०
स्पष्टीकरण	१३०-१३१
,, ५२-५३ अर्थ	१३१
स्पष्टीकरण	१३१-१३२
,, ५४-६८ अर्थ	१३२-१३५
स्पष्टीकरण	१३६-१३९
,, ६९-७२ अर्थ	१३९-१४०
स्पष्टीकरण	१४०-१४३
तीसरा अध्याय—	
भूमिका	१४४
श्लो० १-२ अर्थ	१४४

विषय	पृष्ठ
श्लो० ३-३० अर्थ	१४४-१५२
स्पष्टीकरण	१५२-१६१
,, ६१-३५ अर्थ	१६१-१६२
स्पष्टीकरण	१६२-१६७
,, ३६-४३ अर्थ	१६७-१६९
स्पष्टीकरण	१६९-१७२
चौथा अध्याय:—	
श्लो० १-३ अर्थ	१७३
स्पष्टीकरण	१७३-१७५
,, ४-१५ अर्थ	१७५-१७९
स्पष्टीकरण	१७९-१८६
,, ६-२४ अर्थ	१८६-१९०
स्पष्टीकरण	१९०-१९९
२५-३० अर्थ	१९९-२०१
,, ३१-४२ अर्थ	२०१-२०५
स्पष्टीकरण	२०५-२०९
पांचवाँ अध्याय:—	
भूमिका	२१०-२११
श्लो० १-१७ अर्थ	२११-२१८
स्पष्टीकरण	२१९-२२६
,, १८-२६ अर्थ	२२६-२३०
स्पष्टीकरण	२३०-२५४
,, २७-२९ अर्थ	२५४-२५६
छठा अध्याय:—	
भूमिका	२५७
श्लो० १-६ अर्थ	२५७-२६०
स्पष्टीकरण	२६०-२६३
,, ७-९ अर्थ	२६३-२६४
स्पष्टीकरण	२६४-२६६
,, १०-३२ अर्थ	२६७-२७२
स्पष्टीकरण	२७२-२७५
,, ३३-४७ अर्थ	२७५-२७९
स्पष्टीकरण	२७९-२८२
सातवाँ अध्याय:—	
भूमिका	२८३-२८४
श्लो० १-३० अर्थ	२८४-२९५
स्पष्टीकरण	२९५-३०३
आठवाँ अध्याय:—	
भूमिका	३०४
श्लो० १-२२ अर्थ	३०४-३०९
स्पष्टीकरण	३०९-३१४
,, २३-२८ अर्थ	३१४-३१५
स्पष्टीकरण	३१५-३१६
नवमाँ अध्याय:—	
भूमिका	३१७
श्लो० १-३ अर्थ	३१७-३१८
स्पष्टीकरण	३१८-३२१
,, ४-१० अर्थ	३२१-३२४
स्पष्टीकरण	३२४-३२७
,, ११-२५ अर्थ	३२७-३३३
स्पष्टीकरण	३३३-३३६
,, २६-३४ अर्थ	३३७-३४३
स्पष्टीकरण	३४३-३४७
दसवाँ अध्याय:—	
भूमिका	३४८
श्लो० १-१८ अर्थ	३४८-३५२
स्पष्टीकरण	३५२-३५४
,, १९-४२ अर्थ	३५४-३५८
स्पष्टीकरण	३५८-३६१

विषय	पृष्ठ
ग्यारहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	३६२
श्लो० १-१४ अर्थ	३६२-३६५
स्पष्टीकरण	
,, १५-३४ अर्थ	३६६-३७२
स्पष्टीकरण	३७२-३७३
,, ३५-५४ अर्थ	३७३-३७६
स्पष्टीकरण	३७६-३८३
,, ५५ अर्थ	३८३-३८४
बारहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	३८५
श्लो० १-१२ अर्थ	३८५-३८६
स्पष्टीकरण	३८६-३९०
,, १३-२० अर्थ	३९०-३९५
स्पष्टीकरण	३९६-४२०
तेरहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	४२१
श्लोक १-१८ अर्थ	४२१-४२८
स्पष्टीकरण	४२८-४३१
,, १९-२३ अर्थ	४३१-४३३
,, २४-३४ अर्थ	४३३-४३७
स्पष्टीकरण	४३७-४४१
चौदहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	४४२
श्लो० १-२७ अर्थ	४४२-४४९
स्पष्टीकरण	४४९-४५२
पन्द्रहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	४५३
श्लो० १-६ अर्थ	४५३-४५६
स्पष्टीकरण	४५६-४५७
,, ७-२० अर्थ	४५७-४६१
स्पष्टीकरण	४६१-४६३

विषय	पृष्ठ
सोलहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	४६४-४६५
श्लो० १-५ अर्थ	४६५-४६७
स्पष्टीकरण	४६७-४७५
,, ६-२० अर्थ	४७५-४८१
,, २१-२४ अर्थ	४८१-४८३
स्पष्टीकरण	४८३-४९२
सत्रहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	४९३-४९४
श्लो० १-६ अर्थ	४९४-४९५
स्पष्टीकरण	४९६-४९७
,, ७-१० अर्थ	४९७-४९८
स्पष्टीकरण	४९८-५
,, ११-१३ अर्थ	५०१-
स्पष्टीकरण	५०२-५०३
,, १४-१९ अर्थ	५०३-५०५
स्पष्टीकरण	५०५-५०६
,, २०-२२ अर्थ	५०७-५०८
स्पष्टीकरण	५०८-५११
,, २३-२८ अर्थ	५११-५१३
स्पष्टीकरण	५१३-५१४
अठारहवाँ अध्याय:—	
भूमिका	५१५
श्लो० १-१२ अर्थ	५१६-५१९
,, १३-१७ अर्थ	५१९-५२१
,, १८-२५ अर्थ	५२१-५२७
,, २६-३९ अर्थ	५२७-५२९
,, ४०-६३ अर्थ	५२९-५३९
,, ६४-६६ अर्थ	५३९-५४२
स्पष्टीकरण	५४२-५४६
,, ६७-७८ अर्थ	५४६-५४९

"व्यवहार-दर्शन" की अधिक प्रतियाँ मंगाने पर उचित रियायत दी जाती है। इससे डाक-खर्च भी बच जाता है, क्योंकि अधिक प्रतियाँ रेल से भेजी जा सकती हैं, जिसमें डाक की अपेक्षा खर्च कम पड़ता है। कुछ मित्र मिल कर पुस्तकें मगावें तो इस रियायत से लाभ उठा सकते हैं।

इसी प्रकार 'गीता-विज्ञान' की रियायत से भी लाभ उठाया जा सकता है।

पुस्तक-विक्रेताओं एवं एजेण्टों को भी यह रियायत दी जाती है।

FOREWORD

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

—गीतामाहात्म्यम्.

Shri Ram Gopal Mohta, the author of this interesting and important work deserves to be congratulated on having succeeded in completing the writing of this lucid and luminous commentary in Hindi on Shrimat Bhagwatgita. He is a well known figure in the field of banking, trade and commerce. But he has succeeded equally well or in one sense even better in carving out a place of honour for himself in the republic of letters. His two previously published works सात्विक जीवन and दैवी सम्पद् have been received with great appreciation by the Hindi reading public and I have no doubt that the present work गीता का व्यवहार-दर्शन will add one more feather to his crown of glory and secure to him a high place in the devotees of learning in general and Hindi literature in particular.

Combination of wealth and learning owing to its rarity, has from times immemorial excited the admiration of great poets and philosophers both in the East and the West. Wealth and Wisdom seldom go together. But when they do, it invariably commands appreciation and respect. The great Kalidas of immortal fame seems to me to have paid his silent tribute to one in whom Shri Laxmi, the Goddess of wealth, and Saraswati, the Goddess of learning are found to live in harmony forgetting their proverbial and traditional antagonism in the following quoted lines:—

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थं यस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।

Shri Ram Gopalji, I am convinced on the careful perusal of the important portions of this great work, certainly belongs to the small group of fortunate souls who, simultaneously

enjoyed the blessings and boons of both, लक्ष्मी and सरस्वती.

It is needless for me to say anything relating to the importance of the study of Bhagwatgita, the immortal celestial song of Mahabharat. It has been the one book of solace to every Indian who turned to it for help and guidance. It has never failed one who approached it for light whenever the frail human intellectual vision is blurred or completely obscured by the clouds of doubt and distrust. A careful and conscientious study of Bhagwatgita is simply indispensable to the person who aspires to understand the principles of philosophy preached and practised by the Vedic Sages and their disciples for the last four thousand years and more.

This gem serene of Indian philosophy attracted the notice of the Western orientalists soon after the West came in close contact with the East. It is translated in almost all the civilised or even semi-civilised languages of the world. Probably Bhagwatgita will rank only next to the Holy Bible in its multiform linguistic appearances. Missionary zeal has clothed the Bible even with the dress of the barbarian tongues which can have no place whatsoever in the concourse of literary languages of the world. The Gita has now a recognized place in the study of philosophy in a number of Western and American seats of learning. It has appealed equally to the intellect and imagination of those who have taken pains to study it. Gita classes opened by some Hindu Sanskrit scholars even in the very heart of London were attracting large number of students from all classes of people. Thus the message of the Lord contained in the Gita has been exercising its spiritualising influence among those who are pre-eminently engaged in the pursuit of, what Gita would describe as Asuri-Sampat and who were thus precipitately plunging themselves and also drawing with them the human civilisation headlong into the "devil's den". Redemption of a virile section of humanity from this path of error is a sacred duty of those who have been blessed with the custody of the keys with which the gates of the heaven of Universal peace, Universal love and Universal brotherhood can be opened. Lord assures in Bhagwatgita every erring soul :—

III

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (गी० अ० १८ श्लो० ६६).

The key of Universal redemption is carefully deposited by Him in the celestial discourse commonly known as गीता. It has been regarded by the Indians as the quintessence of the Wisdom of the Vedic Sages to whom true knowledge of cosmic order, divine harmoney and enternal laws was revealed in the form of Vedas and Upanishads. It was but natural that this Holy Book should have been the subject of most profound thought of almost every philosopher of Bharatvarsha. The philosophical literature that has gathered round the seven hundred Verses of Bhagwatgita, is immense. All systems of philosophy and schools of thought derive their authority from Bhagwatgita, Upanishads and Brahmasutras of Badarayan Vyas which are collectively described as प्रस्थानत्रयी. If on the one hand the large number of Bhashyas and Tikas are an index of the spirit of veneration and respect felt by the Indian people for this unique book it has to be confessed on the other hand that it is not an unmixed blessing. This book of inspiration has suffered more from the display of intellectual subtlety of the Indian Scholars and Pandits than any other work in any other language may have ever been. At this pereneial fountain of Divine Wisdom every Indian philosopher has come to drink deep to quench his thirst for knowledge. But their expositious learned, erudite and critical, as they are, do not necessarily result in presenting to the readers any general rules of conduct on which they can rely for guidance in times of doubts and difficulties. The reason for this is not far to seek. These learned commentators after a careful and critical study of the Scriptures and Upanishads came to certain definite conclusions about the ultimate truths underlying the everchanging cosmic phenomena and the relation between the Creater and the created and then they began to look into the Bhagwatgita for substantial corroboration of the same. The metaphysical portion of the discourse in the Gita has thus assumed greater importance in their eyes and the bulk of the teachings of the Gita which primarily concerned itself more with the ethical than with the metaphysical problems was relegated to the secondary position.

IV

Roughly the numerous commentaries, glosses and explanatory notes on Bhagwatgita can be classified under three categories. Some of them stand for the path of renunciation संन्यास. Some for the path of devotion भक्तिमार्ग. Only a few advocate the gospel of action कर्ममार्ग. The Karmayogashastra better konwn as गीता-रहस्य by the late Lokmanya Bal Gangadhar Tilak is the most learned commentary that was ever written on Bhagwatgita to elucidate the principles of Action which are preached by the Lord in his discourse with Arjun. He had taken in that great work a synthetic view of all the chapters of Bhagwatgita and proved that the Lord's word was delivered to Arjun to rouse in him the sense of duty, spirit of action and not the spirit of renunciation. Arjun was suddenly overpowered with the spirit of renunciation at the sight of the army of the Kauravas and the generals and warriors who were moving prominently there. The great Lord who was then his charioteer began his discourse by censuring Arjun for having given himself up to this spirit of despair and despondency, and he ministered a very severe rebuke to him by sarcastically characterising his speech as प्रज्ञावाद. In fact, the whole argument which is developed with great skill in 18 Chapters, subsquently, has this condemnation of the spirit of renunciation as its starting point. Lord Shri Krishna says in the 18th Chapter of the गीता that the popular notion regarding *Sanyas* or renunciation is entirely erroneous. Real renunciation does not at all imply or involve cessation of activities which tend to the moral and spiritual uplift of man.

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

Gita stands for निष्कामकर्म as distinguished from काम्यकर्म Properly speaking काम्यकर्म ought to mean only those activities which are done with a sordid or sinister or selfish motive. The Lord Shri Krishna has been most explicit in insisting on the due and proper performance of duty prescribed for every body. The following verses lay down the doctrine of action in the most unambiguous and unequivocal terms :—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ (गी० अ० १८)

Having thus presented the two conflictng views on the performance of *Karma*, Bhagwan Shri Krishna asks Arjun to listen to his definite view in this matter:

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

Then He goes on to say:—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

Bhagwan Shri Krishna is most emphatic in His insistence on the performance of यज्ञ, दान, तप, and कर्म; and He states that as the most definite and correct view. Then again Bhagwan warns Arjun that there can be no abandonment of duty prescribed on any ground in the name of *Sanyas* or renuuciation:— नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

Running away from one's own duty on any pretext such as avarice, temptation or physical suffering has been condemned by Him as unworthy of the Man who aspires for his salvation. He who does the duty for cuty's sake without seeking any sordid advantage for himself and without any attachment to its' fruit is the idea man who is generally described as सात्विक in the गीता.

Quotations can be multiplied to prove that Bhagwatgita is a gospel of action and not of renunciation. Arjun, who at the outset declared his resolve not to fight, sat down overpowered with a sense of sorrow and shame, (न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह) assured Bhagwan Shri Krishna at the end of the discourse in the following words—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ६ ॥

Through your grace, Oh Achyuta! the unerring teacher of the Universe, my doubt is dispelled, my memory is refreshed and I stand entirely rid of indecision. I will carry out your behest.

It is impossible to conceive that the discourse which resulted in preparing the Great Hero to take his place of command at the head of the army to give his adversaries a decisive fight, can have any other message except one of action, for any body else.

Various problems such as attachment (आसक्ति), non-attachment (अनासक्ति). renouncement of fruit of *Karma* (कर्मफलत्याग), dedication to Deity (ब्रह्मार्पण) are frequently misunderstood and even misinterpreted by the readers of Bhagwatgita. Those who have not the time and the patience to pursue the subject in the monumental work of Lokmanya Tilk ' Gita-Rahasya ' will find the present गीता का व्यवहार-दर्शन of great help to them to properly understand the practical limits of these conditions and the precise connotation of these conceptions.

Similarly, the author has taken great pains in explaining in homely language entirely free from the technicalities of the Vedanta Shastra, the characteristic and essential features of the आत्मौपम्य condition which registers the high watermark of the spiritual evolution of any person according to Bhagwan Shri Krishna. The following verses in Chapter VI give us a clear conception of this ideal.

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितो यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

There can't be any conception of man's "*Summum bonum*" of life more comprehensive, more catholic and more cosmopolitan than this.

Bhagwatgita teaches the tenets that stand for all time and for all clime. They are as firmly rooted in the cosmic evolution as the original and homogeneous primeval element out of which the entire cosmos have budded forth and blossomed like a lotus holding within it the seeds of all knowledge and creation and culture and progress.

The knowledge of the principles of cosmic evolution is essential to those who desire to know the precise place of man in the creation, his relation to it and the creator and his ultimate destination. This knowledge properly grasped can enable him to keep himself in a proper frame of mind to contemplate on the entire Universe as nothing but an enlarged manifestation of the same Universal Power which moves and determines what he is. No proper sense of proportion can develop or grow unless the individual is able at one time or another to comprehend the whole, of which he appears to be an insignificant part or particle. This conception of totality is at the basis of the ideal conditions which the Gita calls by various names, such as आत्मौपम्यदृष्टि or समदृष्टि. It is not mere love for all, as some imagine, nor is it entirely a strict sense of justice that knows no discrimination. These ideas only help as to make an approximate approach to the realisation of that highly evolved conception which is spiritualism pure and unalloyed. The essence of that condition is the elimination of individual existence and its assimilation with the Universal existence. Love and justice presuppose separation and serve to maintain the distance between one being and the other. Conception of आत्मौपम्य annihilates dualism and establishes a state of monism, where action cannot, by its nature admit of any invidious distinction, as there is no second thing for it to distinguish it from the first. This is the doctrine of *Adwait* which the Philosophers on the banks of the Sapt-Sindhus have learnt and preached for thousands of years in the interest of peace and progress, not merely of man, not even of this terrestrial sphere but of the entire Universe which lives and moves and has its being in the Great Brahman, the first and the only cause of all that exists, grows and disappears. The Great Badarayan defines or rather describes it in the second

aphorism of Brahmasutra, "जन्माद्यस्य यतः".

The philosphy of Gita is to harmonise man's duties in the mundane sphere of worldly life with this highest ideal of cosmic conception. But as the cosmic conception is nothing but an unceasing and ceaseless flow of one action evolved out of another, so the man's real destiny is to play his part fearlessly and selflessly in the great drama of divine comedy that is being unfolded to one who has given his best thought to the teachings of the Upanishads and Bhagwatgita.

"Upanishads are the Cows and the Great Cow-herd-Boy of Gokul is the Milkman, Arjun of keen intellect is the favoured calf and the advice in the 'Gita' is the nectar milked."

The author has created in the form of गीता का व्यवहार-दर्शन a beautiful pot to hold some portion of that nectar for distribution among those who are ignorant and have no access to the difficult and lofty heights of the classical works on which the holy stream of spiritual knowledge was showered from above by one who is described by the Vedas as the Ocean of Kindness and Mercy.

I think that the author's labours will be amply rewarded by the public if they procure a copy of the book which he has decided to distribute gratis to anyone who wants it.

I desire to conclude this foreword after expressing my thanks to my friend Pandit Krishna Kanta Malaviya who introduced me to the author, also to Pandit Chintamani V. Shastri who was kind enough to read out and explain to me some of the important portions of this book.

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवाव है ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषाव है ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

YEOTMAL, (Berar).
17th October, 1937.
शालिवाहन शाके १८५९ आश्विन शुक्ला १२
रविवासरे.

Madheo Srihari Aney.
M.L.A. (Central).

गीता का व्यवहार-दर्शन

उपोद्घात

सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति सभी देहधारियों का ध्येय है। प्राणिमात्र की नाना प्रकार की चेष्टाओं का अन्तिम लक्ष्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होता है। पशु-पक्षियों में साधारणतया विचार-शक्ति का विकास नहीं होता, अतः वे केवल अपने शरीरों की तात्कालिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए ही उद्यम करते रहते हैं, और उस उद्यम में सफलता होगी कि नहीं, अथवा उसका विपरीत परिणाम तो नहीं हो जायगा अर्थात् उससे सुख के बदले उलटा दुःख तो न हो जायगा, इत्यादि बातों पर विचार करने की उनमें योग्यता नहीं होती।

मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में विचार-शक्ति का विकास होता है, अतः वह पशु-पक्षियों की तरह अन्धाधुन्ध उद्यम नहीं करता, किन्तु विवेक और दूरदर्शिता से काम लेता है। वह केवल अपने शरीर की तात्कालिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं करता, किन्तु शरीर के अतिरिक्त मानसिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करता रहता है, तथा इस लोक के भविष्य एवं परलोक पर दृष्टि रखता हुआ सुख-दुःख की मात्रा और परिणाम का भी विचार करता है। वह अपने शरीर के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब आदि के सुखों के लिए भी उद्यम करता है।

मनुष्यों में भी विचार-शक्ति के विकास की न्यूनाधिकता के अगणित दर्जे होते हैं और अपनी योग्यतानुसार दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए सब कोई निरन्तर उद्योग करते रहते हैं। कई लोग तो विशेषतया अपने ही शरीर और मन की इह-लौकिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए उद्योग करते हैं; कई अपने और अपने कुटुम्बियों एवं सम्बन्धियों आदि की इहलौकिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए

प्रयत्नशील रहते हैं; और कई भावुक लोग इहलौकिक सुखों को तुच्छ मान कर पारलौकिक सुखों के लिए—इस देह के सुखों की अवहेलना करके—अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करते हैं, अर्थात् मरने के बाद दूसरे जन्म में भौतिक सुखों की प्राप्ति, अथवा सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वर्गादि सुख भोगने, अथवा मुक्ति प्राप्त करने की कामना से जप, तप, पूजा, पाठ, व्रत, उपवास, तीर्थाटन, दान, पुण्य, हवन, अनुष्ठान आदि अनेक प्रकार के कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं और उनके लिए आवश्यक विधान किये हुए कठिन नियम पालन करने में हठपूर्वक सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि शारीरिक पीड़ाएँ, एवं राग, द्वेष, चिन्ता, भय, क्रोध आदि मानसिक कष्ट सहन करते हैं। परन्तु जिनकी बुद्धि अधिक विकसित हो जाती है, उनको दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निरर्थक प्रतीत होते हैं, क्योंकि वास्तव में न तो उनसे दुःखों की निवृत्ति होती है और न निरङ्कुश*, निरतिशय*, सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति ही। वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि शारीरिक एवं मानसिक सुख-दुःखादि द्वन्द्व (जोड़े) सब सापेक्ष एवं अन्योन्याश्रित (Relative and inter-dependent) होते हैं, अतः जितने अधिक सुख के साधन किये जाते हैं, उतना ही अधिक दुःख साथ ही उत्पन्न हो जाता है। प्रथम तो उन सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न में पहले ही से बहुत से कष्ट उठाने पड़ते हैं; फिर सुख प्राप्त होने पर उनके नाश होने का भय बना रहता है और साथ ही दूसरों के अधिक सुखों को देख-देख कर जलन होती रहती है; और सुख-भोग के पीछे, उसके परिणाम में दुःख अवश्य होता है। अतः वे सोचते हैं कि जिन स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के साथ दुःख निरन्तर लगा ही रहता है, वे दुःख-मिश्रित सुख, वास्तविक सुख कैसे हो सकते हैं; और मरने के बाद की जिस मुक्ति की प्राप्ति के लिए जीवन-काल में सारी आयु नाना प्रकार के नियमों और बन्धनों में बितानी पड़े वह सच्ची मुक्ति कैसे हो सकती है ? सच्चा सुख अथवा मुक्ति तो वह है कि जिसके लिए मरने की प्रतीक्षा न करनी पड़े, किन्तु जिसका अनुभव इसी शरीर में तुरन्त हो जाय, अर्थात् जीवन-काल ही में सब प्रकार के दुःखों और बन्धनों की निवृत्ति हो जाय। इसलिए वे लोग दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निष्फल समझ कर, दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और निरङ्कुश, निरतिशय, सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति किस तरह हो सकती है, इसका अचूक उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए, सुख-दुःख के यथार्थ स्वरूप, उनके मूल कारण और उनके नाना प्रकार के सम्बन्ध एवं प्रभाव आदि के विषय में गहरा अन्वेषण करते हैं। इस

---

*जिस सुख में पराधीनता अथवा परावलम्बन न हो, वह निरङ्कुश सुख कहलाता है; और जिस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख न हो, वह निरतिशय सुख कहा जाता है।

अन्वेषण के प्रसङ्ग में जब सारा जगत् ही सुख-दुःखमय प्रतीत होता है अर्थात् अपनी तरह सारी सृष्टि सुख-दुःख से ग्रसित दीखती है, तो यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती है कि यह जगत् क्या है ? मैं क्या हूँ ? जगत् से मेरा क्या सम्बन्ध है ? यह जगत् क्यों और किस तरह होता है, और इसका सञ्चालन कौन और किस प्रकार करता है ? इसमें नाना प्रकार के सुख-दुःख क्यों होते हैं ? इनके प्रभाव से रहित कोई हो सकता है कि नहीं, और यदि हो सकता है तो किस तरह ? इत्यादि । जब इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है तब इस विषय में सूक्ष्म—तात्त्विक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि किसी भी विषय के तात्त्विक विवेचन बिना उसकी असलियत का पता नहीं लगता और असलियत का पता लगे बिना उसका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता । अतः बुद्धिमान लोग अपने तथा जगत् के अस्तित्व और उससे सम्बन्धित विषयों पर तात्त्विक विचार करते हैं । इस तरह के सूक्ष्म तात्त्विक विचारों को दर्शन शास्त्र (Philosophy) कहते हैं; और उन तात्त्विक विचारों के आधार पर आचरण करने का विवेचन व्यवहार-दर्शन (Practical Philosophy) है ।

प्राचीन काल के आर्य लोगों ने दार्शनिक विषय में सबसे अधिक अनुसन्धान किया था और बुद्धि के तारतम्य के अनुसार उन लोगों ने विविध प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त निश्चित किये थे, जिनके बहुत से दर्शनशास्त्र बन गये थे । इस विषय में उत्त-रोत्तर उन्नति करते हुए वे लोग इस अन्तिम निश्चय पर पहुँचे कि नानाभावापन्न प्रतीत होनेवाला यह जगत् वस्तुतः एक ही सत्य, सनातन आत्मा के अनेक रूपों का बनाव है, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा अपनी इच्छा से अनेक भावों में व्य-क्त होकर जगत्-रूप होता है (कठोपनिषद् वल्ली ५ मन्त्र ९-१०; छान्दोग्य उप० प्रपाठक ६ खण्ड २) ; परन्तु उसका यह नाना रूपों का बनाव अर्थात् जगत् का नानात्व, निरन्तर परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-नाशवान् होने के कारण असत् यानी कल्पित है और उन नाना रूपों अर्थात् अनेकताओं के बनाव के अन्दर जो एकत्व-भाव है, वही सच्चिदानन्द सनातन आत्म-तत्त्व है और वह आत्म-तत्त्व सर्वव्यापक एवं सदा इकसार स्थायी रहने के कारण सत् है (ईशोपनिषद् मन्त्र ४-५; कठोपनिषद् वल्ली २-३) । साथ ही वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि इस भिन्नता के कल्पित बनाव को सच्च मानने की भूल में पड़ कर, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार युक्त तथ दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से राग-द्वेषपूर्वक, जगत् व्यवहार करने से नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं (कठोपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र १० ११); परन्तु इस अनेकता के बनाव को एक ही सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, सनात

आत्मा की इच्छा-शक्ति (प्रकृति) का प्रतिक्षण परिवर्तनशील खेल समझ कर, सर्वत्र एकता के निश्चयपूर्वक दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति के बिना, अर्थात् व्यक्तित्व के अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार के साथ और व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों के साथ जोड़ कर व्यवहार करने से दुःख का ज़रा भी अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, किन्तु संसार आनन्द-मय भान होता है (ईशोपनिषद् मन्त्र १-२ ; कठोपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र १५, वल्ली ५ मन्त्र १२-१३, वल्ली ६ मन्त्र १४-१५) ; और वह आनन्द सापेक्ष, सांकुश, दुःख परिणामवाला अथवा उत्पत्ति-विनाशवाला नहीं होता, क्योंकि वह आत्मज्ञान की समत्वबुद्धि से होता है। आत्मा स्वयं आनन्द-स्वरूप है। इसलिए उपरोक्त आत्मज्ञान-युक्त व्यवहार करने वाला जीवनमुक्त महापुरुष सदा आनन्द-स्वरूप होता है। यह वेदान्त सिद्धान्त है। (ईशोपनिषद् मन्त्र ६-७-८; कठोपनिषद् वल्ली ५ मन्त्र १२-१३)। प्राचीन काल में इसीको ब्रह्मविद्या कहते थे।

प्रत्येक संस्कृति के दो भाग होते हैं—एक उसका तत्त्वज्ञान और दूसरा उसका कर्मकाण्ड। तत्त्वज्ञान संस्कृति का जीवात्मा और कर्मकाण्ड उसका शरीर होता है। 'जगत् के नानात्व का बनाव असत् और सबका एकत्व-भाव सत्' यह निश्चय आर्य-संस्कृति (Hindu Culture) का तत्त्वज्ञान है, अतः यह सिद्धान्त आर्य-संस्कृति का सनातन जीवात्मा है; और इस सिद्धान्त के आधार पर आचरण करने के लिए देश, काल और व्यक्तियों की परिस्थिति एवं योग्यता के उपयुक्त जो ईश्वरोपासना एवं धार्मिक कर्मकाण्ड की व्यवस्थाएँ, सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएँ, और व्यक्तिगत आचरणों तथा सबके पृथक्-पृथक् कार्य-विभाग के नियम आदि, समय-समय पर बना कर उनके अनुसार सांसारिक व्यवहार किया जाता है, वह इस आर्य-संस्कृति का परिवर्तनशील शरीर है। जिस तरह शरीर परिवर्तनशील होने के कारण बदलता रहता है, किन्तु उसका आधार—अविनाशी आत्मा, अनेक शरीरों को धारण करता और छोड़ता हुआ भी ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी तरह ईश्वरोपासना एवं धार्मिक कर्मकाण्ड की व्यवस्थाएँ, विधि-निषेध* की सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएँ, व्यक्तिगत आचरण एवं कार्य-विभाग के नियम आदि, निरन्तर परिवर्तनशील देश,

---

* "अमुक-अमुक व्यवहार करने चाहिएँ" ऐसी अनुमति देने वाली व्यवस्थाएँ "विधि" कही जाती हैं और "अमुक-अमुक व्यवहार नहीं करने चाहिएँ" ऐसी मनाई करने वाली व्यवस्थाएँ "निषेध" कही जाती हैं।

काल और वस्तुरूप जगत् के नानात्व के खेल के अन्तर्गत होने के कारण परिवर्तनशील हैं; अतः देश, काल और व्यक्तियों की बदलती हुई परिस्थिति के साथ-साथ इनका भी बदलते रहना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य है। परन्तु इन सबका आधार—मूल सिद्धान्त सत्य एवं नित्य होने के कारण अपरिवर्तनशील है, अतः वह ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि मूल सिद्धान्त को भुलाकर अथवा उसकी उपेक्षा करके उसके स्थान में कर्मकाण्ड आदि को ही नित्य एवं अपरिवर्तनशील मान कर हठ और दुराग्रह से इन्हें न बदला जाय तो जीवात्मा के बिना जो शरीर की दुर्दशा होती है, वही दशा किसी भी संस्कृति अथवा धर्म की होनी स्वाभाविक, अतः अवश्यम्भावी है।

उपनिषद्-काल से लेकर महाभारत-काल से पूर्व तक, आर्य लोगों में उक्त वेदान्त-सिद्धान्तानुसार, ज्ञान* और विज्ञान* युक्त संसार के व्यवहार करने का भाव बना रहा, जिसके प्रसाद से यह देश सुख-समृद्धि से परिपूर्ण और हर प्रकार की उन्नति के शिखर पर आरूढ़ रहा। यह बात अवश्य है कि वेदान्त-सिद्धान्तानुसार यदि थोड़ा आचरण किया जाय तो उससे थोड़ा सुख होता है और अधिक आचरण करने से अधिक सुख होता है। अतः जिस समय यहां के लोग इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक आचरण करते थे, उस समय वे अधिक सुखी रहते थे और जब कम करते थे तब कम सुखी रहते थे।

किसी भी देश अथवा काल की जनता में साधारणतया आत्मविकास इतना उन्नत नहीं होता कि वह स्वयं सूक्ष्म दार्शनिक रहस्यों को अच्छी तरह समझ कर स्वतन्त्र रूप से उनके अनुसार यथोचित आचरण करती रहे; इसलिए वह सूक्ष्म-दर्शी तत्त्वज्ञानियों की बनाई हुई व्यवस्थाओं के अनुसार आचरण करे तभी उन्नत होती है। अतः पुराने ज़माने के आर्य ऋषि-महर्षि लोग आध्यात्मिक विचारों द्वारा, जनता के लिए आचरणीय व्यवस्थाएँ—देश, काल और व्यक्तियों की परिस्थिति एवं योग्यता के उपयुक्त—बना-बना कर लोगों को उनके अनुसार चलाते रहते थे, तथा आवश्यकतानुसार उन व्यवस्थाओं में समय-समय पर परिवर्तन भी करते रहते थे।

उस समय यहां के अधिकतर लोगों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा

---

* यहाँ ज्ञान से मतलब सबकी एकता के आत्मज्ञान से है, जो इन्द्रियों के अगोचर, केवल सात्विक बुद्धि का विषय है; और विज्ञान से मतलब जगत् के भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-गोचर भौतिक पदार्थों के तात्त्विक अनुसन्धान से है।

पारलौकिक कल्याण अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्ड से होने का विश्वास था और वे कर्मकाण्ड उस समय की परिस्थिति के अनुकूल भी थे। अतः उन आधिभौतिक कर्मकाण्डों का रिवाज़ इस देश में अधिक था; पर इन कर्मों में देवताओं को प्रसन्न करने का आधिदैविकभाव भी रहता था; और साथ ही साथ उन देवताओं को एक ही सर्वात्मा = परमात्मा की अनेक शक्तियां मानने और उनकी कृपा से समष्टि-हित के साथ-साथ अपने व्यष्टि-हित-साधन होने, तथा इन लोक-हितकर कार्यों से अन्तःकरण शुद्ध होकर व्यष्टि-समष्टि की एकता के अनुभव-रूपी आत्मज्ञान प्राप्त करने का आध्यात्मिक भाव भी रहता था। उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के उक्त आध्यात्मिक भाव का खुलासा करके उनकी आध्यात्मिकता स्पष्ट कर दी गई है (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० १ ब्रा० १–२)।

उपरोक्त कर्मकाण्ड के अतिरिक्त लोगोंके साधारण व्यवहार भी प्रायः आध्यात्मिक विचारों के आधार पर सबके साथ एकता के साम्य-भाव से किये जाने के वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में बहुतायत से पाये जाते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि जड़ पदार्थोंकी चेतन प्राणियों के साथ एकता, पशु-पक्षियों की मनुष्यों के साथ एकता, मनुष्यों की परस्पर तथा देवताओं के साथ एकता, पुरुषों की स्त्रियों के साथ एकता और ऊँच की नीच के साथ एकता के भावयुक्त व्यवहारों के अगणित आध्यात्मिक वर्णन उपनिषदों, पुराणों और इतिहासों में भरे पड़े हैं।

उस समय विश्व की एकता के भाव इस देश के लोगों में यहां तक बढ़े हुए थे कि वराह, नृसिंह, हयग्रीव, मच्छ, कच्छ, हंस, शेष आदि पशु-पक्षियों के रूप में भी ईश्वरावतार होना माना जाता था।

यद्यपि उस ज़माने में आर्य लोग, व्यवहार में आध्यात्मिकता*, आधिदैविकता* और आधिभौतिकता*—तीनों का यथायोग्य उपयोग करते हुए उन सबको यथोचित महत्त्व देते थे, परन्तु आध्यात्मिकता की अपेक्षा आधिदैविकता और आधिभौतिकता को विशेष महत्त्व नहीं देते थे, अर्थात् आधिदैविक और आधिभौतिक सुखों के लिए आध्यात्मिक भावों की अवहेलना कदापि नहीं करते थे। यद्यपि वे स्थूल शरीर और उसकी पुष्टि के साधन—भोग्य पदार्थों—एवं इहलौकिक तथा पारलौकिक मानसिक सुखों के साधनों को निरर्थक समझ कर उनसे घृणा नहीं

---

* आधिभौतिकता, आधिदैविकता और आध्यात्मिकता का स्पष्टीकरण आगे के प्रकरण में देखिए।

करते थे—इतना ही नहीं, किन्तु उस समय यह देश भौतिक उन्नति में बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। प्राचीन ग्रन्थों में भौतिक उन्नति के वर्णन वर्तमान में चकाचौंध उत्पन्न करने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों से टक्कर लेते हैं, तथापि आध्यात्मिक-भाव से शून्य भौतिक उन्नति उस समय बहुत ही गर्हित और विनाशकारी आसुरी सम्पत्ति समझी जाती थी; और जब कोई शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाला अथवा मानसिक व्यवहार अथवा इहलौकिक या पारलौकिक सुखों के साधन की कोई क्रिया, आध्यात्मिकता के विरुद्ध पड़ती थी, तो शरीर या शरीरसम्बन्धी पदार्थों की तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक सुखों की कोई परवाह नहीं की जाती थी। इतना ही नहीं किन्तु आध्यात्मिकता से रहित केवल आधिभौतिक सुख एवं ऐश्वर्य में ही लीन रहने वाले लोग असुर कहलाते थे। आत्मिक उन्नति के लिए किसी के शरीर का चला जाना, अथवा किसीको शारीरिक एवं मानसिक कष्ट होना, या लौकिक दृष्टि से किसी व्यक्ति का पतन हो जाना, अथवा पारलौकिक सुखों में बाधा पहुँचना आदि बातों को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जाता था। सारांश यह कि उस समय यहाँ के लोग स्थूल शरीरों के व्यवहारों को इतना महत्त्व नहीं देते थे जितना कि इस समय के लोग देते हैं। वे कर्त्ता के भाव और कर्मों से होने वाले वास्तविक एवं सार्वजनिक हिताहित के विचार को अधिक महत्त्व देते थे, और आध्यात्मिक भाव से किये हुए कर्म, यदि साधारण लोगों की दृष्टि में कभी बुरे भी प्रतीत होते थे, तो भी सूक्ष्मदर्शी महात्मा लोग उन कर्मों की नैतिकता जनता को समझा दिया करते थे।

उपरोक्त ब्रह्मविद्या के आधार पर स्थापित आर्य-संस्कृति उस समय, प्रतिक्षण परिवर्तनशील स्थूल शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, वर्ण-भेद, सम्प्रदाय-भेद आदि से उत्पन्न होने वाली उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देती थी जितना कि वर्तमान में दिया जाता है; किन्तु जिसकी जैसी योग्यता होती थी, उसके साथ वैसा ही सर्वभूतात्मैक्य-भावयुक्त समता का व्यवहार करना आर्य-संस्कृति का सर्वोपरि सिद्धान्त था; और जो कोई इस सिद्धान्त के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से आचरण करता, वही आर्य (श्रेष्ठ) माना जाता था। इस ब्रह्मविद्या अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त के प्रसाद ही से, आर्य-संस्कृति के बाह्य-रूप (कर्मकाण्ड आदि) की अवहेलना करने वाले अनार्य लोग भी, आध्यात्मिक सिद्धान्तानुसार आचरण करने पर आर्यों में सम्मिलित हो जाते थे। आसुरी कर्म करने वाले दैत्यों से साधारणतया परहेज रखने पर भी दैत्य-कुलोत्पन्न भक्त प्रह्लाद, ब्रह्म-विद्या का अवलम्बन करने से भक्त-शिरोमणि माना जाकर अब तक पूजा जाता है, और दैत्यराज बलि के द्वार पर विष्णु भगवान् के पहरा देने का विश्वास अब भी प्रचलित है।

अनेक अनार्य-जातियों के आर्य हो जाने के बहुत से इतिहास प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन काल में आर्य लोगों की व्यावहारिक व्यवस्थाएँ वर्तमान की तरह सङ्कुचित नहीं थीं, किन्तु अत्यन्त उदार थीं। माता-पिता के गुण सन्तान में आने की अधिक सम्भावना के कारण तथा उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त होने के कारण वर्णव्यवस्था में जन्म को अधिक महत्त्व देने पर भी कार्य-विभाग गुणों के अनुसार ही होता था। क्षत्रिय राजा मनु का रचा हुआ धर्म-शास्त्र ब्राह्मण ऋषि-महर्षियों को मान्य था और अब तक है। शुकदेव आदि मुनियों ने राजा जनक आदि क्षत्रियों से ब्रह्मज्ञान का उपदेश लिया। तुलाधार वैश्य से जाजलि ऋषि ने ज्ञान प्राप्त किया। शूद्र सूत से ब्राह्मण ऋषियों ने महाभारत और पुराणों की कथाओं का उपदेश सुना। धर्मव्याध चाण्डाल से तपस्वी कौशिक ब्राह्मण ने धर्म का उपदेश ग्रहण किया। व्याध वाल्मीकि, रामायण के रचयिता आदि-कवि हुए। धनुर्विद्या के आचार्य ब्राह्मण द्रोणाचार्य, क्षत्रिय सेना के प्रधान सेनापति हुए। राजर्षि ययाति ने दैत्य-कन्या शर्मिष्ठा और ब्राह्मण-कन्या देवयानी से एक साथ विवाह किया और उनकी सन्तानों में कोई अन्तर नहीं रहा। अर्जुन द्वारा नाग-कन्या उलूपी से और भीम द्वारा राक्षस-कन्या हिडिम्बा से उत्पन्न सन्तानों ने क्षत्रियों के युद्ध में बराबर भाग लिया। निषाद, भीलनी, व्याध, चाण्डाल और पशु-पक्षी आदि पाप-योनि कहलाने वालों से भी भेद-भाव न रख कर, उनको प्रेमपूर्वक अपनाने की, परमात्मा के अवतारों की कीर्ति, शास्त्रों तथा स्तोत्रों में विशेष रूप से गाई जाती है और भगवान् का "पतितपावन" विशेषण अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

स्त्रियों के भौतिक अधिकार, उस समय की परिस्थिति के अनुसार, साधारणतया पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत ही कम रख कर भी उनका आदर पुरुषों से अधिक किया जाता था। देवी की पूजा ईश्वर और देवताओं के बराबर अब तक की जाती है। देवी गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा, अनसूया आदि विदुषी ब्रह्मवेत्रियां बड़े-बड़े ऋषियों से ब्रह्मविद्या के विषय में शास्त्रार्थ किया करती थीं। परमात्मा के अवतार राम की उपासना सीता के साथ, कृष्ण की राधा के साथ और शङ्कर की उमा के साथ होती है। सतीत्व-हरण किये जाने वाली अहिल्या, पुनर्विवाह करने वाली तारा और मन्दोदरी, कुमारी अवस्था में सन्तान उत्पन्न करने वाली कुन्ती और पाँच पतियों की भार्या द्रौपदी—ये पञ्च-कन्याएँ मानी गईं, जिनका प्रातःस्मरण करना बड़ा पुण्य समझा जाता है। धीमर की कन्या योजनगन्धा कुमारी अवस्था ही में महर्षि पराशर के सहवास से भगवान् वेदव्यास जैसे ईश्वरावतार को गर्भ में धारण करने योग्य समझी

गई और फिर वह भारत-सम्राट् महाराजा शान्तनु की पटरानी हुई और उसकी सन्तान, नियोग से उत्पन्न, धृतराष्ट्र एवं पाण्डु तथा उनके पुत्र, धर्म के अवतार युधिष्ठिर आदि कौरव-पाण्डव, चन्द्रवंशी क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वगुण-सम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट् हुए, जिनकी महिमा विश्व में अब तक गाई जाती है। माता का स्थान पिता से प्रथम और अधिक सम्माननीय माना जाता था। भगवान् रामचन्द्र जी का "कौशल्यानन्दन", कृष्ण महाराज का "यशोदानन्दन" व "देवकीनन्दन", इसी तरह पाण्डवों का "कुन्तीपुत्र", "कौन्तेय" या "पार्थ" आदि माताओं के नाम से सम्बोधन करने में विशेष गौरव समझा जाता था।

× × ×

यद्यपि साधारण जनता की स्थूल बुद्धि होने के कारण, उसके लिए समय की परिस्थिति के अनुसार, सूक्ष्म तत्त्ववेत्ताओं द्वारा बाँधी हुई मर्यादाओं के अनुसार चलना ही श्रेष्ठ माना जाता था, परन्तु उक्त सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता लोग स्वयं उपरोक्त सिद्धान्तानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते थे, अर्थात् वे किसी बँधे हुए नियम या मर्यादा पर सदा-सर्वदा कट्टरता रखना आवश्यक नहीं समझते थे, न किसी रूढ़ि के गुलाम ही होते थे, किन्तु आध्यात्मिक (समत्व) बुद्धि के उपयोग से, देश-काल आदि की परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार, धार्मिक एवं सामाजिक नियमों और विधि-निषेध की मर्यादाओं में परिवर्तन करते रहते थे। इसके प्रमाण-स्वरूप धर्मशास्त्र की अनेक स्मृतियां समय-समय पर बनी हुई प्रस्तुत हैं। सामाजिक नियमों और विधि-निषेध की मर्यादाओं में आवश्यकतानुसार सुधार करने वाले तत्त्वज्ञानी लोग विशेष आदरणीय होते थे। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी, परमात्मा के केवल बारह कला के अवतार माने गये, परन्तु प्रचलित रीति-रिवाज़ों, कर्मकाण्ड के बन्धनों और अन्धविश्वासों एवं पुरानी अनुपयुक्त मर्यादाओं को ठुकरा कर "सर्वधर्मान् परित्यज्य" की महान् क्रांतिकारी एवं स्पष्ट घोषणा करके 'बुद्धियोग' का महत्त्वपूर्ण उपदेश देने वाले महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा का सोलह-कला-सम्पन्न पूर्ण अवतार माना गया। क्षत्रिय वंश के विघातक क्रोधमूर्ति भगवान् परशुराम, वैदिक कर्मकाण्ड का खण्डन करने वाले अनीश्वरवादी भगवान् कपिल, बुद्ध एवं ऋषभदेव, परमात्मा के अवतार माने गये; और परमाणुवाद के मानने वाले महर्षि गौतम और कणाद के न्याय और वैशेषिक दर्शन सब दर्शनों के पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं और सबसे पहले इनका अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। नास्तिक मत के आदि-प्रवर्तक देवगुरु बृहस्पति बुद्धि के देवता माने गये तथा उनके सिद्धान्तों की दर्शनों में गणना की गई।

आर्य-संस्कृति के सिद्धान्तानुसार नानाभावापन्न जगत्-प्रपञ्च एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण जगत् के सभी पदार्थ आपस में एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं और व्यष्टि जीवन समष्टि जीवन के लिए है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ५); इसलिए प्राचीन काल में आर्यों के लौकिक व्यवहारों की व्यवस्थाएँ इस आधार पर होती थीं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार एक दूसरे की सेवा करता हुआ दूसरों के हित के साथ अपना हित साधन करे; अर्थात् निम्न श्रेणी के आत्मविकास वाले लोग अपने व्यक्तित्व के भाव और स्वार्थों को अपने कुटुम्ब और उसके स्वार्थों के अन्तर्गत समझें; उसके आगे की श्रेणी में, कौटुम्बिक एकता-प्राप्त लोग, अपने कौटुम्बिक भावों और स्वार्थों को समाज और उसके हित में जोड़ें; उसके आगे की श्रेणी में सामाजिक एकता-प्राप्त लोग, अपने सामाजिक भावों और स्वार्थों को देश-हित में जोड़ें; और इसी तरह सबसे आगे बढ़े हुए आत्मविकास वाले, देश से एकता-प्राप्त लोग, विश्व के साथ एकता में जुड़ें और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भाव से सबके हित में लगे रहें। इस तरह क्रमोन्नति करते हुए वे लोग दूसरों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए यथायोग्य जगत् के व्यवहार करते थे।

उस समय ब्राह्मण-वर्ग के लोग, आत्म-संयमपूर्वक ज्ञान और विज्ञान की उन्नति करने की लोक-सेवा में सदा तत्पर रहते थे। क्षत्रिय-वर्ग अर्थात् राजा लोगों का जीवन व्यक्तिगत ऐश-आराम ही में न बीत कर प्रजा के साथ अपनी एकता के प्रेम-भावयुक्त, उसकी रक्षा करने और उसको सुख-सम्पन्न रखने के प्रयत्न-रूपी लोक-सेवा में व्यतीत होता था। वैश्य-वर्ग के लोग कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन आदि से लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने की सेवा में लगे रहते थे। इसी तरह शूद्र-वर्ग के लोग कला-कौशल एवं अन्य प्रकार के शारीरिक श्रम से सबके साथ प्रेमयुक्त लोक-सेवा करते थे। बाल्यावस्था अर्थात् जीवन के प्रथम भाग में सभी वर्णों के लोग ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत में रह कर शारीरिक एवं मानसिक बल सम्पादन करते हुए अपनी-अपनी योग्यतानुसार विद्याध्ययन करते थे; जीवन के द्वितीय भाग–युवावस्था में गृहस्थाश्रम, अर्थात् गार्हस्थ्य में रहकर, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार अपनी-अपनी योग्यता के लौकिक व्यवहार करते थे; जीवन के तृतीय भाग—प्रौढ़ावस्था में अपने उत्तराधिकारियों को गार्हस्थ्य के व्यवहारों में प्रवेश करा कर, अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करके वानप्रस्थाश्रम में समाज-सेवा के कार्यों में विशेष रूप से तत्पर रहते थे; और जीवन के अन्तिम भाग—वृद्धावस्था में गार्हस्थ्य के सभी कर्तव्य, अधिकार और स्वत्व, अपने उत्तराधिकारियों को पूर्णतया सौंप, गार्हस्थ्य और समाज

के साथ ममत्व की सङ्कुचित परिधि के बाहर निकल कर, संन्यासाश्रम में प्रवेश करके एवं सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मोन्नति करते हुए जगत् के साथ अपनी एकता के प्रेम-भावयुक्त, अपने जीवन में प्राप्त किये हुए अनुभवों से तथा नीति और ज्ञान के सदुपदेशों से सबके हित करने में लग जाते थे। इस तरह सब कोई अपने-अपने कार्यक्षेत्र के अनुसार अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हुए, एक दूसरे से सहयोग रखते तथा एक दूसरे के सहायक रहते हुए अपना जीवन निर्वाह करते थे, जिससे यह देश सब तरह से उन्नत और सुख-समृद्धि से परिपूर्ण था।

वर्तमान काल में उन सब बातों का विपर्यास हो जाने से, तथा सबके आचरण आध्यात्मिक विचारों से शून्य हो जाने से, लोगों की दशा बहुत ही भयानक रूप से पतित होगई है। इसलिए वर्तमान दशा ही को दृष्टि में रखते हुए, तथा आध्यात्मिक विचार के बिना, केवल भौतिक दृष्टि को ही प्रधानता देकर आलोचना करने से प्राचीन समय के, तात्कालिक परिस्थिति के अनुकूल आध्यात्मिक दृष्टि से किये हुए आर्य लोगों के व्यवहार, वर्तमान के लोगों की समझ में न आवें अथवा बुरे प्रतीत हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि आर्य-शास्त्रों (उपनिषद्, पुराण, इतिहास आदि) में, स्थूल बुद्धि के लोगों को सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार एवं तत्त्व समझाने के लिए, अनेक स्थलों पर उनके स्थूल रूपक बाँध कर विविध विषयोपयोगी आख्यायिकाओं द्वारा, प्रतिपादित विषय की सुगम व्याख्या की गई है; और अनेक स्थलों पर आत्मज्ञान-प्राप्ति के साधन—धर्म एवं नीति के सिद्धान्त साधारण लोगों को समझाने के लिए विविध विषयोपयोगी कथाएँ और दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे वे लोग उन विषयों को सुगमता से समझ कर अपना इहलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक श्रेय साधन कर सकें। उन रूपकों, आख्यायिकाओं, कथाओं और दृष्टान्तों में बहुत सी ऐतिहासिक घटनाएँ भी हैं, परन्तु उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उनमें वर्णित सभी घटनाएँ ज्यों की त्यों उसी क्रम से घटी हों, क्योंकि उनका उद्देश्य किसी घटना विशेष अथवा घटनाओं का इतिहास वर्णन करने का नहीं है, किन्तु उनका एक मात्र प्रयोजन, अधिकारानुसार विविध प्रकार से आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा और जगत् की एकता का ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधन प्रतिपादन करने का है। इसलिए उनमें वर्णित घटनाओं के सत्यासत्य अथवा सम्भव-असम्भव होने के विषय में वाद-विवाद करना न तो आवश्यक है और न उचित ही। सूक्ष्म तत्त्वों

और सिद्धान्तों को समझाने के लिए जिस तरह के रूपक, आख्यायिकाएँ, कथाएँ और दृष्टान्त आवश्यक प्रतीत हुए, वैसे ही दिये गये हैं। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक प्रचार था, इसलिए प्रायः सभी वर्णन पद्य में किये गये हैं, जिनमें कवियों की रुचियों के अनुसार श्रृङ्गार आदि रसों का समावेश हुआ है, और उपमा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार भरे हुए हैं; तथा जनता की रुचि अच्छे आचरणों में बढ़ाने और बुरे कर्मों से हटाने के लिए रोचक एवं भयानक भावों से भरी हुई कथाएँ बहुतायत से कही हुई हैं। इनके अतिरिक्त इन ग्रन्थों के बहुत पुराने होने के कारण इतने दीर्घ काल में, स्वार्थी लोगों ने अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए कहीं २ इनमें अनेक प्रकार के क्षेपक भी मिला दिये हैं। इन कारणों से उक्त शास्त्रीय कथाओं का वास्तविक मर्म समझना बहुत ही कठिन हो गया है। परन्तु यदि उनके असली उद्देश्य पर लक्ष्य रख कर, वर्णनों के पूर्वापर के, अर्थात् पहले कही हुई बात का पीछे कही हुई बात के सम्बन्धों पर ध्यान रखते हुए, कवियों की अतिशयोक्तियों और अर्थवाद यानी रोचक-भयानक वचनों और क्षेपकों अर्थात् पीछे से मिलाई हुई बातों को अलग करके, उन पर आध्यात्मिक दृष्टि से तात्त्विक विचार किया जाय तो उनका असली तात्पर्य समझ में आ सकता है, और आर्य-संस्कृति का सच्चा स्वरूप सहज ही प्रकट हो सकता है, अर्थात् आर्य लोगों के आध्यात्मिक विचारों के आधार पर जगत् के व्यवहार करने की व्यवस्था अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है। नीचे दिये हुए थोड़े से उदाहरणों से उपरोक्त कथन की सार्थकता सिद्ध होगीः—

(१) जगत् की सूक्ष्म अवस्था, अर्थात् सूक्ष्म सृष्टि के रहस्य को स्थूल रूप से समझाने के सम्बन्ध में, चतुर्विध अन्तःकरण अर्थात् मन को भय, शोक आदि विकारों सहित चतुर्मुख ब्रह्मा का, और मन की रचना—माया (जगत्-प्रपञ्च) को ब्रह्मा की कन्या का रूप देकर, मन की माया में आसक्ति को ब्रह्मा का अपनी पुत्री पर आसक्त होने के घृणात्मक रूपक देने का प्रयोजन, माया से मन की आसक्ति छुड़ाकर उसे आत्मा में लगाने का है।

(२) एक तरफ तो देखने, सुनने, खाने, पीने, बोलने, चलने, काम करने, रोकने, छोड़ने, विचारने, स्मरण करने, संकल्प करने आदि व्यवहारों की अनेक प्रकार की व्यष्टि शक्तियों के समष्टि (संयुक्त) भाव, जिनसे जगत् का संचालन होता है और जो सूर्य, अग्नि,वायु,चन्द्र, इन्द्र,वरुण आदि नामों से देवता कहे जाते हैं, उनके लिए पृथक्-पृथक् उपयुक्त स्थूल रूप कल्पित किये, तथा प्रेम, दया, शील, सन्तोष, सत्य, क्षमा, शम, दम आदि सात्त्विक वृत्तियाँ, मन को एकत्व-भाव में जोड़ने वाली अर्थात् आत्मज्ञान की साधिका होने के कारण उनके लिए भी देवताओं के सुन्दर

एवं सौम्य स्थूल रूपों की कल्पना की, और दूसरी तरफ अहङ्कार, काम, क्रोध, दम्भ, मोह, शोक, लोभ, भय, ईर्ष्या, द्वेष आदि भेदोत्पादक राजस-तामस वृत्तियों को असुरों तथा राक्षसों के नाना प्रकार के भयानक रूप देकर, प्रत्येक शरीर में तथा जगत् में इन विरोधी वृत्तियों के निरन्तर होने वाले संघर्ष की, देवासुर-संग्राम रूप से अनेक प्रकार की आख्यायिकाओं में विष्णु भगवान् की सहायता से देवताओं की विजय होने के जो वर्णन किये गये हैं, उन सबका तात्पर्य यह है कि विष्णु-रूपी आत्म-ज्ञान के प्रसाद ही से उक्त सात्विक दैवी शक्तियाँ राजस-तामस आसुरी शक्तियों पर विजय पा सकती हैं।

(३) पृथ्वी पर जब जन-संख्या बहुत बढ़ जाती है तब लोगों में व्यक्तित्व के भाव अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं, और वे व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए भौतिक उन्नति में एक दूसरे से बढ़ा-चढ़ी करते हैं, जिससे राग-द्वेष के आसुरी भावों की प्रबलता हो जाती है और भिन्न-भिन्न समाजों में संघर्ष उत्पन्न होकर जनता में घोर अशान्ति फैल जाती है। इस तरह की राग-द्वेषयुक्त अपरिमित भौतिक उन्नति से जगत् में विषमता बहुत बढ़ जाती है, जिससे विश्व को धारण करने वाली दैवी शक्तियां विक्षुब्ध होती हैं एवं लोग अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं। जब लोगों के दुःख चरम सीमा को पहुँच जाते हैं और सबके मन में उस बेहिसाब बढ़ी हुई विषमता से उत्पन्न हुए दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र तलमलाहट उत्पन्न हो जाती है, तब सबके अन्तःकरण की सम्मिलित आतुरता के प्रतिफल-स्वरूप उसकी प्रतिक्रिया होती है, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा की समष्टि सात्विक शक्ति, परिस्थिति की आवश्य-कतानुसार विशेष कला से किसी विशेष व्यक्ति के रूप में प्रकट होकर सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त व्यवहारों द्वारा उस बढ़ी हुई जन-संख्या की काट-छांट करके एवं विषमता का समीकरण करके शान्ति स्थापन करती है, तथा लोगों को उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त धर्म के उपदेश से उपरोक्त अधर्म की प्रवृत्ति छुड़ा कर साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने के धर्म का पुनः प्रचार करती है। इसी विषय को स्थूल रूप से समझाने के लिए पृथ्वी पर पाप बढ़ने से पापी लोगों का बोझ पृथ्वी से सहन नहीं होना, तब उसका देवताओं के पास जाना और देवताओं का, जगत् के पालनकर्ता सात्विक देव विष्णु से पुकार करना, फिर विष्णु का अवतार लेकर पृथ्वी का बोझ हलका करना और धर्म की स्थापना करना आदि कथाएँ कही गई हैं।

(४) भगवान् रामचन्द्र और रावण के युद्ध की कथा का प्रधान उद्देश्य यह दिखाने का है कि सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष में इतनी अदम्य आत्म-शक्ति होती

है कि वह बिना अस्त्र-शस्त्र और सेना आदि के, एक महान् शक्तिशाली एवं सब प्रकार के भौतिक बल से सुसज्जित शत्रु पर विजय पा सकता है; और आत्मज्ञान से शून्य व्यक्ति, चाहे वह वैदिक काम्य-कर्मों और शारीरिक कष्ट-सहन के तपादि के प्रभाव से बड़ा भारी ऐश्वर्यवान् होगया हो, चाहे वह अगाध नीति-निपुण हो, चाहे वह कितने ही उच्च वर्ण का हो और चाहे उसने भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा ही क्यों न प्राप्त कर ली हो, उसमें आसुरी भाव इतने बढ़ जाते हैं कि उसका सर्वनाश हो जाता है।

(५) सत्यव्रत-पालन की पराकाष्ठा दिखाने के साथ-साथ आत्मज्ञान-विहीन, व्यक्तित्व के अहङ्कारयुक्त सत्य पालन के हठ का दुष्परिणाम राजा हरिश्चन्द्र के इतिहास में दिखाया गया है।

(६) अनेक श्रेष्ठ गुणों के होते हुए भी किसी व्यसन में आसक्त हो जाने से मनुष्य की बुद्धि कितनी बिगड़ जाती है और इससे उसका कितना भयङ्कर पतन हो जाता है, और एक पतिव्रता स्त्री इस तरह के पतन की अवस्था में भी अपने पति से विमुख न होकर उसका किस तरह उद्धार कर सकती है, यह दिखाने के लिए राजा नल और दमयन्ती का इतिहास कहा गया है।

(७) महर्षि पराशर का मत्स्यगन्धा के साथ संयोग और उससे भगवान् वेदव्यास के उत्पन्न होने की कथा का मुख्य उद्देश्य यह है कि आत्मज्ञानी महापुरुष के व्यवहार, चाहे भौतिक विषयासक्त दृष्टि में कितने ही अनुचित प्रतीत हों परन्तु वास्तव में वे लोक-हितकर होते हैं।

(८) इसी तरह कुन्ती के कुमारी अवस्था ही में कर्ण जैसे शूरवीर और दानी सन्तान उत्पन्न होने की कथा भी, लोक-हित के लिए भेद-भाव उत्पन्न करने वाली विधि-निषेध की मर्यादाओं की अवहेलना करने के सिद्धान्त को पुष्ट करती है।

(९) द्रौपदी पाँच पाण्डवों की धर्मपत्नी हुई, इस कथा से उस ज़माने के बढ़े-चढ़े पातिव्रत-धर्म के आदर्श और उसके महत्त्व का प्रदर्शन होता है, और साथ ही यह भी निश्चय होता है कि आर्य-संस्कृति में विवाह का उद्देश्य केवल पाशविक विषय-वासना ही नहीं होता था कि स्त्री के स्थूल शरीर के स्पर्श मात्र के लिए पुरुषों में पशुओं की तरह ईर्ष्या-द्वेष से झगड़े होते रहें। इस कथा में पाँच पतियों के साथ द्रौपदी का एक समान प्रेम, उनकी एक समान सेवा करने और उन सबको एक समान प्रसन्न रखने के अनुपम पातिव्रत धर्म की जितनी महिमा है, उतना ही पाँचों पाण्डवों के आत्म-संयम, पत्नीव्रत-पालन और धर्म-परायणता का महत्त्व भरा पड़ा है। जब कि एक पति के साथ भी अनन्य-भाव के प्रेमयुक्त

पातिव्रत धर्म पालन करने वाली स्त्री की इतनी महिमा होती है कि वह लोकपूज्या हो जाती है; और जब कि एक पति की स्त्री के साथ पूर्ण प्रेम, आदर और धर्मपूर्वक व्यवहार करके उसको प्रसन्न रखने वाले पति का आत्मबल बहुत बढ़ जाता है और लोगों में वह आदरणीय हो जाता है, तो पाँचों पतियों के साथ अनन्य प्रेम रख कर एवं पाँचों को प्रसन्न रख कर उनकी आत्मोन्नति में सहायक होने वाली देवी, और पाँच पतियों की स्त्री के साथ अनन्य भाव का प्रेम, इकसार आदर और धर्मपूर्ण व्यवहार करने वाले सत्यव्रती एवं संयमी पतियों का आत्म-विकास इतना क्यों न बढ़ जाय कि वे जगद्वन्द्य हो जायँ, और समष्टि आत्मा = परमात्मा की विशेष विभूति भगवान् कृष्ण के रूपमें सदा उनके सम्मुख उपस्थित रहे।

इस तरह आध्यात्मिक और नैतिक विषयों की व्याख्यापूर्ण अगणित कथाओं से रामायण, महाभारत और पुराण भरे पड़े हैं। भगवान् श्रीकृष्ण महाराज की लीला के वर्णन तो व्यावहारिक वेदान्त की पूर्णावस्था का मूर्तिमान् स्वरूप ही हैं। उनके प्रत्येक व्यवहार में सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव भरा पड़ा है। यहाँ पर उनकी कतिपय लीलाओं के रहस्य का थोड़ा-सा दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है:—

(१) अत्याचारों की पराकाष्ठा से पीड़ित, बन्दी-गृह में कैद, क्षत्रिय वसुदेव के यहाँ अवतार लेकर, और उसी समय अपने ईश्वरत्व यानी प्रकृतिके स्वामित्व और दिव्य-जन्म का परिचय देकर, आसुरी भावों से भरी हुई, बाल्यावस्था के अनुपयुक्त, मथुरापुरी छोड़, भगवान् कृष्ण ने शैशव और बाल्यावस्था के स्वाभाविक प्रेम के उपयुक्त, प्रेम से परिपूर्ण व्रजभूमि में शैशव और बाल्यावस्था अहीर नन्द के घर बिताई और नन्द यशोदा के वात्सल्य-भाव के शुद्ध प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप उनको अपनी बाल-क्रीड़ा का सुख दिया; और साथही साथ राक्षसों को मारने के असाधारण विक्रम और अपने नन्हें से मुख में यशोदा को विश्व-दर्शन* कराने आदि अद्भुत चमत्कारों से वे अपने योगैश्वर्य का प्रदर्शन करते रहे।

(२) इन्द्रयज्ञ की निस्सारता एवं निरर्थकता तथा वर्षा होने के वैज्ञानिक तत्त्व व्रजवासियों को समझा कर उनसे उक्त रूढ़ि तथा अन्धविश्वास को छुड़वा कर उसके स्थान में प्रत्यक्ष लाभ देने वाले गोवर्द्धन पर्वत की पूजा करवाई, और वर्षा के

---

* बालक के मुख में विश्व दीखने का वर्णन कई वर्ष पहले तो लोगों को आश्चर्यजनक ही नहीं किन्तु हास्यास्पद प्रतीत होता था, परन्तु जबसे बाइस्कोप के फिल्मों (फीतों) में जगत् के बड़े-बड़े दृश्य भर-भर कर दिखाये जाने लगे, तबसे से सम्भवतः यह वर्णन बुद्धिमानों को नहीं अखरते होंगें।

अधिदेव—इन्द्र के भय से उन्हें मुक्त करके बुद्धि से काम लेने के सिद्धान्त की पुष्टि की।

(३) सखा-भाव के विशुद्ध प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप ग्वालों के साथ गौएँ चराईं और वन के पशु-पक्षियों के साथ भी प्रेममय क्रीड़ाएँ करके सबकी एकता का भाव दिखाया। साथ ही साथ सृष्टि-रचना के अधिदेव ब्रह्मा द्वारा बछड़ों और ग्वाल-बालों के चुराये जाने पर अपनी योग-माया से दूसरे बछड़ों और ग्वाल-बालों की रचना करके अपना योगैश्वर्य दिखाते हुए माया से मोहित ब्रह्मा (समष्टि मन) का मोह दूर किया अर्थात् प्रकृति पर अपना आधिपत्य प्रकट किया।

(४) गोपिकाओं के असीम प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप उनकी इच्छानुसार उनके साथ अनेक प्रकार के खिलवाड़⊛ करने के साथ ही साथ, नाना स्थानों में एक ही समय एक ही साथ अपने तथा गोप-गोपिकाओं के अनेक रूप दिखाकर, अपने तथा गोप-गोपिकाओं आदि सबके शरीरों में एक आत्मा अर्थात् अपनी सर्व-व्यापकता का परिचय दिया

(५) यमुना में नग्न होकर नहाती हुईं गोपिकाओं के चीर-हरण की लीला का यह तात्पर्य है कि जीवात्मा जब तक भौतिक शरीरों के व्यक्तित्व के अहंकार के वश होकर परमात्मा से पृथक्ता के निश्चय का पर्दा रखता है, तब तक उसको मुक्ति की साधन दैवी सम्पत्ति अर्थात् सात्विक वृत्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। इस लीला में भगवान् श्रीकृष्ण सर्वात्मा-परमात्मा हैं, गोपिकाएँ जीवात्मा हैं, श्रीकृष्ण से लज्जा करना भौतिक शरीरों के व्यक्तित्व का अहंकार है, जल से बाहर न निकलना पृथक्ता के भाव का पर्दा रखना है, और उनके वस्त्रालङ्कार का हरा जाना सात्विक वृत्तियों की अप्राप्ति है। जब गोपिकाएँ लज्जा छोड़ कर जल से नङ्गी बाहर निकल आईं तो वस्त्रालङ्कार प्राप्त करके निर्भय (स्वतन्त्र) हो गईं। इसी तरह मनुष्य व्यक्तित्व की आसक्ति-रूपी लज्जा छोड़ कर परमात्मा से अपनी भिन्नता के अज्ञान-रूपी जल से अलग हो जाय अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का विश्वास कर ले तो उसको दैवी सम्पत्तिरूपी वस्त्रालङ्कार प्राप्त हो सकते हैं, अर्थात् उसके चित्त की वृत्तियाँ सात्विक हो सकती हैं, जिनसे युक्त होकर वह जीव मुक्त हो सकता है। जब तक परमात्मा से भिन्नता का निश्चय रखता है, तब तक मुक्ति के साधन प्राप्त नहीं होते।

⊛ अध्यात्म दृष्टि से तो जगत् का सब ही प्रपञ्च सर्वात्मा-परमात्मा का खिलवाड़ ही है, परन्तु आधिभौतिक दृष्टि से भी बारह वर्ष से कम के बालक की क्रीड़ाएँ खिलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकतीं।

(६) रासलीला के प्रेम में आसक्त गोपिकाओं को शरद् पूर्णिमा की रात्रि के समय एकान्त वन में पातिव्रत धर्म का उपदेश देकर भौतिक विषयों में उनकी आसक्ति होने के लिए उन्हें लज्जित किया, और फिर उनकी भावना के अनुसार कृष्ण और गोपियों के अनेक रूप धर कर रासलीला का दृश्य दिखाते हुए रासलीला के बीच ही में, सबको मूढ़ावस्था में छोड़ कर, अन्तर्धान हो गये और वे सब रोती-बिलखती रहीं। इससे उन्होंने अनासक्ति-योग की पूर्ण अवस्था बता कर, भौतिक विषयासक्ति के दुष्परिणाम की सबको शिक्षा दी।

(७) बारह वर्ष की बाल्यावस्था ही में व्रजवासियों के शुद्ध और अविचल प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप उनकी भावना के अनुसार अनेक प्रकार की चमत्कारिक लीलाएँ ※ दिखाकर और साथ ही साथ अपना सर्वात्मभाव भी समय-समय पर प्रदर्शित करते रह कर, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इस गीतोक्त कथन को चरितार्थ कर दिया। इतने पर भी जब वे लोग भगवान् के सर्वात्मभाव को न पहिचान सके—उनके मायिक शरीर के प्रेम में ही उलझे रहे—, तब भगवान् अपने उस शरीर से उनका साथ छोड़ कर, युवावस्था के आचरण के उपयुक्त स्थान—मथुरापुरी चले गये और फिर उन्होंने उद्धव के साथ अपने असली भाव अर्थात् आत्मज्ञान का सन्देश भेजकर व्रजवासियों को कहलाया कि तुम लोगों में यद्यपि प्रेम का भाव बहुत ही उच्च कोटि का है, परन्तु वह प्रेम मेरी स्थूल लीलाओं तक ही परिमित है, इसलिए तुमको ये लीलाएँ दिखा दी गईं ; परन्तु सदा परिवर्तनशील भौतिकता ही में उलझे रहने से अर्थात् मेरी माया के खेल ही को सच्चा समझ कर उसीमें आसक्ति रखने से धोखा और दुःख होना अनिवार्य है; क्योंकि मायिक पदार्थ बिछुड़े बिना नहीं रहते—चाहे वे कितने ही उच्च कोटि के क्यों न हों। मेरा (कृष्ण का) शरीर भी मेरी माया का एक खेल है; तुमने इस शरीर और शरीर की क्रीड़ाओं में ही आसक्ति रक्खी, मेरे असली सर्वात्म-भाव तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया,

※ भौतिक दृष्टि से एक छोटे से बालक के इस तरह के अद्भुत आश्चर्यजनक चमत्कार असम्भव प्रतीत होते हैं, परन्तु इस समय भी अनेक नन्हे से बालक व बालिकाएँ कई प्रकार की कलाओं एवं प्राणायाम आदि यौगिक चमत्कारों में इस तरह की अद्भुत प्रवीणता दिखाती हैं, जो दीर्घकाल के अनुभव और अभ्यास के बाद, वृद्ध कलाविद् और योगाभ्यासी भी नहीं दिखा सकते; और योग की सिद्धियों एवं जादू तथा मेस्मेरिज्म आदि की क्रियाओं के आश्चर्यजनक चमत्कारों के रहस्य साधारणतया कुछ भी समझ में नहीं आते। फिर आध्यात्मिक शक्ति के चमत्कारों के रहस्य तक तो भौतिक विचार-शक्ति पहुँच ही नहीं सकती।

इसलिए मेरा मायिक शरीर तुमसे परोक्ष हो गया। यदि अब भी तुम शरीरों में आसक्ति छोड़ कर मेरे असली सर्वात्मभाव को प्राप्त होने के प्रयत्न में लग जाओ तो मैं तुमसे अलग नहीं हूँ, किन्तु तुम्हारे पास ही हूँ।

(८) मथुरा में पहुँच कर अत्यन्त कुरूपा दासी कुबरी के शुद्ध प्रेम के प्रति-फल-स्वरूप उसके साथ भी उसकी भावना के अनुसार वर्ताव करके यह प्रकट कर दिया कि सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष के लिए ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे, सब एक समान होते हैं। जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही वे उसके साथ वर्ताव करते हैं, उनकी उसमें कोई आसक्ति नहीं रहती।

(९) मल्ल-युद्ध की रङ्गभूमि में उपस्थित दर्शकों की जैसी भावना थी, उनको भगवान् ने उसी तरह का अपना रूप दिखाया। मामा कंस अपने पाप-कर्मों के कारण भगवान् के हाथ से सदा अपनी मृत्यु का चिन्तन किया करता था, अतः उसीकी भावना के अनुसार उसके पापी स्थूल शरीर से जीवात्मा का सम्बन्ध-विच्छेद करा कर साधु-हृदय उग्रसेन को राजसिंहासनारूढ़ करके जगत् को यथोचित व्यवहार का आदर्श दिखाया।

(१०) रुक्मिणी को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसके आततायी पिता भीष्मक और बड़े भाई रुक्माग्रज ने शिशुपाल के साथ ब्याहने की योजना की थी, उस अत्याचार से भगवान् ने उसे बचाया और उसकी इच्छानुसार स्वयं उससे विवाह किया। इसी तरह अपनी बहिन सुभद्रा के, अर्जुन द्वारा हरी जाने पर कुपित हुए बलदेव जी का क्रोध शान्त करके अर्जुन को उसके योग्य वर समझ कर, सुभद्रा की इच्छानुसार, अर्जुन के साथ उसका विवाह कर दिया। इन कृत्यों से भगवान् ने वर चुनने में कन्या के अनुमति देने के अधिकार की रक्षा करके समत्वभाव की पुष्टि की।

(११) अत्याचार-पीड़ित सोलह हज़ार राज-कन्याओं को बन्दीगृह के कष्ट से छुड़ा कर, उनकी भावना के अनुसार उन सबसे विवाह किया, और प्रत्येक के महल में एक ही समय में उपस्थित रहने का दृश्य नारद को दिखा कर अपनी सर्वत्रावस्थिति एवं अलौकिक योगैश्वर्य का परिचय दिया।

(१२) दुष्ट कालयवन के साथ युद्ध करने से बहुत से निर्दोष सैनिकों की निरर्थक हत्या होती, इसलिए उससे युद्ध न करके उसके सामने से भाग जाना और "रणछोड़" कहलाने में अपमान न समझना तथा उसको पर्वत की गुफ़ा में ले जाकर मुचुकुन्द राजा से मरवाना आदि आचरणों से भगवान् ने यह उपदेश दिया कि लोकहित की बाधक, प्रचलित मर्यादाओं की पाबन्दी

रखना आवश्यक नहीं और न लोकहित के कार्यों में लोकापवाद की ही परवाह आवश्यक है ।

(१३) पाठशाला के सहपाठी बाल-सखा सुदामा ब्राह्मण ने विद्यार्थी-जीवन में अपने हिस्से के भोजन से सन्तोष न करके चोरी से दूसरे का हिस्सा खा लिया, जिसके फल से उसे घोर दरिद्रता भोगनी पड़ी, और जब ब्राह्मणोचित आचरणों से उस पाप का पर्याप्त प्रायश्चित् हो चुका, तब भगवान् कृष्ण के समीप चावलों की भेंट लेकर उपस्थित होने पर उनने बड़े ही आदरपूर्वक सत्कार करके उसकी दरिद्रता दूर की। इससे स्पष्ट किया कि बुरे कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य भोगना पड़ता है, चाहे वह भगवान् का भक्त ही क्यों न हो ; और अच्छे आचरणों से पूर्व के बुरे कर्मों से उत्पन्न पाप नष्ट होकर फिर पुण्य का फल—सुख-समृद्धि प्राप्त हो सकती है ।

(१४) सत्रजित यादव द्वारा लगाये गये स्यामन्तक मणि की चोरी के मिथ्या कलङ्क को दूर करने के लिए, मणि को बड़े प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ कर उसको ला दी, जिससे यह शिक्षा दी कि लोकहित के प्रयोजन के सिवाय यदि किसी कारण से निरर्थक लोकापवाद खड़ा हो जाय तो उसको मिटाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए ।

(१५) शिशुपाल की एक सौ गाली सहने के बाद भी जब वह गाली देता ही रहा तब उसको मारा । इससे यह शिक्षा दी कि शक्तिशाली पुरुष दुष्ट के कुछ अपराध क्षमा करके उसे सँभलने का अवसर दें, फिर भी वह न सँभले तो उसे अवश्य दण्ड दें ।

(१६) जरासन्ध और शिशुपाल के बध के बाद उसी समय उनकी जीवात्मा को अपने अन्दर लय कर लेना इस बात का प्रमाण है कि भगवान् को किसीसे भी द्वेष नहीं है, किन्तु दुष्टों की दुष्टता छुड़ाने के लिए ही उनके पापी शरीरों से जीवात्मा का सम्बन्ध-विच्छेद कराया जाता है ।

(१७) भगवान् ने अनेक अत्याचारी राजाओं को मारा और अनेकों को राज्यच्युत किया, परन्तु सबका राज्य उनके उत्तराधिकारियों को दे दिया, और स्वयं किसी भी राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ न होकर निस्वार्थ-भाव से जगत् के व्यवहार करने का आदर्श भली प्रकार प्रदर्शित किया ।

(१८) द्रौपदी के चीर-हरण के समय, उसकी करुणाभरी भावना के प्रतिफल-स्वरूप, भगवान् ने चीर-रूप में ही अपनी अनन्तता दिखा कर जड़-चेतन में आत्मा की एक समान व्यापकता सिद्ध की ।

(१९) ऋषि दुर्वासा अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके, पाण्डवों को शाप देने के अभिप्राय से उनकी भोजन-सामग्री समाप्त होने के बाद, उनके यहां अतिथि होने गये, तब पुण्यात्मा पाण्डवों की रक्षा के लिए भगवान् ने बर्तन में लगे हुए एक चावल से तृप्ति मान कर, केवल ऋषि दुर्वासा को ही नहीं छकाया, किन्तु अखिल विश्व को तृप्त करके अपनी सर्वव्यापकता तथा सर्वभूतात्मैक्य-भाव का प्रत्यक्ष नमूना दिखा दिया, और साथ ही साथ ऋषि को क्रोध के दुरुपयोग का परिणाम भी बता दिया।

(२०) राजा दुर्योधन की बड़े ठाट-बाट की मेहमानी स्वीकार न करके दास विदुर के घर पर, उसकी प्रीतिपूर्वक भेंट की हुई शाक-भाजी खाकर यह प्रकट किया कि महात्मा लोग केवल प्रेम-भाव से प्रसन्न होते हैं, भोग्य-सामग्रियों से नहीं।

(२१) कौरव-पाण्डवों का आपस में समझौता कराने के लिए भगवान् ने स्वयं कौरवों की सभा में जाकर उनको बहुत समझाया, और पाण्डवों को केवल पाँच गाँव देकर शेष सब राज्य कौरवों को रखने का कहा। परन्तु जब उन्होंने भगवान् की यह बात भी न मानी और उनको ही पकड़ कर क़ैद करना चाहा, तब अपना विराट् रूप दिखा कर कौरवों के छक्के छुड़ाये और इस तरह साम, दाम और दण्ड नीति का यथायोग्य उपयोग दिखाया।

(२२) महाभारत के युद्ध में अपनी बहुसंख्यक सेना कौरवों को दी और आप अकेले निःशस्त्र होकर पाण्डवों की तरफ रहे; फिर दोनों तरफ़ की सेनाओं को खपा कर अन्तमें बहुसंख्यक अधर्मी कौरवों की हार और अल्प-संख्यक धर्मात्मा पाण्डवों की जीत करवा कर यह सिद्ध किया कि स्थूल भौतिक बल पर सूक्ष्म आत्म-शक्ति की ही विजय होती है।

(२३) धर्म और नीति का विशारद, सत्यव्रती अखण्ड ब्रह्मचारी भक्त भीष्म यद्यपि परिस्थितिवश अन्यायी कौरवों की सेना का सेनापति होकर धर्मात्मा पाण्डवों से लड़ा, फिर भी भगवान् ने उसको अपना परम भक्त मान कर तथा उसकी महिमा बढ़ा कर यह प्रकट किया कि ज्ञानी पुरुष के ऊपरी व्यवहार चाहे विपरीत भी दीखें, परन्तु वे किसी लोक-हितकर प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होते हैं, वास्तव में उसका अन्तःकरण पवित्र होता है, अतः वह महात्मा ही होता है। भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर भीष्म की प्रतिज्ञा रखी, इससे यह शिक्षा दी कि बड़ों को अपने छोटों की बातों, उनकी प्रतिष्ठा एवं कीर्ति आदि को अपने से अधिक महत्त्व देना चाहिए। अपनी प्रतिज्ञा आदि का अभिमान जितना छोटों को हुआ करता है उतना बड़ों को नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण की स्थिति तो समष्टि-भाव की थी, अतः उनकी दृष्टि में भीष्म उनसे

भिन्न था ही नहीं, और न भीष्म और भगवान् की प्रतिज्ञा में ही कोई अन्तर था। श्रीकृष्ण महाराज में सर्वात्म-भाव होनेके कारण उनकी किसी प्रतिज्ञा में आसक्ति नहीं थी, इसलिए भीष्म की प्रतिज्ञा को ही भगवान् ने महत्त्व दिया, और वह महत्त्व अब तक चल रहा है और आगे चलता ही रहेगा। परन्तु यदि भीष्म की प्रतिज्ञा न रह कर भगवान् की प्रतिज्ञा रहती तो उसका कोई महत्त्व नहीं था।

(२४) अपने परिवार वाले यदुवंशियों की बहुत बढ़ी हुई जन-संख्या तथा उनके बढ़े हुए भौतिक बल, वैभव तथा गर्व आदि से लोगों पर अत्याचार अवश्य होते, इसलिए उन्हींके अहङ्कार तथा प्रमाद के प्रतिफल-स्वरूप, दुर्वासा ऋषि द्वारा शाप दिलाकर, उन सबको आपस में लड़वा कर मरवा दिया और गीता के इस वाक्य की सार्थकता प्रत्यक्ष दिखला दी कि 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' और साथ में यह भी दर्शा दिया कि जिस जाति या कुल में जब आधिभौतिकता बहुत बढ़ जाती है, तब वह उसका अवश्य विनाश कर देती है, चाहे वह जाति या कुल कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो।

(२५) इस तरह कृष्णावतार में ब्रह्म-विद्या अथवा व्यावहारिक वेदान्त का साक्षात् रूप से पूर्ण आचरण दिखा कर लोगों के कल्याणार्थ भगवान् ने पहले महा-भारत युद्ध के आरम्भ में अर्जुन को लक्ष्य करके श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित उस ब्रह्म-विद्या अथवा व्यावहारिक वेदान्त यानी आत्मज्ञानयुक्त संसार के व्यवहार करने का अनुपम उपदेश सबको दिया; और फिर अवतार-लीला के अन्तमें भक्त उद्धव को लक्ष्य कर, उसी ब्रह्म-विद्या के उपदेश को दुहरा कर कृष्णावतार धारण करने का एक मुख्य उद्देश 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'' पूरा किया।

श्रीकृष्ण महाराज की लीलाओं के रहस्य के उपरोक्त संक्षिप्त स्पष्टीकरण से यह निष्पन्न होता है कि भगवान् की सभी लीलाएँ सर्वात्मभाव-युक्त व्यवहार की पूर्णावस्था का आदर्श हैं; क्योंकि भगवान् सारे ब्रह्माण्ड के आत्मा=परमात्मा (गी० अ० १० श्लोक २०) होने के कारण वे सबको अपने में और अपने को सब में अनुभव करते थे (गी० अ० ६ श्लोक ३०, अ० ११ श्लोक ५ से ५५), अतः न तो उनमें व्यक्तित्व का भाव था (गी० अ० ७ श्लोक २४) और न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ (गी० अ० ३ श्लोक २२); किन्तु अखिल विश्व उनका व्यक्तित्व और अखिल विश्व का हित उनका स्वार्थ था। इसलिए उनके सभी व्यवहार केवल लोक-संग्रह के लिए होते थे अर्थात् जगत्-रूपी अपने खेल के सञ्चालन के लिए ही उन्होंने स्वेच्छा से, उस खेल की परिस्थिति के उपयुक्त, एक विशेष रूप धारण करके लीलाएँ की थीं और उन लीलाओं के करने में उनकी कोई आसक्ति नहीं

थी क्योंकि उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न कुछ था ही नहीं (गी० अ० ७ श्लोक ४ से १२, अ० ९ श्लोक १६ से १९, अ० १० श्लोक ३९ से ४२), और जहाँ सर्वत्र एकत्व-भाव हो वहाँ सङ्ग अथवा आसक्ति के लिए अवकाश ही नहीं रहता; अतः सब कुछ करते हुए भी वे वास्तव में अकर्ता ही रहते थे (गी० अ० ९ श्लोक ४ से १०), और सगुण रूप धारण किये हुए भी वे निर्गुण ही थे (गी० अ० ४ श्लोक ६ से ९)। इसी तरह जिन आत्मज्ञानी महापुरुषों को सर्वात्म-भाव का सच्चा अनुभव हो जाता है, वे सबको अपने में और अपने को सबमें देखते हैं (ईशोपनिषद् मन्त्र ६ ; गी० अ० ६ श्लोक २९), और व्यक्तित्व का भाव मिट कर समष्टि में उनकी स्थिति हो जाती है (गी० अ० ६ श्लोक ३१, अ० १३ श्लोक ३०)। अपने व्यक्तित्व के लिए उन्हें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता (गी० अ० ३ श्लोक १७-१८), किन्तु उनके सभी व्यवहार लोक-हित के लिए होते हैं (गी० अ० ५ श्लोक २५), अर्थात् जिस रूप में वे रहते हैं, उसी रूप की योग्यता और उसी रूप के कार्यक्षेत्र के अनुसार सब व्यवहार, स्वतन्त्रतापूर्वक, जगत् के स्वामी-भाव से केवल लोक-संग्रह के लिए करते हैं (गी० अ० ३ श्लोक २५)। ईश्वर में और उनमें कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वे परमात्मा-स्वरूप होते हैं और स्वेच्छा से जगत् के व्यवहार करते हैं (गी० अ० ४ श्लोक १०, अ० ५ श्लोक १९-२०, अ० ६ श्लोक ७ से ९)। सब कुछ करते हुए भी उनमें किसी भी कार्य का सङ्ग और आसक्ति नहीं रहती, किन्तु वे अलिप्त और निर्बन्धन रहते हैं। (गी० अ० ४ श्लोक १९ से २४, अ० १८ श्लोक १७)। सब व्यक्तित्व के व्यवहार करते हुए भी उनका समष्टि (सर्वात्म) भाव ज्यों का त्यों बना रहता है अर्थात् वे सर्वत्र अपना ही रूप देखते हैं, अपने से भिन्न उन्हें कुछ भी नहीं दीखता (ईशोपनिषद् मन्त्र ६-७; गी० अ० ५ श्लोक ८ से १०)। अतः सब सगुण व्यवहार करते हुए सदा वे निर्गुण समाधिस्थ रहते हैं अर्थात् उनके अन्तः-करण में सुख-दुःख का लेश भी नहीं रहता, किन्तु वे अपने स्वरूपानन्द में निमग्न रहते हैं (गी० ५ श्लोक २१, अ० ६ श्लोक २७-२८)।

यद्यपि सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा की) अवस्था में, और योग की समाधि अवस्था में तथा अन्य क्रियाओं-जन्य चित्त की एकाग्र अवस्था में भी निर्गुण अवस्था की तरह एक प्रकार का आनन्द प्रतीत होता है, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण से दबी हुई वृत्तियों की मूर्छित अवस्था का आनन्द होता है, और योग की समाधि आदि क्रियाओं से चित्त की वृत्तियों का निरोध होकर शून्यावस्था का आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द स्थायी नहीं रहता, किन्तु जब वृत्तियाँ पुनः जाग्रत होती हैं, तब वह अवस्था नहीं रहती। परन्तु

सर्वात्म-भावापन्न जीवनमुक्त महान् आत्माओं की समाधि, मूर्छित अथवा शून्य अवस्था नहीं होती, किन्तु वे सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी निर्गुण अवस्था के एकत्व-भाव यानी साम्य-भाव में स्थित रहते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् सब आत्मामय ही होता है, अपने से भिन्न कुछ भी नहीं रहता, इसलिए उनके मन पर किसी प्रकार के क्लेश या बन्धन आदि विकारों का प्रभाव नहीं होता। ये विकार तो जहाँ द्वैत-भाव होता है वहीं अपना प्रभाव डालते हैं।

इस तरह जो अपने को सारे जगत् की आत्मा अनुभव करता है और जो समष्टि हित के लिए स्वेच्छापूर्वक शरीर धारण करता है, उस सर्वात्मा के जन्म और कर्मों का रहस्य पञ्चभौतिक शरीरों की तरह न तो यथार्थ रूप से वर्णन किया जा सकता है और न स्थूल दृष्टि से समझ में ही आ सकता है। यह रहस्य तो सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने ही से ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

प्राचीन काल में इस देश में ब्रह्मविद्या विशेषतया राजाओं की विद्या समझी जाती थी (गी० अ० ९ श्लोक २) और राजा लोगों में इसका बहुत प्रचार था (गी० अ० ४ श्लोक १ से ३) क्योंकि सारे समाज को सुव्यवस्थित रखने की जिम्मेवारी राजाओं ही की होती है, और ब्रह्मविद्या की जानकारी बिना समाज को पूर्ण रूपसे सुव्यवस्थित रखा नहीं जा सकता। वास्तव में आदर्श और निर्दोष राज्य-शासन वा शासन-पद्धति ब्रह्मविद्या के आधार पर ही निर्माण हो सकती है और बड़ी से बड़ी एवं जटिल से जटिल राजनैतिक समस्याओं को ठीक-ठीक सुलझाने का एकमात्र अचूक साधन ब्रह्मविद्या ही है। इसलिए राजाओं के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती थी। वे लोग इसीके प्रसाद से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान द्वारा, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त, प्रजा-रक्षणादि कार्य यथायोग्य करते थे, और इस ब्रह्मविद्या का उपदेश अन्य लोगों को भी देकर सबको अपने-अपने कर्तव्य में स्थित रख कर समाज की सुव्यवस्था रखते थे। राजाओं से ब्रह्मविद्या का उपदेश अन्य लोगों के लेने के वर्णन प्राचीन शास्त्रों में जगह-जगह पाये जाते हैं।

भारतवर्ष के स्वर्णयुग में रचे हुए अनेक दर्शन और व्यवहार-शास्त्र सूक्ष्म विचारों में एक-एकसे बढ़ कर हैं, जिनमें वेदान्त दर्शन सबसे परे का है। इस दर्शन के जो ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं, उनमें उपनिषद् सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं मान्य हैं। उनमें वर्णित ब्रह्मविद्या सर्वोपरि है, और वेदान्त के दूसरे सब ग्रन्थ उपनिषदों के प्रमाणों ही से प्रमाणित होते हैं। केवल वेदान्त के ग्रन्थ ही क्यों, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि भी अपनी प्रामाणिकता के

लिए उपनिषदों ही का आश्रय लेते हैं। अतः उपनिषदों को हिन्दू-संस्कृति के मूल आधार ग्रन्थ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का सार माना जाता है, परन्तु वास्तव में यह केवल उपनिषदों का सार ही नहीं है, किन्तु उनके गहन और सूक्ष्म सिद्धान्तों का जीवन के व्यवहारों में उपयोग करने का विधान भी इसमें है, अर्थात ज्ञान और व्यवहार के मेल का खुलासा अत्यन्त ही सरल और सुगम रीति से गीता में किया गया है। यद्यपि योगवाशिष्ठ भी व्यावहारिक वेदान्त का एक बृहत् ग्रन्थ है, परन्तु उसमें रूपान्तर से प्रायः गीता ही के उपदेशों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन विचारों का इतना अधिक विस्तार है कि उनका साधारण जनता की समझ में आना बहुत कठिन है। वेदान्त के अन्य ग्रन्थ भी प्रायः अपने-अपने सिद्धान्तों की सिद्धि एवं उनकी पुष्टि के शास्त्रार्थ तथा निवृत्ति में भी ही उनके उपयोग के विचारों से भरे पड़े हैं। प्रवृत्ति में उनका उपयोग कैसे करना चाहिए, कार्य-रूप में उन्हें कैसे परिणत करना चाहिए, अर्थात् उनको अमल में कैसे लाना चाहिए, यह निरूपण उपनिषदों के आधार पर जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में है, वैसा किसीमें नहीं है। तात्पर्य यह कि गीता की यह विशेषता है कि आत्म-ज्ञान की सात्विकी बुद्धि से कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करके, जगत् के व्यवहार किस तरह करने चाहिएँ कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों, अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की निश्चयपूर्वक प्राप्ति हो सके, इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय का निरूपण इसमें बहुत ही स्पष्ट रूप से किया गया है—सो भी केवल सातसौ श्लोकों में, और बहुत ही सरलतापूर्वक। यदि गीता में केवल एकात्म-ज्ञान के सिद्धान्त (Theory) मात्र ही का उपदेश होता, तो उसकी कोई विशेषता नहीं होती, और न उसकी सार्वजनिकता एवं सर्वोपयोगिता ही रहती, क्योंकि केवल आत्मज्ञान के तो बहुत से ग्रन्थ हैं, परन्तु जिस ज्ञान के अनुकूल व्यवहार न हो सकें, अथवा जिसका व्यवहार में कुछ भी उपयोग न हो सके, वह साधारण लोगों के किस काम का? वह शुष्क ज्ञान तो लौकिक व्यवहार से विरक्त संन्यासियों ही के उपयोग में आ सकता है। परन्तु गीता में वह शुष्क ज्ञान नहीं है। गीता तो व्यावहारिक वेदान्त का एक अनुपम शास्त्र है, जिसकी उपयोगिता किसी व्यक्ति-विशेष या समुदाय-विशेष तक ही परिमित नहीं है; किन्तु वह सार्वभौम और सार्वजनिक है। उसका उपयोग छोटे से छोटे और बड़े से बड़े लोग—जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, देश और काल के भेद बिना—सदा-सर्वदा कर सकते हैं; क्योंकि उसके उपदेश किसी साधारण मनुष्य के कहे हुए नहीं हैं, किन्तु सर्वात्म-भावापन्न (अखिल विश्व को अपने में

और अपने को अखिल विश्व में अनुभव करने वाले अर्थात् अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले) महान्-आत्मा के—जिसको हिन्दू लोग तो परमात्मा का पूर्ण अवतार मानते ही हैं, किन्तु और लोग भी एक असाधारण महापुरुष अवश्य ही स्वीकार करते हैं— कहे हुए हैं। गीता की बराबरी का दूसरा कोई शास्त्र संसार को अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है—यह बात केवल आर्य-संस्कृति के मानने वाले भारतीय लोग ही नहीं मानते किन्तु अन्य संस्कृतियों के मानने वाले बहुत से विदेशी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।

जब तक भारतवर्ष में दार्शनिक लोग ज्ञान-रूपी प्रकाश को लिये हुए आगे चलते रहे, और साधारण जनता उस प्रकाश में उनके पीछे चलती रही, अर्थात् आध्यात्मिकता के मूल सिद्धान्त के आधार पर थोड़ा या बहुत आचरण करती रही, तब तक यह देश अन्य देशों की प्रतियोगिता में उन्नत और शक्तिशाली बना रहा। संसार के सब देश इसका मुँह ताकते थे। सुख-समृद्धि से यह परिपूर्ण था। परन्तु महाभारत-काल में, अधिकार-प्राप्त लोगों में भौतिकता बहुत बढ़ जाने से व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के भावों की प्रबलता होकर लौकिक व्यवहारों में आध्यात्मिक भाव प्रायः लुप्त हो गये थे (गी० अ० ४ श्लोक १-२) और तत्त्वज्ञानी लोगों ने अधिकतर निवृत्ति मार्ग ही स्वीकार कर लिया था, तब भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने अवतार लेकर अपने आचरणों द्वारा, तथा सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव से व्यवहार करने के उपदेश लोगों को देकर ब्रह्मविद्या का पुनः प्रचार किया (गी० अ०४ श्लोक ३)। फिर, महाभारत-काल के बाद के प्रामाणिक इतिहास के अभाव में यह तो नहीं कहा जा सकता कि दर्शनशास्त्रों का व्यावहारिक उपयोग यहाँ कब बन्द हुआ, परन्तु भगवान् बुद्ध ने अवतार लेकर प्रवृत्ति-मार्ग के विरुद्ध निवृत्ति-मार्ग का प्रचार करने से यह अनुमान होता है कि उस समय इस देश में विश्व की एकता का वेदान्त सिद्धान्त लोगों के आचरणों से लुप्त होकर व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के कर्मकाण्डों की अत्यन्त वृद्धि हो गई होगी, जिनके अत्याचारों से लोग बहुत ही दुःखी हो गये होंगे और उस अवस्था से लोगों का उद्धार करने के लिए भगवान् बुद्ध ने निवृत्ति-मार्ग का प्रचार ही उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त एवं कल्याणकर समझा होगा। फिर जब बौद्धमत में भी विपर्यास हुआ और उससे भी लोगों पर अत्याचार बढ़ने लगे, तब भगवान् शङ्कराचार्य ने उसका खण्डन करके वैदिक धर्म का पुनः प्रचार किया, तो उस समय की परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने भी निवृत्ति-मार्ग पर ही विशेष ज़ोर देना उचित समझा और वेदान्त शास्त्र के आधार पर निवृत्ति-मार्ग को ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति, और सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति यानी मुक्ति का साधन

सिद्ध किया। इससे यह निष्पन्न होता है कि भगवान् बुद्ध के समय से इस देश में निवृत्ति-मार्ग पर लोगों की अधिक श्रद्धा हो गई और यहाँ के लोग संसार के व्यवहारों को सर्वथा बन्धन का हेतु मानने लगे; दर्शनशास्त्र केवल निवृत्ति के ही प्रतिपादक समझे जाने लगे, प्रवृत्ति में दार्शनिक तत्त्वज्ञान अनावश्यक ही नहीं,किन्तु उसका विरोधी ठहराया गया। फलतः दार्शनिक विषय केवल पुस्तकीय ज्ञान(Theory) कोरे शास्त्रार्थ करने के लिए ही रह गया; संसार के व्यवहार में वेदान्त के सिद्धान्तों का उपयोग बिलकुल ही छूट गया और गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास लेने वालों ही का दर्शनों पर अधिकार हो गया। दूसरे शब्दों में दार्शनिक तत्त्वज्ञान का उपयोग संसार के व्यवहारों से लुप्त होकर, केवल संन्यास ही में होने लगा। यहाँ तक कि उपनिषद् और गीता जैसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त के ग्रन्थों का भी निवृत्ति-मार्ग की पुष्टि में ही उपयोग होने लगा और उसीके अनुकूल इनके अनेक भाष्य और टीकाएँ बन गईं। साम्प्रदायिक टीकाकारों ने अपने-अपने मत की पुष्टि और अपने अनुयायियों को अपने सिद्धान्त समझाने की स्वार्थ-सिद्धि के लिए उपनिषद् और गीता का आश्रय लेकर इनके अर्थ की यहाँ तक खींचा-तानी की, और शास्त्रार्थ के वागाडम्बरों का तूल इतना बढ़ा दिया कि इनके अर्थ में बहुत ही गड़-बड़ हो गई और इनका असली तात्पर्य (व्यावहारिक वेदान्त) बिलकुल अज्ञात हो गया। गीता के विषय में तो कहीं-कहीं यहाँ तक कहा जाने लगा कि 'गीता का अर्थ कृष्ण ही जानें। जिसका भावार्थ यह निकलता है कि स्वयं कृष्ण के सिवाय दूसरा कोई उसका सच्चा तात्पर्य समझ ही नहीं सकता; अतः न अब इस युगमें फिरसे कृष्ण का अवतार हो और न गीता का वास्तविक अर्थ ही समझा जा सके। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब अपने सिवाय दूसरा कोई उसको समझ ही न सके, तो गीता बनाने का परिश्रम उन्होंने व्यर्थ ही किया। तात्पर्य यह कि साधारण जनता भगवान् के इस सार्वजनिक एवं सर्वहितकर उपदेश का यथार्थ लाभ उठाने से वञ्चित हो गई। बहुत से लोगों ने तो इसको निवृत्ति-मार्ग की पुस्तक समझ कर, इसके पढ़ने से संसार से वैराग्य हो जाने के डर से इसको, पढ़ना छोड़ कर, केवल मृत्यु के समय सुनाने योग्य ही निश्चय कर लिया। इस तरह उपनिषदों और गीता में प्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त भारतवर्ष में बिलकुल लुप्त हो गया, और ज्ञान के प्रकाश बिना अज्ञान के अन्धकार में संसार के व्यवहार होनें लगे, जिसका परिणाम जैसा होना स्वाभाविक है, वैसा ही हुआ अर्थात् आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी शरीर में से आध्यात्मिक मूल सिद्धान्त-रूपी जीव निकल गया। तब, जिस तरह जीव-रहित शरीर में अनेक प्रकार के विकार और सड़ाव-गलाव उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा इस संस्कृति की हुई। इस देश के अधिकांश लोग अपने व्यवहारों में

आध्यात्मिकता का उपयोग भूल कर आधिभौतिकता में ही अत्यन्त आसक्त हो गये, जिससे जड़ता (तमोगुण) का इन पर साम्राज्य हो गया, और बुद्धि का विपर्यास होकर ये लोग सत्य को झूठ और झूठ को सत्य मानने लगे; भौतिक शरीरों को ही सब कुछ मान कर, आपस में अनन्त प्रकार की भिन्नताएँ उत्पन्न करके, व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ पर ही प्रायः सबका लक्ष्य रह गया, जिससे एक दूसरे से घृणा और तिरस्कार के भाव उत्पन्न हो गये, और आपस की एकता का लोप होकर सारे देश में फूट फैल गई; अधिकांश लोग आपस में असत्य और छल-कपट का व्यवहार करके एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे, जिससे सम्मिलित शक्ति से काम करने की योग्यता प्रायः लुप्त हो गई; भौतिक शरीरों में इतना मोह बढ़ गया कि बहुत से लोग मरने और कष्ट सहने से डरने लगे; बुद्धि से काम लेना छोड़ कर अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों के दास हो गये; मानसिक दुर्बलता के कारण बात-बात में वहम और शङ्काएँ खड़ी करके सदा सशङ्कित रहने लगे; आत्मिक निर्बलता बढ़ जाने से स्वावलम्बन का भाव बहुत कम रह गया; प्रत्येक कार्य में अपने से भिन्न देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि अदृष्ट कल्पित शक्तियों का अथवा अपने से भिन्न लोगों का आश्रय लेकर ये लोग अधिकतर परावलम्बी, उत्साहहीन, निरुद्यमी और आलसी बन गये, और आत्मा की स्वाभाविक स्वतन्त्रता एवं परिपूर्णता के भावों से विमुख होकर दूसरी, दृष्ट वा अदृष्ट कल्पित शक्तियों के दास बन कर, उनके आश्रित हो गये; भूतकाल के अभिमान में शोचनीय वर्तमान और अन्धकारमय भविष्य पर ध्यान देना प्रायः भूल गये, और अपने अवगुणों तथा त्रुटियों को छिपाये एवं दबाये रखना ही अपने लिए हितकर मानने लगे।

इन्हीं कारणों से इस देश का धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक पतन हुआ और इन्हीं कारणों से इस देश के लोग, राजनैतिक स्वतन्त्रता खोकर, जिन लोगों में ये दुर्गुण यहाँ के लोगों से कम थे, उनके आधीन हो गये।

दूसरी तरफ, जो देश वर्तमान में उन्नतिशील हैं, उनकी उन्नति का कारण थोड़ा या बहुत, जाने या अनजाने, व्यावहारिक वेदान्त का आचरण ही है। उन देशों में दार्शनिक और वैज्ञानिक लोग ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों साधारण जनता उनके पीछे चलती रहती है। आपस में एकता और प्रेम इतना बढ़ा हुआ है कि वे एक दूसरे के साथ असत्य और छल-कपटका वर्ताव प्रायः नहीं करते, और प्रत्येक कार्य में सङ्घ-शक्ति का उपयोग करते हैं; व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ को, जातीय अहङ्कार और जातीय स्वार्थ के अन्तर्गत मानते हैं; जनता की सेवा और जनता के हित के लिए व्यक्तिगत शरीर पर कष्ट झेलने और मरने तक को भी सदा

तैयार रहते हैं; व्यवहार में अन्धविश्वास की रूढ़ियों तथा मानसिक दुर्बलताओं को बाधक नहीं होने देते; स्वावलम्बन में आत्माभिमान मानते हैं और परावलम्बन एवं दासता के भावों को बहुत हीन एवं त्याज्य समझते हैं; भूतकाल को अनावश्यक महत्त्व न देकर वर्तमान और भविष्य पर विशेष ध्यान रखते हैं, और अपनी त्रुटियों का प्रकट होना हितकर समझते हैं। इन सद्गुणों के कारण ही उन देशों की उन्नति हुई है और वे दूसरों पर आधिपत्य करते हैं।

भारतीयों के लिए कुशल इतनी ही है कि जिस तरह भौतिक शरीर के बिगड़ जाने अथवा नाश होने पर भी अव्यय, अविनाशी जीवात्मा ज्यों का त्यों बना रहता है; उसी तरह आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी भौतिक शरीर के अस्तव्यस्त होने पर भी उसका मूल सिद्धान्त, सत्य और सनातन होने के कारण, ज्यों का त्यों विद्यमान है, अन्य संस्कृतियों के अपूर्ण और अस्थिर सिद्धान्तों की तरह वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और न उसका कुछ बिगड़ ही सकता है। इसलिए आर्य-संस्कृति यदि अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर अपने बिगड़े हुए व्यवहार-रूपी विकृत कलेवर को बदल कर, उसको वर्तमान समय की परिस्थिति के अनुकूल बना ले, तो वह अपनी पूर्व उन्नतावस्था पुनः प्राप्त करके सर्व शिरोमणि हो सकती है, और इस देश की जनता से सभी क्लेश मिट कर सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः यदि हमें इस भयानक अवस्था से मुक्ति पाकर, दूसरे देशों की प्रतिद्वन्द्विता में जीवित रहना है, तो हमें पुनः ब्रह्मविद्या का प्रचार करना चाहिए, अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता का असली तात्पर्य समझ कर सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करने की व्यवस्थाएँ बना कर जनता को यथायोग्य उन पर चलाने का प्रबन्ध करना चाहिए।

जिस तरह मरा हुआ शरीर पुनः पूर्व रूप में जीवित नहीं किया जा सकता, उसी तरह प्राचीन काल की मुर्दा व्यवस्थाएँ, बिलकुल उसी रूप में पुनः प्रचलित नहीं की जा सकतीं; न दूसरे देशों एवं अन्य संस्कृतियों के लोगों का अन्धानुकरण ही हमारे लिए हितकर हो सकता है, क्योंकि अन्य संस्कृतियों के सिद्धान्त बहुत सङ्कुचित हैं अर्थात् उनका क्षेत्र किसी देश-विशेष या जाति-विशेष या समाज-विशेष तक ही परिमित है, इसलिए वे अपूर्ण और अस्थिर भी हैं, उनसे सच्चा एवं अक्षय सुख तथा सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु हमारी संस्कृति का मूल सिद्धान्त व्यापक होने के कारण उसका क्षेत्र असीम और सार्वजनिक है, इसलिए वह पूर्ण एवं नित्य है; अतः उसके आधार पर ही अपनी व्यावहारिकव्यवस्थाएँ, समयानुकूल बाँधते रहना हमारे लिए विशेष हितकर हो सकता है। हाँ, अन्य संस्कृतियों की भी जो-जो बातें हमारी वर्तमान परिस्थिति के उपयुक्त और हितकर हों, उनकी आध्यात्मिक दृष्टि

से छान-बीन करके उनसे हमें लाभ उठाना चाहिए; और जो-जो प्राचीन व्यवस्थाएँ हमारे यहाँ अब तक प्रचलित हैं, उनमें से जो उसी रूप में अथवा संशोधित होकर, वर्तमान समय की परिस्थिति के उपयुक्त तथा हितकर हों, उनका यथायोग्य उपयोग करना चाहिए। हमको द्वेष किसीसे भी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि प्राचीन और नवीन सभी बातें हमारी संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हैं; इसलिए हमको यथायोग्य सबका सदुपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से इस देश की वास्तविक उन्नति ही न होगी, किन्तु सारे संसार को उसका अनुसरण करना पड़ेगा।

क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक वेदान्त ही हमारी संस्कृति का मूल आधार है, और उसीके अनुसार आचरण करने से हमारी उन्नति सम्भव है, इसलिए उसी विषय के निरूपण करने का प्रयत्न इस पुस्तक में आगे किया जायगा।

व्यावहारिक वेदान्त

यह बात उपोद्घात में कह आये हैं कि "व्यावहारिक वेदान्त" के आचरण से ही सच्चा सुख अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो सकती है। अब सबसे पहले इस विषय पर विचार करना चाहिए कि "वेदान्त" क्या है और व्यवहार में उसका उपयोग किस तरह होता है?

"वेदान्त" किसी विशिष्ट धर्म (मज़हब), मत, सम्प्रदाय या पन्थ का नाम नहीं है, और न किसी ग्रन्थ-विशेष ही में "वेदान्त" परिमित है। "वेदान्त" शब्द का अर्थ है—जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा। जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के "अपने आप" में होती है। जब तक अपने से भिन्न कोई दूसरी वस्तु रहती है तब तक जानने का अन्त नहीं होता, क्योंकि जब तक जानने वाला (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) का अलग-अलग अस्तित्व रहता है, तब तक एक दूसरे का जानना अथवा ज्ञान बना रहता है; परन्तु जब जानने वाले (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) की पृथक्ता मिट कर एकता हो जाती है, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का, सबकी एकतारूप "अपने आप (Self)" में लय हो जाता है, तब जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता, केवल "अपना आप" ही शेष रहता है, जो जानने (ज्ञान) का विषय नहीं है; क्योंकि जब अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तभी जानने की क्रिया हो सकती है। अतः जानने का अन्त "अपने आप (Self)" में होता है।

दूसरे पदार्थ तो "अपने आप (Self)" से जाने जाते हैं, परन्तु जिससे सब जाने जाते हैं, उस "अपने आप (Self)" को किससे जाना जाय? वह तो स्वयं अपने अनुभव का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "मैं हूँ", इस विषय का किसीको अज्ञान नहीं है कि जिसे दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता हो। "अपने आप" से कोई अनजान नहीं है। यह कोई भी नहीं कहता कि "मैं नहीं हूँ"। "अपने आप" से भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनकी दूरी (पृथक्ता) मिट कर ज्यों-ज्यों समीपता (एकता) होती जाती है, त्यों-त्यों उनका ज्ञान बढ़ता जाता है, और जब सारी पृथक्ता—सारा अन्तर—मिट कर सबकी "अपने आप (Self)" में पूरी एकता हो जाती है तब ज्ञान की समाप्ति होकर केवल "अपने आप" का अनुभव मात्र ही शेष रह जाता है, अर्थात् सभी पृथक्ताओं का "अपने आप" में समावेश होने का अनुभव हो जाता है, अतः वह अनुभव ही "वेदान्त" है।

वेदान्त किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष, समाज-विशेष, देश-विशेष अथवा काल-विशेष में सीमाबद्ध नहीं है, क्योंकि "अपने आप" का भाव अर्थात् "मैं हूँ" यह अनुभव समस्त भूत-प्राणियों में, सब देश और सब काल में एक समान बना रहता है। अतः सबकी पूर्ण एकता-स्वरूप "अपने आप" का यथार्थ अनुभव ही "वेदान्त" है, चाहे वह अनुभव किसी भी व्यक्ति को हो। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि अपने आपका अनुभव तो सबको है, परन्तु उपरोक्त यथार्थ अनुभव विरलों को ही होता है। "मैं हूँ" यह तो सब अनुभव करते हैं, परन्तु "मैं क्या हूँ" इसका यथार्थ अनुभव सबको नहीं होता। अधिकांश लोग स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर ही को "अपना आप (Self)" माने हुए हैं। यह यथार्थ अनुभव नहीं है। किसी भी व्यक्ति का शरीर वास्तविक "अपना आप (Self)" नहीं है, क्योंकि शरीर तो अनेक और भिन्न-भिन्न हैं, उनमें एक दूसरे से विषमता है, और वे प्रतिक्षण बदलने एवं जन्मने-मरने वाले हैं, परन्तु "अपना आप (Self)" तो सबमें एक है और समान भाव से सदा विद्यमान तथा सदा एकसा रहता है। इसलिए परिवर्तन—शील शरीर "अपना आप (Self)" नहीं हो सकता, किन्तु जो सब शरीरों का आधार सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा है, जो प्रत्येक शरीर का रूप धारण करता है और प्रत्येक शरीर को चेतना देता है, जो प्रत्येक शरीर का अस्तित्व बनाये रखता है, जो प्रत्येक शरीर का प्रकाशक है और उसका ज्ञान रखता है एवं जो प्रत्येक शरीर को गति देता है, वही सच्चा "अपना आप (Self)" है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थूल शरीर के सब अवयवों—आँख, नाक, कान, मुख, सिर, हाथ, पांव, हड्डी, मांस, रक्त, नस, नाड़ी, चमड़ी आदि को "मेरे" कहता है, और चतुर्विध अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार)एवं पाप, पुण्य, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि सूक्ष्म शरीर के अवयवों और विकारों को भी "मेरे" कहता है। इससे स्पष्ट है कि वह "अपने आप" को स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का स्वामी मानता है। जागृत अवस्था में स्थूल शरीर के सब अवयवों द्वारा "मैं" यानी "अपना आप" स्थूल व्यापार करता है और नाना भाँति के स्थूल भोग भोगता है; स्वप्न अवस्था में जब स्थूल शरीर के सब व्यापार बन्द हो जाते हैं एवं उसका ज्ञान भी नहीं रहता, उस समय भी "मैं" यानी "अपना आप" सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वप्न के व्यापार करता है; और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा की अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों के व्यापार बन्द हो जाने पर एवं सुख-दुःख आदि का कुछ भी ज्ञान न रहने पर भी "मैं" यानी "अपना आप" कारण रूप से गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करता है और जागने पर

कहता है कि "मैं बड़े सुख से सोया"। इसी तरह तुरीय अवस्था अर्थात् आत्माकार-वृत्ति की निर्गुण अवस्था में सब प्रकार के शारीरिक व्यापारों से पृथक् रहते हुए भी "मैं", यानी "अपना आप" अपने आपके आत्मानन्द में स्थित रहता है। शरीरों के बनने अर्थात् जन्म के पूर्व, और उनके बिगड़ने अर्थात् मरने के बाद भी "मैं", यानी "अपना आप" अपने मन के संस्कारों अर्थात् मानसिक क्रियाओं के सञ्चित प्रभावों के अनुसार, कभी कारण रूप से तमोगुण की मूर्च्छित दशा में, अथवा पञ्च-भौतिक जड़ अवस्था में—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अथवा आकाश-रूप में—रहता है; उस दशा में चेतनता यद्यपि कारण-रूप से रहती तो है, परन्तु व्यक्त (प्रकट) नहीं होती। जब कुछ चेतनता के संस्कार उद्भव (विकसित) होते हैं, तब पृथ्वी में से (जड़ अवस्था से) निकल कर वनस्पति-रूप से रहता है; फिर अधिक चेतनता के संस्कार विकसित होने पर, वनस्पति-रूप में प्राणियों के उदर में जाकर, उनके रज-वीर्यरूप होकर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियाँ धारण करता है। इसी तरह अपने मन के संस्कारों के अनुसार कभी विकास की क्रमोन्नति की सीढ़ी चढ़ता और कभी उतरता हुआ नाना रूप धारण करता है। कभी सत्वगुण की प्रबलता-जन्य उन्नत संस्कारों के कारण क्रमोन्नति की क्रिया के विना ही विकास की उच्च अवस्थाओं में एकदम चढ़ जाता है; और जब सब संस्कारों और सङ्कल्पोंसे रहित होजाता है, तब नाम, रूप एवं क्रियाओं के विकारों से रहित होकर निर्विकार अवस्था में अपनी स्वमहिमा में स्थित रहता है। परन्तु किसी भी दशा में "मेरा" यानी "अपने आपका" कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह सत्-चित्-आनन्द है, इसलिए सदा बना रहता है (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ ब्रा० ३ और ४)।

सबके "अपने आप" के अस्तित्व से ही अन्य सबका अस्तित्व है। सबको सत्ता देने वाला "अपना आप=आत्मा" है। "अपने आप" बिना अन्य किसी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। जब "अपना आप" होता है, तब दूसरों की प्रतीति होती है। दूसरे सब पदार्थ तो परिवर्तनशील हैं—कभी प्रतीत होते हैं, कभी नहीं होते, कभी किसी प्रकार के प्रतीत होते हैं, कभी किसी प्रकार के; तथा उनके होने में संशय भी हो सकता है—इसलिए वे असत् हैं। परन्तु सबका "अपना आप" अपरिवर्तनशील है और सदा इकसार बना रहता है तथा "अपने आप" की प्रतीति में कभी अन्तर नहीं आता, वह सबके लिए निरन्तर इकसार बनी रहती है; न "अपने आप" के होने में कभी किसीको संशय ही होता है; इसलिए सबका "अपना आप" यानी आत्मा सत् है।

सबका "अपना आप" चेतन है अर्थात् स्वयं ज्ञान अथवा प्रकाश-रूप है। अन्य

सब वस्तुओं का प्रकाशक चेतनस्वरूप "अपना आप" है, वे सब "अपने आप" से जानी जाती हैं; परन्तु "अपने आप" को प्रकाश करने के लिए, अर्थात् अनुभव कराने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। अन्य किसी भी वस्तु की प्रतीति न होने पर भी "अपने आप" की प्रतीति सबको सदा बनी रहती है। अतः सबका "अपना आप" यानी आत्मा चित् है।

"अपना आप" सबको सदा अच्छा और प्यारा लगता है। "अपना आप" कभी किसीको दुःखदायक एवं अप्रिय और बुरा प्रतीत नहीं होता। अन्य सब वस्तुएँ "अपने आप" अर्थात् आत्मा के कारण अच्छी एवं प्यारी लगती हैं, अर्थात् जितने पदार्थ अपने मान लिये जाते हैं, और अपने अनुकूल होते हैं वे ही सुखदायक एवं प्यारे लगते हैं। जब कोई वस्तु बेगानी मानी जाती है अथवा अपने प्रतिकूल प्रतीत होती है तो वह प्यारी नहीं लगती। किसी भी पदार्थ में प्यारापन उसको अपनाने से उत्पन्न होता है। अन्य कोई भी पदार्थ सुखदायक एवं प्रिय न रहने पर भी "अपना आप" तो सबको सदा सुखदायक एवं प्यारा लगता है। इसलिए सबका "अपना आप" यानी आत्मा आनन्द है।

"अपने आप" (Self) के बिना कोई भी पदार्थ नहीं है। किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी वस्तु में, "अपने आप" (Salf) का अभाव अथवा वृद्धि-ह्रास (बढ़ना-घटना) नहीं होता; इसलिए "अपना आप" नित्य, सर्वव्यापक एवं सम अर्थात् सबमें एक समान और सदा एकसा रहने वाला है; और जो वस्तु नित्य, सर्वव्यापक एवं सम होती है, वह वस्तुतः एक ही होती है, उससे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं होता, क्योंकि एक से अधिक होने से उसमें नित्यता, सर्वव्यापकता एवं समता नहीं रहती।

सबके "अपने आप" यानी आत्मा के सत्, चित्, आनन्द, नित्य, सर्वव्यापक, सम और एक होने के विषय में कई तरह की शङ्काएँ उठती हैं, यथाः—

(१) यदि हमारा "अपना आप" सत् और नित्य है, तो हमारा जन्म-मरण क्यों होता है? क्योंकि सत् पदार्थ का तो कभी नाश नहीं होना चाहिए।

(२) यदि यह कहा जाय कि शरीर के साथ हमारा आत्मा जन्मता-मरता नहीं—जन्मने के पहले और मरने के बाद भी वह बना रहता है, तो जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व का ज्ञान हमें यहां क्यों नहीं रहता? तथा जन्म के पूर्व की बातें हमें याद क्यों नहीं रहती? एवं मरने का डर क्यों लगता है?

(३) यदि हमारा "अपना आप" चित् अर्थात् ज्ञान-स्वरूप है, तो फिर हम अल्पज्ञ क्यों हैं? संसार के सभी देश, काल और वस्तुओं का हमें ज्ञान क्यों नहीं होता?

(४) यदि हमारा "अपना आप" आनन्द है, तो हमें अनेक प्रकार के दुःख और बन्धन क्यों होते हैं? हम सदा सुखी और मुक्त ही क्यों नहीं रहते?

(५) यदि हमारा "अपना आप" सर्वव्यापक है, तो किसी विशेष देश और विशेष काल तथा विशेष व्यक्ति में ही हमारा अस्तित्व परिमित क्यों है? हम अपने को एक साथ सर्वत्र उपस्थित अनुभव क्यों नहीं करते?

(६) यदि हमारा सबका "अपना आप" सम है, तो एक दूसरे में इतनी विषमता क्यों है? कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई धनी और कोई निर्धन, कोई ऊँचा और कोई नीचा, कोई निर्बल और कोई सबल, कोई रोगी और कोई नीरोग, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख क्यों है? और एक ही व्यक्ति कभी सुखी और कभी दुःखी—आदि अनेक प्रकार की विषमताएँ दृष्टिगोचर क्यों हो रही हैं?

(७) यदि हमारा सबका "अपना आप" एक है, तो सबके सुख-दुःख और अन्य मानसिक विकार, एक दूसरे को अनुभव क्यों नहीं होते? सबका आपस में मेल क्यों नहीं रहता? अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग स्वभाव, अलग-अलग सुख-दुःख आदि क्यों होते हैं?

उपरोक्त शङ्काओं का समाधान नीचे लिखे अनुसार हैः—

(१) शरीरों के जन्मने और मरने से अपने वास्तविक आपका जन्मना-मरना नहीं होता, केवल स्वाँग का परिवर्तन होता है; न अपने वास्तविक आपकी उत्पत्ति और नाश ही होते हैं; इस विषय का खुलासा पहले कर आये हैं। शरीर तो पञ्च भूतों के सम्मिश्रण का बनाव है और वह बनाव प्रतिक्षण बदलता रहता है; शरीर का जन्मना पञ्च भूतों के सम्मिश्रण का एक विशेष रूप होता है और मरना उसका दूसरा रूप। इन रूपों के बदलने से उनके आधार पञ्च भूत और पञ्च भूतोंके आधार आत्मा—जो सबका "अपना आप" है—के अस्तित्व में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी अथवा विकार नहीं होते। आत्मा पञ्च भूतों के सम्मिश्रण का कभी कोई और कभी कोई स्वाँग (बनाव) धारण करता रहता है। शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद भी, पञ्च भूत ज्यों के त्यों बने रहते हैं—केवल नाम और रूप का उनमें परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन ही उत्पत्ति और नाश प्रतीत होते हैं।

उत्पत्ति और नाश सापेक्ष द्वन्द्व (जोड़े) हैं अर्थात् आपस में अन्योन्याश्रित हैं, अतः वास्तव में उत्पत्ति और नाश कुछ भी नहीं होता। सब शरीरों और पञ्च तत्त्वों का आधार आत्मा यानी "अपना आप", उक्त परिवर्तन की सब दशाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है, इसलिए उसकी सत्यता और नित्यता स्वतः सिद्ध है।

(२) इस जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व के ज्ञान के संस्कार हम सबमें रहते तो अवश्य हैं पर वे अप्रकट-रूपमें रहते हैं। यह इसीसे सिद्ध है कि इस शरीर की अबोध (शैशव) अवस्था में ही अनेक चेष्टाएँ हम ऐसी करते हैं जो पूर्वके अभ्यास बिना हो नहीं सकतीं और जिनका हमने इस जन्म में कभी अभ्यास नहीं किया—जैसे खाना, पीना, रोना, हँसना आदि, और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के तरह-तरह के स्वभाव और सुख-दुःख आदि जन्म के साथ ही लगे हुए रहते हैं, और यह बातें पूर्वजन्म के संस्कारों के बिना हो नहीं सकतीं। अब रही मरने के बाद हमारे अस्तित्व के अनुभव की बात, सो यद्यपि इस बात का सबको निश्चय है कि दस, बीस, पचास या अधिक से अधिक सौ वर्षों से अधिक यह शरीर नहीं रहेगा, फिर भी लम्बी मुद्दत के लिए ऐसे सामान—परलोक में विश्वास न रखने वाले भी एकत्र करते रहते हैं और अनेक प्रकार के ऐसे प्रबन्ध बाँधते रहते हैं कि जो उनके वर्तमान शरीर के उपयोग में नहीं आ सकते; परन्तु अपने उत्तराधिकारियों को, अपने मरने के बाद भी वे अपने ही समझते हैं अर्थात् मृत्यु के बाद भी उनसे अपना सम्बन्ध कायम रहना मानते हैं, तभी तो उनके लिए इतना परिश्रम करते हैं; नहीं तो यदि मरने के बाद अपने अस्तित्व की सर्वथा समाप्ति हो जाना मानते तो उत्तराधिकारियों से किसका सम्बन्ध रहता, जिनके लिए इतने प्रबन्ध बाँधने का परिश्रम किया जाता है। अतः हम लोग चाहे अपनी अल्पज्ञता के कारण प्रत्यक्ष में अनुभव न करें, परन्तु वास्तव में अपना अस्तित्व सदा बना रहना रूपान्तर से मानते ही हैं।

जन्म के पूर्व की बातें याद न रहने का कारण यह है कि प्रथम देह छोड़ कर दूसरी देह धारण करने के बीचमें दीर्घ काल का अन्तर बेहोशी यानी अचेतनता का पड़ता है, जिससे पूर्व के संस्कारों की स्मृति दब जाती है। इस शरीर में भी मूढ़ताग्रस्त तामसी जीवों की स्मृति कम होती है और शैशव अवस्था की बातें बड़े होने पर याद नहीं रहतीं, यद्यपि शरीर वही होता है। वर्तमान में भी हमारे शरीर में अनन्त क्रियाएँ ऐसी हो रही हैं जिनका हमको कुछ भी पता नहीं है यद्यपि उन क्रियाओं के करने वाले हम ही होते हैं। डाक्टरों ने भी अब विज्ञान द्वारा सिद्ध कर दया है कि छः-सात दिन तक लगातार बेहोशी रहे तो इसी शरीर के पहले के

संस्कारों की स्मृति नहीं रहती। जिन व्यक्तियों में तमोगुण की मात्रा कम होती है और सत्वगुण बढ़ा हुआ होता है, उनको पूर्व-जन्म की स्मृति तारतम्य से होती है। ऐसे कई व्यक्ति समय-समय पर देखने में आते हैं जिन्हें पूर्व-जन्म के बहुत से वृत्तान्त याद होते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। अधिकतर लोगों में तमोगुण की प्रबलता होने के कारण वे दीर्घ काल की अचेतन अवस्था से गुज़र कर जन्म लेते हैं, यही कारण है कि पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं रहती। जब हम सोते हैं, उस समय यदि पहले स्वप्न आकर पीछे लम्बी सुषुप्ति होती है तो यह स्वप्न याद नहीं रहता, परन्तु स्वप्न के बाद ही यदि हम जाग जाते हैं तो वह स्वप्न कुछ-कुछ याद रह जाता है।

मृत्यु के विषय में चित्त में जो भय प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि सबके "अपने आप" यानी आत्मा का स्वभाव मरने का नहीं है, परन्तु उसके स्वभाव के प्रतिकूल, मरने की भावना उत्पन्न करने से दोनों विरोधी भावों के सङ्घर्ष होने का जो मन में विक्षेप होता है, वही भय-रूप से प्रतीत होता है। मृत्यु का भय निर्बल हृदय के अज्ञानी लोगों को अधिक होता है, विचारशील और वीर लोगों को नहीं होता।

(३) हमारे अल्पज्ञ होने का कारण यह है कि हमने अपने आपको इस भौतिक शरीर के अन्दर ही कैद कर रक्खा है, अर्थात् हम अपने को एक साढ़े तीन हाथ का पुतला ही समझते हैं, और इस पुतले के इर्द-गिर्द के पदार्थों और इसके निकटवर्ती सम्बन्धियों में ही आसक्ति करके, उतने तक ही हमने अपने कार्यक्षेत्र की हद बाँध रक्खी है। यह बात प्रत्यक्ष है कि सङ्कुचित घेरे में रहने वाले व्यक्ति का ज्ञान परिमित ही होता है। जिस व्यक्ति का कार्यक्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही उसका ज्ञान भी अधिक विस्तृत होता है। जो लोग जितना ही अधिक देशाटन आदि करके जितने अधिक लोगों से मिलते हैं तथा जितने अधिक स्थान और पदार्थ देखते हैं, उतना ही उनको उन विषयों का अधिक ज्ञान होता है। संसार में ज्ञान की वृद्धि, सङ्कुचित व्यक्तित्व के भाव कम करके, अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने से अर्थात् एकता बढ़ाने से ही हो सकती है और जो लोग अपना ज्ञान बढ़ा सके हैं वे इसी साधन से बढ़ा सके हैं। वर्तमान में भी भौतिक विज्ञान में जो लोग इतने उन्नत हुए हैं—यहाँ तक कि सारी पृथ्वी के इर्द-गिर्द एक ही विद्युत्-शक्ति की व्यापकता का ज्ञान प्राप्त करके विश्व की भौतिक एकता सिद्ध करने के निकट पहुँच गये हैं—वे भी एकता के अवलम्बन से ही ऐसा कर सके हैं, अर्थात् उन्होंने केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और व्यक्तिगत सुखों पर ही लक्ष्य नहीं

रक्खा, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और सुखों को दूसरों के स्वार्थों और सुखों के अन्तर्गत समझ कर कार्य किया—यहाँ तक कि बहुत से आविष्कर्ताओं ने अपनी सारी आयु उसीमें बिता दी और बहुतों ने प्राण भी दे दिये और जब सफलता मिली तो उससे सबने लाभ उठाया। इसी तरह यदि हम व्यक्तित्व के भाव से ऊपर उठ कर दूसरों से अपनी एकता बढ़ाते-बढ़ाते सर्वात्म-भाव तक पहुँच जायँ, तो हमको सबका ज्ञान हो सकता है। आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है। स्वयं हमने ही व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने ज्ञान के इर्द-गिर्द व्यक्तित्व की चारदीवारी खड़ी कर रक्खी है। यद्यपि आँखों में दूर तक देखने की शक्ति होती है और दीपक में दूर तक प्रकाश डालने की ज्योति होती है, परन्तु उनके सामने यदि आड़ खड़ी कर दी जाय तो आँखें दूर तक देख नहीं सकेंगी, और दीपक दूर तक प्रकाश नहीं डाल सकेगा।

(४) सांसारिक विषयों से होने वाले दुःख अथवा सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख की अपेक्षा से दुःख और दुःख की अपेक्षा से सुख प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये सुख और दुःख दोनों ही झूठे हैं। यदि ये सच्चे होते तो प्रत्येक अपने ही आधार पर, यानी स्वतन्त्र रूप से सदा बने रहते। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख की अवस्था कभी स्थिर नहीं रहती, और न किसी पदार्थ में सुख अथवा दुःख सदा इकसार बना रहता है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी अवस्था में फिर वही पदार्थ महान् दुःखदायक हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में सुख-दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और सुषुप्ति अवस्था प्राणि-मात्र के लिए जाग्रत और स्वप्न दोनों से बहुत बड़ी होती है। आत्मज्ञान की तुरीय अवस्था और योग की समाधि अवस्था में भी सुख-दुःख का भान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सुख-दुःख दोनों ही कल्पित हैं। जिस वस्तु में हमारी जैसी भावना होती है वह वैसी ही सुखदायक अथवा दुःखदायक बन जाती है। हम अपनी ही खुशी से और अपने ही मन के सङ्कल्प से सुख और दुःख की कल्पना करके सुखी-दुःखी होते हैं। यदि हम चाहें तो सुख-दुःख की कल्पना से रहित हो सकते हैं। फिर सुख-दुःख ज़रा भी न रहेंगे। हमारा वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही इन सुख-दुःखों से रहित स्वतः आनन्दस्वरूप है।

नाना भांति के बन्धन भी हमने अपनी इच्छानुसार व्यक्तित्व के अहङ्कार से कल्पित कर लिये हैं। यदि हम चाहें तो उनको फौरन हटा सकते हैं; क्योंकि हमारा वास्तविक "अपना आप (आत्मा)" तो स्वभाव से ही मुक्त है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सुख तो सब चाहते हैं, परन्तु दुःख की इच्छा

कोई नहीं करता, फिर दुःख हमने स्वतः कैसे उत्पन्न कर लिये ? इसी तरह बन्धन में भी कोई नहीं रहना चाहता, फिर बन्धन हमने स्वयं कैसे उत्पन्न कर लिये ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है, कि यद्यपि हम अपने लिए दुःख और बन्धन नहीं चाहते, परन्तु यह बात भी बिलकुल सत्य है कि दुःख और बन्धन हमने स्वयं ही उत्पन्न किये हैं और कर रहे हैं और उनसे अलग होना नहीं चाहते। पहले कह आये हैं कि सांसारिक पदार्थों का सुख और दुःख, दोनों सापेक्ष हैं, एक का होना दूसरे पर निर्भर है, एकके होने के लिए दूसरे का उतनी ही मात्रा में होना अवि-वार्य है। जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है उतनी ही मात्रा में दूसरा साथ ही उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि यों कहें तो अनुचित नहीं होगा कि ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं—एक क्रिया (action) और दूसरा उसकी प्रतिक्रिया (re-action) है, अतः ये दोनों साथ ही रहते हैं। इसलिए जब हम आनन्द-स्वरूप अपने आपको भूल कर सांसारिक विषयों के सुख की कामना करके उनमें आसक्ति करते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया—दुःख स्वयं उत्पन्न करते हैं। जिस सांसारिक पदार्थ का संयोग होता है, उसका वियोग होना अनिवार्य है; अतः जिसके संयोग से जितना सुख माना जाता है, उसके वियोग में उतना ही दुःख होना अवश्यम्भावी है, और इन सांसारिक सुखों की आसक्ति हम छोड़ना नहीं चाहते, अर्थात् हम सदा इन सुखों को भोगते रहने ही की इच्छा रखते हैं—कभी इनका वियोग सहन नहीं कर सकते; और जब कि सुख और दुःख साथ ही रहते हैं, तो इससे स्वतः सिद्ध है कि दुःखों को भी हम छोड़ना नहीं चाहते। यदि किसीको नशे आदि की आदत पड़ जाती है, तो वह उससे बहुत दुःखी होता है; परन्तु जब तक वह उस व्यसन को नहीं छोड़ देता तब तक वह उस दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता—यद्यपि आदत डालना और छोड़ना उसके अधिकार में होता है।

अपने आपके साथ व्यक्तित्व के भाव की उपाधि और उस व्यक्तित्व के साथ जाति-विशेष, नाम-विशेष, कुल-विशेष, धर्म-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, समाज-विशेष, निवास-विशेष, पद-विशेष और प्रतिष्ठा-विशेष आदि अनेक प्रकार की उपाधियों के अहङ्कार के बन्धन और अनन्त प्रकार की कामनाएँ हम स्वयं अपने साथ लगाते हैं, और उन विविध प्रकार की उपाधियों एवं कामनाओं के कारण अपनी आवश्यकताएँ भी बहुत बढ़ा लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक उपाधि के साथ उनकी विशेष आवश्यकताएँ लगी हुई रहती हैं; अतः जितनी अधिक उपाधियाँ होती हैं उतना ही अधिक व्यक्तित्व का अहङ्कार और उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ होती हैं, और व्यक्तित्व के अहङ्कार, व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं कामनाओं की आसक्ति ही मनुष्यों को

परवश करती है। फिर हमको उन उपाधियों के बन्धन और कामनाओं की परवशताएँ इतनी प्यारी लगती हैं कि उनसे ऊपर उठ कर उनसे परे अपने आपके यथार्थ-स्वरूप में स्थित होना नहीं चाहते, और उनसे ऊँचे उठे बिना अर्थात् उनकी आसक्ति से रहित हुए बिना बन्धनों से मुक्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि हम स्वयं ही बन्धनों से मुक्त होना नहीं चाहते। जो उन उपाधियों और कामनाओं से जितना ही ऊपर उठता है अर्थात् उनमें जितनी कम आसक्ति रखता है, उतना ही वह बन्धनों से मुक्त होता है। वास्तव में सबका "अपना आप" तो आनन्द और मुक्त-स्वरूप ही है। "अपने आप" के असली स्वरूप, यानी सर्वात्म-भाव को भूल कर व्यक्तित्व की उपाधियों और व्यक्तिगत विषय-सुखों की कामना ही में आसक्त होने से दुःख और बन्धन प्रतीत होते हैं।

(५) हमने अपनी ही इच्छा से व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति करके अपने सर्व-व्यापक-भाव के बदले छोटे से शरीर ही को "अपना आप" मान कर, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले विशेष देश, विशेष काल, विशेष व्यक्तियों और विशेष वस्तुओं के साथ राग की आसक्ति कर ली, तब शेष सब देश, काल, व्यक्ति और वस्तुओं से द्वेष स्वतः ही हो गया; क्योंकि राग की प्रतिक्रिया द्वेष होना स्वाभाविक है। अतः जितनी थोड़ी सी हद तक हमने अपना सम्बन्ध जोड़ा, उतनी थोड़ी सी हद तक ही अपना अस्तित्व परिमित कर लिया; बाकी सबसे हमने अपने अस्तित्व का सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जेल की चारदीवारी के अन्दर कैद होने वाले का अस्तित्व जेल की चारदीवारी तक ही सीमाबद्ध रह जाता है। यदि वह जेल से अपनी मुक्ति कर ले तो उसके बाहर, उसके अस्तित्व का सम्बन्ध विस्तृत हो सकता है। इसी तरह व्यक्तित्व के भाव-रूपी जेलखाने से यदि हम बाहर निकल कर सर्वात्म-भाव में अपनी स्थिति कर लें तो हम अपनी सर्वव्यापकता का अनुभव कर सकते हैं। पर न तो हम व्यक्तित्व का भाव छोड़ना चाहते हैं और न सर्वव्यापक होना ही।

(६) सब विषमताएँ हमने अपनी इच्छा से उत्पन्न की हैं और कर रहे हैं। संसार के सभी पदार्थों में हम लोग एक दूसरे से बढ़ाचढ़ी करने की दौड़-धूप में लगे हुए हैं। हमारे जितने प्रयत्न होते हैं वे एक दूसरे से अधिक सुखी, अधिक सम्पत्तिशाली, अधिक बलवान् और अधिक उन्नत होने के लिए होते हैं। एक दूसरे से आगे निकलने के लिए दिन-रात घुड़-दौड़सी होती रहती है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे को गिराने एवं एक दूसरे को कष्ट देने के लिए, एक दूसरे से छीन-झपट सदा चलती रहती है। जब हम दूसरों को

अपने से पृथक् समझ कर उनको दबाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे भी हमें दबाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं; अतः इन्हीं चेष्टाओं द्वारा अनन्त प्रकार की विषमताएँ हम ही उत्पन्न करते हैं। यदि हम इस तरह की खींचातानी छोड़ दें तो कोई विषमता न रहे; क्योंकि वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही सम है। परन्तु हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए बढ़ाचढ़ी की खींचातानियों को छोड़ना नहीं चाहते, फलतः विषमताएँ मिटाना नहीं चाहते। वर्तमान समय में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जगत् में विषमताएँ इतने भयानक-रूप से बढ़ गई हैं कि लोग अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए संसार के प्रायः सभी राष्ट्र छटपटा रहे हैं, और बहुत से विचारशील पुरुष यह अनुभव करते हैं कि जब तक अलग-अलग व्यक्तिगत और भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय स्वार्थों की खींचातानियाँ छोड़ कर, सबकी एकता स्वीकार करके, सबके सम्मिलित स्वार्थों के लिए प्रयत्न नहीं किया जायगा, तब तक सुख-शान्ति नहीं हो सकती (क्योंकि जगत् वास्तव में एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण एक दूसरे के सुख-दुःख की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव आपस में पड़े बिना कदापि नहीं रहता); परन्तु अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थों के अन्तर्गत मानना कोई भी राष्ट्र वास्तव में नहीं चाहता, इसलिए विषमताएँ और उनसे होने वाले दुःख भी नहीं मिट सकते। परन्तु इतनी विषमताएँ होने पर भी सबका "अपना वास्तविक आप = आत्मा" तो सम ही रहता है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है—उसमें सब विषमताओं का एकीकरण हो जाने से सबका एकत्व-भाव सम हो जाता है। सुखी-दुःखी, ऊँचा-नीचा, धनी-ग़रीब आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) की सभी विषमताएँ सापेक्ष हैं, जितनी मात्रा में एक होती है, उतनी ही मात्रा में दूसरी होती है। सबका एकीकरण हो जाने से आपस में एक दूसरे से कट कर कोई विषमता शेष नहीं रहती—सर्वत्र समता हो जाती है। अतः जिन आत्मज्ञानी महापुरुषों ने सबकी एकता का सच्चा अनुभव कर लिया है, उनके लिए कोई विषमता नहीं है; परन्तु जो लोग एकता को स्वीकार न करके, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार में उलझ रहे हैं, उनको विषमता-जन्य दुःख हुए बिना नहीं रहते।

(७) हम, सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के भाव को भुला कर एवं अलग-अलग व्यक्तित्व के भाव को सच्चा मान कर उसके अनुसार आचरण करते रहते हैं, इसीसे हमें एक दूसरे के सुख-दुःख आदि विकारों की प्रतीति नहीं होती। जितने व्यक्तियों के साथ, हम जिस दर्जे की अपनी एकता मानते हैं, उतने व्यक्तियों के सुख-दुःखादि का अनुभव हमको उसी दर्जे का होता है। अपने शरीर के साथ हम

अपनी पूर्ण एकता मानते हैं, इससे अपने शरीर के सुख-दुःख का अनुभव हमको पूर्ण रूप से होता है। अपने शरीर के सम्बन्धी—अपने स्त्री-पुत्रादिकों को अपने सब से निकट के सम्बन्धी मान कर उनके साथ दूसरों की अपेक्षा अधिक एकता मानते हैं, अतः उनके सुख-दुःख आदि का प्रभाव हम पर अपने शरीर के सुख-दुःखों से दूसरे नम्बर का होता है। उनके बाद अपने कुटुम्बियों, उनके बाद जाति-बान्धवों, उनके बाद ग्रामनिवासियों और उनके बाद देशवासियों के साथ उत्तरोत्तर अपनी एकता हम कम मानते हैं, उसीके अनुसार उनके सुख-दुःखादि के अनुभव हमको उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं, और जिनके साथ हम अपनी एकता का सम्बन्ध बिलकुल नहीं मानते, उनके सुख-दुःख आदि का अनुभव हम बिलकुल नहीं करते। जिसने अपने आपको जिस तरह का मान रक्खा है और जिसने दूसरों के साथ जिस तरह का सम्बन्ध बना रक्खा है उसको उसी तरह के सुख-दुःख आदि प्रतीत होते हैं और उसका उसी तरह का स्वभाव बन जाता है। वास्तव में सबके असली "अपने आप" में न तो कोई भेदभाव है और न कोई सुख-दुःख ही। यदि पृथक्ता के भाव छोड़ कर सबसे एकता का सच्चा अनुभव हो जाय तो सुख-दुःख आदि द्वन्द्व कोई शेष ही न रहें।

साराँश यह कि हमने स्वयं अपने आपके वास्तविक स्वरूप को बिसार कर असत्य, अज्ञान, दुःख, अव्यापकत्व, विषमता, अनेकता आदि विपरीत भाव कल्पित कर लिये हैं और इन्हींको सच्चा मान कर इनमें आसक्ति कर ली है—यहाँ तक कि इनको छोड़ना ही नहीं चाहते—अतः जब तक हम "अपने आप" का यथार्थ अनुभव न करलें, तब तक ये भाव बने ही रहेंगे।

इस पर एक बड़ा ही पेचीदा प्रश्न उठता है कि हम अपने वास्तविक आपको यानी सबकी एकतास्वरूप आत्मा को भूले ही क्यों? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर "अपना आप" ही दे सकता है, क्योंकि अपनी करनी का सच्चा रहस्य अपने सिवाय दूसरा कौन जाने? जब तक अपने आपसे अलग दूसरे पर इस प्रश्न का उत्तरदायित्व रक्खा जाता है तब तक इसका पूर्णतया समाधान नहीं हो सकता। यह रहस्य कहने-सुनने से परे, केवल "अपने आप" के अनुभव का विषय है। जब "अपने आप" का पूर्ण रूपसे यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब इस प्रश्न का समाधान आप ही हो जाता है। इसलिए इस प्रश्न का समाधान दूसरों से करवाने के झमेले में न पड़ कर "अपने आप" का यथार्थ अनुभव प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि जिससे यह प्रश्न किया जाता है, वह भी तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार "अपना आप" ही है, तो यह पूरा अनुभव हो जाने से कि सब "अपना आप" ही है, फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योंकि उस दशा में जो कुछ असत्य, भूल, भ्रम

आदि प्रतीत होते हैं, वे सब "अपने आप" में ही लय हो जाते हैं और फिर "अपने आप" के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रहता—न कभी यह भूल या भ्रम वस्तुतः उत्पन्न हुए थे और न हैं; ये सब अपनी ही इच्छा अथवा संकल्प के खेल थे; आप ही ने यह विनोद किया था, ऐसा अनुभव हो जाता है। जिस तरह होली आदि त्योहारों के अवसर पर कई लोग अपनी खुशी से जान-बूझ कर अपने विनोद के लिए विदूषक (मूर्ख अथवा बावले) का स्वांग करके कष्ट उठाते हैं अथवा नशा लेकर बावले और व्याकुल हो जाते हैं, और स्वांग छोड़ने अथवा नशा उतरने पर फिरसे अपनी पहले वाली स्थिति में आ जाते हैं, उसी तरह सबका "अपना आप=आत्मा" अपनी खुशी से अपने विनोद के लिए यह भूल-भुलैया का खेल करके व्याकुल होता है और जब अपने आपका यथार्थ अनुभव कर लेता है तब समझ लेता है कि यह सब मेरी ही इच्छा का खेल था।

स्वप्न के अन्दर हम अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल, नाना भावों युक्त दृश्य देखते हैं और जाग्रत अवस्था की तरह ही सब व्यवहार करते हैं—उस समय हमको वह साक्षात् जाग्रत अवस्था ही प्रतीत होती है, स्वप्न का जरा भी सन्देह नहीं होता। हम स्वप्न के देखने वाले यानी द्रष्टा रूपसे नाना प्रकार की रचनाओं को देखते हैं और नाना प्रकार के व्यवहार उन रचनाओं के साथ करते हैं तथा उन रचनाओं को हमसे भिन्न एवं हमसे पहले की—दूसरों की रची हुई मानते हैं। वास्तव में स्वप्न की रचनाओं और स्वप्न के द्रष्टा, दोनों के रचने वाले हम ही होते हैं—रचने वाले ही नहीं, किन्तु स्वप्न की रचनाएँ और उनके साथ व्यवहार करने वाले द्रष्टा, सब हम स्वयं ही बनते हैं। उसमें सुख, दुःख, भय, क्रोध आदि सभी विकार होते हैं, क्योंकि यद्यपि स्वप्न के द्रष्टा और दृश्य दोनों हम ही होते हैं, परन्तु स्वप्नावस्था के द्रष्टा होना तो हम उस समय अनुभव करते हैं, दृश्य होना हम अनुभव नहीं करते, अर्थात् यह अनुभव हम नहीं करते कि नाना भांति के दृश्य भी हम ही हैं, किन्तु दृश्य हम अपने से भिन्न मान कर उनके विकार हम स्वयं ही अपने लिए कल्पित कर लेते हैं। इतना होने पर भी जागने पर वे सभी मिथ्या हो जाते हैं; स्वप्न में इतने सुख-दुःख प्रतीत होने और भोग भोगने पर भी जागने पर हम पर उनका कोई प्रभाव नहीं रहता,क्योंकि जागने पर हम यह जान लेते हैं कि स्वप्न की जितनी रचनाएँ थीं वे सब झूठी थीं,सब हमारे ही मन की कल्पनाएँ थीं,हमसे भिन्न कुछ भी नहीं था। एक तरफ हम भोक्ता थे, दूसरी तरफ हम ही भोग्य थे। हम ही डरने वाले, हम ही डराने वाले, हम ही मरने वाले और हम ही मारने वाले आदि थे। यद्यपि स्वप्न में हमने अपने को वास्तव ही में सुखी, दुखी, बद्ध, मुक्त आदि अनेक विकारों युक्त

अनुभव किया था परन्तु जागने पर उन सबको मिथ्या जान कर चित्त पर उनका कोई प्रभाव नहीं रक्खा। वास्तव में न हम कभी दुखी हुए और न हम कभी किसीसे बँधे। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमको यह विकार कहाँ से हुए। इसी तरह यद्यपि जाग्रत जगत् का भी दृश्य और उसके द्रष्टा दोनों हम ही हैं, परन्तु अज्ञान दशा में द्रष्टा अथवा कर्ता अथवा भोक्ता तो हम अपने को मानते हैं—दृश्य अथवा कर्म अथवा भोग्य हम अपने से भिन्न तथा दूसरे के रचे हुए मानते हैं और इसीसे नाना भाँति के सुख-दुःख आदि विकार हम अपने लिए स्वयं ही कल्पित कर लेते हैं। परन्तु आत्मज्ञान अर्थात् "अपने आप" का यथार्थ अनुभव हो जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि जगत् का नानात्व सब हमारे ही मन की कल्पना थी—हमसे भिन्न कुछ नहीं था। हम ही द्रष्टा, कर्ता अथवा भोक्ता थे और हम ही दृश्य, कर्म अथवा भोग्य थे। अतः वास्तव में न हम कभी दुखी हुए, न हम किसीसे बँधे, क्योंकि दुःख या बन्धन हमसे भिन्न कुछ था हो नहीं; फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हममें ये विकार कहांसे आये थे।

प्रसङ्गवश यहां स्वप्न के विषय में कुछ खुलासा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि स्वप्न क्या है, इस विषय में बहुत मतभेद है। स्वप्न मन के सङ्कल्पों की सूक्ष्म सृष्टि है। पूर्व और वर्तमान के शारीरिक और मानसिक व्यापारों अथवा कर्मों के अनुसार जिस तरह की वासनाओं के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते हैं, उन्हींके अनुसार मन में नाना भाँति के सङ्कल्प उठते हैं, और वे सङ्कल्प ही सूक्ष्म (स्वप्न) सृष्टि-रूप होते हैं; और वही स्थूल होकर जाग्रत सृष्टि-रूप से व्यक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि मन और शरीरों द्वारा जो-जो क्रियाएँ हम सदा—अनेक जन्मों में—करते रहते हैं, उनके अनुसार मन में अनेक प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं; उन वासनाओं के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते रहते हैं और उन संस्कारों के अनुसार मन में तरह-तरह के सङ्कल्प उठते रहते हैं। पतले और चञ्चल संस्कारों से उत्पन्न मन के सङ्कल्प निर्बल और अदृढ़ होते हैं, अतः वे चञ्चल एवं अस्पष्ट सूक्ष्म (स्वप्न) सृष्टि-रूप से ही व्यक्त होते हैं; परन्तु जब संस्कार गहरे एवं दृढ़ हो जाते हैं तब उनसे उत्पन्न मन के सङ्कल्प, सूक्ष्म से स्थूल रूप होकर स्थूल (जाग्रत) सृष्टि रूप बन जाते हैं। इस तरह वासनात्मक मन के संकल्पों से सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, और सृष्टि के कर्मों से फिर वासना, और वासना से फिर सृष्टि होने का चक्कर चलता रहता है। तात्पर्य यह कि मन के सूक्ष्म संकल्प ही स्वप्न हैं। जिस तरह बाइस्कोप के फिल्मों में नाना प्रकार के दृश्य सूक्ष्म रूप से भरे हुए रहते हैं, और छोटी वस्तु को बड़ी दिखाने वाले काँच द्वारा बृहदाकार (Magnify) होकर बड़े-बड़े दृश्य बन जाते हैं, उसी तरह चित्त रूपी फ़िल्म पर पूर्व वासनाओं के

संस्कार सूक्ष्म रूपसे भरे हुए रहते हैं, और वे मन के संकल्प रूपसे स्वप्न-सृष्टि-रूप होकर बड़े आकार में व्यक्त होते हैं। परन्तु मन जब द्वैत भाव के विकारों से अथवा शरीर की अस्वस्थता से विक्षिप्त होता है, तभी वह उन संस्कारों को व्यक्त करता है। मन और शरीर की पूर्ण स्वस्थ दशा में स्वप्न नहीं आते। यदि वर्तमान में मन शुभ कार्यों और शुभ वासनाओं में लगा हुआ होता है, तो वह उनके अनुकूल ही पूर्वके शुभ कार्यों और शुभ वासनाओं के संस्कार व्यक्त करता है, जिनसे अच्छे स्वप्न दीखते हैं; और जब मन अशुभ कार्यों और बुरी वासनाओं में लगा हुआ होता है, तब वह उनके अनुकूल पूर्वके बुरे संस्कार व्यक्त करता है, जिनसे खोटे—भयावने स्वप्न दीखते हैं (बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ मन्त्र ६ से २०)। स्वप्नावस्था में वासनात्मक मन की प्रधानता रहती है—व्यवसायात्मिका बुद्धि का विकास प्रायः दबा हुआ रहता है; इसलिए वहाँके व्यवहारों में विवेक का प्रदर्शन बहुत कम होता है; और पूर्वके एकत्रित अनेक संस्कारों का सम्मिलित एवं अव्यवस्थित प्रदर्शन होने से घोटाला-सा हो जाता है, इसलिए अधिकतर स्वप्न विशृङ्खल यानी ऊटपटाँग होते हैं। जाग्रत अवस्था में भी विक्षिप्त मन में कभी-कभी पूर्वके संस्कारों का प्रादुर्भाव होकर स्वप्न की-सी दशा हो जाती है और अनहोने दृश्य दीखने लगते हैं तथा बिना किसी दृष्ट कारण के मन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु चित्त की स्वस्थता अर्थात् एकाग्रता में इस तरह के जाग्रत-स्वप्न नहीं होते।

सारांश यह कि जिस तरह स्वप्नावस्था के सब बनाव हमारी ही पूर्व और वर्तमान की मानसिक वासनाओं और क्रियाओं के संस्कारों का सूक्ष्म दृश्य होता है, उसी तरह जाग्रत अवस्था के सब बनाव भी हमारी ही पूर्व और वर्तमान की मानसिक वासनाओं और क्रियाओं के संस्कारों के स्थूल दृश्य-मात्र हैं, और जिस तरह हमारे ही रचे हुए स्वप्न-प्रपञ्च का रहस्य स्वप्नावस्था ही में, अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण जाना नहीं जा सकता—जागने पर ही अपने स्वरूप का ज्ञान होने से जाना जा सकता है; उसी तरह हमारे ही रचे हुए जाग्रत-प्रपञ्च का रहस्य भी अपने वास्तविक आपके अज्ञान की अवस्था में जाना नहीं जा सकता; जब अपने आपका यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब ही जाना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न आमतौर से उठता है कि जब हम ही अपने मन के संकल्प से सब रचनाएँ करते हैं, तो उनका हमको प्रत्यक्ष अनुभव और स्मरण क्यों नहीं होता और उन पर हमारा पूर्ण अधिकार क्यों नहीं होता? हम चाहते कुछ हैं और होता कुछ और ही है। इसका उत्तर यह है कि हमारे संकल्पों की रचनाओं का हमको अनुभव और स्मरण न होने और उन पर हमारा अधिकार न होने का कारण

हमारा अपना ही स्वीकार किया हुआ अज्ञान, अल्पज्ञता अथवा विचारशक्ति (बुद्धि) की निर्बलता है। बहुत से कार्य ऐसे होते हैं कि जो हमने स्वयं प्रत्यक्ष रूपमें किये हैं और कर रहे हैं, परन्तु हमारे अपने ही अज्ञान अथवा अल्पज्ञता के कारण उनका हमको न तो स्मरण रहता है और न उनके करने का अनुभव ही। पूर्व जन्म के कर्मों की बात छोड़ दी जाय तो भी; इसी जन्म में बाल्यावस्था में हमने इसी शरीर से ऐसे बहुत से काम किये हैं जिनका प्रभाव हमारे पीछेके जीवन पर पड़ता है, परन्तु उन कामों की हमको कुछ भी स्मृति नहीं रहती, और उन किये हुए कामों का फल जब हम भोगते हैं, तो उसमें हम अपना कोई कर्तृत्व नहीं मानते। वर्तमान में भी हमारे शरीरों में अनन्त प्रकार की क्रियाएँ ऐसी हो रही हैं जिनका करने वाला हमारे अपने सिवाय और कोई नहीं होता, परन्तु हमको उनका कुछ भी पता नहीं है कि हम उन्हें कर रहे हैं, न हमको यह ज्ञान है कि वे किस प्रकार हो रही हैं,और न उन पर हमारा कोई अधिकार ही हमको प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए:—शरीर के अन्दर खाये हुए पदार्थों की पाचन-क्रिया; रस, खून आदि बनने की क्रिया और उनका परिचालन; मल-मूत्र आदि की उत्पत्ति और निकास; अङ्ग-प्रत्यङ्गों का बढ़ना-घटना; नख, केश, रोम आदि का निकलना; रोगादि विकारों की उत्पत्ति और शमन, इत्यादि। यद्यपि हमारी उपरोक्त क्रियाओं का हमको स्मरण और अनुभव नहीं होता, तथापि उनके कर्ता हम ही होते हैं—हमारे सिवाय दूसरा कोई नहीं होता; क्योंकि क्रियाएँ सब हमारे शरीर के अन्दर, उसकी भीतरी शक्ति द्वारा होती हैं, कोई बाहरी शक्ति आकर नहीं करती, और वह भीतरी शक्ति हम ही हैं—हमारे सिवाय दूसरी कोई हो नहीं सकती। बात यह है कि जो-जो काम हम अपनी छोटी-सी (व्यष्टि) बुद्धि की आड़ से यानी पृथक्ता के भाव की सावधानी-पूर्वक करते हैं, उनको तो हम अपने किये हुए मानते हैं और उन पर अपना अधिकार भी मानते हैं, परन्तु अपनी व्यष्टि बुद्धि के उपयोग बिना अपने समष्टि भाव के किये हुए कर्मों को हम अपने किये हुए और उन पर अपना अधिकार नहीं मानते। जब कि हमारे अपने शरीर के अन्दर हमारी ही की हुई क्रियाओंका हम अनुभव नहीं करते और उनके होने न होने पर हम अपना कोई अधिकार नहीं मानते, तो शरीर के बाहर होने वाली घटनाओं का अनुभव और उन पर अधिकार कैसे हो सकता है? परन्तु अनुभव न होने पर और उन पर अधिकार न मानने पर भी, हमारा जगत् हमारे ही सङ्कल्पों और कर्मों की रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। हमारे ही भूतकाल के और वर्तमान के अच्छे-बुरे कर्मों और मन के सङ्कल्पों के अनुसार हम अपने इर्द-गिर्द का घेरा अर्थात् अपने से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि निर्माण करते हैं। यदि हमारे सङ्कल्प और आचरण अच्छे और सबके लिए हितकर होते हैं, तो उन्हींके अनुसार हमारी सृष्टि हमको सुखदायक होती है, और

यदि हमारे सङ्कल्प और आचरण इसके विपरीत होते हैं तो हमारी सृष्टि भी इसके विपरीत होती है। वास्तव में हमारे जगत् के रचयिता हम ही हैं। जिस तरह शरीर के अन्दर की क्रियाओं का अनुभव और उन पर अधिकार हम अपने मन की वृत्तियों को अन्तर्मुख अर्थात् एकाग्र करके प्राप्त कर सकते हैं, उसी तरह शरीर के बाहर की समष्टि क्रियाओं को हम समष्टि जगत् से एकता करके अपनी ज्ञान-शक्ति को बढ़ा कर जान सकते हैं, और उन पर अधिकार भी प्राप्त कर सकते हैं। और जिस प्रकार वृत्ति जब तक भिन्नता के भावों में बहिर्मुख अर्थात् बिखरी हुई रहती है, तब तक शरीर के अन्दर की क्रियाओं का ज्ञान होना सम्भव नहीं; उसी तरह हम जब तक दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार की चारदीवारी में घिरे रहते हैं और अपने छोटे-से संकुचित दायरे के सिवाय दूसरे सारे जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद किये हुए हैं, तब तक जगत् की घटनाओं के विषय में यथार्थ ज्ञान और उन पर अधिकार प्राप्त कर सकना असम्भव है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या हम मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ करने में स्वतन्त्र हैं ? क्या कर्म करना पूर्णतया हमारे अधिकार में है? प्रत्यक्ष अनुभव से तो इस विषय में साधारण लोगों को स्वतन्त्रता बहुत कम प्रतीत होती है; इसलिए यहाँ कर्मों के विषय में संक्षेप से विचार किया जाता है। कर्म चाहे मानसिक हों या शारीरिक, सब जड़ हैं, अतः वे स्वयं (अपने आप) सम्पादित नहीं होते किन्तु चेतन की अध्यक्षता से उनका सम्पादन होता है, अर्थात चेतन आत्मा ही कर्मों का सञ्चालक है, और जो किसी कार्य का सञ्चालक होता है, वह कार्य उसीके अधिकार में होता है। अतः यदि हम अपने को चेतन आत्मा अनुभव करें तब तो स्वभावतः हम कर्मों के स्वामी हैं और कर्म करने में पूरे स्वतन्त्र हैं; परन्तु यदि हम अपने को जड़ शरीर का पुतला मान कर शरीर के विषयों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों ही में आसक्त हो जायँ तो हम कर्मों के आधीन हो जाते हैं। यद्यपि कर्मरूपी जगत् को आत्मा ही अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक रचता है, परन्तु अपने ही रचे हुए कर्मों के मोह में फँस कर जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, तब उनके आधीन होकर, नदी की बाढ़ में बहने वालों की तरह, कर्मों के प्रवाह में बहता चला जाता है—और जब तक उस मोहरूपी निर्बलता को हटा कर आत्मानुभवरूपी शक्ति का उपयोग नहीं करता, तब तक कर्मरूपी नदी के प्रवाह से निकलने में असमर्थ रहता है। शरीर और इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। जिनका मन बुद्धि के आधीन न रह कर इन्द्रियों के वश में हो जाता है, उनको मानसिक और शारीरिक कर्म करने में कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती; परन्तु जिनका मन बुद्धि के आधीन रहता है और

बुद्धि सात्विक (आत्माभिमुख) होती है, वे कर्म करने में स्वतन्त्र होते हैं। बुद्धि जितनी अधिक सात्विक (आत्माभिमुख) होती है, उतनी ही स्वतन्त्रता अधिक होती है और जितनी कम सात्विक होती है उतनी ही स्वतन्त्रता कम होती है। रज-तमप्रधान बुद्धि, मन को अपने आधीन नहीं रख सकती, किन्तु खुद मन के आधीन हो जाती है, और मन इन्द्रियों के वश में हो जाता है। इन्द्रियों द्वारा कर्म होते हैं अतः बुद्धि कर्मानुसारिणी हो जाती है, अर्थात् जैसे कर्म किये जाते हैं वैसे ही विचार उत्पन्न होने लगते हैं और फिर उन विचारों के अनुसार कर्म होते हैं। इसी तरह कर्मों के अनुसार बुद्धि और बुद्धि के अनुसार कर्मों का चक्कर निरन्तर चलता रहता है; और कर्मों के बन्धन से तब तक छुटकारा नहीं मिलता,जब तक कि बुद्धि को सात्विक अर्थात् आत्माभिमुख करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है। किसी सम्राट् ने अपने मनोरञ्जन के लिए स्वेच्छा से शिकार खेलने अथवा अन्य प्रकार के किसी खेल के लिए अपनी राजधानी से दूर, किसी विनोद के स्थल में जाकर वास किया। वहाँ नाना प्रकार के सुहावने, मन को मुग्ध करने वाले दृश्य और भोग-विलास की भाँति-भाँति की सामग्रियाँ, जो स्वयं उसने वहाँ रख छोड़ी थीं, उनमें उलझ कर वह अपने साम्राज्य को भूल गया और उसी विलास-भूमि में ममत्व करके निरन्तर वहाँ रहने लग गया; यहाँ तक कि अपने सम्राट्पन की उसको कुछ भी स्मृति न रही, और अपने को एक साधारण व्यक्ति मान कर अपने ही कर्मचारियों के आधीन हो गया। यद्यपि वह साम्राज्य का मालिक था और सारा देश, सारी सम्पत्ति तथा सब ऐश-आराम के सामान एवं सब कर्मचारी उसीके थे, परन्तु अपने पद के अज्ञान से वह एक तुच्छ व्यक्ति, एवं सबका आश्रित बन गया और सब कोई उसका अपमान करने लगे। यदि वह उस तुच्छ ऐश-आराम की क्रीड़ा-भूमि की आसक्ति छोड़ कर अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण करके, अपनी राजधानी में लौट आता तो उसकी हीनता और दीनता तुरन्त मिट जाती, फिर अपने साम्राज्य का स्वामी तो वह था ही। यही हाल प्रत्येक देहधारी जीवात्मा का है। उसने अपनी इच्छा से कर्म-रूप इस जगत् का खेल रचा और स्वयं ही अपनी मनोहर रचना में आसक्त होकर अपने असली स्वरूप और अपनी सर्वशक्तिमत्ता को बिसार कर अपने रचे हुए कर्मों के आधीन हो गया और सबके स्वामी होने के बदले उलटा कर्मों का दास बन गया। जब तक वह उलट कर अपने असली स्वरूप का फिरसे अनुभव न कर ले तब तक परवश होकर कर्मों के प्रवाह में बहता ही रहता है। कर्मों के गुणन से वह प्रवाह अनन्त काल तक चलता ही रहता है, और उनके विविध प्रकार के सुख-दुःख आदि फल भोगते ही रहना पड़ता है, क्योंकि कर्म और फल का जोड़ा है,

फल कर्मों के साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं और फिर आगे कर्म उत्पन्न कर देते हैं। इस तरह कर्मों से फल और फलों से कर्म का चक्कर निरन्तर चलता ही रहता है, कभी टूटता नहीं; परन्तु जिस क्षण अपने आपका यथार्थ अनुभव कर लिया जाता है, उसी क्षण कर्मों के बन्धन के सारे भ्रम मिट कर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।

अज्ञान अवस्था में भी, बुद्धि के तारतम्य के अनुसार कर्म करने में थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता रहती है। जिनकी बुद्धि अधिक विकसित होती है, वे कर्म करने में अधिक स्वतन्त्र होते हैं और कर्मों के अच्छे-बुरे परिणाम का उत्तरदायित्व भी उन पर अधिक होता है; और जिनकी बुद्धि कम विकसित होती है, वे कर्म करने में कम स्वतन्त्र होते हैं और उनका उत्तरदायित्व भी कम रहता है। वर्तमान कानून में भी जानने वाले और अनजान के लिए बुरे कर्मों के दण्ड-विधान में अन्तर रहता है। यदि कर्म करने में बिलकुल परतन्त्रता ही रहती तो दण्ड-विधान और शास्त्रों की विधि-निषेध की मर्यादाएँ अर्थात् "अमुक काम करो और अमुक काम मत करो", इस तरह के विधान निरर्थक होते और पाप-पुण्य का भी कोई प्रश्न नहीं रहता।

उपरोक्त सारी व्याख्या का निष्कर्ष यह है कि असली "अपना आप" अर्थात् सच्चिदानन्द आत्मा, एक, नित्य, सर्वव्यापक और सम है, और वही सत् है; और जगत् में जो अनन्त प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे सब "अपने आप" यानी आत्मा ही के अनेक नाम और रूपों के कल्पित एवं प्रतिक्षण परिवर्तन-शील बनाव हैं, उससे भिन्न कुछ नहीं है; और जो वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है, स्थायी नहीं रहती, वह सत् नहीं हो सकती।

किसी भी प्राणी का शरीर लीजिए। गर्भाधान से लेकर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है, उसकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। वह गर्भ में अनेक प्रकार के रूप बदलता हुआ विशेष अवधि में पूरा शरीर बन कर गर्भ के बाहर आता है, और बाहर भी वही परिवर्तन की क्रिया निरन्तर चालू रहती है। कितने ही परमाणु शरीर में से प्रतिक्षण निकलते हैं, और कितने ही उसमें प्रवेश करते रहते हैं। शनैः-शनैः बाल्यावस्था से युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और फिर वृद्धावस्था हो जाती है। इन अवस्थाओं का परिवर्तन किसी विशेष समय में एकदम नहीं हो जाता, किन्तु प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है, और घटा-बढ़ी की क्रिया चालू रहती है। शरीर का विनाश, यद्यपि किसी विशेष समय में एकदम होता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह भी पहले निरन्तर होता रहता है, और उसकी सम्मिलित प्रतीति, मरने के समय के जोरदार परिवर्तन के धक्के से होती है।

इसी तरह स्थावर पदार्थों का भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। वनस्पति (वृक्ष, लता आदि) किसी विशेष समय में एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही हैं, किन्तु उनके बढ़ने-घटने की क्रिया भी प्रतिक्षण निरन्तर चालू रहती है। खनिज पदार्थ—हीरा, पन्ना, माणिक, सोना, चाँदी, पत्थर, मिट्टी आदि भी निरन्तर परिवर्तन की क्रिया में से गुज़रते हुए अपने-अपने प्राकृत रूपमें आते हैं, और फिर भी उनका परिवर्तन एवं वृद्धि-ह्रास चालू रहता है।

काल (समय) का भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, तथा शाम से लेकर सुबह तक, समय निरन्तर बदलता रहता है। इसी तरह ऋतु भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। सुबह के सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान में दोपहर की कड़ी धूप एकदम नहीं आ जाती और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अन्धकार भी अकस्मात् पृथ्वी-मण्डल को आच्छादित नहीं कर लेता; न जाड़े की सर्दी सहसा ग्रीष्म में परिणत होती है, किन्तु सभी परिवर्तन प्रतिक्षण निरन्तर होते रहते हैं। समय की जो शीघ्रता और विलम्ब प्रतीत होते हैं, वे भी इकसार और स्थायी नहीं होते। किसी प्राणी को जो काल बहुत थोड़ा प्रतीत होता है, वही दूसरों को लम्बा प्रतीत होता है; स्वप्नावस्था में थोड़ा काल भी बहुत लम्बा प्रतीत होता है—घड़ी भर के स्वप्न में वर्षों का अनुभव हो जाता है; और सुषुप्ति अवस्था में दीर्घ काल भी बहुत थोड़ा प्रतीत होता है—घण्टों की गाढ़ निद्रा एक क्षण के तुल्य प्रतीत होती है। जाग्रत अवस्था में भी सुख की अवस्था का काल अल्प और दुःख की अवस्था का काल बहुत लम्बा प्रतीत होता है। इसी तरह भूत-काल अल्प और भविष्यत् बहुत लम्बा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि काल भी इकसार नहीं रहता, वह भी निरन्तर बदलता रहता है।

यही अवस्था देश की है। किसी अवस्था में किसीकी दृष्टि में कोई देश बहुत विस्तृत और बहुत दूर प्रतीत होता है, और दूसरी अवस्था तथा दूसरे की दृष्टि में वही देश बहुत छोटा और निकट मालूम देता है। एक समय में कोई देश बहुत सुन्दर और सुहावना प्रतीत होता है, और दूसरे काल में वही महान् भयानक हो जाता है। किसी समय कोई नवीन देश उत्पन्न हो जाता है, और किसी समय किसी वर्तमान देश का प्रलय हो जाता है। वर्तमान में भौतिक विज्ञान, देश, काल और वस्तुओं के नानात्व का अस्थायीपन, स्थूल इन्द्रियों को भी प्रत्यक्ष दिखा रहा है और उनका एकत्व सिद्ध करने की ओर अग्रसर हो रहा है। बेतार का तार (Radio Telegraphy), बेतार का टेलीफ़ोन (Radio Telephony), बिना सम्बन्ध के दूर के दृश्य दिखाना (Radio Television) आदि आविष्कारों ने देश की दूरी और काल की लम्बाई

को समेट कर बहुत कम कर दिया है और सर्वत्र एक वाहक शक्ति का व्यापक होना सिद्ध कर दिया है। रेडियम (Radium) धातु के छोटे-छोटे कणों में भी अखूट तेज-राशि भरी हुई दिखा दी; और संसार के बड़े-बड़े दृश्य वाइस्कोप के फ़िल्मों में बन्द कर लिये गये हैं। ज्यों-ज्यों भौतिक विज्ञान आगे बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों उसके द्वारा भी एकता का अधिक प्रमाण मिलता जायगा। साराँश यह कि प्रत्यक्ष अनुभव और भौतिक विज्ञान भी जगत् की एकता को स्थायी, और भिन्नता को अस्थायी एवं परिवर्तनशील सिद्ध करता है; और जो वस्तु स्थायी नहीं होती वह सच्ची नहीं हो सकती, किन्तु मेस्मेरिज्म या जादू के खेल की तरह केवल दिखावटी होती है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। व्यवहार में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कल अथवा आज ही एक घण्टे बाद किसका क्या होगा, इसका किसीको कोई निश्चय नहीं हो सकता। यदि सचाई होती तो यह अनिश्चितता नहीं रहती। प्रतिक्षण पलटने वाले मनुष्य को सब झूठा कहते हैं। वाइस्कोप के परदे पर प्रतिक्षण पलटने वाले दिखाव को सच्ची क्रियाएँ कोई नहीं मानता।

इसके अतिरिक्त देश, काल और वस्तु, यानी संसार का कोई भी पदार्थ (देश, काल और वस्तु में संसार के सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है) सबको सदा एकसा प्रतीत भी नहीं होता। किसीको कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह की प्रतीत होती है। किसीको कोई वस्तु किसी अवस्था में अनुकूल प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती है। दिनचरों को सूर्य प्रकाश-रूप दीखता है, निशाचरों को अन्धकार-रूप। सूखे में वृष्टि सुहावनी लगती हैं, अतिवृष्टि के समय वर्षा भयानक प्रतीत होती है। भारतवर्ष में ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का तेज असह्य होता है, योरप में सूर्य के दर्शन को लोग तरसते हैं। प्यास से मरते हुए के लिए जल जीवनदाता है, वही जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता है। सुख-शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता है, अशान्ति और विपत्ति के समय उसको छोड़ भागना हितकर प्रतीत होता है। धन-धान्य आदि का संग्रह, सत्ता तथा मान-प्रतिष्ठा शान्ति के समय एवं योग्य व्यक्तियों के पास हों तो सुखदायक होते हैं, विप्लव के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पास वे ही महान् दुःखदायक होते हैं। सदाचारी व्यक्तियों की विद्या सबको लाभदायक होती है, दुराचारियों की विद्या से सबकी हानि होती है। पुत्रहीन गृहस्थ पुत्र-जन्म पर बड़ा हर्ष मानता है, विधवा स्त्री गर्भ में ही उसे मार डालना चाहती है। पतिव्रता स्त्री पति को और स्नेह करने वाला पति पत्नी को एवं सुपुत्र पिता को प्यारा लगता है,

इनसे विपरीत गुणों वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते हैं। सर्दी में जो गर्म कपड़े तथा गर्म आहार-विहार अच्छे लगते हैं, गर्मी में वे ही बुरे प्रतीत होते हैं। भूखे को भोजन बहुत स्वादिष्ट लगता है, अघाये हुए को उससे ग्लानि होती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत् का कोई भी व्यवहार सदा-सर्वदा एकसा नहीं रहता। यहाँ तक कि धर्म भी सदा एकसा नहीं रहता। किसी परिस्थिति में प्रेम, दया, सत्य, क्षमा, अहिंसा, शील, सन्तोष आदि सात्विक वृत्तियों का भी उलटा हानिकारक परिणाम होता है और उनके दुरुपयोग से बड़े अनर्थ होते हैं; और किसी परिस्थिति में काम, क्रोध, लोभ, भय आदि आसुरी भाव भी लाभदायक होते हैं— उनके सदुपयोग से लोगों का बड़ा हित होता है। अतः जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है, एक क्षण के लिए भी एकसी नहीं रहती, उसके किस रूप को सच्चा माना जाय ? सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर-बिन्दु (stand point) भी तो होना चाहिए। परन्तु जगत् की भिन्नता में ज़रा भी स्थिरता (स्थिर-बिन्दु) नहीं है, इसलिए वह सत्य नहीं कही जा सकती।

भिन्नता जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही वह कम स्थायी होती है, और उतनी ही जल्दी उसका परिवर्तन और नाश होता है, एवं उतनी ही शीघ्रता से उसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है; और वह जितनी कम होती है, उतनी ही अधिक स्थायी होती है और उतने ही विलम्ब एवं कठिनता से उसका निश्चय होता है। इसके विपरीत, एकता जितनी ही कम होती है, उतनी ही उसकी सत्यता कम ठहरती है और जितनी अधिक होती है, उतनी ही उसकी सत्यता अधिक स्थायी होती है। सम्पूर्ण भिन्नताओं और एकताओं के दिखाव का आधार—सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा, यानी सबका "अपना आप" पूर्ण रूप से स्थायी, अतः सर्वथा सत्य है। वही अपनी इच्छाशक्ति—प्रकृति से जगत्-रूप होकर निरन्तर बनने बिगड़ने वाले, क्षण-क्षण में परिवर्तनशील, नाना भाँति के नाम-रूपात्मक भिन्नता के खेल किया करता है। वास्तव में उसके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

१—समुद्र में अनन्त लहरें, फेन, बुद्बुद आदि उठते हैं, अनेक स्थलों में उसके ऊपर बर्फ जम जाती है, कहीं पर जल सूक्ष्म भाप-रूप हो जाता है; परन्तु जल से भिन्न वे कुछ भी नहीं होते। एक ही जल के अनेक नाम और अनेक रूप होते हैं। लहरें, फेन, बुद्बुद, बर्फ़ और भाप आदि नामरूपात्मक भिन्नताएँ केवल जल का रूपान्तर मात्र होती हैं। वास्तव में सब जल ही जल होता है। उन सबका

अस्तित्व जल से होता है, उनमें भान भी जल ही होता है और उनमें रस और स्पर्श भी जल ही का होता है।

२—सोने के आभूषण—चाहे वे सिर पर रखने के हों, या गले, हाथों एवं पैरों में पहिनने के हों—वास्तव में वे सब स्वर्ण ही होते हैं। उन आभूषणों का तोल, स्पर्श, रूप, कीमत आदि सब सोने ही के होते हैं। आभूषण एक तोड़ कर दूसरा बनवाया जा सकता है, परन्तु स्वर्ण ज्यों का त्यों ही रहता है। अतः आभूषणों की भिन्नता केवल दिखावटी बनाव होती है, परन्तु सोना सच्चा होता है।

३—मिट्टी के भिन्न-भिन्न बर्तन बनने के पहले मिट्टी होती है, बर्तन दशा में भी मिट्टी ही होती है, और बर्तन टूटने पर भी मिट्टी ही रहती है। मिट्टी के सिवाय बर्तन कुछ नहीं होते। बर्तनों के अलग-अलग घाट और नाम बनावटी होते हैं, मिट्टी सच्ची होती है।

४—मनुष्यों की अनेक जातियाँ, वर्ण, नाम, आकृति, रङ्ग, रूप, अवस्था, धर्म, पद आदि होते हैं, जिनसे उनमें नाना प्रकार की भिन्नताएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु मनुष्यपन में वे सब एक होते हैं। ऊपर से जुड़ी हुई उपाधियाँ कल्पित एवं परिवर्तनशील होती हैं, उनके हटा देने पर भी मनुष्यपन बना ही रहता है। परन्तु मनुष्य के बिना वे उपाधियाँ रह ही नहीं सकतीं। उन उपाधियों की सत्ता और आधार मनुष्य ही होता है।

और भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। साराँश यह कि जगत् का नानात्व, बनावटी नाम-रूपात्मक दिखाव मात्र है, उसका आधार एक आत्मा सत्य है।

यद्यपि उपरोक्त उदाहरण आत्मा के विषय में पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि आत्मा एक है और उपरोक्त उदाहरण द्वैत के हैं। तथा इनमें कहे गये पदार्थों के उपादान* कारण और निमित्त* कारण भिन्न-भिन्न हैं। जैसे लहर, फेन, बुद्बुद, बर्फ़ और भाप का उपादान कारण जल, और निमित्त कारण वायु, सङ्घर्ष, शीत और गरमी है; आभूषणों का उपादान कारण सोना और निमित्त कारण सुनार है; बर्तनों का उपादान कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार है, और जाति, वर्ण, नाम, आकृति आदि का उपादान कारण मनुष्य और उनके निमित्त कारण कुल, पेशा, संस्कार आदि

* जिस द्रव्य की कोई वस्तु बनती है वह उसका उपादान कारण होता है और जिसके द्वारा वह वस्तु बनाई जाती है वह उसका निमित्त कारण होता है।

हैं। इसलिए इन उदाहरणों में कारण और कार्य की भिन्नता प्रतीत होती है; परन्तु जगत् का उपादान और निमित्त—दोनों कारण, अर्थात् बनने वाला पदार्थ और बनाने वाला—एक आत्मा ही है। आत्मा स्वयं ही जड़ और चेतन रूप से जगदाकार होता है, इसलिए उसमें कारण और कार्य की भिन्नता नहीं है, अर्थात् कारण और कार्य एक हैं; और जहाँ कारण-कार्यभाव ही नहीं, उस एक, अपरिवर्तनशील, सत्य पदार्थ को समझाने के लिए, अनेक, परिवर्तनशील, मिथ्या पदार्थों के दृष्टान्त पूर्णतया उपयुक्त हो नहीं सकते। परन्तु उसके जोड़ की पूर्ण एकता की कोई दूसरी वस्तु है नहीं, जिसका दृष्टान्त दिया जा सके। वाणी से किसी शब्द का उच्चारण करना ही द्वैत हो जाता है इसलिए यद्यपि आत्मा एक अर्थात् सबका "अपना आप" होने के कारण वाणी द्वारा उसका पूर्णतया बोध नहीं कराया जा सकता, वह तो अपने अनुभव ही का विषय है, तथापि बहिर्मुख वृत्ति को लौकिक पदार्थों के उदाहरणों से ही यथाशक्य सत्य के निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है; क्योंकि कई अंशों में सादृश्य होने से समझने में सुभीता हो सकता है। दृष्टान्त यदि पूर्ण रूप से दार्ष्टान्त† के समान हो जाय तो दृष्टान्त ही न रहे, किन्तु वह स्वयं दार्ष्टान्त हो जाय।

उपरोक्त दृष्टान्तों में पानी, सोना, मिट्टी, मनुष्य आदि कारणों की अपेक्षा उनके कार्य—लहरें, फ़ेन, बुद्बुद, बर्फ़, भाप, गहने, बर्तन, जाति, वर्ण, धर्म आदि पदार्थों के कल्पित नाम-रूपों की भिन्नता को परिवर्तनशील एवं मिथ्या बताया है, जिससे भ्रम हो सकता है कि इन अगणित भिन्नताओं के आधार—पानी, सोना, मिट्टी, मनुष्य आदि थोड़ी भिन्नताएँ सत्य होंगी। परन्तु जब इनके विषय में भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो ये भी परिवर्तनशील और अस्थायी सिद्ध होती हैं। जल❀ की उत्पत्ति तेज से, तेज❀ की वायु से, और वायु❀ की आकाश से है; और इसके उलटे क्रम से इनका लय होता है, और सबका समावेश आत्मा में होता है। सोना एक पार्थिव पदार्थ है। यह पृथ्वी में अनेक भौतिक क्रियाओं से रूप-परिवर्तन करता हुआ सोने के रूप को प्राप्त होता है, और घिसते-घिसते काल पाकर पृथ्वी में ही इसका लय हो जाता है। इसी तरह मिट्टी भी एक पार्थिव पदार्थ है। पृथ्वी की उत्पत्ति और लय जल में होते हैं। मनुष्य अपने जन्म के पहले किसी रूप में रहता है, गर्भ में तथा बाहर आने पर अनेक परिवर्तनों में से गुजरता हुआ बालक, युवा और वृद्ध होकर अन्त में मर जाता है, और मरने के बाद फिर कोई दूसरा रूप धारण करता है। प्रत्येक

---

† जिसके समझाने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है वह दार्ष्टान्त कहलाता है।

❀ इस विषय का विशेष खुलासा आगे किया जायगा।

शरीर पञ्च-तत्त्वों के विशेष रूप या विशेष नाम का सङ्गठन है। अतः शरीरों की उत्पत्ति और लय, उनके कारण पञ्च-तत्त्वों में होते रहते हैं, और पञ्च-तत्त्वों की एकता आकाश में होकर, सबका आत्मा में लय हो जाता है। यद्यपि शरीरों की दृष्टि से पञ्च-तत्त्व अधिक स्थायी और अधिक सत्य प्रतीत होते हैं, परन्तु एक, नित्य एवं सत्य आत्मा की अपेक्षा पञ्च-तत्त्वों की भिन्नताएँ भी उत्पत्ति-नाशवान् और अस्थायी हैं। यद्यपि पञ्च-तत्त्वों के कार्यों की अपेक्षा वे स्वयं अधिक काल तक स्थायी प्रतीत होते हैं, परन्तु काल-भेद स्वयं ही मिथ्या है। इसका खुलासा पहले हो चुका है।

बहुत से लोगों को यह शङ्का होती है कि एक सत्य आत्मा में नाना भाँति के मिथ्या भाव आये कहाँ से? और वह इस तरह के मिथ्या और दुःखदायक बनाव करता ही क्यों है? इसी प्रकार का एक प्रश्न पहले उठाया जा चुका है, कि "हम अपने वास्तविक आपको यानी आत्मा को भूले ही क्यों?" वेदान्त-सिद्धान्तानुसार तो जो उत्तर उस प्रश्न का दिया गया है, वही इस प्रश्न का भी यथार्थ उत्तर है। जब इन भिन्नता के भावों और मिथ्या बनावों के रचयिता, आत्मा यानी "अपने आप" के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, तो इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर अपने सिवाय दूसरा कोई दे ही कैसे सकता है? इस प्रश्न का सच्चा समाधान तो "अपने आप" ही के यथार्थ अनुभव से हो सकता है। परन्तु बहुत से स्थूल बुद्धि के लोग, भिन्नता के इन बनावों अर्थात् जगत्-प्रपञ्च का निर्माणकर्ता, "अपने आप" से भिन्न किसी दूसरे आत्मा या परमात्मा अथवा ईश्वर को मानते हैं; अतः उस दृष्टि से विचार करने पर यह प्रश्न उसी ढङ्ग का बन जाता है, जैसे कि कोई आलसी या प्रमादी अथवा काम-काज को दुःख-रूप या बोझ-रूप समझने वाला—राज-काज के विषय में बिलकुल ही अनजान—गँवार व्यक्ति, किसी सम्राट् या राष्ट्रपति के विषय में यह शङ्का करे कि सम्राट् या राष्ट्रपति, जो राज्य के काम-धन्धे अथवा खेल-कसरत आदि में शारीरिक परिश्रम करता है, उसके पीछे ये कर्तव्य कैसे लगे? और उसको यह दुःखदायक परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? उसे किसी बात की कमी तो है ही नहीं, सब इच्छित पदार्थ मौजूद रहते हैं, फिर वह सदा पड़ा हुआ नींद ही क्यों न लेता रहे? अथवा आराम ही क्यों न करता रहे? इत्यादि। अब, जब तक वह गँवार मनुष्य इतना जानने की योग्यता प्राप्त न कर ले कि सम्राट् या राष्ट्रपति की स्थिति क्या है? वह कैसा और किस योग्यता का है? आया, वह मेरी जैसी ही योग्यता का मनुष्य है या और कुछ? और जो काम-काज वह करता है, वे मेरी तरह उसको भी बोझ या दुःख-रूप प्रतीत होते हैं या नहीं? तथा उन कामों के विषय में उसकी क्या बुद्धि है? दूसरे शब्दों में जब तक वह अपने आपको सम्राट् अथवा राष्ट्रपति के पद तक न

पहुँचा ले अथवा इतने ऊँचे दर्जे तक न पहुँचा ले कि सम्राट् या राष्ट्रपति के साथ उसका आन्तरिक सम्बन्ध हो जाय, तब तक उसकी शङ्काओं का ठीक-ठीक समाधान नहीं हो सकता। अथवा जिन लोगों का सम्राट् या राष्ट्रपति के साथ आन्तरिक सम्बन्ध हो, उनके पास पहुँचने की योग्यता प्राप्त करके, उस विषय में जो वे कहें उस पर विश्वास करे। इन उपायों के अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से उस विषय का रहस्य समझ में आना असम्भव है। जब कि पृथ्वी के एक छोटे-से भाग के स्वामी के कार्यों का रहस्य समझने के लिए भी इतनी बड़ी योग्यता की आवश्यकता होती है, तो जिसको विश्व का रचयिता और सञ्चालक माना जाय उसके अलौकिक कार्यों का रहस्य समझने के लिए कितनी महान् योग्यता सम्पादन करने की आवश्यकता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

वास्तव में आत्मा अथवा परमात्मा में भिन्नता है ही नहीं, क्योंकि यदि भिन्नता कोई सत् वस्तु हो तो उसका अस्तित्व माना जा सकता है। जब भिन्नता असत् है तो फिर उसके आत्मा अथवा परमात्मा में होने का प्रश्न उठना ही अयुक्त है। अँधेरे में अथवा दृष्टि-दोष से रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाय तो यह प्रश्न उठना अयुक्त होता है, कि यह सर्प कहाँ से और कैसे आया? क्योंकि वास्तव में वहां सर्प है ही नहीं—वह केवल भ्रम होता है; और सच्चिदानन्द आत्मा अथवा परमात्मा में वस्तुतः भ्रम भी नहीं है, क्योंकि आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार या दोष नहीं हो सकते। जगत् की भिन्नताओं का बनाव उसका खिलवाड़ मात्र है। सबका "अपना आप"=आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा खुशी से यह जगत्-रूपी खेल करता है, और इस खेल के लिए ही अनन्त प्रकार के भिन्नता के रूप धारण करता है, क्योंकि भिन्नता के बनावों ही से खेल होता है। भिन्नता के बनावों बिना खेल ही नहीं बनता। वह सबका अपना आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही जड़, वही चेतन, वही पशु, वही पक्षी, वही स्त्री, वही पुरुष, वही भोक्ता, वही भोग्य, वही छोटा, वही बड़ा, वही ऊँचा, वही नीचा, वही धनी, वही ग़रीब, वही सबल, वही निर्बल, वही सुखी और वही दुखी आदि नाना प्रकार के जोड़े स्वयं बनता है। इसलिए वास्तव में सुख-दुःख आदि के भेद कुछ हैं नहीं। यद्यपि अल्पज्ञता स्वीकार कर लेने से उन दोनों (जोड़ों) का एक ही समय में एक ही व्यक्ति को एक साथ भान नहीं होता, परन्तु सुख-दुःख आदि दोनों विरोधी भाव बराबर हैं। सर्वव्यापक, एक और सम आत्मा में दोनों विरोधी भावों का एकीकरण हो जाता है और सर्वात्म-भाव में वे दोनों आपस में एक दूसरे की प्रतिक्रिया से शान्त हो जाते हैं, किसी एक का भी अलग अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए सबकी एकता की अध्यात्म-दृष्टि से संसार में

सुख या दुःख आदि कुछ भी नहीं है। यदि व्यक्तित्व की दृष्टि से देखा जाय तो भी किसी भी व्यक्ति को संसार वास्तव में दुःख-रूप प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो इसमें कोई रहना अर्थात् जीना ही नहीं चाहता; परन्तु मरने को कोई भी राजी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि चाहे किसी समय अथवा किसी स्थिति में, किसी विशेष कारण से कोई अपने को दुखी भले ही माने, परन्तु वास्तव में संसार को केवल दुःख-रूप कोई नहीं समझता। तात्पर्य यह कि संसार न तो दुःख-रूप है, और न उससे आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है। वह आत्मा का एक खिलवाड़ है, और उस खिलवाड़ का रहस्य अनिर्वचनीय है, अर्थात् उसका वाणी से यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता—वह तो केवल अपने आपके अनुभव का विषय है। जब तक सर्वात्म-भाव, अर्थात् विश्व की अपने साथ पूर्ण एकता का सच्चा अनुभव नहीं हो जाता, तब तक केवल दूसरों के कहने या पुस्तकों के पढ़ने मात्र से ही वह रहस्य पूरी तरह कदापि समझ में नहीं आ सकता। भौतिक व्यवहार में यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि बहुत सूक्ष्म वस्तु बहुत ही सूक्ष्म नोक के हथियार से पकड़ी जा सकती है, स्थूल हथियार से नहीं पकड़ी जा सकती; और आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त ही सूक्ष्म है, इसलिए उसके रहस्य को जानने के लिए बुद्धि को सूक्ष्म करते-करते जब वह आत्मनिष्ठ हो जाती है, तब इस विषय का अनुभव आप ही हो जाता है। अथवा जिन लोगों ने दीर्घ काल के अभ्यास से बुद्धि को सूक्ष्म करके इस विषय का अनुभव प्राप्त किया है, उनके वचनों में श्रद्धा (विश्वास) करने से उक्त शङ्का का समाधान हो सकता है।

तत्त्वज्ञानी लोगों ने गहरे अन्वेषण के बाद यह निश्चय किया है कि इस कल्पित जगत् की तीन अवस्थाएँ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

(१) जगत् के सदा बदलते रहने वाले अनन्त प्रकार के भौतिक पदार्थ, जो स्थूल इन्द्रियों के गोचर हैं अर्थात् आँखों से देखे जाते हैं, कानों से सुने जाते हैं, नाक से सूंघे जाते हैं, जीभ से चखे जाते हैं और त्वचा से स्पर्श किये जाते हैं, वे, और उनके सम्बन्ध के सब व्यवहार जगत् की आधिभौतिक अवस्था है।

(२) सब स्थूल पदार्थों एवं व्यवहारों की आधारभूत सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ, जो प्रत्येक स्थूल पदार्थ और व्यवहार के अन्दर सूक्ष्म रूप से रहती हुई व्यष्टि* और समष्टि* भाव से जगत् का काम चलाती हैं, और जो स्थूल इन्द्रियों के

* प्रत्येक व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग-अलग भाव व्यष्टि और सबका सम्मिलित भाव समष्टि कहा जाता है।

अगोचर हैं, किन्तु मन और बुद्धि (विचार) से जानी जा सकती हैं—जिस तरह स्थूल पञ्च तत्त्वों के अन्दर उनकी सूक्ष्म व्यष्टि और समष्टि शक्तियाँ, स्थूल इन्द्रियों के अन्दर रहने वाली सूक्ष्म भोग एवं क्रिया-शक्तियाँ, मन की अनेक प्रकार की सात्विक, राजस और तामस-वृत्तियाँ तथा सङ्कल्प-शक्ति, चित्त की स्मरण-शक्ति, बुद्धि की विचार-शक्ति, अहङ्कार का अहंभाव, प्राणों को चलाने की शक्ति, प्रत्येक शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) में रहने वाली चेतना-शक्ति, और पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन एवं संहार-शक्ति आदि, अनेक प्रकार की सूक्ष्म चेतन-शक्तियाँ और उनके सूक्ष्म व्यवहार—जगत् की आधिदैविक अवस्था है। इन सूक्ष्म शक्तियों को ही देवता कहते हैं (बृहदा० उ०अ० ३ ब्रा० ६)। ये ही अपने सूक्ष्म रूप में सूक्ष्म—आधिदैविक जगत्-रूप होकर रहती हैं, और ये ही सूक्ष्म शक्तियाँ घनीभूत होकर जब स्थूल भाव धारण करती हैं तब भौतिक जगत्-रूप बन जाती हैं। स्थूल शरीर और स्थूल जगत् की उत्पत्ति अर्थात् व्यक्त होने के पहले, और नाश अर्थात् अव्यक्त होने के बाद भी, यह सूक्ष्म आधिदैविक अवस्था बनी रहती है।

(३) उपरोक्त सब स्थूल और सूक्ष्म सृष्टियों का कारण यानी आधार एक चेतन आत्म-तत्त्व है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, और स्थूल तथा सूक्ष्म सबके अन्दर ठसाठस भरा हुआ है, जो सबका सत्त्व है और जो सब जड़ और चेतन पदार्थों की सत्ता, गति और प्रकाश है, साधारणतया जड़ पदार्थों में जिसका विकाश बहुत कम प्रतीत होता है परन्तु चेतन पदार्थों में जिसकी चेतनता अच्छी तरह प्रकट होती है, और जो स्थूल इन्द्रियों और मन के अगोचर है, केवल सात्विक बुद्धि से ही जिसका ज्ञान हो सकता है—वह चेतन आत्म-तत्त्व जगत् की आध्यात्मिक अवस्था है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ५)।

जिस तरह जगत् की ये तीन अवस्थाएँ हैं उसी तरह शरीर की भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति भेद से तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत अवस्था में भौतिक शरीर के व्यवहार होते हैं, अतः यह शरीर की आधिभौतिक अवस्था है। स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के मानसिक व्यवहार होते हैं, यह शरीर की आधिदैविक अवस्था है। सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर अपने कारण—आत्मा में लय हो जाते हैं, यह शरीर की आध्यात्मिक अवस्था है। जाग्रत अवस्था में भी स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ गौण रूप से विद्यमान रहती हैं। कभी कभी स्थूल शरीर क्रिया-रहित हो जाता है परन्तु मन में कई तरह के सङ्कल्प उठते रहते हैं तथा विचार-क्रिया अथवा स्मरण-क्रिया चालू रहती है, यह जाग्रत में स्वप्नावस्था है। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनों क्रियाएँ बन्द होकर केवल शून्य अवस्था रहती है, यह जाग्रत में सुषुप्ति है। तात्पर्य यह कि जो दशा पिण्ड की है वही ब्रह्माण्ड की है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उपरोक्त तीन अवस्थाएँ होने के कारण उनके विषय में विचार करने की भी तीन पद्धतियाँ हैं:—

(१) सृष्टि के सभी पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि स्थूल इन्द्रियों को प्रतीत होते हैं—इन स्थूल पदार्थों के परे और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है। इस विचार-पद्धति को आधिभौतिक मत कहते हैं। अधिकतर भौतिकवादी लोग इसी मत को मानते हैं।

(२) सृष्टि के स्थूल पदार्थ जड़ होने के कारण स्वयं क्रियाशील नहीं हो सकते, अतः उनको हलचल देने वाली उनके भीतर अनेक सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ अलग हैं। ये ही जगत् को धारण करती हैं और समस्त जड़ पदार्थों से नाना प्रकार की चेष्टाएँ करवाती हैं। ये चेतन शक्तियाँ प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्माएँ हैं, और ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न देवता हैं। इस विचार-पद्धति को आधिदैविक मत कहते हैं। यह आधिभौतिक मत से कुछ सूक्ष्म है। बहुत से श्रद्धालु लोग इस मत के अनुयायी हैं।

(३) न तो सृष्टि के जड़ पदार्थ स्वतः किसी प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं, और न भिन्न-भिन्न देवता अर्थात् सूक्ष्म शक्तियाँ ही अपनी अलग-अलग सत्ता से पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) के व्यवहारों को नियमित रूप से, एक-दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर चला सकती हैं; किन्तु इनके परे प्रत्येक शरीर में और जगत् में एक ही आत्म-तत्त्व है, जो इन्द्रियों और मन के अगोचर है, और जो सब भूत-प्राणियों में भरा हुआ है और भिन्न-भिन्न शक्तियों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है; उस एक की सत्ता से ही प्रत्येक शरीर का और जगत् का सब व्यवहार उसकी सूक्ष्म शक्तियों (देवताओं) द्वारा चल रहा है; कई लोग, प्रत्येक शरीर में रहने वाले आत्म-तत्त्व को अलग-अलग जीवात्माएँ मानते हैं और सारे जगत् का सञ्चालन करने वाले परम-आत्मा को उक्त जीवात्माओं से अलग एक ईश्वर मानते हैं; परन्तु वेदान्त दर्शन सबमें एक ही आत्म-तत्त्व मानता है। व्यष्टि-भाव से वही जीवात्मा कहा जाता है, और समष्टि-भाव से उसीको परमात्मा कहते हैं। वही जड़ और चेतन-भाव से व्यक्त होकर जगत् रूप होता है। इस विचार-पद्धति को आध्यात्मिक मत कहते हैं। यह सबसे सूक्ष्म है और सूक्ष्म बुद्धि के विचारशील लोग इसे मानते हैं।

यद्यपि आधिभौतिक और आधिदैविक मतों के अनुसार साधारणतया जगत् की भिन्नता सच्ची मानी जाती है, परन्तु यदि गहरा विचार कर देखा जाय तो आधिभौतिक और आधिदैविक अवस्थाओं में भी जगत् की एकता ही सच्ची सिद्ध होती है। यह नाना-भावापन्न स्थूल जगत् पञ्च तत्त्वों के सम्मिश्रण का अनेक प्रकार

का बनाव है, अर्थात् जिन पञ्च तत्त्वों का एक राजा, महाराजा, विद्वान्, आचार्य, ज्ञानी और महात्मा का शरीर होता है, उन्हींका एक छोटे से छोटे अछूत व चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्य, पशु, पत्ती, एवं वनस्पति आदि का शरीर होता है। स्थावर-जङ्गम जितनी सृष्टि है, वह सब उन्हीं पञ्च तत्त्वों के सम्मिश्रण का बनाव है, और सभी एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अथवा एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य अथवा एक दूसरे के कारण-कार्य हैं, तथा एक दूसरे पर निर्भर (अन्योन्याश्रित) हैं। सब एक दूसरे की सहायता से एक दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर जगत् के व्यवहार करते हैं। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण अर्थात् सभी ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे के आकर्षण से बँधे हुए नियमपूर्वक आपस की एकता से सब काम करते हैं, और ज्योतिष-शास्त्रानुसार इन सबके अच्छे-बुरे प्रभाव इस पृथ्वी पर भी पड़ते हैं, तथा पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों की ऋतु आदि के प्रभाव दूसरे दूरस्थ देशों पर पड़ते हैं। वर्तमान के वैज्ञानिक (scientist) लोग भी स्थूल जगत् की अनन्त प्रकार की अनेकताओं में पूर्ण एकता ढूंढ़ निकालने में ही लगे हुए हैं; और यद्यपि वे अब तक पूर्ण एकता तक नहीं पहुँचे हैं, परन्तु वह समय अब अधिक दूर नहीं है, जब कि विज्ञान (science) के द्वारा भी भौतिक एकता पूर्ण रूप से सिद्ध हो जायगी।

स्थूल पंच तत्त्वों में भी आपस में एकता ही है, क्योंकि आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है; और जब ये तत्त्व लय होते हैं, तो इसके उलटे क्रम से लय होते हैं, और एक दूसरे के अन्दर सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप से बने भी रहते हैं। पृथ्वी में से जल निकलता है, और उसे खोदने से उष्णता, तथा रगड़ने से अग्नि निकलती है; वायु और आकाश पृथ्वी में सर्वत्र ओतप्रोत रहते हैं। जल ही घनीभूत होकर पृथ्वी बनता है—अनेक स्थलों में जल से पृथ्वी बनती हुई देखी जाती है। जल के सङ्घर्ष से बिजली (अग्नि की ज्वाला) निकलती है और समुद्र में बड़वानल (अग्नि) उत्पन्न होती है। अग्नि अर्थात् उष्णता से पसीना और वर्षा आदि द्वारा जल उत्पन्न होता है। वायु के बिना अग्नि और जल की स्थिति भी नहीं रह सकती। आकाश सबका आधार है ही—जहाँ दूसरे तत्त्व रहते हैं, वहाँ पर आकाश मौजूद रहता है। उक्त तथ्य से इन सबकी एकता ही सिद्ध होती है।

इसी तरह सूक्ष्म आधिदैविक जगत् में भी एकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि एक ही आत्मा के सङ्कल्प से उसकी अनन्त सूक्ष्म शक्तियाँ सत्व, रज और तम गुणों के तारतम्य से अनन्त प्रकार के दृश्य रूप होती हैं। किसी भी घटना अथवा कार्य का पहले सूक्ष्म सङ्कल्प मन में उठता है, और जब वह सङ्कल्प घनीभूत होकर दृढ़ हो जाता है, तब वह स्थूल कार्य में परिणत होता है। एक तरफ़ समष्टि (सबके संयुक्त)

मन के सङ्कल्प से सूक्ष्म पञ्च तत्त्व घनीभूत होकर, तीन गुणों के तारतम्य से समष्टि जगत् के अनन्त प्रकार के पदार्थ-रूप बनते हैं और दूसरी तरफ़ शरीरधारियों के व्यष्टि (व्यक्तिगत) मन के सङ्कल्प से उसकी त्रिगुणात्मक वृत्तियों द्वारा उक्त सूक्ष्म पञ्च तत्त्व ही व्यष्टि भाव से इन्द्रियरूप होकर समष्टि जगत् के पदार्थों के साथ भाँति-भाँति के व्यवहार करते हैं। मन में जब देखने का सङ्कल्प उठता है तब उसकी वृत्तियाँ तेजात्मक होकर चक्षु-रूप से नाना प्रकार के रूप देखती हैं; सुनने का सङ्कल्प उठता है तब आकाशात्मक होकर श्रवण-रूप से शब्द सुनती हैं; सूंघने का सङ्कल्प उठता है तब पृथ्वी-रूप होकर नासिका द्वारा गन्ध लेती हैं; रसास्वादन का सङ्कल्प उठता है तब जलात्मक होकर रसना-रूप से सब रसों का स्वाद लेती हैं; स्पर्श करने का सङ्कल्प उठता है तब वाय्वात्मक होकर त्वचा-रूप से सब प्रकार के स्पर्श करती हैं। सारांश यह कि सूक्ष्म और स्थूल जगत् सब मन के सङ्कल्पों की ही रचना है। यह भी प्रत्यक्ष देखने में आता है कि एक व्यक्ति के मन के सङ्कल्पों तथा विचारों का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है; और जगत् की उत्पादक, पोषक एवं संहारक सूक्ष्म शक्तियाँ, यथासमय यथोचित रूप से एक दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर अपने-अपने कार्य निरन्तर करती रहती हैं। इस तरह की वस्तुस्थिति पर अच्छी तरह विचार करने से आधिदैविक जगत् की भी एकता ही सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि जगत् की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों अवस्थाओं में अनेकता झूठी और एकता सच्ची है; और इस निश्चयपूर्वक सब भूत-प्राणियों में एक ही आत्मा को समान भाव से व्यापक समझ कर, व्यक्तिगत अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार में, तथा व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़ कर, सबके साथ एकता का प्रेम रखते हुए, अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म साम्यभाव से करना—यही व्यावहारिक वेदान्त है, और यही उपदेश भगवान् ने गीता में अर्जुन को निमित्त बना कर सबको दिया है।

बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि जिस जगत् के अस्तित्व को हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वेदान्त उसको मिथ्या बताकर उसके व्यवहार त्यागने को कहता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह केवल समझने का अन्तर है। वास्तव में न तो वेदान्त जगत् के अस्तित्व को मिथ्या कहता है और न उसके व्यवहार त्यागने ही का प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत वेदान्त तो यह कहता है कि जगत् का अस्तित्व बिलकुल सच्चा है, क्योंकि असत् वस्तु का तो भाव ही नहीं होता (गीता अ० २ श्लोक १६), परन्तु जगत् का अस्तित्व तो सबको प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, एवं वह सबको अच्छा और प्यारा भी लगता है; इसलिए अस्ति-भाति-प्रियरूप से अर्थात् एकत्व-भाव में वह निस्सन्देह ही सत्य है। वास्तव में वेदान्त इस प्रत्यक्ष प्रतीत होने

वाले और प्यारे लगने वाले जगत् के अस्तित्व को सच्चा मान कर ही सन्तोष नहीं करता, किन्तु वह इसको अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप, एक, अविनाशी, नित्य और सत्य आत्मा (सबके अपने आप) से अभिन्न मानता है; और साथ ही साथ इसमें जो नाना भाँति के अनन्त भेद और विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती रहती हैं, उनको वह उसी एक, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा के अनेक परिवर्तनशील नाम और रूपों का कल्पित बनाव सिद्ध करता है। वेदान्त के अनुसार 'जगन्मिथ्या' का तात्पर्य इतना ही है कि सबके अपने आप, सबके आत्मा = परमात्मा से भिन्न जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में जगत् आत्मा अथवा परमात्मा ही का विवृत-भाव* है, अतः वस्तुतः वह परमात्मा-स्वरूप ही है। वह जैसा हमारी स्थूल इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न प्रकार का—अनन्त प्रकार की उपाधियों एवं द्वन्द्वों युक्त—प्रतीत होता है, वास्तव में वैसा नहीं है। सूर्य हमारी आँखों को एक थाली के आकार जितना ही दीखता है, परन्तु वास्तव में उसका विस्तार बहुत ही बड़ा है। इसी तरह दूर की सभी चीज़ें छोटी दिखाई देती हैं और नज़दीक की बड़ी। आँखों के बिलकुल समीप सटा कर एक सलाई भी रख दी जाय तो वह पहाड़ जितनी बड़ी दीखने लगे। पृथ्वी हमको स्थिर दीखती है, परन्तु वास्तव में वह चल रही है। स्थूल इन्द्रियों से हमें पृथ्वी चपटी दिखाई देती है पर वास्तव में वह गोल है। आकाश का रङ्ग हमें नीला दीखता है, पर वास्तव में उसका कोई रङ्ग नहीं है—इत्यादि। इन बातों से सिद्ध होता है कि केवल स्थूल इन्द्रियों से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। सात्त्विक बुद्धि से यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सात्त्विक बुद्धि से विचार करने पर जगत् के नानात्व का दृश्य कल्पित और उसका एकत्व-भाव यानी सत्-चित्-आनन्द आत्मा जो सबका अपना आप है, सच्चा सिद्ध होता है।

अतः जो वेदान्त जगत् को सबका अपना आप यानी आत्म-स्वरूप, और उसकी भिन्नताओं को सबके अपने आप, यानी एक ही आत्मा के नाना नामों और नाना रूपों का कल्पित बनाव मानता है, वह उसके व्यवहारों को छुड़ा ही कैसे सकता है? भिन्नता के मिथ्या-ज्ञानयुक्त व्यवहार दुःखदायक होते हैं, इसलिए उन दुःखदायक व्यवहारों को छोड़ने की प्रवृत्ति अज्ञानी लोगों की स्वतः ही होती है; परन्तु वेदान्त तो एकता के सच्चे ज्ञान से समस्त दुःखों

* किसी पदार्थ के ऊपरी दिखाव नाना प्रकार के होते रहें, पर वह पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहे, उसमें वस्तुतः कोई परिवर्तन न हो, वह विवृत-भाव कहा जाता है—जिस तरह जल में तरंगें और बुद्बुदे होते हैं और सोने के आभूषण एवं मिट्टी के बर्तन होते हैं।

के मूल कारण भिन्नता के मिथ्या ज्ञान ही को मिटाने द्वारा जगत् के व्यवहारों की दुःख-रूपता नष्ट करके उन्हें त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रखता। जहाँ दूसरे मत और मज़हब परमात्मा और जीवों का आपस में स्वामी-सेवक और पिता-पुत्र का सम्बन्ध, और जीव-जीव का आपस में भाई-भाई का सम्बन्ध बताते हैं, वहाँ वेदान्त सबको एक ही आत्मा यानी अपने आप के ही अनेक रूप सिद्ध करके, ग्रहण और त्याग करने के लिए कुछ रखता ही नहीं। स्वामी-सेवक में और पिता-पुत्र में तथा भाई-भाई में आपस में वैमनस्य हो सकता है और वे एक दूसरे से अलग भी होते हैं, परन्तु जहां सब कुछ अपना आप ही होता है वहां किसके साथ वैमनस्य हो और कौन किससे अलग होवे अथवा कौन किसको त्यागे। वस्तुतः जहाँ सब भिन्नताओं की एकता हो जाती है, वहाँ फिर छोड़ने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता और न त्याग कर कहीं जाने के लिए कोई जगह ही रहती है। सारांश यह कि भिन्नता को प्रतिक्षण परिवर्तनशील अतः कल्पित तथा एकता को सच्ची जानकर उसके अनुसार, अर्थात् सच्चे ज्ञान युक्त व्यवहार करने को वेदान्त कहता है, छोड़ने को नहीं। दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति के कारण, लोग जो अपने को एक छोटी सी देह का पुतला मान कर उसके तुच्छ स्वार्थों ही में उलझ रहे हैं, वेदान्त उनको उस तुच्छ सङ्कीर्णता की चार-दीवारी से निकाल कर महान् बनाता है; एक छोटे से व्यक्ति से महान् आत्मा—जगत् का स्वामी बनाता है, और तुच्छ स्वार्थों के बदले सारे जगत् का स्वामित्व देता है। वह जगत् के व्यवहार छुड़ाता नहीं, किन्तु एक दीन, हीन, तुच्छ कर्ता से, एक स्वतन्त्र परिपूर्ण महाकर्ता बनाता है। बूंद से सागर बनाता है। वेदान्त का यह अनूठा त्याग है। संसार के व्यवहारों का छोड़ना तो यथार्थ ज्ञान न होने से होता है।

वेदान्त ने जगत् की—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों अवस्थाओं को आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव बता कर, तीनों का समावेश एकमें किया है, और उन तीनों को याथातथ्य जान कर, जगत् के व्यवहार करने की आवश्यकता मानी है। इन तीनों अवस्थाओं के ज्ञान को क्रम से सात्विक, राजस और तामस ज्ञान कहा है। पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक, अव्यय, अविभक्त यानी बिना बँटे हुए भाव को देखना सात्विक ज्ञान कहा है (गी० अ० १८ श्लो० २०)। सब भूतों में अनन्त प्रकार की भिन्नता को सच्ची मानने के ज्ञान को राजस और प्रत्येक पदार्थ का स्थूल रूप ही सच्चा है—इसके परे कुछ भी नहीं है, ऐसे ज्ञान को तामस कहा है (गी० अ० १८ श्लो० २१-२२)। यद्यपि जगत् की भिन्नता मिथ्या होने के कारण भिन्नता के राजस-तामस ज्ञान को भी मिथ्या, एवं एकता के

सात्विक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान माना है, तथापि त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहारों में इन तीनों की आवश्यकता मानी है; क्योंकि जगत् के नाना प्रकार के भौतिक पदार्थों के पृथक्-पृथक् द्रव्यगुणादिक तथा उन प्रत्येक के अन्दर रहने वाली अलग-अलग सूक्ष्म शक्तियों के ज्ञान के साथ-साथ उनके आपस के सम्बन्ध और एकत्व-भाव को जानने से ही सांसारिक व्यवहार ठीक-ठीक हो सकते हैं (ईशोपनिषद् मं० ६ से ११)। जगत् की अवस्था त्रिगुणात्मक होने के कारण उसके व्यवहार त्रिगुणात्मक होना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य है। तमोगुण स्थूल जड़ात्मक है, रजोगुण रागात्मक और क्रियात्मक अर्थात् सारी हलचल का कारण है, और सत्वगुण बहुत सूक्ष्म और ज्ञानात्मक है। इन तीनों के अल्पाधिक सम्मिश्रण से ही जगत् का अस्तित्व है। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष है कि स्थूल से सूक्ष्म ही अधिक सत्य, अधिक टिकाऊ और अधिक प्रामाणिक होता है। प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म सार ही उसका सत्व होता है। स्थूलता के मिट जाने पर भी सूक्ष्मता शेष रहती है। स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा जब तक रहता है, तभी तक वह जीवित रहता है और स्थूल शरीर के नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर शेष रह जाता है। सूक्ष्म शक्ति के बिना मोटा-ताज़ा स्थूल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता, और उस सूक्ष्म शक्ति से भी सूक्ष्म आत्मबल के बिना स्थूल शरीर की सूक्ष्म शक्ति भी कुछ नहीं कर सकती। स्थूल (मोटे) विचारों की अपेक्षा सूक्ष्म (महीन) विचार अधिक सच्चे और अधिक मान्य होते हैं। जितना ही अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाता है, उतना ही अधिक सत्य के नज़दीक पहुँचा जाता है। स्थूल बुद्धि के व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में सूक्ष्म बुद्धि के व्यक्तियों के अनुयायी होते हैं। स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थ अधिक मूल्यवान् और ग्राह्य होते हैं। जितना ही अधिक सूक्ष्मता में बढ़ा जाता है, उतनी ही अधिक अनैक्य की एकता होती जाती है, और बढ़ते-बढ़ते जब अन्तमें सब अनैक्य मिट कर केवल एक तत्त्व ही शेष रह जाता है, वही आत्मा अर्थात् सबका अपना आप=परमात्मा है। आत्मा—परमात्मा यानी सबका अपना आप सूक्ष्म का सूक्ष्म और सत्य का भी सत्य है। इस पूर्ण एकता के भाव पर लक्ष्य रखते हुए, जगत् के व्यवहार करने से सब प्रकार की सुख-समृद्धि अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि विद्यमान रहती है।

इस पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि, अर्थात् निरङ्कुश, निरतिशय, सच्चे और अक्षय सुख की खोज में ही भौतिक पदार्थ-विज्ञान के पण्डित लोगों ने, स्थूल भौतिक पदार्थों की छान-बीन करते हुए जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नताओं का एकीकरण करके गिनती के थोड़े से मूल तत्त्वों में समावेश कर दिया; परन्तु आधिभौतिकता ही को सब कुछ मानने के कारण उनको पूर्ण सफलता मिलना अशक्य है। इनसे दूसरे

नम्बर पर धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने उक्त सच्चे और अक्षय सुख की तलाश में स्थूलता से परे, सूक्ष्मता में प्रवेश करने का यत्न किया। वे लोग भौतिकता से तो आगे बढ़े, परन्तु आधिदैविकता तक पहुँच कर ही रह गये; अर्थात् उन लोगों ने स्थूल जगत् के नानात्व को नाशवान् अतः मिथ्या मान कर भी, इसमें सूक्ष्म रूप से रहने वाले भिन्न-भिन्न जीवात्माओं, तथा भिन्न-भिन्न देवताओं, और उन सबके ऊपर एक ईश्वर को अलग मान कर उसकी कृपा से जीवों को, मरने के बाद परलोक में स्वर्गादि सुख अथवा मोक्ष प्राप्त होना ही सबसे अन्तिम ध्येय एवं पुरुषार्थ की परमावधि का सिद्धान्त निश्चित कर लिया। अपनी बुद्धि जहाँ तक पहुँच सकी, अथवा अपने अनुयायियों के समझने की जितनी योग्यता प्रतीत हुई, एवं जैसी परिस्थिति देखी उसके अनुसार, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने समय-समय पर, इसी सिद्धान्त के आधार पर भिन्न-भिन्न मत प्रचलित कर दिये और उनसे परे अधिक कुछ भी नहीं है, यह निश्चय करके वहीं तक रह गये। यद्यपि ये लोग स्थूलता से आगे बढ़ कर कुछ हद तक सूक्ष्मता में पहुँचे तो सही—और इनके मत अपने-अपने स्थान में थोड़े या बहुत सभी लाभदायक एवं आवश्यक भी हैं—परन्तु अनेकता यानी नानात्व के भाव ज्यों के त्यों कायम रखने के कारण, सबकी एकता के सच्चे सिद्धान्त तक ये नहीं पहुँचे, इसलिए सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में ये भी असमर्थ ही रहे।

इनके अतिरिक्त तर्क-बुद्धि से विचार करने वाले दार्शनिक लोगों ने इस विषय का अनुसन्धान किया। उनमें नास्तिकों और वैज्ञानिकों (बौद्धों) के मत बड़े मार्के के हैं, क्योंकि उन्होंने अन्धश्रद्धा के बदले विचार-स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व दिया है। इसलिए नास्तिकों के मत को बृहस्पति (बुद्धि के देवता) का मत कहते हैं, और वैज्ञानिकों का मत बौद्ध-मत कहलाता है। परन्तु वे लोग भी स्थूल आधिभौतिक तथा सूक्ष्म आधिदैविक विचारों तक ही रह गये; सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा को नहीं माना और न नानात्व का एकत्व ही कर सके। नानात्व का एकत्व करने में न्याय, वैशेषिक, योग, और सबसे अधिक सांख्य ने काम किया, अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म भावों के अनन्त नानात्व का उत्तरोत्तर एकीकरण करते हुए, उनने सबका समावेश थोड़े से मूल तत्त्वों में ही कर दिया; यहाँ तक कि सांख्य ने प्रकृति और पुरुष—केवल दो ही तत्त्व शेष रक्खे। वेदान्त ने इन सबसे आगे बढ़कर प्रकृति-पुरुष का भी एकीकरण करके, एक आत्म-तत्त्व में सबका समावेश कर दिया, जो सबका अपना आप है। मानवीय तत्त्वज्ञान इस पराकाष्ठा तक पहुँच कर रुक गया। यहीं ज्ञान का अन्त होता है, इसी से इसका नाम वेदान्त है।

सूक्ष्मता जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक उसका विस्तार होता है, उतनी ही अधिक वह व्यापक होती है, और उतनी ही अधिक वह सत्य होती है; और आत्मा, जो सबका वास्तविक अपना आप है, वह सब सूक्ष्मों का सूक्ष्म और सबका सार होने के कारण सर्व-व्यापक एवं सर्व-सत्य है; उसकी सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सब जगत् में ओतप्रोत है। उसकी सत्ता ही से जगत् की सत्ता है, उसकी सत्ता बिना जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहता। सारांश यह कि जगत्, आत्म-स्वरूप सबका अपना आप है। यही अन्तिम सिद्धान्त है।

यद्यपि वेदान्त सबसे आगे इतना बढ़ा हुआ है कि जिससे आगे कुछ शेष नहीं रहता, तथापि वह किसी भी दर्शन, धार्मिक मत अथवा पदार्थ-विज्ञान आदि का तिरस्कार नहीं करता, चाहे वे किसी भी समाज या किसी भी देश-विशेष के क्यों न हों, उन सबका उसमें समावेश हो जाता है, क्योंकि उसमें भिन्नता कुछ है ही नहीं। सब दर्शनों, धार्मिक सिद्धान्तों तथा धार्मिक मतों का एवं भौतिक विज्ञान का भी समावेश करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह इनको अपना सहायक मानता है, क्योंकि प्रत्येक ने स्थूलता से सूक्ष्मता में और नानात्व के भावों को समेट कर एकता में पहुँचने का कुछ न कुछ कार्य करके वेदान्त का कार्य बहुत हल्का कर दिया, अर्थात् अन्तिम मंज़िल के पहले की सब मंज़िलें उत्तरोत्तर तय करके, उन्होंने वेदान्त के लिए केवल अन्तिम मंज़िल ही शेष रक्खी। अतः जिसने जितना कार्य किया और जिसकी जिस हद तक पहुँच हुई, उसको स्वीकार करता हुआ, वह प्रत्येक से कहता है कि "यहीं मत ठहरो, आगे बढ़ते चलो, इतना ही सब कुछ नहीं है, यही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, इससे और आगे बढ़ने की आवश्यकता है," ऐसा संकेत करता हुआ, वह अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर देता है।

कई लोग शास्त्रीय पद्धति से एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी बताते हैं। उनका कहना है कि जगत् और उसके व्यवहार अविद्या के कार्य हैं, अतः वे अन्धकार-रूप हैं; और एकता का ज्ञान प्रकाश-रूप है; तथा अन्धकार और प्रकाश का विरोध होने के कारण ज्ञानयुक्त व्यवहार हो नहीं सकते, इसलिए आत्मज्ञानी के सांसारिक व्यवहार छूट जाते हैं; यह सिद्धान्त निवृत्ति-मार्ग की पुष्टि के लिए बनाया गया है। परन्तु वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो यह सिद्धान्त टिक नहीं सकता, क्योंकि जगत् और उसका व्यवहार अविद्या का कार्य नहीं है। यदि जगत् और उसके व्यवहार को अविद्या ही का कार्य मानें तो उसके कारण, उसके रचने वाले—मायाविशिष्ट परमात्मा को अज्ञानी अथवा अविद्याग्रस्त मानना पड़ेगा, परन्तु ईश्वर को अज्ञानी बताने का साहस कोई नहीं

कर सकता। ईश्वर अपनी इच्छा से, जानकारीपूर्वक अर्थात् ज्ञानसहित, सृष्टि रचता है (जगत्-रूप होता है), और ज्ञानसहित ही उसके धारण, पोषण और संहार के व्यापार करता है, यह प्रायः सभी आस्तिक मानते हैं। यदि दार्शनिक रीति से विचार किया जाय तो जगत् आत्मा के संकल्प का खेल है, और आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, इसलिए जगत् अविद्या का कार्य नहीं हो सकता। इसके सिवाय, अवतारों तथा आत्मज्ञानी महापुरुषों का कोई भी व्यवहार अज्ञानयुक्त नहीं होता, किन्तु उनके सभी व्यवहार सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि जगत् और उसके व्यवहार अविद्या के कार्य नहीं हैं। हाँ, आत्मज्ञानरहित व्यवहार करना, अथवा न करना (त्यागना), दोनों ही अविद्या यानी अज्ञान हैं; परन्तु सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करना कदापि अविद्या नहीं है। अब रही अज्ञान और ज्ञान, अथवा अन्धकार और प्रकाश के विरोध की बात, सो वास्तव में इनका विरोध नहीं है। क्योंकि ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है, किन्तु अयथार्थ ज्ञान, अर्थात् अपने आपको और जगत् को यथार्थ रूपसे न जान कर अन्यथा जानना ही अज्ञान है। इसी तरह प्रकाश का अभाव अन्धकार नहीं है, किन्तु प्रकाश का आवरण अन्धकार है। अन्धकार और प्रकाश, इसी तरह अज्ञान और ज्ञान दोनों सापेक्ष हैं। एककी सिद्धि के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अर्थात् अन्योन्याश्रित हैं। इसलिए ये विरोधी प्रतीत होने वाले द्वन्द्व वास्तव में एक दूसरे के साधक हैं, बाधक नहीं। अतः प्रकाश अन्धकार का नाशक नहीं, किन्तु उसका प्रकाशक है। तात्पर्य यह कि ज्ञान, संसार के व्यवहारों का बाधक नहीं, किन्तु उन पर प्रकाश डालता है। जिस तरह अन्धकार के प्रकाशित होने से उससे कोई अनर्थ नहीं होता, उसी तरह अयथार्थ ज्ञान पर यथार्थ ज्ञान का प्रकाश पड़ने से विपरीत कर्म नहीं बनते, प्रत्युत उससे व्यवहार सुधरते हैं। सच्चे, झूठे, अच्छे, बुरे, उचित, अनुचित आदि का निर्णय सत्य ज्ञान ही से होता है, अतः सत्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करने ही से यथार्थ व्यवहार सिद्ध होता है, और उसीसे सब प्रकार का सच्चा एवं अक्षय सुख प्राप्त होता है (ईशोपनिषद् मं० ११)।

सत्वगुण की प्रधानता से (यथार्थ) ज्ञान होता है (गी० अ० १४ श्लो० ११), रजोगुण की प्रधानता से विविध प्रकार के व्यवहार होते हैं (गी० अ० १४ श्लो० १२) और तमोगुण की प्रधानता से अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अज्ञान होता है (गी० अ० १४ श्लो० १३), अतः तमोगुण अविद्यारूप है; और जिस जगत् तथा जिस शरीर में स्थित होकर हम ज्ञान-अज्ञान का विचार करते हैं, वह इन तीनों गुणों के तारतम्य का बनाव है अतः शरीर के और जगत् के रहते इन तीनों गुणों का तारतम्य उसके साथ बना रहना अनिवार्य है (गी० अ० १८ श्लो० ४०)। कभी

सत्वगुण की, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की प्रधानता होती रहती है (गी० अ० १४ श्लो० १०), किसी एकका भी सर्वथा अभाव कभी हो नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि इनका आपस में विरोध नहीं है, किन्तु ये एक-दूसरे के सहायक हैं। आत्मज्ञानी के शरीर में यद्यपि तीनों गुण रहते हैं, परन्तु सत्वगुण की प्रधानता रहती है, अतः वह तीनों गुणों का नियन्ता अर्थात् स्वामी होता है। वह यथार्थ ज्ञान द्वारा सर्वभूतात्मैक्य-भाव से जगत् के व्यवहार करता है और स्वतन्त्रतापूर्वक तीनों गुणों का यथायोग्य उपयोग करता हुआ भी उनमें आसक्ति नहीं रखता। रजोगुण-तमोगुण उसको कुछ भी बाधा नहीं देते और न वह उनको त्याग देने ही की इच्छा करता है (गी० अ० १४ श्लो० २२-२३ और ईशोपनिषद् मं० ६-७)।

बहुतों को यह भ्रम है कि व्यवहार तो भिन्नता को सच्ची मानने से ही सिद्ध होता है, एकता होने पर व्यवहार बन ही नहीं सकता। एक से दूसरी वस्तु होती है तभी व्यवहार होता है। मनुष्य और पशु, भले और बुरे आदि की भिन्नताएँ न मान कर यदि एकता ही मान ली जाय तो क्या उन सबके साथ एक-सा वर्ताव बन सकेगा? और क्या इस तरह एकाकार करना ठीक होगा? स्त्री और पुरुष, माता और पत्नी आदि के साथ एक-से व्यवहार की अनुपयुक्तता के उदाहरण देकर, ये लोग एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी सिद्ध करते हैं। इस विषय में वेदान्त दावे के साथ कहता है कि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों के साथ अपनी एकता के ज्ञान-युक्त व्यवहार करने से, व्यवहार कदापि बिगड़ नहीं सकता, किन्तु भिन्नता को सच्ची मान कर व्यवहार करने से ही वह बिगड़ता है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४ मं० ६)। जो जैसा है उसको वैसा ही जान कर आचरण करने से व्यवहार सुधरता है, अन्यथा जान कर व्यवहार करने से वह अवश्य बिगड़ता है। जिस तरह झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा मान कर, उस मिथ्या ज्ञान के आधार पर व्यवहार करने से बहुत हानि उठानी पड़ती है, उसी तरह अनेकता के मिथ्या ज्ञान से मोह उत्पन्न होता है और एक दूसरे के साथ राग, द्वेष, ईर्ष्या, तिरस्कार, अभिमान आदि अनेक प्रकार के हानिकारक भाव उत्पन्न होते हैं, जिनसे व्यवहार बिगड़ता है। उदाहरणार्थ, (१) बरफ़ के टुकड़े को वस्तुतः पानी जानते हुए उसका उपयोग किया जायगा, तभी उसका यथार्थ उपयोग होगा, यदि पानी से भिन्न उसको पत्थर जान कर दीवार में चुन दिया जायगा, अथवा हीरा जान कर तिजोरी में बंद कर दिया जायगा, तो थोड़े ही समय में वह पानी होकर सबको बिगाड़ देगा। (२) मिट्टी के बर्तनों को मिट्टी समझते हुए, उनसे यथायोग्य काम लिया जायगा, तो वे ठीक काम देंगे, परन्तु यदि उनको सोना समझ कर तिजोरियों में बंद रखने का प्रयत्न किया जायगा, तो उनका यथार्थ उपयोग न हो सकेगा।

(३) सोने के आभूषणों को सोना समझ कर यथास्थान पहिनेंगे तो वे शरीर की शोभा बढ़ावेंगे, परन्तु उनको मिट्टी समझ कर अरक्षित दशा में छोड़ दिया जायगा तो चोर-उचक्के उठा ले जायँगे। (४) घोड़ा पशु का ही एक भेद है, यदि पशुभाव की एकत्व-दृष्टि छोड़ कर घोड़ाभाव भी भेद-दृष्टि में ही आसक्ति रक्खी जायगी, तो उसके साथ पश्वोचित व्यवहार न होकर, या तो जड़-पाषाण, वनस्पति आदि के उपयुक्त व्यवहार होने से उस पर निर्दयता होगी, अथवा मनुष्यादि उच्च कोटि के प्राणियों के योग्य व्यवहार किया जायगा, तो तबेलों में बाँधने के बदले उसे कमरों में रक्खा जायगा, घास के स्थान में रोटी आदि खिलाई जायगी, और सवारी के स्थान में उससे मानवीय काम लिया जायगा; ऐसा करने से व्यवहार अवश्य ही बिगड़ेगा। (५) पुरुष या स्त्री के साथ पुरुष अथवा स्त्री का भाव छोड़ कर केवल वर्ण, नाम अथवा आपस के सम्बन्ध आदि की भेद-दृष्टि से ही व्यवहार किया जायगा, तो उससे भी उपरोक्त प्रकार से ही व्यवहार बिगड़ेगा। (६) भले अथवा बुरे व्यक्ति के साथ उसके मनुष्यपन के ज्ञान बिना केवल भलाई अथवा बुराई के ही विचार से व्यवहार किया जायगा, तो अनर्थ होगा; क्योंकि भलाई अथवा बुराई कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अनुकूलता भलाई है और प्रतिकूलता बुराई। अनुकूलता-प्रतिकूलता जड़ पदार्थों में, पशुओं में और दैवी शक्तियों में भी होती है। अतः भलाई अथवा बुराई किसके आश्रय में है, उसका भी ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो विपरीत वर्ताव होकर व्यवहार बिगड़ेगा। (७) माता को सचेतन स्त्री न जान कर केवल उसमें माता के सम्बन्ध ही की आसक्ति रक्खी जायगी, तो मोह के वश उसके साथ सचेतन-स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड़ पदार्थ अथवा पशु आदि की तरह व्यवहार हो जायगा, जिससे उसको बहुत कष्ट होगा। (८) इसी तरह पत्नी से भी यदि सचेतन-स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड़ पदार्थ अथवा पशु की तरह व्यवहार हो जायगा तो उसको बहुत कष्ट होगा; जैसे कि अज्ञानी बालक अपनी माताओं को, मूर्ख माताएँ सन्तानों को, पति पत्नी को और पत्नी पति को उनके स्थूल शरीरों के मोहवश कष्ट दिया करते हैं वही हाल होगा। माता अथवा पत्नी के एकत्व-भाव—स्त्रीपन की अपेक्षा उनके साथ के सम्बन्ध अर्थात् मातापन अथवा पत्नीपन की भिन्नता का भाव अस्थायी और सङ्कुचित है। जो एक की माता होती है, वह दूसरे की पुत्री, बहिन या पत्नी होती है; और जो एक की पत्नी होती है, वह दूसरे की माता, पुत्री या बहिन होती है; परन्तु स्त्रीपन का सम्बन्ध सबके साथ एक समान होता है, अतः वह अधिक व्यापक और स्थायी है। भले-बुरेपन की अपेक्षा मनुष्यपन अधिक स्थायी और व्यापक है। मनुष्य में भलाई अथवा बुराई आगन्तुक होती हैं, वे बदल सकती हैं, परन्तु मनुष्यत्व बना

रहता है। इसी तरह घोड़े में घोड़ेपन की अपेक्षा पशुपन अधिक व्यापक और अधिक स्थायी है। कहीं पर घोड़े से सवारी का काम लिया जाता है, कहीं बोझा ढोने का, कहीं हलों में जोतने का, और कहीं सर्कसों में खेल दिखाने का, इत्यादि; पशु से भिन्न पाषाण, वनस्पति अथवा मनुष्य का काम उससे नहीं लिया जा सकता; सब दशाओं में उसका पशुपन बना ही रहता है।

अब इससे आगे बढ़ कर मनुष्य, स्त्री, पशु आदि के स्थायीपन और सत्यता पर गहरा विचार किया जाय तो आत्मा की दृष्टि से वे भी सब अस्थायी और कल्पित सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे सब बनने-बिगड़ने वाले और क्षण-क्षण में बदलने वाले हैं; और यही दशा व्यवहार करने वाले के शरीर और व्यवहार की है। इन सबमें सदा एकसा रहने वाला एकत्व-भाव, अर्थात् अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप आत्मा ही सत्य है। अतएव अपने तथा दूसरों यानी समस्त जगत के अन्दर एक आत्म तत्त्व को सत्य मानते हुए, और नाना प्रकार की भिन्नताओं को उस एक ही आत्मा के नाना रूपों तथा नाना नामों का बनाव समझते हुए, अपने तथा दूसरे के शरीर की योग्यता और गुणों के तारतम्य के अनुसार, और आपस के सम्बन्ध के उपयुक्त परस्पर में व्यवहार करना—यही एकता एवं समता का व्यवहार है। श्रेष्ठ और दुष्ट, मनुष्य और पशु आदि को अपने से अभिन्न आत्मरूप समझते हुए, अपने नाम-रूपात्मक शरीर और उनके नाम-रूपात्मक शरीरों के गुणों के उपयुक्त, और उनसे अपने सम्बन्ध के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। इसी तरह माता और पत्नी को अपने से अभिन्न आत्मरूप समझते हुए, उनके तथा अपने नाम-रूपात्मक शरीरों, तथा आपस के कल्पित सम्बन्धों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। जिस शरीर की जिस अवस्था और जिस स्थिति में जैसी योग्यता हो, उसीके अनुसार व्यवहार करना चाहिए। यदि गृहस्थाश्रम में रह कर उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे; और यदि गृहस्थाश्रम से अलग रह कर उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे; परन्तु एकता की सत्यता और भिन्नता के भावों के मिथ्यापन को कभी नहीं भूलना चाहिए। नाटक के पात्र (Actors) लोग भिन्न-भिन्न स्वाँगों के अनुसार आपस में यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी यह बात एक क्षण के लिए भी नहीं भूलते कि वे सब एक ही मण्डली के सदस्य हैं। वे इस एकता को सच्ची और स्वाँगों की भिन्नता के दिखावटी व्यवहारों को मिथ्या समझते हैं। कचहरियों में दो वकील मित्र एक मुक़दमे में प्रतिद्वन्दिता से लड़ते हैं, परन्तु आपस की मित्रता ज्यों की त्यों कायम रहती है। मुक़द्दमे के अवसर पर लड़ने की भिन्नता को वे मिथ्या जानते हैं। शरीर

के पृथक्-पृथक् अङ्गों को एक ही शरीर के अनेक अवयव जानते हुए उनके द्वारा यथा-योग्य आचरण करने ही से शरीर का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसी तरह जगत् की सम्पूर्ण भिन्नताओं में एकता का ज्ञान रखते हुए, उन प्रत्येक के उपयुक्त सांसारिक व्यवहार करना, यही व्यावहारिक वेदान्त है। इसीका आचरण करने वाले पूर्व काल में सब प्रकार से उन्नत हुए हैं और वर्तमान में भी जो लोग थोड़ा या बहुत इसका आचरण करते हैं, वे उस आचरण के अनुसार, थोड़े या बहुत उन्नत होते हैं।

इस विषय में यह आशङ्का बिलकुल ही न रहनी चाहिए कि सबके साथ पूर्ण एकता के व्यवहार बिना सच्चा सुख हो नहीं सकता, और इस तरह पूर्ण एकता का व्यवहार कर सकना, साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा अशक्य है, इसलिए यह प्रयत्न निष्फल है। व्यावहारिक वेदान्त का आचरण दूसरे कर्मकाण्डों अथवा क्रियाओं की तरह नहीं है कि जिसकी पूर्णता होने से ही निर्दिष्ट फल होता हो। इसमें यही तो विशेषता है कि जितना इसका आचरण किया जाय, उतना ही सुख उसी समय प्रत्यक्ष रूप में होता है, अर्थात् जितने अधिक लोगों के साथ जितने दर्जे की एकता के भाव से वर्ताव किया जाता है, उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तत्काल ही प्राप्त होती है। इसके थोड़े आचरण से थोड़ी और अधिक से अधिक, और पूर्ण रूप से इसका आचरण करने से पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि इसका थोड़ा भी आचरण निरर्थक नहीं जाता; और न इसमें कोई ऐसी कठिन विधि है कि जिसके बिगड़ जाने से विपरीत परिणाम हो (गी० अ० २ श्लो० ४०)। इसका आचरण करने वाला यदि एक जन्म में पूर्णता तक नहीं पहुँचे, तो आगे के जन्मों में क्रमशः उन्नति करता हुआ पूर्णता, अर्थात् "वसुधैव कुटुम्बकम्" की स्थिति में पहुँच जाता है (गी० अ० ६ श्लो० ४३ से ४५)। सारांश यह कि इसका आचरण करने वाला उत्तरोत्तर उन्नति करता रहता है, पीछे गिरता नहीं।

गीता का व्यवहार-दर्शन

गीता का व्यावहारिक अर्थ

भूमिका

किसी भी ग्रन्थ के सच्चे तात्पर्य का निर्णय करने के लिए यह देखना चाहिए कि (१) उसकी विशेषताएँ क्या हैं ? (२) उसके आरम्भ और समाप्ति में क्या कहा गया है ? (३) उसमें किस विषय का सयुक्तिक प्रतिपादन है ? (४) उसमें किस विषय का बार-बार समर्थन एवं पुनरावृत्ति है ? (५) उसमें किस विषय के गुण-प्रदर्शन एवं प्रशंसा है और (६) उसका परिणाम क्या निकला ? इन साधनों से ग्रन्थ की परीक्षा करके, उसमें कथित सभी बातों को लेकर उनकी आपस में सङ्गति करके, पक्षपात रहित होकर ग्रन्थ का तात्पर्य-निर्णय करना चाहिए । यदि अपना मत पहले स्थिर कर लिया जाय और फिर उसकी पुष्टि किसी ग्रन्थ से करने के लिए, उपरोक्त साधनों की अवहेलना करके, उसमें वर्णित जो बातें अपने मत के अनुकूल न पड़ें उन्हें छोड़ कर, जो बातें अपने मत के अनुकूल हों, केवल उन्हींको ग्रहण किया जाय तो उस ग्रन्थ के तात्पर्य का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता ।

उपरोक्त पद्धति से श्रीमद्भगवद्गीता के तात्पर्य के विषय में विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य ऐसे उपलब्ध होते हैं कि जिनसे इसका "व्यावहारिक अर्थ" स्वतः ही प्रतिपन्न होता है और उक्त अर्थ की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रहता । अतः गीता का सच्चा तात्पर्य समझने के लिए, इसके प्रत्येक श्लोक के अर्थ पर विचार करते समय इन तथ्यों पर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए । इन पर समुचित ध्यान न रखने से ही इसके अर्थ में इतनी असम्बद्धता तथा अव्यावहारिकता का घोटाला हो गया है कि कई लोग इसको कोरा कल्पित सिद्धान्त (Theory) अथवा अव्यावहारिक आदर्शवाद (Impracticable Idealism) ही समझने लगे हैं; और व्यवहार में इसके सिद्धान्तों का उपयोग लुप्त-प्राय होगया है, जिससे जनता की अकथनीय हानियाँ हुई हैं ।

(१) गीता के उपदेशकर्ता महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में प्रायः सर्वत्र ही अपना सर्वात्मभाव घोषित किया है, अर्थात् अपनी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, एकता, नित्यता एवं समता आदि परमात्म-भाव की स्थिति में यह उपदेश देना सूचित किया है; और उक्त उपदेश को अत्यन्त प्राचीन, गहन, अविनाशी, मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के लिए एक समान उपयोगी एवं एक समान हितकर राज-विद्या बताया है; और साथ ही कर्मों की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके, बुद्धियोग अर्थात् प्रत्येक विषय में बुद्धि से काम लेने पर बार-बार ज़ोर दिया है; यहाँ तक कि अपने इस उपदेश पर भी अच्छी तरह विचार करके कार्य करने को कहा है (गीता अ० १८ श्लो० ६३)।

इन बातों से स्पष्ट है कि गीता केवल श्रीकृष्ण और अर्जुन का व्यक्तिगत सम्वाद मात्र ही नहीं है, न यह किसी देश-विशेष, काल-विशेष, जाति-विशेष एवं व्यक्ति-विशेष के लिए ही परिमित है, और न यह किसी कार्य-विशेष की सिद्धि, अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेष की स्थापना एवं उसके प्रचार के उद्देश्य से ही कही गई है; किन्तु यह दिव्य उपदेश, सर्वात्मभावापन्न महान् आत्मा = परमात्मा ने, देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, लिङ्ग-भेद, धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, अवस्था-भेद, कर्म-भेद, पद-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के हित, अर्थात् उनके वर्तमान एवं भविष्य के कल्याण के लिए दिया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, गीता के श्लोकों का अर्थ गम्भीर-गवेषणापूर्वक, अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहरे विचार से—जहाँ तक बुद्धि पहुँच सके—अधिक से अधिक उदार, अधिक से अधिक व्यापक और अधिक से अधिक विस्तृत करना चाहिए।

अतः भगवान् ने इसमें अपने लिए जो "अहं, माम् , मया, मे, मत् , मम, मयि" आदि उत्तम पुरुष (first person) वाचक सर्वनामों का प्रयोग किया है, उनको केवल श्रीकृष्ण महाराज के विशेष व्यक्तित्व (व्यष्टि-भाव) के लिए ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु वे सर्वनाम उनके व्यष्टि-समष्टि-संयुक्तभाव अर्थात् सबके "अपने वास्तविक आप (self)" के लिए प्रयुक्त हुए समझना चाहिए। इसी तरह अर्जुन के लिए भिन्न-भिन्न नामों एवं विशेषणों युक्त जो सम्बोधन हैं, उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के व्यष्टि-भाव के लिए समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, गीता का उपदेश प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के लिए, समष्टि-आत्मा = परमात्मा का दिया हुआ समझना चाहिए।

यदि गहरा विचार कर देखा जाय तो गीता जैसा अत्यन्त उदार, सार्व-जनिक एवं सर्वहितकर व्यापक उपदेश, सर्वात्मभावापन्न महापुरुष ही दे सकते

हैं; और दूसरी तरफ ऐसे महापुरुष द्वारा, गीता जैसा अनुपम उपदेश ही दिया जाना उचित है। इसलिए स्वयं गीता ही श्रीकृष्ण महाराज के सर्वात्मभाव का स्वतः-सिद्ध प्रमाण है। इसी तरह गीता की सार्वजनिकता एवं सर्वव्यापकता का प्रमाण श्रीकृष्ण महाराज का सर्वात्मभाव है। ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे के साधक एवं एक दूसरे की महिमा के द्योतक हैं।

श्रीकृष्ण महाराज के परमात्मा अथवा ईश्वर का अवतार होने के विषय में इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा कि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सारी सृष्टि परमात्मा अथवा ईश्वर-मय ही है—ईश्वर से भिन्न कुछ भी नहीं है; अर्थात् ईश्वर वस्तुतः दूसरों से कोई अलग व्यक्ति नहीं है कि जिसके किसी विशेष व्यक्ति के रूप में अवतार होने या न होने के विषय में वाद-विवाद किया जाय। एक ही आत्मा सबमें समान-भाव से व्यापक है—व्यष्टि भाव से वही जीवात्मा माना जाता है और समष्टि-भाव से वही परमात्मा अथवा ईश्वर माना जाता है; और यदि वह आत्मा किसी विशेष विभूति-सम्पन्न चमत्कारिक रूप में प्रकट होता है तो उसे अवतार कहते हैं। जब व्यष्टि-भाव से शरीरों में आसक्ति करके अपने को एक तुच्छ व्यक्ति, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परतन्त्र, कर्मों के बन्धनों से बँधा हुआ, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से युक्त एवं परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में घूमने वाला जीवात्मा मान लिया जाता है, तो उसकी अपेक्षा से एक समष्टि-भावापन्न, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, कर्मों के बन्धनों से मुक्त, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित, जीवों को पाप-पुण्य के फल भुगताने तथा जन्म-मरण के चक्कर में घुमाने वाले, जगत् के निर्माता, सबके स्वामी, सबके नियन्ता, सबके रक्षक—ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है; और जब इस तरह उपरोक्त गुणों वाले ईश्वर का अस्तित्व माना जाता है, तब वह अपने रचे हुए जगत् के सञ्चालन तथा उसको सुव्यवस्थित रखने आदि व्यवहारों के लिए, विशेष आवश्यकता होने पर, विशेष परिस्थिति के उपयुक्त, कोई विशेष शरीर धारण करके कोई विशेष कार्य करे तो सर्वथा उचित ही है। अपनी रचना को सुव्यवस्थित रखने के लिए वह अपने ऋषियों, पैगम्बरों एवं सन्तानों आदि पर ही सर्वथा निर्भर क्यों रहे? जब वह सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र है, तो संसार की सुव्यवस्था के लिए, परिस्थिति के उपयुक्त किसी विशेष रूप में प्रकट होकर स्वतन्त्रतापूर्वक विशेष कार्यों के करने की भी तो शक्ति उसमें होती ही है; अतः किसी विशेष रूप में प्रकट होने से उसकी सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं स्वतन्त्रता में कमी नहीं आ सकती। जिस तरह कोई स्वाधीन राजा अपने

राज्य की सुव्यवस्था के लिए अपने मन्त्रियों आदि पर ही सर्वथा निर्भर न रह कर किन्हीं विशेष अवसरों पर राजधानी के अतिरिक्त राज्य के अन्य स्थानों में किसी विशेष व्यक्ति के रूप में अथवा वेष बदल कर स्वयं दौरा करे तो उसको कोई बाधा नहीं दे सकता और न उसकी राज्य-सत्ता में ही फ़र्क़ आता है; उसी तरह सर्वशक्तिमान् ईश्वर, जगत् की सुव्यवस्था के लिए कोई विशेष रूप अर्थात् अवतार धारण करे, तो उसको कोई बाधा नहीं हो सकती और न उसके ईश्वरत्व में ही फ़र्क़ आता है।

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त गीता में एक यह भी विशेषता है कि इसमें जो कुछ कहा गया है, सब यथार्थ कथन है। अतिशयोक्ति, मिथ्या प्रशंसा अथवा मिथ्या निन्दा, अथवा कपोल-कल्पित अव्यावहारिक एवं असम्बद्ध विषयों का वर्णन इसमें बिलकुल नहीं है। यदि ऐसा होता तो महाभारत-काल से लेकर अब तक, सारे भूमण्डल के विचारशील लोगों में इसका इतना आदर कदापि न होता; और दार्शनिक आर्य-संस्कृति के अनुयायी लोगों की इस पर इतनी श्रद्धा नहीं रहती।

(२) महाभारत के भूमण्डल-व्यापी महायुद्ध के आरम्भ में, शस्त्र चलने की तैयारी के समय, कर्मवीर अर्जुन, हृदय की दुर्बलता के वश, अपने और अपने सम्बन्धियों के व्यक्तिगत स्वार्थों के मोह, तथा मरने-मारने के शोक एवं पाप के भय से किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया और घबरा कर अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध-रूपी सांसारिक व्यवहार से खिन्न, तथा अत्यन्त दीन-दुखी होकर भगवान् श्रीकृष्ण से पूछने लगा कि "इस विकट परिस्थिति में मेरे लिए जो श्रेयस्कर हो सो बताइए"। तब भगवान् ने उस प्रसङ्ग को लेकर गीता का उपदेश दिया, जिसमें अर्जुन को लक्ष्य करके सब लोगों को आत्म-ज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने की व्यवस्था दी। मनुष्य-समाज की सुव्यवस्था के लिए, अर्थात् मनुष्य-जगत् का व्यवहार ठीक-ठीक चलाने के लिए, चार प्रकार के मुख्य कर्मों, अर्थात् शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवा की व्यवस्था आवश्यक होने के कारण, समाज को गुण-कर्मानुसार चार वर्णों में विभक्त करके प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार, अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अर्थात् अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के सांसारिक व्यवहार, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त—कर्मों के स्वामीभाव से—स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान् ने दिया; और इसी विषय का सयुक्तिक प्रतिपादन, तथा बार-बार समर्थन एवं उसके गुणों के प्रदर्शनसहित प्रशंसा, अनेक प्रकार से सारी गीता

में करके, यही आचरण सबके लिए परम श्रेयस्कर यानी इस लोक और परलोक, दोनों में कल्याणकर बताया; और उसके परिणाम-स्वरूप अर्जुन ने उसी समय उसके अनुसार आचरण करना स्वीकार किया। इससे स्पष्ट है कि उपरोक्त आत्मज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने का विधान अर्थात् "व्यावहारिक वेदान्त" ही गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय है और उसीकी व्यवस्था करने के लिए, उसके सब अङ्गों का निरूपण, प्रसङ्गानुसार इसमें यथास्थान किया गया है। मूल विषय में उन अङ्गभूत विषयों के समावेश का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

यह बात ध्यान में रखने की है कि उन अङ्गभूत विषयों का निरूपण, उक्त मूल प्रतिपाद्य विषय के अन्तर्गत—उसकी व्यवस्था करने के लिए किया गया है, न कि उनकी स्वतन्त्र कर्तव्यता के विधान के लिए। यदि उनकी स्वतन्त्र कर्तव्यता का विधान किया जाता तो असंगति, अव्यावहारिकता, असम्बद्धता आदि दोष आते; परन्तु सर्वात्मभावापन्न भगवान् श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता जैसे सर्वमान्य, सार्वजनिक, सत्य एवं व्यावहारिक शास्त्र में यह दोष रह ही कैसे सकते हैं?

(३) आत्मज्ञान-विहीन सांसारिक व्यवहारों में व्यक्तित्व के भाव की अत्यन्त आसक्ति रहती है, जिससे व्यक्तिगत हानि-लाभ, सुख-दुःख एवं संयोग-वियोग आदि का शोक हुए बिना नहीं रहता, तथा अपने शरीर को कष्ट होने अथवा मरने का मोह, एवं दूसरों को कष्ट देने अथवा मारने के पापों का फल—इसी जन्म में अथवा परलोक में—भोगने का भय भी रहता है। इस तरह के शोक, मोह और भय के कारण सांसारिक व्यवहार बिगड़ने के अतिरिक्त, व्यवहार करने वाले का जीवन भी व्यर्थ ही नष्ट होता है और उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। अर्जुन को भी इसी तरह का शोक, मोह और भय हुआ था, और साधारणतया अन्य कार्यकर्ताओं को भी हुआ करता है। इसलिए भगवान् ने अपने उपदेश के आरम्भ से लेकर अन्त तक, आत्मज्ञान और उसके महत्त्व का निरूपण प्रसङ्गानुसार प्रायः सर्वत्र ही किया है; अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि एक ही अज, अविनाशी, नित्य, सनातन, निर्विकार, सच्चिदानन्द आत्मा, जो सबका असली अपना आप है और जो सब भूत-प्राणियों में एक समान व्यापक है—वही सत्य है; और जो नाना भाँति के जगत् के बनाव और शरीर हैं, वे उस एक ही आत्मा के अनन्त कल्पित रूपों और नामों का खेल है, और वह खेल प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं उत्पत्ति-नाशवान् होने के कारण मिथ्या है, तथा सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व भी इस खेल के अन्तर्गत होने के कारण परिवर्तनशील एवं आने-जाने

वाले तथा सापेक्ष हैं, अतः वे भी मिथ्या हैं, और सबके एकत्व-भाव—आत्मा में वे अब सम हो जाते हैं, अर्थात् उनका अभाव हो जाता है। इसलिए पृथक्ता के मिथ्या भावों के कारण प्रतीत होने वाले सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों से विचलित न होकर सबकी एकता के ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से, अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार, अपने-अपने हिस्से के लौकिक व्यवहार करने का विधान, सबके लिए गीता में सर्वत्र किया गया है; और साथ में यह भी कहा गया है कि इस तरह आचरण करने से किसी पुरुष को शोक, मोह और भय नहीं होता।

जब कि आत्मज्ञान के आधार पर ही व्यवहार करने का विधान गीता का मूल विषय है, तो आत्मज्ञान को इस उपदेश का जीवात्मा समझना चाहिए; अतः उसका वर्णन इसमें सबसे प्रधान और सबसे अधिक होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सांसारिक व्यवहार छोड़ कर केवल आत्म-चिन्तन करते रहने और आत्म-ज्ञान के ग्रन्थ देखने, प्रक्रियाओं को याद करने एवं शास्त्रार्थ करने ही में सारी आयु बिता दी जाय; क्योंकि न तो अर्जुन को उस समय ऐसी शिक्षा देने का अवसर था, न उसको निमित्त बना कर दूसरे लोगों को ही यह उपदेश देने का प्रसंग था कि 'जगत् के सब व्यवहार छोड़ कर केवल आत्म-चिन्तन और आत्म-ज्ञान की चर्चा ही में लगे रहो, इसके सिवाय और कोई कर्तव्य नहीं है'।

(४) उपरोक्त आत्मज्ञान-युक्त सांसारिक व्यवहार करने में, सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन की स्थिति होना आवश्यक है, जिससे अनुकूलता-प्रतिकूलता एवं सुख-दुःखादि नाना भांति के द्वन्द्वों में वह विक्षिप्त न हो, किन्तु सम बना रहे। इस सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति को गीता में "योग" कहा है। सबकी एकता के साम्य-भाव में मन की स्थिति विचार से भी होती है और क्रिया से भी। विचार से मन को एकाग्र करने के लिए तो आत्मज्ञान का निरूपण सर्वत्र किया ही गया है; परन्तु जिनकी बुद्धि उक्त सूक्ष्म विचार को ग्रहण नहीं कर सकती, उनके लिए राज-योग की क्रियाओं से मन को एकाग्र करने का संक्षिप्त विधान छठे अध्याय में किया गया है। परन्तु वह विधान, उक्त समत्व-योग में स्थित होने का एक साधन बताने मात्र के लिए ही है, हठयोग की समाधि के निमित्त उन क्रियाओं की स्वतन्त्र कर्तव्यता प्रतिपादन करने के लिए नहीं है; क्योंकि संसार के व्यवहार करने वालों के लिए,

काया को क्लेश देने वाली हठयोग की क्रियाओं तथा समाधि में ही लगे रहने का विधान सर्वथा अनुपयुक्त होता। गीता में जिस समाधि का कथन है, वह व्यक्तिगत चित्त का निरोध मात्र ही नहीं है, किन्तु सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को स्थित करना है।

(५) संसार-चक्र को अर्थात् जगत् के व्यवहार को यथावत् चलाने के लोक-संग्रह के लिए, अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म करने के विधान को गीता में " यज्ञ " कहा है। इस व्यापक " यज्ञ " में प्रत्येक व्यक्ति के (व्यष्टि) कर्मों को सबके (समष्टि) कर्मों में सम्मिलित करने, अर्थात् सबके साथ सहयोग करने द्वारा, अपनी-अपनी व्यष्टि व्यावहारिक शक्तियों का—देवता-रूप से कथित—जगत् को धारण करने वाली समष्टि शक्तियों में योग देने की आहुति देकर, संसार-चक्र को चलाने में सहायक होने का विधान किया गया है। भूत-प्राणियों के भिन्न-भिन्न कर्म करने की व्यष्टि शक्तियों के समष्टि (सम्मिलित) भाव ही उनके अधिदेव अर्थात् देवता हैं; और प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि शक्तियों का सबकी समष्टि शक्तियों में योग देना ही उन देवताओं का यजन अर्थात् "यज्ञ" है। यही " यज्ञ " संसार को धारण करता है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म—सबके हित के लिए, दूसरों से सहयोग रखते हुए—करने ही से जगत् का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का—चाहे वह कितना ही छोटा हो अथवा बड़ा, चाहे वह कितना ही नीचा हो अथवा ऊँचा, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—अपनी-अपनी योग्यतानुसार, अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म, दूसरों से एकता तथा सहयोग रखते हुए करना मात्र ही "यज्ञ" है; क्योंकि "यज्ञ" का प्रयोजन संसार-चक्र को चलाना ही है। अस्तु, गीता में विधान किये हुए "यज्ञ" का तात्पर्य आम-तौर से प्रचलित यज्ञों की तरह अग्नि में घृतादि पदार्थों का होमना अथवा बलि-वैश्वदेव आदि वैदिक कर्मकाण्डों में लगे रहना नहीं है, क्योंकि उपरोक्त संसार-चक्र को चलाने के लिए अपने-अपने कर्तव्य पालन करने के निरूपण में अग्निहोत्र, बलि-वैश्वदेव आदि वैदिक कर्मकाण्डों में लगे रहने की व्यवस्था बन नहीं सकती।

(६) आत्मा यानी "अपने वास्तविक आप" की सबके साथ एकता के साम्य-भाव का विचार अर्थात् आत्मज्ञान, अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण साधारण लोगों के लिए बड़ा दुर्गम है, इसलिए लोगों का चित्त उसमें लगना बहुत ही कठिन होता है। इस विषय को सुगम करके सर्वसाधारण को

समझाने, तथा उनके लिए मन को सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करने की व्यवस्था सहल करने के लिए भगवान् ने भक्ति अथवा उपासना का विधा कियान है, जिसमें परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर अथवा (ईश्वर रूप) अपने आप (कृष्ण) को, सब भूत-प्राणियों में एक समान व्यापक बता कर, अखिल विश्व के परमात्मा का व्यक्त स्वरूप होने के निश्चय से सबके साथ अनन्य-भाव के प्रेम के आचरण द्वारा उस सर्व-व्यापक परमात्मा की उपासना करने का प्रतिपादन किया गया है। उक्त उपासना के विधान में, जो ईश्वर के अथवा अपने (कृष्ण के) शरण होने को कहा है, उसका तात्पर्य परमात्मा, ईश्वर अथवा कृष्ण को सर्वव्यापक समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ देना है; तथा ब्रह्मार्पण अथवा ईश्वरार्पण अथवा अपने (कृष्ण के) अर्पण करने का जो विधान किया है, उसका तात्पर्य ब्रह्म, ईश्वर अथवा कृष्ण को सबमें समान भाव से व्यापक समझते हुए सबके लिए, अर्थात् अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले जनतारूपी जगदीश्वर के लिए प्रेमयुक्त कर्म करना अथवा पदार्थ देना है। परन्तु उक्त भक्ति अथवा उपासना का यह तात्पर्य नहीं है कि निर्गुण-निराकार ईश्वर के ध्यान या चिन्तन का दुःसाध्य प्रयत्न किया जाय, अथवा किसी स्थान-विशेष में स्थित किसी व्यक्ति-विशेष ही को ईश्वर मान कर, केवल उसका भजन, स्मरण, कीर्तन आदि ही किया जाय, अथवा उसके किसी विशेष रूप की कल्पना करके उसकी प्रतिमा, चित्र आदि बना कर उनका अर्चन, पूजन, भजन, स्मरण आदि ही किया जाय; और किसी अदृष्ट कल्पित शक्ति की, अथवा किसी देश अथवा काल-विशेष में परिमित ईश्वर की शरण में जाने मात्र ही का भाव मन से किया जाय, अथवा वाणी से उच्चारण किया जाय; तथा किसी देश अथवा काल-विशेष में स्थित किसी व्यक्ति-विशेष के, अथवा अदृष्ट (अव्यक्त) ईश्वर के नाम मात्र ही से कोई पदार्थ या कर्म अर्पण करने का शब्द उच्चारण किया जाय अथवा हाथ से संकल्प छोड़ा जाय। गीता जैसे व्यावहारिक उपदेश में इस तरह की अव्यावहारिक भावुकता, अर्थात् किसी अदृष्ट व्यक्ति-विशेष के नाम पर भजन, स्मरण, पूजन, अर्चन आदि में लगे रहने और उसकी शरण में पड़े रहने, तथा उसके नाम पर अर्पण करके बहुमूल्य पदार्थों का अपव्यय करने आदि आडम्बरों का विधान सर्वथा अयुक्त होता।

(७) उपरोक्त व्यष्टिभाव की समष्टि से एकता करने की विशेष व्याख्या करने के अभिप्राय से भगवान् ने भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के मिथ्या भावों को मिटाने के लिए, अहङ्कार-त्याग, ममत्व की आसक्ति का त्याग, कामना-त्याग, फल-त्याग

आदि—त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास का विधान किया है; क्योंकि भिन्नता का मिथ्या भाव मिट जाने से, सर्वत्र एकता तो वास्तव में है ही। अतः अहङ्कार-त्याग अथवा निरहङ्कार का यह तात्पर्य है कि जगत् में सर्वत्र एकता सच्ची होने के कारण सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते हैं—दूसरे व्यक्तियों अथवा शक्तियों के सहयोग बिना कोई अकेला व्यक्ति हिल भी नहीं सकता; इसलिए किसी भी काम के करने अथवा न करने का व्यक्तित्व का अहङ्कार रखना कि "मैं करता हूँ" अथवा "मेरे ही करने से कोई कार्य होता है" या "मैं नहीं करूँगा तो कोई कार्य नहीं होगा" इत्यादि सब मिथ्या है। इस मिथ्या व्यक्तित्व के अहङ्कार को छोड़ कर सच्चे समष्टिभाव में स्थित होने से ही समत्व-योग का व्यवहार हो सकता है।

ममत्व की आसक्ति का त्याग अथवा अनासक्ति का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेष ही को अपना मान कर उसके पृथक्ता के भाव में ममत्व की आसक्ति रखना साम्य-भाव का बाधक है; क्योंकि संसार के सभी पदार्थ एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं, इसलिए किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ ही में ममत्व रखने के बदले सबके साथ अनन्य-भाव का प्रेम रखना चाहिए।

कामना-त्याग अथवा निष्काम कर्म का तात्पर्य यह है कि अखिल विश्व में एकता सच्ची होने के कारण सबके स्वार्थ आपस में मिले हुए हैं, अतः कोई भी व्यक्ति दूसरों के स्वार्थों की सर्वथा अवहेलना अथवा हानि करके, अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि नहीं कर सकता। दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से कर्म करना मिथ्या व्यवहार है; अतः अपना स्वार्थ सबके स्वार्थों के अन्तर्गत समझ कर सबके हित के साथ अपना भी हित-साधन करने के उद्देश्य से कर्म करना चाहिए।

इसी तरह कर्मफल-त्याग का भी यह तात्पर्य है कि जगत् की एकता सच्ची होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता; इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने कर्मों के फल के लाभ से दूसरों को सर्वथा वञ्चित रख कर केवल अकेला ही उससे लाभ न उठावे, किन्तु दूसरों को लाभ पहुँचाने के साथ-साथ स्वयं भी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करे।

परन्तु, जैसा कि साधारणतया माना जाता है, गीता के निरहङ्कार का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संसार के व्यवहार करने में मनुष्य अपने आपके अस्तित्व तथा आत्माभिमान एवं अपने दायित्व को सर्वथा भुला कर, दूसरे किसी

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति पर निर्भर होकर, स्वावलम्बन के बदले परावलम्बी बन जाय। मनुष्य के सिवाय अन्य भूत-प्राणियों में तो कर्मों अथवा प्रकृति की आधीनता से मुक्त होने की योग्यता नहीं होती; परन्तु मनुष्य-शरीर में कर्म अथवा प्रकृति की परवशता हटा कर उन पर शासन करने की योग्यता होती है, और जिसमें जितनी ही एकता के भाव की वृद्धि होती है, उतना ही वह प्रकृति पर अधिक अधिकार प्राप्त करता है। इसलिए भगवान्, प्रकृति के स्वामी—चेतन पुरुष को, प्रकृति का दास—जड़ होकर पराधीनता से कर्म करने को नहीं कहते, किन्तु समष्टि अहङ्कार से, सबके हित के लिए, कर्मों अथवा प्रकृति के स्वामी-भाव से लोक-संग्रह के कर्म करने को कहते हैं।

अनासक्ति का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी भी काम के करने में मन न लगाया जाय, तथा उसका अच्छी तरह सम्पादन करने एवं उसमें उन्नति करने के लिए विचार-शक्ति का उपयोग न करके केवल मशीन की तरह, जड़ भाव से एवं असावधानी से काम किये जायँ, तथा उनके सुधरने-बिगड़ने की कुछ भी परवाह न की जाय; क्योंकि कर्म सब मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कारस्वरूप—चतुर्विध अन्तःकरणसहित इन्द्रियों द्वारा होते हैं, इसलिए कर्मों में मन न जोड़ने का अव्यावहारिक उपदेश भगवान् कैसे दे सकते हैं? किसी भी कर्म में व्यक्तिगत राग की आसक्ति न रख कर, सबसे प्रेमयुक्त, सबके हित के लिए, अच्छी तरह मनोयोग से—दत्तचित्त होकर तत्परता से कर्म करना ही सच्ची अनासक्ति है।

निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी उद्देश्य के बिना पागलों की तरह निष्प्रयोजन चेष्टाएँ की जायँ, अथवा अपनी इच्छा के बिना दूसरों की प्रेरणा से जबरदस्ती कर्म किये जायँ, तथा इस विचार से कर्म किये जायँ कि उनका फल कुछ भी न हो, अथवा कर्मों का फल यदि उत्पन्न हो तो वह ग्रहण न किया जाय। जिस तरह, (१) खेती करे तो अनिच्छा से करे—अन्न उत्पन्न करने के उद्देश्य से न करे, तथा इस भाव से करे कि इससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा—केवल जमीन पर हल चलाना और बीज फेंकना मात्र ही कर्तव्य है; और यदि उससे अन्न उत्पन्न हो जाय तो वह किसीके उपयोग में न आवे और न स्वयं उसे खाकर भूख शान्त करे; (२) स्वतन्त्रता या मुक्ति के प्रयत्न के परिणाम में जब स्वतन्त्रता या मुक्ति प्राप्त हो तो उसे अस्वीकार करके परतन्त्रता या बन्धन में ही पड़ा रहे; इत्यादि। गीता इस तरह के अव्यावहारिक निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का

उपदेश नहीं देती। जगत्-प्रपञ्च आत्मा की इच्छा का खिलवाड़ होने के कारण इच्छामय है, इसलिए इसके व्यवहार इच्छा से रहित नहीं हो सकते—किसी न किसी प्रकार की इच्छा और उद्देश्य ही से कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और कर्मों का अच्छा, बुरा अथवा मिश्रित फल होना भी अनिवार्य है। यदि कर्मों का फल ही न हो तो कर्म-विपाक का सिद्धान्त नष्ट हो जाय और कर्म करने में किसीकी प्रवृत्ति ही न रहे। गीता में तो यज्ञ अर्थात् लोक-संग्रह के उद्देश्य से कर्म करने का स्पष्ट आदेश है (गी० अ० ३ श्लो० ९)। इससे सिद्ध है कि कर्म करने का उद्देश्य तो कुछ न कुछ होता ही है और उस उद्देश्य की सिद्धि अथवा उसका अन्य फल भी होता ही है, परन्तु लोक-संग्रह के उद्देश्य से किये हुए कर्मों के फल में किसी व्यक्ति-विशेष की स्वार्थ-सिद्धि का मिथ्या भाव नहीं रहता, किन्तु उनसे अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले सब व्यक्तियों के हित होने का सद्भाव रहता है, जिनमें स्वयं कर्ता भी सम्मिलित है। यही निष्काम कर्म तथा कर्मफल-त्याग का रहस्य है।

सारांश यह कि भगवान् ने जो त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास का विधान किया है, उसका तात्पर्य भिन्नता के मिथ्या भावों को एकता के सच्चे भाव में परिणत करना, और "अपने आप (आत्मा)" से भिन्न जगत् के पदार्थों में सुख-दुःख मान कर उनमें आसक्ति न रखना तथा उनसे विचलित न होना, किन्तु परमानन्दस्वरूप "अपने आप (आत्मा)" ही में सब प्रकार के कल्पित सुख-दुःखों का एकीकरण (समावेश) समझना है। दूसरे शब्दों में अपने को दूसरों से पृथक् एक तुच्छ व्यक्ति एवं छोटे-से कर्ता के स्थान में अखिल विश्व का आत्मा, प्रकृति का स्वामी एवं महाकर्ता अनुभव करना, और जगत् के तुच्छ पदार्थों के लिए हीनता एवं दीनता के भावों के बदले अपने आपको परिपूर्ण समझना—यही गीता का त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है। छोटे-से व्यक्तित्व का भाव छुड़ा कर भगवान् महान्-आत्मा अर्थात् परमात्म-भाव में स्थिति करवाते हैं, यानी बूंद से समुद्र बनाते हैं; और मिथ्या विषय-सुखों की मृग-तृष्णा छुड़वा कर विश्व की सारी सुख-समृद्धि का अक्षय भण्डार "अपने आप" में बताते हैं।

त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि जगत् को वस्तुतः मिथ्या जान कर, उससे घृणा करके अलग होने का प्रयत्न किया जाय तथा सब उद्यम छोड़-छाड़ कर निठल्ले हो बैठे। इस तरह के त्याग, वैराग्य एवं संन्यास को भगवान् ने अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक कहा है।

जब कि जगत् का सारा नानात्व मिथ्या है, तो शरीरों के व्यक्तित्व के भावों में नानात्व होने के कारण वे भी मिथ्या हैं, अतः जगत् के व्यवहारों एवं पदार्थों को त्याग देने का व्यक्तित्व का अहङ्कार मिथ्या है; और जब तक ग्रहण अथवा त्याग के व्यक्तित्व का अहङ्कार रहता है, तब तक भिन्नता के (मिथ्या) व्यवहार बनते ही रहते हैं—चाहे वे ग्रहण के हों या त्याग के। इसलिए भगवान् उक्त मिथ्या भावों ही को छुड़ा कर एकता का सच्चा भाव ग्रहण करने को कहते हैं। यही सच्चा त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है।

त्याग और ग्रहण दोनों सापेक्ष हैं। त्याग के लिए ग्रहण का भी साथ-साथ होना आवश्यक है। इसलिए गीता व्यष्टि-भाव का त्याग समष्टि-भाव में कराती है, अर्थात् व्यष्टि-समष्टि का भेद मिटाती है, और जब व्यष्टि-समष्टि का भेद मिट जाता है तब त्याग और ग्रहण के लिए कुछ शेष ही नहीं रहता। अतः जो कुछ करना है वह यही है कि व्यष्टि-भाव का झूठा अभिमान मिटाना है; फिर न व्यष्टि है, न समष्टि; जो कुछ है वह सब "अपना आप" ही है—जो न ग्रहण का विषय है, न त्याग का।

(८) उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त सांसारिक व्यवहारों की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए, भगवान् ने उक्त व्यवहार करने वाले महापुरुषों के आचरणों का वर्णन प्रसङ्गानुसार गीता के प्रायः सभी अध्यायों में थोड़ा-बहुत किया है; किन्तु दूसरे अध्याय के अन्त में "स्थित-प्रज्ञ" के विवरण में, तथा बारहवें अध्याय के अन्त में "भक्त" के विवरण में, तथा तेरहवें अध्याय में "ज्ञान" के विवरण में, तथा चौदहवें अध्याय में "गुणातीत" के विवरण में और सोलहवें अध्याय में "दैवी-सम्पत्ति" के विवरण में विशेष रूप से किया है। उसके विपरीत, पृथक् व्यक्तित्व के भाव से विषमता के व्यवहार करने वाले "असुरों" के आचरणों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया है; तथा सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में सात्विक, राजस और तामस आचरणों की व्याख्या की है। उनमें आसुरी अथवा राजस-तामस आचरण त्याज्य, एवं दैवी अथवा सात्विक आचरण ग्राह्य कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि साधारणतया दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व के भावों के कारण ही आसुरी सम्पत्ति के अथवा राजस-तामस आचरण बनते हैं; और एकता के साम्य-भाव से दैवी सम्पत्ति के अथवा सात्विक आचरण बनते हैं। अतः जितने ही अधिक पृथक्ता के भाव बढ़े हुए होते हैं, उतने ही अधिक आसुरी अथवा राजस-तामस व्यवहार होते हैं; और जितना ही अधिक एकता का साम्य-भाव बढ़ा हुआ होता है, उतने ही अधिक

सात्विक व्यवहार होते हैं। इसलिए यह बात ध्यान में रखने की है कि व्यवहार अथवा कर्म सब जड़ होने के कारण उनमें स्वयं अच्छापन या बुरापन अर्थात् दैवी सम्पत्ति अथवा सात्विकपन, तथा आसुरी सम्पत्ति अथवा राजस-तामसपन, कुछ भी नहीं होता; किन्तु कर्मों में अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव से उत्पन्न होता है। यदि दैवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणों में पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव आ जायँ, तो उनका दुरुपयोग होकर वे ही राजस-तामस आसुरी सम्पत्ति में परिणत हो जाते हैं; दूसरी तरफ़ यदि आसुरी सम्पत्ति के राजस-तामस आचरण, समष्टि-भाव और सबके हित के उद्देश्य से किये जायँ तो उनका सदुपयोग होकर वे ही दैवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणों में परिणत हो जाते हैं। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब कि लोक-संग्रह के लिए काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, मान आदि आसुरी भावों के आचरण आवश्यक एवं लोक-हितकर होते हैं; उस परिस्थिति में वे काम-क्रोध आदि के आचरण आसुरी भाव नहीं रहते। इसी तरह अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब कि सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा आदि दैवी सम्पत्ति के आचरण, लोक-संग्रह के विरुद्ध अर्थात् लोक-पीड़ा के हेतु हो जाते हैं; ऐसी दशा में वे दैवी सम्पत्ति के आचरण नहीं रहते, किन्तु आसुरी सम्पत्ति में परिणत हो जाते हैं। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, इसलिए इसके व्यवहारों में तीनों गुणों युक्त, यथायोग्य आचरणों का होना अत्यावश्यक है। दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति सापेक्ष हैं, एक के होने के लिए दूसरी का होना अनिवार्य है। इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-समत्व-बुद्धि से निर्णय करके ही इनका यथायोग्य आचरण करने का विधान है। कर्मों की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता गीता में इसीलिए विशेष रूप से कही गई है।

(६) संसार में जितने भी कार्य होते हैं—चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक, चाहे आर्थिक हों या राजनैतिक, किसी भी प्रकार के हों—सबका आधार श्रद्धा-विश्वास की भित्ति पर होता है। जिस-जिस विषय का जिस-जिसको ज्ञान होता है, उस विषय के सम्बन्ध में उसीके अनुभव एवं उसीके कथन पर श्रद्धा करके उसमें प्रवेश करना होता है। विशेष करके आत्मज्ञान जैसे गहन और सूक्ष्म विषय में—जो कि स्थूल इन्द्रियों के सर्वथा अगोचर है—प्रवेश करने के लिए एवं उसके आधार पर आचरण करने के लिए तो पहले-पहल आत्मज्ञानी समत्वयोगी महापुरुषों के अनुभव एवं वचनों पर श्रद्धा ही का अवलम्बन करना पड़ता है। श्रद्धा के बिना इस विषय में चञ्चु-प्रवेश होना भी दुस्तर है। इसके अतिरिक्त, सबसे

अधिक आवश्यकता अपने वास्तविक आप पर श्रद्धा रखने अर्थात् आत्म-विश्वास की है, क्योंकि आत्म-विश्वास के बिना मनुष्य किसी भी कार्य में अग्रसर नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने गीता में श्रद्धा को बहुत महत्त्व दिया है; और यहाँ तक कहा है कि मनुष्य श्रद्धामय होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है। परन्तु श्रद्धा के उक्त विधान का यह तात्पर्य नहीं है कि आत्म-विश्वास को छोड़ कर, दूसरी अदृष्ट शक्तियों पर अन्ध-विश्वास करके उन पर निर्भर रहा जाय, अथवा किसी भी व्यक्ति की योग्यता के विषय का कुछ भी विचार न करके उसकी बातों पर विवेकशून्य अन्ध-श्रद्धा से आचरण किया जाय; तथा जिस अन्ध-विश्वास को पकड़ लिया जाय उसको हठ एवं दुराग्रह से छोड़ा ही न जाय, एवं उसके परिणाम पर भी कुछ विचार न किया जाय। श्रद्धा विचार-युक्त होनी चाहिए, अर्थात् जिस विषय में जिस पर श्रद्धा की जाय, उस विषय में उसकी योग्यता एवं कुशलता, तथा उसके गुणावगुणों एवं आचरणों के विषय में पहले अच्छी तरह अनुसंधान कर लिया जाय। सच्ची श्रद्धा वही होती है जो विचारपूर्वक होती है। प्रत्येक काम में बुद्धि का उपयोग करना मनुष्य का प्रधान कर्तव्य गीता में बताया गया है; अतः मनुष्य की मनुष्यता इसीमें है कि वह बुद्धि से काम ले।

(१०) उपरोक्त तथ्यों पर विचार करने से, इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि श्रीमद्भगवद्गीता में "व्यावहारिक वेदान्त" (Practical Philosophy) का ही प्रतिपादन है, न कि कोरे कल्पित सिद्धान्त (Theory) अथवा अव्यावहारिक आदर्शवाद (Impracticable Idealism) का, जैसा कि कई लोग अनुमान करते हैं। इसके उपदेष्टा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण महाराज की अवतार-लीला, "व्यावहारिक वेदान्त" की पूर्णावस्था का आदर्श है (उपोद्घात देखिए); और जिस अर्जुन को निमित्त करके यह उपदेश दिया गया था, वह भी जगद्-विख्यात कार्यकर्ता—क्षत्रिय वीर था। यह बात अवश्य है कि गीता में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त सांसारिक व्यवहार करने अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त की पूर्णावस्था के आदर्श का प्रतिपादन प्रधानता से किया गया है, क्योंकि पूर्णावस्था का आदर्श अथवा अन्तिम लक्ष्य बताने से ही मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर हो सकता है; आदर्श अथवा लक्ष्य के बिना मनुष्य की उस तरफ़ प्रवृत्ति हो नहीं सकती; परन्तु साथ ही साथ यह भी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसके थोड़े आचरण से थोड़ी, और अधिक से अधिक शान्ति, पुष्टि एवं तुष्टि (Peace, Power and Plenty)

प्राप्त होती है, अर्थात् जिस दर्जे और जिस क्षेत्र तक एकता के साम्य-भाव से व्यवहार किया जाय, उतनी ही शान्ति, पुष्टि एवं तुष्टि प्राप्त होती है। इसका थोड़ा भी आचरण कभी निष्फल नहीं जाता (गी० अ० २ श्लो० ४०)। इसका पूर्ण आचरण करने वाले तो पूर्ण स्वतन्त्र, जीवनमुक्त, स्वयं परमानन्द-परमात्म-स्वरूप ही होते हैं (गी० अ० ५ श्लो०१६ से २६)।

(११) कई लोगों का कहना है कि 'महाभारत-युद्ध कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है, और न गीता में कथित कृष्ण और अर्जुन ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं, किन्तु दैवी और आसुरी वृत्तियों का जो संघर्ष प्रत्येक शरीर में होता है, उसी को भारतीय युद्ध का रूपक देकर, आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए, कृष्णरूपी ईश्वर ने अर्जुनरूपी जीव को गीता का उपदेश दिया—यह कहानी महाभारतकार वेद-व्यास ने कल्पित की है'। यद्यपि इस कथन में कोई प्रामाणिकता नहीं है, क्योंकि महाभारत-युद्ध के तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन के होने का प्रमाण तो स्वयं गीता ही है, जिसको कि वे लोग स्वयं इतनी मान्यता देते हैं, और जिस गीता का महाभारतकार श्रीवेदव्यासजी ने भारतीय युद्ध के आरम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को कही जाना लिखा है, और बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में भी इस विषय के प्रचुर प्रमाण भरे पड़े हैं, तथा महाराज युधिष्ठिर का संवत् अब तक प्रचलित है। परन्तु महाभारत और कृष्ण-अर्जुन को ऐतिहासिक न मानने वालों के पास उनके न होने का कोई भी प्रमाण—उनकी अपनी अटकल के सिवाय कुछ भी, नहीं है। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जाय कि यह सब कल्पना है, तो भी इससे गीता के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती और न इस भूमिका में लिखे हुए उपरोक्त तथ्यों की ही कोई हानि होती है, प्रत्युत उनकी पुष्टि ही होती है। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सारा जगत् ही मन की कल्पना का खेल है, अतः उस दृष्टि से विचार करने पर जगत् के दूसरे अनन्त बनावों की तरह महाभारत-युद्ध और गीता का उपदेश भी कल्पना की ही सृष्टि कही जा सकती है; परन्तु जब कल्पना की सृष्टि का एक बार प्रारम्भ कर दिया जाता है, तो फिर कारण-कार्य की परम्परानुसार पूर्वापर की संगति कायम रखते हुए, उस काल्पनिक सृष्टि का अच्छी तरह निर्वाह करना होता है। कवि जब किसी कहानी की कल्पना करता है, तब उस कहानी की घटनाओं की श्रृङ्खला का, जगत् में प्रत्यक्ष घटनेवाली घटनाओं की तरह ही निर्वाह करता है। इसलिए जब महाभारत-युद्ध के अवसर पर अर्जुन को मोह होकर उसके किंकर्तव्य-विमूढ़ होने की कल्पना

कर ली गई और उसी कल्पना के अन्दर श्रीकृष्ण को ईश्वर मान कर अर्जुन के उक्त मोह को दूर करने और उसको अपने कर्तव्य-कर्म में लगाने के निमित्त को लेकर संसार को गीता का उपदेश देना मान लिया गया, और उसी कल्पना के आधार पर लिखी गई गीता का उपदेश सर्वमान्य है, तब इस भूमिका में कहे हुए सभी तथ्यों की पूर्ण रूप से पुष्टि स्वतः ही होती है। चाहे महा-भारत-युद्ध एवं कृष्ण-अर्जुन का संवाद ऐतिहासिक हो या कल्पित, उससे इस भूमिका में कही गई बातों में, अर्थात् "गीता में व्यावहारिक वेदान्त ही का प्रतिपादन है" इस सिद्धान्त में, रत्तीभर भी अन्तर नहीं आता। हम लोग भी तो कल्पित जगत् में कल्पित व्यवहारों की कल्पना ही कर रहे हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक अर्थ

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

अर्थ—धृतराष्ट्र ने सञ्जय* से पूछा कि हे सञ्जय ! धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र† में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया (१) ?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

---

* सञ्जय को व्यास भगवान् के प्रसाद से, मनोयोग की दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई थी, जिससे उसको हस्तिनापुर में बैठे-बैठे भी कुरुक्षेत्र में होते हुए महायुद्ध के सब वृत्तान्त ज्यों के त्यों प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होते थे, जिन्हें वह राजा धृतराष्ट्र को सुनाता था ।

वर्तमान समय में जब कि भौतिक "रेडियो" यन्त्र द्वारा दूर देशों के शब्द सुनाई देते हैं और दूरस्थ दृश्य देखे जाते हैं, तब आधिदैविक मनोयोग की सूक्ष्म शक्ति से दूर देशों के वृत्तान्तों का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकने में सन्देह करने को अवकाश नहीं रहता ।

† कुरु-क्षेत्र को "धर्म-क्षेत्र" का विशेषण इसलिए दिया गया है कि उस मैदान में समय-समय पर बड़े-बड़े वीर योद्धा लोग, धर्म-युद्धों में वीरतापूर्वक लड़ कर अपना क्षात्र-धर्म पालन करते थे ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि उस समय पाण्डवों की व्यूहाकार सेना को देख, राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के निकट जाकर कहा (२)। हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिए (३)। इसमें महाधनुर्धारी भीम तथा अर्जुन के समान वीर योद्धा, युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, शूर युधामन्यु, बलवान उत्त-मौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र इत्यादि सभी महारथी हैं (४-५-६)। और हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! हमारे जो बड़े-बड़े सेनापति हैं उनके नाम

भी आपके ध्यान में रहने के लिए मैं कहता हूँ, आप सुनिए (७)। आप, भीष्म, कर्ण, समर-विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र, तथा और भी अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित, मेरे लिए जीवन अर्पण करने वाले बहुत से वीर हैं, जो सबके सब युद्ध-विद्या में निपुण हैं (८-९)। भीष्म के संरक्षण में हमारा वह (सैनिक) बल अपर्याप्त है, किन्तु भीम के संरक्षण में उन (पाण्डवों) का यह (सैनिक) बल पर्याप्त है (१०)। आप सब लोग अपने-अपने ज़िम्मे लगे हुए व्यूह के सभी द्वारों पर डट कर पूर्ण रूप से भीष्म ही की रक्षा कीजिए (११)।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अर्थ—(तब) कौरवों में सबसे बड़े, प्रतापी भीष्म पितामह ने उस (दुर्योधन) के हर्ष को बढ़ाते हुए सिंह समान गर्ज कर जोर से शङ्ख बजाया (१२)। तदनन्तर अनेक शङ्ख, भेरियाँ, पणव, आनक, गोमुख (उस समय के नाना प्रकार के फौजी बाजे) एक साथ ही बजाये जाने लगे, जिनका (सम्मिलित) शब्द

बहुत प्रचण्ड हुआ (१३)। तब सफेद घोड़ों वाले बड़े रथ पर सवार, श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपना-अपना दिव्य (अपूर्व नाद वाला) शङ्ख बजाया (१४)। श्रीकृष्ण ने 'पाञ्चजन्य', अर्जुन ने 'देवदत्त' और भयानक कर्म करने वाले भीम ने बहुत बड़ा 'पौण्ड्र' नामक शङ्ख बजाया (१५)। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त-विजय', नकुल ने 'सुघोष', सहदेव ने 'मणिपुष्पक' (नामक शङ्ख बजाया) (१६)। और विशाल धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और महाबली सुभद्रा-पुत्र आदि सबने, हे महाराज! अपने-अपने शङ्ख बजाये (१७-१८)। उस भयङ्कर शङ्खनाद ने आकाश और पृथ्वी को प्रतिध्वनित करते हुए, (दुर्योधन आदि) कौरवों के कलेजे धड़का दिये (१९)।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

अर्जुन उवाच

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर, हे पृथ्वीनाथ! कौरवों को व्यवस्था के साथ खड़े देख कर, जब शस्त्र चलने ही को थे कि अर्जुन धनुष उठा कर उस समय श्रीकृष्ण से यह वचन बोला कि हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए, ताकि लड़ने की इच्छा से तैयार खड़े हुए इन लोगों को मैं अच्छी तरह देख लूँ कि इस संग्राम में मुझे किन-किनके साथ लड़ना है। युद्ध में धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र (दुर्योधन) का प्रिय करने की इच्छा से, जो लड़ने वाले यहाँ एकत्र हुए हैं उनको मैं देखूँ (२० से २३)।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयःसर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाःसम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि हे धृतराष्ट्र! इस तरह अर्जुन से कहे जाने पर हृषीकेश (कृष्ण) ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में, भीष्म, द्रोणाचार्य को आदि लेकर सभी राजाओं के सामने खड़ा करके अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो (२४-२५)। वहाँ अर्जुन ने अपने पिताओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, साथियों, श्वशुरों एवं मित्रों को, दोनों ही सेनाओं में देखा; और उन सब

बन्धुजनों को उपस्थित देख कर अत्यन्त करुणायुक्त वह अर्जुन, दुःख से व्याकुल होता हुआ यह (वाक्य) बोला कि हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा से खड़े हुए अपने इन बन्धुओं को देख कर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीर काँपता है और रोंगटे खड़े हो रहे हैं (२६ से २६)। गाण्डीव (धनुष) हाथ से फिसला जा रहा है, त्वचा जल रही है और मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ, (क्योंकि) मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है (३०)। हे केशव! मुझे सभी लक्षण विपरीत दीखते हैं, और लड़ाई में अपने बन्धुओं को मार कर मैं श्रेय (भला) नहीं देखता (३१)। हे कृष्ण! मैं न विजय चाहता हूँ, न राज्य और न सुख ही; हे गोविन्द! हमें राज्य से, भोगों से या जीवन से ही क्या प्रयोजन (३२)? क्योंकि जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख चाहिए, वे ही ये आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामे, ससुर, पौत्र, साले, तथा दूसरे सब सम्बन्धी, अपने-अपने धन तथा प्राणों की आशा छोड़ कर युद्ध में खड़े हैं (३३-३४)। हे मधुसूदन! (ये) मुझे मारते भी रहें, तो भी मैं इन्हें तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता, फिर इस पृथ्वी के राज्य का तो कहना ही क्या (३५)? हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने से हमारी क्या भलाई होगी? इन आततायियों को मारने से (भी) हमें तो पाप ही लगेगा (३६)। इस कारण अपने बन्धु कौरवों को हमें मारना नहीं चाहिए; हे माधव! अपने बन्धुओं को मार कर हम कैसे सुखी हो सकेंगे (३७)? यद्यपि इन लोगों की बुद्धि लोभ से भ्रष्ट हो गई है, इसलिए ये कुल-क्षय से होने वाले दोष, तथा मित्रों के साथ द्रोह करने से होने वाले पाप को नहीं देखते (नहीं जानते) (३८)। परन्तु हे जनार्दन! हम तो कुलक्षय से होने वाले दोषों को जानते हैं, अतः हम इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यों न करें (३६)? कुल का नाश हो जाने से कुल के सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, और धर्म का नाश हो जाने से सारे कुल को अधर्म दबा देता है (४०)। हे कृष्ण! अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित (व्यभिचारिणी) हो जाती हैं, और दूषित स्त्रियों से वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं (४१)। वर्णसंकर, कुलघातकों यानी युद्ध में कुल का नाश करने वालों को तथा सारे कुल को नरक में पहुँचाने के ही कारण होते हैं, और पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाने से, अर्थात् वर्णसंकरों के हाथ का दिया हुआ पिण्डोदक न पहुँचने से, इनके पितर भी नरक में गिरते हैं (४२)। हे जनार्दन! कुलघातकों के, वर्णसंकरकारक इन दोषों से परम्परागत जाति-धर्म तथा कुल-धर्म, सभी जड़ से नष्ट हो जाते हैं; और जिन मनुष्यों

के कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, उनको निश्चय ही नरक में जाना पड़ता है, ऐसा हमने (शास्त्रों में) सुना है (४३-४४)। हाय! राज्य-सुख के लोभ से अपने बन्धुओं को मारने के लिए प्रस्तुत होकर हम बहुत बड़ा पाप करने को उद्यत हुए हैं (४५)। यदि संग्राम में शस्त्ररहित हो कर, मैं अपना बचाव भी न करूँ, और धृतराष्ट्र के पुत्र हाथों में शस्त्र लेकर मुझे उसी दशा में मार दें, तो मेरा अधिक भला होगा (४६)।

स्पष्टीकरण—आर्य-संस्कृति में प्राचीन काल ही से वंश (नसल) शुद्धि, धर्म का प्रधान अङ्ग माना जाता रहा है; क्योंकि शुद्ध रक्त के लोग अपने-अपने धर्म (कर्तव्य-कर्म), जैसे ठीक तौर से पाल सकते हैं, वैसे मिश्रित रक्त के लोग नहीं पाल सकते। इसीलिए एक वर्ण के पुरुष का दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ सहवास करना साधारणतया पाप समझा जाता है, और ऐसे संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान वर्णसंकर माने जाते हैं, जो धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आदि सभी प्रकार के अधिकारों से प्रायः वञ्चित रहते हैं।

अर्जुन को चिन्ता इस बात की थी कि कुल-धर्म, अर्थात् कुल की मर्यादाओं, की रक्षा करने वाले क्षत्रिय लोग जब संग्राम में मारे जायँगे, तब समाज में उच्छृङ्खलता आ जाने से विधवा कुल-स्त्रियाँ पवित्र न रह सकेंगी, जिससे वर्णसंकर उत्पन्न होंगे। यद्यपि उस समय विधवा स्त्री का उसके मृत पति के सपिण्ड, सगोत्र अथवा सजातीय पुरुष के साथ नियोग करना श्रेष्ठ धर्म माना जाता था (मनुस्मृति अ० ६ श्लो० ५६), और ऐसे नियोग से उत्पन्न सन्तान, स्त्री के मृत पति के शुद्ध सन्तान माने जाते थे, तथा वे सब प्रकार से उसके उत्तराधिकारी होते थे (मनु० अ० ६ श्लो० १४५), एवं ऐसे सन्तान का दिया हुआ पिण्डोदक भी पितरों को बराबर पहुँचने का विश्वास था। सारांश यह कि उस सन्तान में किसी तरह का दोष नहीं माना जाता था (मनु० अ० ६ श्लो० १८०)। स्वयं कौरव-पाण्डव भी नियोग ही की सन्तान थे, और उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार वे अपने को शुद्ध क्षत्रिय और पिण्डदान के पूर्ण अधिकारी मानते थे। परन्तु अर्जुन को भय तो यह था कि युद्ध में जब सारा कुल ही नष्ट हो जायगा, तब कुल की विधवा स्त्रियों से नियोग करने वाला सपिण्ड, सगोत्र अथवा सजातीय पुरुष ही नहीं बचेगा—ऐसी दशा में वे विवश होकर हीन वर्ण के पुरुषों के संयोग से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न करेंगी और वे वर्णसंकर संतान न तो जाति की मर्यादाओं का यथावत् पालन कर सकेंगे और न उनका दिया हुआ पिण्डोदक ही पितरों को मिलेगा।

परिणाम यह होगा कि जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाने से सर्वनाश हो जायगा और पितर भी नरक में पड़ेंगे। उपर्युक्त श्लोकों में "वर्णसङ्कर" शब्द इसी प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि सवर्ण स्त्री-पुरुष के विधिवत् संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान तो वर्णसंकर होते ही नहीं—चाहे वह संयोग नियोग द्वारा स्थापित किया हुआ हो अथवा विवाह-संस्कार द्वारा। ※

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि शोक से अत्यन्त व्याकुल अर्जुन, संग्राम की तैयारी के बीच इस प्रकार कह कर, (और) धनुष बाण त्याग कर रथ के पिछले भाग (पुट्टे) पर बैठ गया (४७)।

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

× × ×

अर्जुन का विषाद वैसा ही है जैसा कि साधारणतया आत्मज्ञान-विहीन, आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों के लोगों को, इस तरह के विकट अवसरों

※ **नोट**—महाभारत-काल में हिन्दुओं का ही सार्वभौम साम्राज्य था; उस समय के पुरुष वर्तमान की अपेक्षा अधिक सच्चरित्र थे; विलासिता बहुत कम थी; विधर्मियों का सहवास नहीं था, तथा स्त्रियों के पवित्र रहने के अधिक साधन थे। जब कि उस समय भी पतिविहीना अरक्षित स्त्रियाँ भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकती थीं, तो वर्तमान काल में—सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में—विधवा स्त्रियों का यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके पवित्र रह सकना, तथा कुल और जाति की शुद्धता बनी रहना नितान्त ही कठिन है। इसलिए स्त्रियों को भ्रष्ट होने से बचाने और कुल (वंश) तथा जाति को शुद्ध रखने के लिए, विधवाओं के वास्ते अपने सजातीय पुरुषों के साथ पुनर्विवाह अथवा नियोग करने की सार्वजनिक व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है।

यह बात ध्यान में रखने की है कि अर्जुन के उपर्युक्त वाक्यों में, उसको केवल अक्षत-योनि बाल-विधवाओं के ही भ्रष्ट होने की चिन्ता नहीं पायी जाती, किन्तु आमतौर से "कुल-स्त्रियों" के बिगड़ने की चिन्ता होना पाया जाता है।

पर हुआ करता है। उन लोगों की बुद्धि या तो प्रत्यक्ष के सुख-दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति आदि के विचार तक ही रहती है; अथवा शास्त्रों में कहे हुए धर्माधर्म के अदृष्ट फल और स्वर्ग-नरक आदि परोक्ष सुख-दुःखों के विचार तक पहुँच कर रह जाती है। इससे अधिक सूक्ष्म अर्थात् आध्यात्मिक विचार तक उनकी बुद्धि नहीं पहुँचती, इसलिए उनके चित्त का विषाद नहीं मिटता। फलतः वे बहुत दुखी होते हैं और विषाद ही में अपना जीवन नष्ट कर लेते हैं। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के उपरोक्त विषाद की निन्दा करके, उसे आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों से ऊपर उठ कर आत्मज्ञान-युक्त अपने कर्तव्य पालन करने का उपदेश आगे दिया है। इसलिए अर्जुन के उपरोक्त वाक्य "व्यावहारिक वेदान्त" की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखते, और धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि के विचार तथ्यहीन हो जाते हैं। आगे यही बात स्पष्ट करने के लिए इस प्रथम अध्याय में उपरोक्त पूर्व-पक्ष उठाया गया है।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि आँसुओं से परिपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले, करुणा से भरे हुए, शोकाकुल उस (अर्जुन) के प्रति श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा (१)।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! (इस) विकट परिस्थिति में तुझे, आर्य लोगों के अयोग्य, सुख और यश का विरोधी यह मोह कैसे हो गया (२)? हे पार्थ ! (तू) नपुंसक मत हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे शत्रुओं के संहारक ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को दूर करके खड़ा हो (३)।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे शत्रुनाशक मधुसूधन ! पूजा के योग्य भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य के साथ, मैं संग्राम में बाणों से कैसे लड़ूँगा (४) ? बड़े प्रतापशाली गुरुजनों को मारने की अपेक्षा इस संसार में भीख मांग कर भी निर्वाह करना नितान्त श्रेयस्कर है; (यद्यपि ये गुरुजन अर्थ-लोलुप हैं, तो भी इन) अर्थ-लोलुप गुरुजनों को मार कर इस लोक में जो भोग मैं भोगूंगा, वे रक्त-रञ्जित (खून से सने हुए) ही होंगे (५)। इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं जानते कि हम लोग जीत कर राज्य करें तो (सबके लिए) हितकर होगा, अथवा वे लोग जीत कर राज्य करें तो हितकर होगा; और वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े हैं जिनको मार कर हम जीना ही नहीं चाहते (६)। कृपणता से मेरी बुद्धि मारी गई है, अर्थात् हृदय की सङ्कीर्णता ने मेरी विचार-शक्ति नष्ट कर दी है, और धर्म के विषय में मेरा चित्त मोह से ग्रस्त हो गया है, अर्थात् मोह के वश होकर मैं कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हो गया हूँ; अतएव मैं आपकी शरण होकर पूछता हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो सो आप मुझे बताइए; मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिए (७)। यदि सारे भूमण्डल का ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न निष्कण्टक राज्य, और देवताओं का आधिपत्य अर्थात् स्वर्ग का साम्राज्य भी मिल जाय, तो भी इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे इस शोक को दूर करने का साधन मैं नहीं देखता (८)।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूव ह ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि हे राजन्! इतना कह कर अर्जुन, भगवान् से यह कहता हुआ कि "मैं नहीं लड़ूंगा", चुप हो गया (९)। तब दोनों सेनाओं के बीच, विषाद में पड़े हुए उस अर्जुन को श्रीकृष्ण मुसकराते हुए यह कहने लगे (१०)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन एक शूरवीर, व्यवहार-कुशल, पुण्यवान् एवं ईश्वर-भक्त क्षत्रिय था। दैवी-सम्पत्ति के गुणों की उसमें अधिकता थी (गी० अ० १६ श्लो० ४)। लौकिक मर्यादाओं के नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का भी वह अच्छा ज्ञाता था। ऐसे विचक्षण बुद्धिमान् चतुर कार्यकर्ताओं में प्रायः प्रेम, मैत्री, करुणा आदि सात्विक भावों की प्रधानता रहती है; परन्तु आत्मज्ञान के बिना कई अवसरों पर, व्यक्तित्व के भावों की आसक्ति के कारण, उनके वे प्रेम आदि सात्विक भाव मोह में परिणत हो जाते हैं, जिससे वे लोग बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठते हैं; फलतः उनकी बहुत दुर्दशा और भयानक पतन हो जाता है। ऐसे अवसरों पर लौकिक मर्यादाओं के नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी उन्हें कोई सहायता नहीं देते, किन्तु उलटा मोह बढ़ा कर उन्हें किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देते हैं। यही दशा उस समय अर्जुन की हुई थी। दुष्टों द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पैतृक सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के निमित्त उसको युद्ध के लिए प्रस्तुत होना पड़ा था, और जिस समय लड़ाई में शस्त्र चलने ही वाले थे, ठीक उसी समय, दोनों सेनाओं में अपने स्वजन-बान्धवों को मृत्यु के सन्मुख उपस्थित देख कर एकाएक उनके प्रति प्रेम, मैत्री और करुणा के भाव उसके हृदय में उमड़ आये। यद्यपि उस समय की परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत—उन दुष्ट आततायियों को, वीरतापूर्वक लड़कर दण्ड देने की थी; परन्तु ऐसी विकट अवस्था में भी अर्जुन के चित्त में अपने बान्धवों के भौतिक शरीरों में ममत्व की आसक्ति हो गई, और उनके मारे जाने की सम्भावना से उसके हृदय के वे (प्रेम, मैत्री और करुणा के) सात्विक भाव, पलट कर शोक और मोह के तामसी भावों में परिणत हो गये। ऐसी अवस्था में नीतिशास्त्रों के ज्ञान ने उसके शोक तथा मोह को बढ़ाने में सहायता दी। धर्मशास्त्र ने उसको स्वजनों

की हत्या के घोर पाप का भय बताने के अतिरिक्त, कुल-क्षय हो जाने से कुल-धर्म तथा जाति-धर्म के नाश होने, अपने एवं अपने कुल के निश्चित रूप से नरक में जाने, एवं पिण्डोदक क्रिया के लुप्त होने से पितरों के भी नरक में गिर जाने की चिन्ता अलग खड़ी कर दी। परिणाम यह हुआ कि अर्जुन का कलेजा दहल गया और वह अपने वास्तविक धर्म, यानी युद्ध से विरक्त होकर, शस्त्र फेंक, व्याकुलता से रोने लगा। अर्जुन की यह शोचनीय दशा देख कर महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसको मूर्ख-अज्ञानियों की तरह शोक और मोह करने के लिए, गुरु-भाव से, बहुत फटकारा तथा उसे हृदय की दुर्बलता दूर करके युद्ध करने की आज्ञा दी।

यदि गीता का प्रयोजन केवल युद्ध से विरक्त अर्जुन को फिर से उत्साहित करके लड़ाने मात्र ही का होता—जैसा कि बहुत से लोग मानते हैं—तो वह यहीं पर समाप्त हो जाती; क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानता था (गी० अ० १० श्लो० १२), और उनमें उसकी इतनी भक्ति थी, तथा उनके वचनों पर इतनी श्रद्धा थी कि वह धर्म-शास्त्र के धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि के रोचक-भयानक वचनों की अवहेलना करके, अन्ध-श्रद्धा से भगवान् की आज्ञा ही का पालन करता और फौरन युद्ध में प्रवृत्त हो जाता। परन्तु भगवान् कृष्ण, जो अखिल विश्व को अपने अन्दर दिखाते हैं (गी० अ० ११), जो अपने को सबकी आत्मा बताते हैं (गी० अ० १० श्लो० २०), और जो स्पष्ट कहते हैं कि "मुझसे भिन्न जगत् में कुछ भी नहीं है" (गी० अ० ७ श्लो० ७), "सब लोगों का महान् ईश्वर मैं ही हूँ" (गी० अ० ५ श्लो० २९) इत्यादि; उनके द्वारा दिया हुआ, सब देश, सब काल तथा सब परिस्थितियों में सब व्यक्तियों के लिए समान भाव से यथार्थ पथ-प्रदर्शक गीता-ज्ञान का उपदेश इतना सङ्कुचित नहीं हो सकता कि वह केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करा देने मात्र के लिए ही परिमित हो। सांसारिक व्यवहारों में छोटे और बड़े सभी कार्यकर्ताओं के सम्मुख—चाहे वे धार्मिक कार्यकर्ता हों या राजनैतिक या आर्थिक अथवा सामाजिक, चाहे गृहस्थ हों या संन्यासी, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों, अथवा किसी भी पेशे के, जो कुछ भी सांसारिक कार्य करते हैं उनके सम्मुख—अपनी-अपनी योग्यतानुसार ऐसे विकट अवसर आते ही रहते हैं, जैसा कि अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुआ था। उदाहरण के लिए, धार्मिक कार्यकर्ताओं के सामने कभी-कभी धर्म के किसी एक अङ्ग—सत्य, शौच, क्षमा, दया, अहिंसा आदि के साथ, दूसरे

किसी अङ्ग के परस्पर में विरोध का प्रश्न उपस्थित होता है, अथवा धर्म-प्रचार के कार्य में अनेक लोगों के मन में उद्वेग, पीड़ा और कहीं-कहीं पर खून-खराबियाँ होने के प्रसङ्ग भी आ जाते हैं; राजनैतिक कार्यकर्ताओं के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में स्वयं अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बियों एवं अन्य लोगों को भारी कष्ट होने तथा भीषण संग्राम में अगणित हत्याएँ होने के प्रसङ्ग उपस्थित होते रहते हैं; आर्थिक कार्यकर्ताओं के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में अनेक व्यक्तियों को हानि पहुँचने तथा अनेकों की आजीविका में आघात लगने की सम्भावना प्रतीत होती है; इसी तरह सामाजिक कार्यकर्ताओं के सम्मुख समाज की दशा सुधारने के सङ्घर्ष में अपने बड़े-बूढ़ों तथा स्वजन-बान्धवों को मानसिक व्यथा होने तथा आपस का सामाजिक सम्बन्ध-विच्छेद होने आदि की नौबत आ जाती है। तात्पर्य यह कि इस तरह अनन्त प्रकार की कठिनाइयाँ विविध रूप से भिन्न-भिन्न कार्यकर्ताओं के सामने आती रहती हैं, जब कि कर्तव्याकर्तव्य का ठीक-ठीक निर्णय न कर सकने के कारण वे मोह में फँस जाते हैं, और विपरीत आचरण करके अपना तथा दूसरों का घोर अनिष्ट कर लेते हैं। इस तरह का मोह विशेष अवसरों पर ही उत्पन्न हुआ करता हो, ऐसी बात नहीं है; किन्तु रात-दिन के घरेलू व्यवहारों में भी अज्ञानी लोग अपने तथा अपने सम्बन्धियों के भौतिक शरीरों के क्षणिक मोह में अनुचित व्यवहार करके नाना प्रकार की हानियाँ उठाते रहते हैं। जिस तरह—अपने शरीर के विषय-भोग आदि क्षणिक सुखों के लिए उनके परिणाम में बहुत दुःख भोगना; अपने सन्तानों को लाड़-प्यार से खान-पान आदि में संयम न रखवा कर विलासी और अस्वस्थ बना देना, अथवा उनके बीमार होने पर कड़वी औषधि आदि का उपचार न करना एवं अशिक्षित रख कर उनका जीवन नष्ट कर देना, इत्यादि।

ऐसे लोगों का मोह दूर करने एवं उन्हें सच्चा रास्ता दिखा कर पतन से बचाने के लिए, अर्जुन के उस मोह को दूर करने के प्रसङ्ग को लेकर भगवान् ने सारे संसार को गीता का सार्वजनिक उपदेश देकर अनन्त प्रकार की उलझनों को निश्चित रूप से सुलझाने का एकमात्र सत्य एवं श्रेयस्कर उपाय बताया है, जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार संसार का व्यवहार यथायोग्य करता हुआ अपना इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस एक साथ सम्पादन कर सकता है।

अस्तु, जब युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा देने पर भी अर्जुन ने फिर शङ्का की कि "युद्ध में भीष्म, द्रोण जैसे पूज्यों पर मैं किस तरह शस्त्र चलाऊँ, और

इनको मार कर खूनी हाथों से राज्य किस तरह भोगूँ? क्या अपने स्वजन-बान्धवों को मार कर राज्य-सुख भोगना मेरे लिए श्रेयस्कर है अथवा इन आततायियों से हार मान कर भीख माँग के खाना उत्तम है? मोह के कारण मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया हूँ, अपने हिताहित का मैं कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता; त्रिलोकी का राज्य मिलने पर भी मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिल सकती; इसलिए आप कृपा करके, जो मेरे लिए वास्तव में श्रेयस्कर मार्ग हो वह बताइए" (गी० अ० २ श्लो० ४ से ८); तब भगवान् मुस्कराकर, जगत् के हित को लक्ष्य में रखते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सब लोगों को कल्याण का मार्ग बताने के लिए गीता-ज्ञान का उपदेश यहाँ से आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि जो शोक करने के योग्य नहीं हैं, उनका तू शोक कर रहा है, और बुद्धिमानों की-सी बातें बनाता है; जो (वास्तविक) पण्डित होते हैं, वे मरे हुओं तथा जीवितों का शोक नहीं करते (११)। क्योंकि मैं, तू और ये राजा लोग पहले कभी नहीं थे ऐसी बात नहीं है, और आगे नहीं होंगे ऐसा भी नहीं है (१२)। जिस तरह इस देह में जीवात्मा को बाल्य, युवा और बुढ़ापे की अवस्थाओं का अनुभव हुआ करता है, उसी तरह दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है; इस विषय में बुद्धिमानों को मोह नहीं होता (१३)। हे कौन्तेय! शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ एवं विषय आदि‡, जो सर्दी-गरमी एवं सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) के देने वाले होते हैं, वे आने-जाने वाले और अनित्य हैं, अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण वे एक-से नहीं रहते; अतः हे भारत! उनके संयोग-वियोग को तू सहन कर, अर्थात् शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ अस्थायी होते हैं, इस कारण तू उनके जाने या रहने से व्यथित मत हो (१४)। हे पुरुष-श्रेष्ठ! सुख-दुःख को एक समान* मानने वाले

---

‡ बहुत से टीकाकारों ने "मात्रास्पर्शाः" का अर्थ "इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध" किया है, परन्तु अर्जुन को शोक अपने सम्बन्धियों के हताहत होने के कष्ट का, और उनके मारे जाने के बाद उनसे वियोग होने का था। उस शोक को मिटाने के लिए केवल इन्द्रियों के विषयजन्य सुख-दुःख आदि को "आगमापायी" कहने मात्र से अर्जुन का समाधान नहीं हो सकता था। इसलिए "मात्रास्पर्शाः" का व्यापक अर्थ 'शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ और विषय आदि' करना उचित है। इन्द्रियों का समूह ही शरीर है।

* सुख-दुःख की समता का स्पष्टीकरण "व्यावहारिक वेदान्त" प्रकरण में और इसी अध्याय के ४८वें श्लोक के स्पष्टीकरण में देखिए।

जिस बुद्धिमान् पुरुष को ये (शरीर और उसके सम्बन्धी पदार्थों के संयोग-वियोग) व्यथित नहीं करते, वही अमृतत्व, अर्थात् सर्वात्म=परमात्म-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है (१५)। जो असत् है उसका भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं होता, और जो सत् है उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनों का अन्त देख लिया है, अर्थात् यह अन्तिम निर्णय कर लिया है (१६)। जिससे यह सब (अखिल विश्व) व्याप्त और विस्तृत है, अर्थात् जो स्वयं विश्वरूप होकर सर्वत्र फैल रहा है, उस आत्मा को तू अविनाशी अर्थात् नाशरहित जान; इस निर्विकार का कोई भी नाश नहीं कर सकता (१७)। हे भारत ! नित्य (अपरिवर्तनशील), अविनाशी (नाशरहित) और अप्रमेय† शरीरी❀ (शरीर धारण करने वाले व्यष्टि-भावापन्न आत्मा) के ये (नाम-रूपात्मक अनन्त) शरीर❀ नाशवान् हैं, अतएव तू युद्ध कर (१८)। जो इस (शरीरधारी आत्मा) को मारने वाला, और जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही अनजान हैं; यह (शरीरधारी आत्मा) न तो किसीको मारता है, और न किसीसे मारा जाता है (१९)। यह न तो कभी जन्मता है, न मरता है; और ऐसा भी नहीं है कि यह (पहले) होकर फिर नहीं होगा। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, सदा विद्यमान (और) एक समान रहता है, तथा पुराना (सबका आदि-कारण) है; शरीर के मारे जाने पर भी (यह) मारा नहीं जाता (२०)। जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा एवं अविकारी जानता है, हे पार्थ ! वह पुरुष कैसे किसको मरवायेगा और किसको मारेगा (२१)।

स्पष्टीकरण:—गीता के उपदेशों में सर्वत्र बुद्धियोग ही को महत्त्व दिया गया है (गी० अ० २ श्लो० ३९ से ७२, अ० १८ श्लो० ५७), क्योंकि संसार के व्यवहार करने में बुद्धि की प्रधानता रहनी चाहिए, और वह बुद्धि जब साम्य-भाव में जुड़ी हुई अर्थात् आत्मनिष्ठ हो, तभी संसार के व्यवहार पूर्णतया ठीक-ठीक हो सकते हैं—यह गीता का सिद्धान्त है (गी० अ० २

---

† आत्मा अप्रमेय इसलिए है कि वह किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु ही किसी प्रमाण से जानी जाती है। आत्मा तो सबका "अपना आप" है, जो स्वतः प्रमाण है। अतः वह स्वयं-संवेद्य अर्थात् अपना अनुभव रूप ही है। 'मैं हूँ' इसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

❀ नाना शरीरों के रूप में व्यक्त होने वाला शरीरी (आत्मा) एक ही है, इसलिए नाना देहों के लिए बहुवचन और शरीरी (आत्मा) के लिए एक वचन का प्रयोग हुआ है।

श्लो० ४१, अ० १२ श्लो० ४ और अ० १८ श्लो० ३०)। यद्यपि अर्जुन युद्ध से निवृत्त होने की दलीलों में कौरवों को मूर्ख और अज्ञानी कह कर, उनको कुल-क्षय आदि पापों को जानने के अयोग्य बताता है, और स्वयं बुद्धिमान् होने का दावा करता हुआ अपने को पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि को जानने वाला, स्वजन-बान्धवों के मारे जाने एवं मरे हुए पितरों के नरक में पड़ने की, तथा "बन्धुजनों के मारने का पाप कमा कर उनके बिना मैं अकेला जीकर क्या करूँगा?" इस तरह की चिन्ता करने योग्य मानता है (गी० अ० १ श्लोक ३२ से ४६); और अर्जुन की तरह, लौकिक विषयों के प्रायः सभी पण्डित एवं विचक्षण कार्यकर्ता लोग दूसरों को मूर्ख बता कर स्वयं बड़े बुद्धिमान् होने की बातें बनाया करते हैं। परन्तु आत्म-ज्ञान के अभाव में इन लोगों की बुद्धि राजसी और तामसी होती है (गी० अ० १८ श्लो० ३१-३२), जो इस तरह के विकट अवसरों पर काम नहीं देती। फलतः वे लोग अर्जुन की तरह किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर रोने-चिल्लाने के सिवाय कर्तव्या-कर्तव्य का कुछ भी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। भगवान्, अर्जुन के इस प्रसङ्ग को लेकर ऐसे लोगों की कुछ हँसी-सी करते हुए कहते हैं कि एक तरफ तो शोक करना और दूसरी तरफ पण्डिताई की बातें छाँटना, क्या यही बुद्धिमत्ता है? जो वास्तव में बुद्धिमान् होते हैं वे मरने-जीने का ज़रा भी शोक नहीं करते, क्योंकि यदि विचार कर देखा जाय तो मरना-जीना तत्त्वतः कुछ है नहीं। "अहम्", "त्वम्" और "इदम्", अर्थात् "मैं", "तू" और "यह" रूप से जो चराचर जगत् है, वह अपने असली एकत्व-भाव में अर्थात् आत्म-स्वरूप में भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों ही काल में विद्यमान रहता है। किसी भी पदार्थ की असलियत का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता; क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तुतः सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता और जो वस्तुतः सत् नहीं है उसका भाव कभी नहीं होता; परन्तु हम सबका भाव अर्थात् अस्तित्व प्रत्यक्ष मौजूद है, अतः हम लोगों का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता। जीवात्मा का प्रत्येक स्थूल शरीर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-रूप पञ्च तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है, और वे पञ्च तत्त्व शरीररूप होने के पहले, तथा शरीर छूटने के बाद भी सदा विद्यमान रहते हैं। शरीर छूट जाने पर भी पञ्च तत्त्वों का नाश नहीं होता, किन्तु उनका सम्मिश्रण एक नाम और एक रूप बदल कर, दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण कर लेता है (गी० अ० २ श्लो० २२)। यदि स्थूल शरीरों को धारण करने वाले सूक्ष्म शरीर का विचार किया जाय तो वह स्थूल शरीरों को धारण करने के पहले और उनको छोड़ने के बाद भी बना ही रहता है; और यदि सूक्ष्म शरीर के बीज—कारण शरीर का विचार किया जाय तो वह, स्थूल और

सूक्ष्म, दोनों की अनुपस्थिति में भी बीज-रूप से अपनी प्रकृति (स्वभाव) में बना ही रहता है। अव्यक्त कारण शरीर व्यक्त होकर सूक्ष्म रूप धारण करता है, और सूक्ष्म शरीर घनीभूत होकर स्थूल बन जाता है। फिर स्थूल उलट कर अपने कारण सूक्ष्म में और सूक्ष्म अपने बीज-रूप कारण में लय हो जाता है। इस तरह शरीरों की उत्पत्ति और लय होते रहते हैं (गी० अ० ८ श्लो० १८-१९)। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के, और स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के व्यवहार होते हैं; और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा में कारण शरीर अविद्या रूप तमोगुण में विश्राम करता है। स्थूल से सूक्ष्म की स्थिरता अधिक है, और सूक्ष्म से कारण की अधिक है; इसलिए ये उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक सत् कहे जा सकते हैं; परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों को धारण करने वाला, अर्थात् शरीर रूप बनने वाला व्यष्टि आत्मा (जीवात्मा), जिसको देही, शरीरी अथवा क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं, वह निरपेक्ष सत् है; और वह सभी अवस्थाओं में इकसार अर्थात् निर्विकार रहता है—उसमें सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के कोई विकार वस्तुतः नहीं होते (गी० अ० २ श्लो० २० से २४), क्योंकि वह सर्वात्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म ही का व्यष्टि-भाव है (गी० अ० १५ श्लो० ७ से ११ तक)।

सर्वात्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म, स्वेच्छा से अपनी परा प्रकृति द्वारा व्यष्टि-भावापन्न नाना जीव रूप होकर, अपनी परिवर्तनशील त्रिगुणात्मक अपरा प्रकृति के विस्ताररूप सूक्ष्म, स्थूल एवं कारण शरीरों तथा उनके समूह स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् को धारण करता है (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६); और साथ ही समष्टि-भावापन्न सगुण ईश्वर रूप से उक्त परा और अपरा—द्विविध प्रकृति के स्वामी भाव से, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, अथवा विश्व की रचना, पालन और संहार आदि नाना भाँति के व्यवहार करता है (गी० अ० ४ श्लो० ५ से ९, अ० ९ श्लो० ७-८)। तात्पर्य यह कि व्यष्टि-भावरूप जीव, और समष्टि-भावरूप ईश्वर, वस्तुतः सर्वात्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु सब ब्रह्म-रूप ही है (गी० अ० १३ श्लो० २२); परन्तु व्यष्टि-भावरूप जीवात्मा, व्यक्तित्व के अहङ्कार और राग-द्वेषादि द्वन्द्वों को स्वीकार कर लेने से अपने असली स्वरूप = सर्वात्म-भाव को बिसार कर अपने को सुखी, दुखी, परतन्त्र, अल्पशक्तिमान् एवं अल्पज्ञ मानता है (गी० अ० ७ श्लो० २७, अ० १३ श्लो० २०-२१); और समष्टि-भावरूप ईश्वर, अपने सर्वात्म = परमात्म-भाव का यथार्थ अनुभव रखता हुआ स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् एवं नित्य आनन्द-स्वरूप रहता है। जीवात्मा भी जब अपने व्यक्तित्व के भाव के राग-द्वेषादि द्वन्द्वों के आवरण (परदे) से परे, अपने असली स्वरूप = सर्वात्म-

भाव का पुनः अनुभव करके समष्टि-भाव में स्थिति कर लेता है तो ईश्वररूप हो जाता है (गी० अ० ४ श्लो० १०); क्योंकि परमात्मा अथवा ब्रह्म तो वस्तुतः वह है ही (गी० अ० ५ श्लो० १६ से २६)। जैसे सूत के ताने और बाने से भाँति-भाँति के कपड़ों का बनाव होता है, परन्तु विचार कर देखा जाय तो कपड़ा, वास्तव में सूत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता—केवल सूत ही होता है। उसी तरह जड़ और चेतन, व्यष्टि और समष्टि, जीव और ईश्वर—आत्मा अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, वस्तुतः सब एक ही है (गी० अ० ७ श्लो० ७, अ० १० श्लो० ३६)।

जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ, अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान दशा की हैं, क्योंकि इन अवस्थाओं में वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों ही में अहंभाव रखता है। इन तीन अवस्थाओं से परे चतुर्थ अवस्था निर्गुण आत्मानुभव की है, जिसको तुरीय अवस्था कहते हैं। यह ध्यानयोग अथवा ज्ञानयोग की समाधि अवस्था है (गी० अ० ६ श्लो० १८ से २८)। इस अवस्था में पिण्ड की दृष्टि से स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् का अपने आप=आत्मा में लय हो जाता है, और आत्मा निरुपाधिक अर्थात् निर्गुण भाव के स्वानुभव में स्थित रहता है।

निर्गुण और सगुण, समष्टि और व्यष्टि, चेतन और जड़ आदि द्वन्द्व, एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म के दो सापेक्ष—धनात्मक (Positive) और ऋणात्मक (Negative)—भाव हैं, और एक की अपेक्षा से दूसरे का अस्तित्व है। आत्मा सगुण की अपेक्षा से निर्गुण और व्यष्टि की अपेक्षा से समष्टि कहा जाता है, अतः वास्तव में वह सगुण होता हुआ भी निर्गुण है और व्यष्टि होता हुआ भी समष्टि है; जगत् के व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता है, और कुछ नहीं करता हुआ भी सब कुछ करता है (गी० अ० ६ श्लो० ४-५, अ० १३ श्लो० १२ से १७, अ० १५ श्लो० १५ से २०)। एक, अखण्ड, एवं सम आत्मा में दोनों विरोधी भावों का एकत्व होने से, दोनों में से एक का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु दोनों शान्त हो जाते हैं, और वह सम आत्म-तत्त्व, जो सबका "अपना आप" है, स्वमहिमा में स्थित रहता है। वस्तुतः वह न सगुण है न निर्गुण, न व्यष्टि है न समष्टि, न जड़ है न चेतन, न एक है न अनेक, और न सत् है न असत्—जो कुछ है सो सब "अपना आप" ही है। वह पद वर्णनातीत, स्वयं-संवेद्य अर्थात् केवल स्वानुभव का विषय है (गी० अ० १० श्लो० १२ से १५)।

जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में एक श्वेत और स्वच्छ परदा होता है, उस पर पहले अँधेरे की छाया डाली जाती है, फिर उस छाया में एक गोलाकार प्रकाश पड़ता है, और उस प्रकाश में भाँति-भाँति के दिखाव प्रदर्शित होते हैं; उसी तरह निर्विकार आत्म-तत्त्व रूपी शुद्ध परदे पर, जब उसकी इच्छा, अथवा प्रकृति का तमोगुण रूपी अँधेरा होता है—वह कारण शरीर है; और उस अँधेरे के अन्दर जो सत्वगुण रूपी प्रकाश पड़ता है—वह मनोमय सूक्ष्म शरीर है; और उस प्रकाश में जो रजोगुण रूपी अनन्त प्रकार के चित्र दिखाई देते हैं—वह स्थूल शरीर है। परदे पर अँधेरा, प्रकाश और भाँति-भाँति के चित्र पड़ते तथा मिटते रहते हैं, परन्तु परदा निर्विकार रहता है, उस पर अँधेरे, प्रकाश और चित्रों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; उसी तरह आत्मा पर तीनों शरीरों की अवस्थाओं का वस्तुतः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—वह सदा अलिप्त और निर्विकार रहता है। बाइस्कोप के दृष्टान्त में श्वेत परदे पर छाया, प्रकाश और चित्र बाहर से पड़ते हैं, परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, आत्मा से भिन्न नहीं हैं—किन्तु आत्मा ही की त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव हैं—अतः वे आत्मा में ही उत्पन्न और लय होते हैं—यह अन्तर है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में कुछ न कुछ अन्तर होता ही है।

सारांश यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों दृष्टियों से विचार किया जाय तो मरना-जीना वास्तव में कुछ है नहीं। जन्म लेने और मरने का अर्थ यही है कि व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा मनोमय सूक्ष्म शरीर से किसी विशेष नाम और विशेष रूप के स्वाँग को बदल कर दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण करता है। जिस तरह शरीर को बचपन, जवानी और बुढ़ापा आता है, तब केवल अवस्थाओं का परिवर्तन होता है, अर्थात् 'बालक' संज्ञा बदल कर 'जवान' कहलाने लगता है और 'जवान' बदल कर 'बुड्ढा' कहलाने लगता है; तथा 'बालक' का रूप बदल कर 'जवान' हो जाता है और 'जवान' का रूप बदल कर 'बुड्ढे' का, रूप हो जाता है, परन्तु जीवात्मा वही विद्यमान रहता है। जिस तरह एक व्यक्ति एक समय में न्यायाधीश का काम करता है, दूसरे समय में किसी सार्वजनिक संस्था की सेवा करता है, तीसरे समय में किसी नाटक के अभिनय में भाग लेता है, चौथे अवसर पर किसी व्यापारी कम्पनी के सञ्चालन (Directorship) का कार्य करता है, अवकाश के समय किसी खेल में भाग लेता है; यद्यपि व्यक्ति तो एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार उसकी उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जब न्यायाधीश की पोशाक पहिन कर न्यायासन पर बैठता है तो वह न्यायाधीश कहा जाता है, संस्था का कार्य करता है तो उसका पदाधिकारी कहा जाता है, नाटक में

अभिनय करता है तो अभिनेता कहा जाता है, कम्पनी का सञ्चालन करता है तो सञ्चालक कहा जाता है, खेल में भाग लेता है तो खिलाड़ी कहा जाता है; अपने घर जाता है तब पिता का पुत्र, पत्नी का पति, पुत्र का पिता, नौकर का स्वामी आदि भिन्न-भिन्न उपाधियाँ होती हैं, परन्तु वास्तव में व्यक्ति एक ही होता है। उसी तरह एक ही आत्मा की अनेक उपाधियाँ होती हैं। जीवात्मा कभी स्थूल शरीर रूप से, कभी सूक्ष्म शरीर रूप से और कभी कारण शरीर रूप से रहता है। कभी किसी एक नाम और एक रूप का शरीर धारण कर लेता है और कभी किसी दूसरे का। जिस तरह जल-तत्त्व कभी सूक्ष्म भाप-रूप हो जाता है, कभी तरल पानी-रूप, और कभी जम कर स्थूल बर्फ बन जाता है। यह केवल नाम और रूप का परिवर्तन होता है, इस परिवर्तन से जल-तत्त्व का नाश नहीं होता। उसी तरह शरीरों के नामों और रूपों के दिखाव का परिवर्तन होते रहने पर भी उनके मूल-भूत आत्म-तत्त्व का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। नाम और रूप कल्पित होते हैं, और कल्पनाएँ अनन्त होती हैं, इसलिए नाम-रूप भी अनन्त होते हैं। कल्पनाएँ समुद्र की तरङ्गों की तरह एक के बाद दूसरी लगातार उठती और निरन्तर बदलती रहती हैं—एक क्षण भर भी स्थिर नहीं रहतीं, इसलिए वे सत् नहीं होतीं; और इस जगत् की नाम-रूपात्मक अनेकताएँ भी कल्पनाओं की सृष्टि होने के कारण सत् नहीं होतीं, और सत् नहीं होने के कारण वे भाव-रूप भी नहीं होतीं, अर्थात् आत्मा से भिन्न उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। जिस तरह तरङ्गें एक दूसरी से भिन्न प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तव में वे भिन्न नहीं होतीं—सब जल रूप ही होती हैं—जल के अस्तित्व से ही उनका अस्तित्व है, जल की प्रतीति ही उनकी प्रतीति है; उसी तरह नाम-रूपात्मक जगत् का नानात्व सत् नहीं है, सब एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं—आत्मा के अस्तित्व से ही उनका अस्तित्व है और आत्मा की प्रतीति ही उनकी प्रतीति है।

संसार में अनन्त प्रकार के सुख-दुःखों की जो वेदनाएँ प्रतीत होती हैं, वे शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों के संयोग-वियोग से उत्पन्न होती हैं; और जब शरीर तथा उसके सम्बन्धी पदार्थ एवं विषय ही उत्पत्ति-नाशवान् एवं प्रतिक्षण बदलने वाले होने के कारण कल्पित नामों और रूपों के दिखाव मात्र हैं, तो उनके संयोग-वियोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि द्वन्द्व भी कल्पित, अतः अवास्तविक ही होते हैं। इसलिए शरीरों की पीड़ा, व्याधि और मरने आदि के कष्टों एवं संयोग-वियोग से व्याकुल होना बुद्धिमत्ता नहीं है। जो वास्तव में बुद्धि-मान् होते हैं, वे शारीरिक सुख-दुःखों और संयोग-वियोग को एक समान असत् समझ कर अविचलित रहते हैं, और शरीरों को धारण करने वाले आत्मा को वे

निर्विकार एवं सदा एक-सा रहने वाला समझते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि में मरना और मारना कुछ भी तथ्य नहीं रखते।

अस्तु, इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि शरीरों के बनाव सब परिवर्तनशील एवं नाशवान् हैं, अतः ये कभी स्थायी नहीं रह सकते; और इन शरीरों को धारण करने वाला जीवात्मा सत्, नित्य एवं अविनाशी है, अतः उसका कभी किसीसे नाश नहीं हो सकता। इसलिए इन नाना भाँति के दिखावों के परिवर्तन-रूप मरने-जीने के विषय में कुछ भी शोक और मोह न करके, सबको अपने-अपने नियत कर्म दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिए।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अर्थ—पुराने (अनुपयुक्त) वस्त्रों को त्याग कर मनुष्य जैसे दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही पुराने अर्थात् अनुपयुक्त शरीरों को छोड़ कर, जीवात्मा दूसरे नये शरीरों को धारण किया करता है (२२)।

स्पष्टीकरण—जिस तरह नाटक के खेल में राजा, सिपाही, कैदी, धनी, निर्धन आदि के स्वाँग करने वाले पात्र, अपने-अपने स्वाँग की पोशाक पहिनते हैं, और जब तक अपना पार्ट बजाने के लिए वह उपयुक्त रहती है तब तक उसे रख हैं, उपयुक्त न रहने पर उसको उतार देते हैं और जिस दूसरे स्वाँग का पार्ट लेते हैं, उसके उपयुक्त दूसरी पोशाक पहिन लेते हैं—पोशाक उतारने और बदलने से स्वाँग करने वाले एक्टर (पात्र) का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं, एक पोशाक उतारने और दूसरी पहिनने में वह कुछ भी शोक नहीं करता; उसी तरह इस जगत्-रूपी नाटक में जीवात्मा-रूपी एक्टर (पात्र) शरीर-रूपी पोशाक धारण करता है, और जब तक वह उपयुक्त रहती है तब तक उसे रखता है, परन्तु जब वह अनुपयुक्त हो जाती है, तो उसको उतार कर दूसरी उपयुक्त पोशाक धारण कर लेता है। शरीर-रूपी पोशाक बदलने में जीवात्मा-रूपी एक्टर का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। इसलिए शरीर के जन्मने-मरने को कपड़े बदलना समझ कर, शोक नहीं करना चाहिए।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अर्थ—इस (शरीर धारण करने वाले जीवात्मा) को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला (सड़ा) नहीं सकता, (और) हवा सुखा नहीं सकती (२३)। यह न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गलाया (सड़ाया) जा सकता है और न सुखाया जा सकता है; यह नित्य, सबमें व्यापक, सदा स्थित, नाशरहित और अनादि है। तात्पर्य यह कि जो शरीरों में है, वही शस्त्रों में, तथा वही अग्नि, जल और हवा में है; उससे भिन्न कोई वस्तु है नहीं, फिर कौन किसको काटे, जलावे, गलावे या सुखावे (२४)। यह (शरीर धारण करने वाला जीवात्मा) अव्यक्त है, अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं होता; यह अचिन्त्य है, अर्थात् मन से इसका चिन्तन नहीं किया जा सकता; और यह अविकारी कहा गया है, अर्थात् वृद्धि, क्षय आदि विकारों से रहित है; इसलिए इसको ऐसा जान कर तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२५)।

स्पष्टीकरण—जिस प्रकार खाँड के खिलौनों की तलवार, कटारी, बर्छी आदि, खाँड ही के स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि को काट नहीं सकते; वे यदि आपस में टकरा जायँ, तो सभी खाँड-रूप हो जाते हैं, और पहले भी वास्तव में वे सब खाँड ही थे, अतः वस्तुतः उनका नाश नहीं होता; उसी तरह एक ही आत्म-तत्त्व के अनेक नाम-रूपात्मक जड़ और चेतन पदार्थ आपस में किसीका वस्तुतः नाश नहीं कर सकते। इसलिए उनके विषय में शोक करना अयुक्त है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अर्थ—और यदि तू (आधिभौतिकता ही को सत् और सब कुछ मानने

वालों की तरह) इस (देहधारी जीवात्मा) को (शरीर के साथ) सदा जन्मने वाला और सदा मरने वाला मानता है, तो भी हे वीर ! इस प्रकार शोक करना तुझको उचित नहीं (२६)। क्योंकि जन्मे हुए का मरण और मरे हुए का जन्म अवश्यम्भावी है, इस कारण अवश्य होनहार बात में तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२७)। हे भारत ! सभी भौतिक पदार्थ आदि में (अपनी उत्पत्ति से पहले) अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर रहते हैं, मध्य में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर होते हैं, और अन्त में फिर अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर हो जाते हैं; फिर इस विषय में शोक किस बात का (२८)?

स्पष्टीकरण—गीता किसी भी मत का तिरस्कार नहीं करती, क्योंकि उसमें सर्वत्र एकता ही का प्रतिपादन है, अतः वह उन सबका समन्वय कर देती है। प्रसङ्गवश जहाँ किसी मत का उल्लेख हुआ है, वहाँ जिस हद तक उस मत की पहुँच हुई है, वह दिखाकर कहती है कि 'यहीं मत ठहरो, इतना ही सब कुछ नहीं है, इससे आगे और बढ़ने की आवश्यकता है' यह कह कर जो सच्ची वस्तुस्थिति है वह स्पष्ट कर देती है। इस स्थल पर शरीर धारण करने वाले देही (जीवात्मा) के विषय में भौतिकवादियों का जो मत है उसको दिखा कर, गीता उसके अनुसार भी शोक करने की अयुक्तता सिद्ध करती है। भौतिकवादी लोग इन्द्रियगोचर पदार्थों ही को सत् मानते हैं, इन्द्रियातीत वस्तुओं का अस्तित्व नहीं मानते। इसलिए उनका मत है कि पञ्च भूतों के सम्मिश्रण से जब शरीर उत्पन्न होता है तब उसके साथ ही चेतना भी उत्पन्न हो जाती है, और शरीर के नाश के साथ चेतना का भी नाश हो जाता है—जीवात्मा शरीर से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अस्तु, भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि यदि यह भी मान लिया जाय तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस दृष्टि से भी जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश होना निश्चित है, यह बात प्रत्यक्ष देखने में भी आती है; और जिस वस्तु का नाश होता है, उसका पुनः उत्पन्न होना भी अवश्यम्भावी है; क्योंकि यदि कोई पदार्थ नष्ट होकर फिर से उत्पन्न न हो, तो नाश होते-होते उसका सर्वथा अभाव हो जाय; परन्तु सर्वथा अभाव किसी पदार्थ का होता नहीं दीखता, और उत्पत्ति का क्रम प्रत्यक्ष में जारी भी है। अतः जब यह माना जाय कि शरीर के साथ चेतना मरती रहती है, तो यह भी मानना होगा कि उसके साथ उत्पन्न भी अवश्य होती है। इसलिए शोक करने का कोई कारण नहीं है।

उत्पत्ति और नाश का द्वन्द्व भी सापेक्ष है। एक के होने के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। दोनों में से किसी एक का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता;

आत्मा में दोनों सम अर्थात् शान्त हो जाते हैं। इसलिए जन्मना-मरना वास्तव में कोई वस्तु है नहीं।

सभी भूत-प्राणी स्थूल रूप से इन्द्रिगोचर होने के पहले, अर्थात् अपनी उत्पत्ति से पहले, अव्यक्त यानी सूक्ष्म रूप में रहते हैं—इन्द्रियों को प्रतीत नहीं होते; और उत्पत्ति के बाद, अर्थात् पञ्च भूतों के आपस के सम्मिश्रण से स्थूल रूप धारण करने पर व्यक्त होते हैं; अर्थात् इन्द्रियों द्वारा देखे, सुने, सूँघे, चखे और छुए जा सकते हैं; और फिर जब इनका नाश होता है अर्थात् जब पञ्च भूतों का सम्मिश्रण बिखर जाता है तब फिर अव्यक्त हो जाते हैं, यानी स्थूल शरीर रूपी पोशाक बदल कर सूक्ष्म हो जाने के कारण इन्द्रियों के अगोचर हो जाते हैं। ऐसी दशा में, जब भूत-प्राणियों का व्यक्त और अव्यक्त होना ही जन्मना और मरना है, तो शोक किस बात का?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन--
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

अर्थ—इस (देह धारण करने वाले आत्मा) को, अर्थात् जगत् रूपी खेल के इस खिलाड़ी को, कोई आश्चर्यान्वित होकर देखता है; कोई आश्चर्यान्वित होकर (इसका) वर्णन करता है; कोई इसके विषय में आश्चर्यान्वित होकर सुनता है, और सुन कर भी कोई इसको जान नहीं सकता (२९)।

स्पष्टीकरण--जिस तरह जादू का खेल करने वाला ऐन्द्रजालिक (जादूगर), जब अनेक प्रकार के रूप धारण करता है और अनेक प्रकार के अद्भुत बनाव एक ही काल में लोगों को दिखाता है, तब दर्शक लोग उसके असली स्वरूप को न जान कर आश्चर्यचकित हुए, उस (जादूगर) के जादू के बनावों को देखते हैं, और उसके जादू के वास्तविक रहस्य को न जान कर आश्चर्यचकित हुए अनेक प्रकार की अटकलें लगा-लगा कर उसके विषय में तरह-तरह की बातें करते रहते हैं; और बहुत से लोग उन बातों के तथ्यातथ्य को न समझते हुए, आश्चर्य-चकित होकर सुनते रहते हैं; फिर भी उन देखने वालों, कहने वालों और सुनने वालों में से उस जादू के खेल के वास्तविक रहस्य को, अर्थात् अद्भुत जादूगर को यथार्थ रूप से कोई विरला ही जान सकता है। क्योंकि सब लोगों का ध्यान केवल उस खेल के भाँति-भाँति के बनावों पर ही रहता है—उसके खिलाड़ी तक

नहीं पहुँचता। यदि वे खिलाड़ी का साक्षात्कार करलें, तो फिर आश्चर्य में डूबे न रहें। इसी तरह केवल भौतिक जगत् के नानात्व ही में उलझे रहने वाले लोग, इस जगत्-रूपी इन्द्रजाल के जादूगर—आत्मा (वास्तविक अपने आप) को यथार्थ रूप से न जान कर, उसके खेल ही को आश्चर्यान्वित हुए देखते, अनेक तरह की अटकलें लगा-लगा कर भाँति-भाँति के वर्णन करते तथा सुनते रहते हैं; और जब तक आधिभौतिकता के परदे को लाँघ कर आध्यात्मिकता के सूक्ष्म विचार में प्रवेश करके, इस खेल के खिलाड़ी (आत्मा यानी अपने वास्तविक आप) को नहीं जान लेते, तब तक आश्चर्य में ही पड़े रहते हैं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अर्थ—हे भारत ! सबके शरीरों में (जो एक ही) देही (आत्मा है, वह) कभी मारा जाने वाला नहीं है, इस कारण तुझे किसी भी भूत-प्राणी के विषय में शोक नहीं करना चाहिए (३०)।

स्पष्टीकरण—संसार में तृण से लेकर सुमेरु और हिमालय पर्यन्त, तथा चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त, छोटे-बड़े भाँति-भाँति के जड़ और चेतन, अगणित भौतिक शरीर हैं, वे सब अस्थायी—क्षण-क्षण में बदलने वाले हैं; परन्तु उनको धारण करने वाला देही (आत्मा) एक ही है, और वह सदा एक-सा रहने वाला अर्थात् अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है। तात्पर्य यह कि एक ही अविनाशी आत्मा में जो नाम-रूपात्मक नानात्व प्रतीत होता है, वह सब असत् है, और उसका एकत्व सत् है; इसलिए इस नाम-रूपात्मक असत् नानात्व के विषय में शोक करना मूर्खता है।

× × ×

यहाँ तक स्वजन-बान्धवों के मारे जाने, उनको पीड़ा होने, तथा उनसे वियोग होने आदि के लिए जो शोक और मोह हुआ करते हैं, उनकी निवृत्ति के लिए भगवान् ने अर्जुन के प्रसंग को लेकर संसार को आत्मज्ञान का उपदेश दिया। जिससे शोक और मोह की निवृत्ति तो अवश्य होती है; परन्तु यह प्रश्न रह ही जाता है कि जब नाम-रूपात्मक जगत् का नानात्व असत् है, तो इस झूठे प्रपञ्च के लिए घोर-पापात्मक कर्म किये ही क्यों जायँ? इस शङ्का का समाधान भगवान् पहले उन्हीं लोगों के मत से करते हैं, जो अर्जुन की तरह शास्त्रों की दुहाई देकर युद्धादिक कर्मों से इसलिए निवृत्त होना चाहते हैं कि "ये कर्म करने

से धर्म डूब जायगा, पाप लगेगा तथा नरकों में गिरना होगा।" भगवान् उन्हीं लोगों के धार्मिक विश्वास के आधार पर सिद्ध करते हैं कि अपने कर्तव्य-कर्म करने से पाप नहीं लगता, किन्तु उनके न करने से धर्म का विपर्यास होकर दुर्गति होती है; इसलिए अपने कर्तव्य-कर्म सबको अवश्य करना चाहिए।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि तू अपने धर्म † को देखे, तो भी तुझे विचलित होना उचित नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से अधिक श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है (३१)। और हे पार्थ! अपने आप (बिना बुलाये) उपस्थित, एवं खुले हुए स्वर्ग के द्वार-रूप इस तरह के युद्ध का अवसर पुण्यात्मा क्षत्रिय ही पाते हैं (३२)। यदि तू यह धर्म-युद्ध न करेगा तो अपने (उक्त) धर्म और कीर्ति (प्रतिष्ठा) को

† आगे तीसरे अध्याय के ३५ वें श्लोक का स्पष्टीकरण देखिए।

खोकर पाप का भागी बनेगा (३३)। साथ ही जन-साधारण निरन्तर तेरी निन्दा करते रहेंगे, और माननीय पुरुष के लिए निन्दा, मृत्यु से भी बढ़कर होती है (३४)। महारथी लोग तुझे डर के मारे युद्ध से हटा हुआ समझेंगे, और जिनकी दृष्टि में (आज तक) तू मान्यवर था, उन्हींकी दृष्टि में बहुत गिर जायगा (३५)। तेरे शत्रु लोग तेरे सामर्थ्य (बल) की निन्दा करते हुए, न कहने योग्य बहुत सी बातें तेरे विषय में कहेंगे—इससे अधिक दुःख और क्या होगा (३६)? यदि तू मारा गया तो स्वर्ग पावेगा, और यदि जीत गया तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा; इसलिए हे कौन्तेय! तू निश्चय करके युद्ध के लिए उठ खड़ा हो (३७)। सुख-दुःख, हानि-लाभ और जीत-हार को समान मान कर युद्ध में जुट जा; ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा (३८)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन ने धर्मशास्त्र के आधार पर कहा था कि "युद्ध में पूज्यों तथा स्वजन-बान्धवों की हिंसा का पाप होगा; कुल के नाश होने से कुल-धर्म तथा जाति-धर्म नष्ट होंगे और सब नरक में पड़ेंगे; अतः ऐसे युद्ध की अपेक्षा तो भीख माँग कर निर्वाह करना ही श्रेयस्कर है।" भगवान् यहाँ पर उसी धर्मशास्त्र के अनुसार अर्जुन को युद्ध करने की धार्मिकता बताते हुए कहते हैं, कि कौरवों द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए, अनिच्छा से तुझे युद्ध करने के निमित्त उद्यत होना पड़ा है; किसीके स्वत्व छीनने या किसी पर अन्याय करने के लिए तूने युद्ध नहीं ठाना है; इस कारण तेरे लिए यह धर्म-युद्ध है। इस तरह का धर्म-युद्ध करना, तथा दुष्ट आततायियों को दण्ड देने के लिए उनसे लड़ना, धर्मशास्त्रों ने क्षत्रियों का श्रेष्ठ धर्म माना है। अतः जिन शास्त्रों का तू आधार लेता है, उन्हींके प्रमाणों से इस अवसर पर लड़ना तेरा परम पवित्र कर्तव्य है। कुल और जाति के धर्म तो, तेरे कथनानुसार, युद्ध में जब सब मारे जायँगे तभी नष्ट होंगे, और पाप भी (यदि होगा तो) उनके मारे जाने पर ही होगा, परन्तु तेरा धर्म तो अपने इस कर्तव्य-कर्म से विमुख होते ही उसी समय नष्ट हो जायगा; और जनता में तेरी इतनी निन्दा होगी कि तू जीता ही मुरदा हो जायगा और लोगों में मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहेगा; क्योंकि बड़े-बड़े कार्य-कुशल पुरुष अपमानपूर्वक जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझते हैं। इस धर्म-युद्ध से नरक में पड़ने की बात ही कैसी—धर्मशास्त्र तो ऐसे युद्ध में मारे जाने वालों के लिए स्वर्ग का द्वार सदा खुला बताते हैं। अतः तू यदि युद्ध में मारा जायगा तो शास्त्रानुसार स्वर्ग मिलना निश्चित है, और यदि जीत गया तो दुष्ट आततायियों से पृथ्वी को मुक्त करके स्वयं सुखपूर्वक उसको भोगेगा और प्रजा को भी सुखी करेगा।

शेष रही पाप लगने की बात, सो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति न रख कर सबके हित के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करने में जो सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय प्राप्त हो जायँ, उनको एक समान जानते हुए, अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहने से तुझे कोई पाप नहीं लगेगा; क्योंकि अपने व्यक्तित्व के लिए सुख, जय और लाभ आदि की प्राप्ति की इच्छा से जो कर्म किये जाते हैं, उन्हींसे पाप का बन्धन होता है। सुख-दुःख आदि पर लक्ष्य न रख कर अपने कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किये जाते हैं, उनसे पाप का बन्धन नहीं होता। (प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति विना, अपनी ड्यूटी बजाने अर्थात् कर्तव्य पालन करने में किसीसे कोई हिंसा आदि हो जाती है, तो वह दण्ड का भागी नहीं होता)।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि श्लोक ३३ से ३७ तक जो पुण्य, पाप, कीर्ति, अकीर्ति, मान, प्रतिष्ठा, स्वर्ग-प्राप्ति और राज्य-सुख भोगने आदि की बातें भगवान् ने कही हैं, वे सिद्धान्त-रूप से नहीं कही हैं, किन्तु अर्जुन के कहे हुए धर्मशास्त्र के अनुसार ही युद्ध करने की धार्मिकता और सार्थकता दिखाने के निमित्त कही हैं; क्योंकि आगे चलकर भगवान् राज्य और स्वर्गादि की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने का निषेध करते हैं, और जय-पराजय, कीर्ति-अकीर्ति आदि में सम रहने का अर्जुन को बार-बार उपदेश देते हैं।

× × ×

भगवान् ने अर्जुन का शोक और मोह मिटाने के प्रसङ्ग में पहले आत्मज्ञान का वर्णन किया; फिर अर्जुन ही के माने हुए धर्मशास्त्रानुसार उसे अपने धर्म पालन करने के लिए युद्ध करने की आवश्यकता बताकर, युद्ध से होने वाली हिंसा के पाप से बचने के लिए उसे सुख और दुःख, हानि और लाभ, जय और पराजय को एक समान समझ कर युद्ध करने अर्थात् निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। परन्तु कोरे आत्मज्ञान से तथा कोरे धर्मशास्त्रों के प्रमाणों से एवं कोरे निष्काम कर्म की व्यवस्था से अर्जुन जैसे विचक्षण कार्यकर्ताओं के अन्तःकरण का पूर्णतया समाधान होकर युद्धादि कर्म करने में उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यद्यपि आत्मज्ञान से मरने-मारने का शोक और मोह मिट सकता है, और धर्मशास्त्र के प्रमाणों से अपना धर्म पालन करने से पुण्य का सञ्चय होने, एवं राज्य तथा स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के निश्चय से युद्धादि कर्म करने की आवश्यकता और सार्थकता भी मानी जा सकती है; परन्तु उन युद्धादि कर्मों से पाप लगने और नरक में पड़ने

आदि का जो भय बना रहता है, उसको दूर करने के लिए, भगवान्, सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय आदि में एक समान रह कर निःस्वार्थ-भाव से उक्त कर्म करने को कहते हैं; अर्थात् पहले राज्य और स्वर्ग-प्राप्ति का स्वार्थ बता कर फिर निःस्वार्थी बने रहने की व्यवस्था देते हैं। इन परस्पर विरोधी वचनों से उलझन और बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि किसी प्रकार के स्वार्थ बिना किसी भी विचारवान् व्यक्ति की कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्राणीमात्र की प्रत्येक चेष्टा किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही होती है—निरर्थक चेष्टा तो कोई भी नहीं करता; और जब कर्म करने में किसी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा ही न हो तो कर्म किये ही क्यों जायँ? इस प्रकार की सभी उलझनों का एक साथ पूर्णतया समाधान करके, निश्चित रूप से श्रेय-प्राप्ति का एकमात्र साधन, पूर्वकथित सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से अपने-अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म करने का विधान ही हो सकता है—इसके सिवाय दूसरा कोई यथार्थ एवं निर्दोष उपाय नहीं है। क्योंकि न तो कोरे (अव्यावहारिक) ज्ञान से ही मनुष्य श्रेय साधन कर सकता है, और न कोरे (ज्ञानरहित) कर्म से ही—चाहे वह कर्म निष्काम हो या सकाम। यदि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान केवल समझ लेने या कहने-सुनने मात्र ही के लिए रहे, और व्यवहार उसके विपरीत, भेद-बुद्धि से राग-द्वेषपूर्वक होते रहें, तो बड़ी दुर्दशा होती है, जैसी कि वर्तमान में हमारे देशवासियों की हो रही है। उपनिषदों में भी अव्यावहारिक ज्ञान और ज्ञानरहित कर्म, दोनों ही हानिकारक बताये हैं (ईशोपनिषद् मं० ६; बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ४ मं० १०)। इसलिए भगवान् अब उक्त सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान को कर्म में जोड़ने के समत्व-योग अर्थात् ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन आरम्भ करते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय है और यही आर्य-संस्कृति का मूल आधार है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह (उपरोक्त) बुद्धि तुझे सांख्य के विषय में कही गई; अब योग के विषय में इस बुद्धि को सुन; अर्थात् इससे पहले तुझे आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया, अब इससे आगे उसी आत्मज्ञान की साम्य-बुद्धि को सांसारिक

व्यवहारों में जोड़ने के विषय में विचार किया जाता है, सो सुन। हे पार्थ! इस बुद्धि से युक्त होकर तू (कर्म करता हुआ भी) कर्मों के बन्धन से मुक्त रहेगा (३९)। इस (समत्व-योग) में लगने पर आरम्भ का नाश नहीं होता, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से व्यवहार करना आरम्भ करने के बाद फिर वह व्यर्थ नहीं जाता; न इसमें कोई विघ्न होता है, और न इसका प्रत्यवाय अर्थात् उलटा परिणाम ही होता है; (और) इस धर्म का थोड़ा भी आचरण महान् भय से मुक्त करता है (४०)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक १२ से ३० तक जो आत्मज्ञान का वर्णन किया गया है उसमें एक ही आत्मा को सब भूत-प्राणियों में एक समान व्यापक बताया गया है, अर्थात् यह कहा गया है कि सारी चराचर सृष्टि, एक ही आत्मा (जो सबका 'अपना आप' है) के अनेक रूप हैं—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। अब भगवान् उस आत्मज्ञान को व्यवहार में जोड़ने के समत्व-योग, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति से रहित होकर, साम्य-भावयुक्त जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का विधान करते हैं; और इस सम्बन्ध में सबसे पहले उस समत्व-योग का थोड़ा-सा माहात्म्य कहते हैं।

उपरोक्त आत्मज्ञान के अभ्यास से मनुष्य को शनैः-शनैः अपने आपके और जगत् के असली स्वरूप, यानी सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, नित्य एवं मुक्त आत्मा की एकता एवं परिपूर्णता का अनुभव होने लगता है, और उस अनुभव-सहित अपने कर्तव्य-कर्म करने में कर्मों की आधीनता का बन्धन नहीं रहता; क्योंकि सारे कर्मों का प्रेरक आत्मा है, इसलिए कर्म आत्मज्ञानी के आधीन रहते हैं। जिसका आत्मज्ञान का अभ्यास जितना ही अधिक बढ़ा हुआ होता है, उतना ही वह कर्मों की आधीनता से अधिक मुक्त होता है, और अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें सर्वात्म-भाव में दृढ़ स्थिति हो जाने पर वह पूर्ण स्वतन्त्र यानी जीवनमुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि इस समत्व-योग का आचरण एक बार आरम्भ करने के बाद फिर वह निरर्थक नहीं जाता, उससे कर्मों पर यथायोग्य थोड़ा या बहुत आधिपत्य अवश्य ही प्राप्त होता है।

इसके आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि, भूल या कमी रह जाने से कोई उलटा फल भी नहीं होता, अर्थात् दूसरे धर्मों अथवा साधनों की तरह इसमें ऐसी सामग्रियों के जुटाने की आवश्यकता नहीं है कि जिनके बिना इसकी सिद्धि न हो, और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही है कि जिसके पूर्ण न होने से दुष्परिणाम हो, न इसमें किसी व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता है कि जिसके बिना इसमें कोई

विघ्न पड़ने की सम्भावना हो। इसमें एक बार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति ही होती है। किसी भी देश में, किसी भी काल में, कोई भी व्यक्ति इसका आचरण कर सकता है; और इस धर्म का पहले थोड़ा भी आचरण किया जाय तो मनुष्य निर्भय हो जाता है, अर्थात् पहले थोड़े लोगों से, यानी अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम आदि के साथ एकता के प्रेम-भाव में जुड़ कर समता का व्यवहार करने से भी बहुत आत्मबल आ जाता है, और इसका जितना अधिक आचरण किया जाता है, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता बढ़ती जाती है। इसमें लगा हुआ मनुष्य कभी पीछा नहीं गिरता।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन! इस विषय में, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से साम्य-भावयुक्त संसार के व्यवहार करने में, निश्चयात्मिका व्यावहारिक बुद्धि एक ही होती है. यानी इस तरह (आत्मज्ञान-युक्त) कर्म करने वालों का एक यही निश्चय रहता है कि यह जगत् एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। परन्तु जो इस आत्मज्ञान से व्यवहार नहीं करते, उनकी बुद्धि की बहुत शाखाएँ होकर वह (बुद्धि) अनन्त प्रकार की हो जाती है (४१)। हे पार्थ! वेदों के अर्थवाद के (रोचक) वाक्यों में उलझे हुए तथा "इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है" ऐसा कहने वाले, कामनाओं में आसक्त, और स्वर्ग ही है अन्तिम लक्ष्य जिनका ऐसे विचार-हीन लोग, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, बहुत से कर्मकाण्डों के प्रपंच कराने वाली एवं जन्म और कर्म-रूप फल को देने वाली मन-लुभावनी बातें किया करते हैं। उन बातों से जिनका चित्त हर लिया गया है, उन भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त लोगों की निश्चयात्मक बुद्धि समाधि अर्थात् साम्य-भाव में स्थित नहीं होती। तात्पर्य यह कि जो विचार-

हीन लोग कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों के भेद-प्रतिपादक रोचक और भयानक वचनों में ही उलझे हुए रहते हैं और उन्हींको सब-कुछ मानते हैं, और "जो कुछ हैं सो ये ही हैं, इनके सिवाय और कुछ नहीं है" ऐसा कहते हैं, उनका अन्तःकरण नाना प्रकार की सांसारिक कामनाओं से भरा हुआ रहता है; उनका सबसे अन्तिम ध्येय मरने के बाद स्वर्ग में जाकर नाना प्रकार के विषय भोगने का ही रहता है; ऐसे अज्ञानी लोग नाना भांति के विषय-भोग, धन-सम्पत्ति, सत्ता, मान-प्रतिष्ठा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए उक्त वेदादि-शास्त्रोक्त (अग्निहोत्र, बलि-वैश्वदेव, देवकर्म, पितृकर्म, नित्य-नैमित्तिक कर्म, षोड़श संस्कार आदि) कर्मकाण्डों की विविध प्रकार की क्रियाओं के करने में प्रीति बढ़ाने के निमित्त उनकी प्रशंसा की अतिशयोक्तियों से मन को लुभाने वाले व्याख्यान दिया करते हैं। भोग और ऐश्वर्य के मोह में गर्क रहने वाले मूढ़ लोग उन सुहावनी बातों से मोहित होकर सकाम कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं, जिनसे बार-बार जन्म और उनमें होने वाले कर्म, एवं उन कर्मों के फलस्वरूप फिर जन्म और फिर कर्म, इस तरह जन्म-कर्म के चक्कर में पड़े हुए वे लोग गोते खाते रहते हैं। ऐसे मूर्ख लोगों की निश्चयात्मक बुद्धि, सबकी एकता के साम्य-भाव में कभी स्थित नहीं होती (४२-४४)।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

अर्थ—हे अर्जुन! (कर्मकाण्डात्मक) वेद तीन गुणों को ही विषय करते हैं; तू तीन गुणों से ऊपर उठ और द्वन्द्वों से परे, नित्य-सत्त्व में स्थित और योग-क्षेम से रहित होकर (अपने वास्तविक स्वरूप) आत्मा का अनुभव कर। तात्पर्य यह कि भेद-प्रतिपादक कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्र त्रिगुणात्मक प्रकृति के नाना नामों और रूपों के बनावों में ही उलझाये रखने वाले वर्णनों से भरे पड़े हैं। तू अपने को उन त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनावों से ऊपर, प्रकृति का स्वामी अनुभव कर, और सुख-दुःख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों से परे, नित्य-सत्त्वरूप सबके एकत्व-भाव में स्थित होकर, तथा अपने से पृथक् किसी भी पदार्थ की प्राप्ति और स्थिति की चिन्ता से रहित होकर सर्वत्र अपने आप अर्थात् आत्मा ही को परिपूर्ण अनुभव कर (४५)। सब ओर पानी ही पानी हो जाने पर जितना प्रयोजन कुएँ से रह जाता है, उतना ही प्रयोजन (उक्त) ब्रह्मज्ञानी को सब वेदों से रहता है।

तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी महापुरुष को वैदिक कर्मकाण्डों से कोई प्रयोजन नहीं रहता (४६)।

स्पष्टीकरण—जो लोग आत्म-ज्ञानयुक्त संसार के व्यवहार करते हैं, अर्थात् "एक ही अज, अमर, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द आत्मा—जो सबका अपना आप है—सब भूत-प्राणियों में समान भाव से व्यापक है" इस निश्चय से अपने-अपने कर्तव्य-कर्म सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव से करते हैं, उनकी बुद्धि का एक ही निश्चय रहता है। जगत् के सभी पदार्थों, सभी व्यवहारों, सभी विचारों और सभी धर्मों एवं मत-मतान्तरों के मूल में उनको एकत्व ही प्रतीत होता है। उनकी बुद्धि में भेद-भाव को स्थान नहीं रहता, अतः वे किसीसे राग-द्वेष नहीं करते। परन्तु जो लोग जगत् के नानात्व को सत्य मान कर दूसरों को अपने से भिन्न मानते हैं, उनकी बुद्धि निरन्तर व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों ही में उलझी रहती है; और "वे व्यक्तिगत स्वार्थ अपने से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त होंगे" ऐसे निश्चय से वे लोग निरन्तर व्याकुल रहते हैं, जिससे उनके अन्तःकरण में अनन्त प्रकार की कामनाएँ एवं तरह-तरह की श्रद्धाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। अपने लिए इहलौकिक भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त वे लोग एक दूसरे से भेद रखने वाले नाना धर्म (मज़हब), नाना पन्थ, नाना सम्प्रदाय और नाना मत बना लेते हैं, जिनकी अनन्त शाखाएँ हो जाती हैं; और अपने-अपने मतों की पुष्टि के लिए नाना प्रकार के भेद पैदा करने वाले शास्त्र रच कर वे लोग एक दूसरे से द्वेष करते हैं; तथा स्वर्ग-प्राप्ति आदि परोक्ष व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि ही को पुरुषार्थ की परमावधि मान कर उन भेद-प्रतिपादक शास्त्रों में अन्ध-श्रद्धा रखने से, उनके रोचक-भयानक वचनों में भ्रान्त हुए, नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ स्वयं करते तथा दूसरों से करवाते रहते हैं। परन्तु उन क्रियाओं से सच्चा सुख कभी नहीं होता; अतः जब वे लोग दुखी होते हैं तो एक निश्चय छोड़ कर दूसरे पर श्रद्धा करते हैं, फिर दूसरा छोड़ कर तीसरे पर विश्वास करते हैं। इस तरह उनकी बुद्धि निरन्तर विक्षिप्त रहती है—कभी एक निश्चय पर स्थिर नहीं रहती। फलतः उन लोगों की सारी आयु इसी खींचातानी में व्यर्थ बीत जाती है—सच्ची सुख-शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती।

इसलिए भगवान् अर्जुन को लक्ष्य करके सबको उपदेश देते हैं कि प्रकृति के तीनों गुणों के परस्पर के गुणन से उत्पन्न अनन्त प्रकार की कल्पित भिन्नताओं ही का वर्णन जिन कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों में है, उनके मन-लुभावने वचनों के फेर में पड़ कर उनके दास मत बनो। शास्त्र तुम्हारे लिए हैं, तुम शास्त्रों के लिए नहीं हो। अनन्त प्रकार के झूठे नानात्व में जो सच्चा एकत्व है,

उसको "अपना आप" समझो; और सुख-दुःख, हानि-लाभ, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय, उत्पत्ति-नाश तथा प्राप्ति-अप्राप्ति आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों को अपना ही खेल जान कर, स्वयं अपने आपमें परिपूर्ण हो जाओ अर्थात् ऐसा अनुभव करो कि "मैं परिपूर्ण हूँ, मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं"। ऐसा करने से इन वेदादि शास्त्रों में वर्णित इहलौकिक तथा पारलौकिक सारे सुख स्वयं तुम्हें अपने आप ही में दीखने लगेंगे; क्योंकि जिसको सारा जगत् आत्मस्वरूप प्रतीत होता है, उससे अलग कोई भी वस्तु बाकी रह ही नहीं जाती। जिस तरह, जब सर्वत्र जल ही जल हो जाता है, तब कुएँ, बावड़ी, तालाव आदि सभी जलाशय उसके अन्दर आ जाते हैं; उसी तरह आत्मज्ञानी सारी सृष्टि को अपने अन्दर, अपने ही स्वरूप में अनुभव करता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि गीता, कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित क्रियाओं को बिलकुल निरर्थक बताती है; क्योंकि गीता किसी भी मत, किसी भी धर्म या किसी भी मजहब का सर्वथा तिरस्कार नहीं करती, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। बड़े-बड़े ऋषियों, मुनियों, आचार्यों और पैगम्बरों आदि के चलाये हुए धर्म और मजहब बिलकुल निरर्थक नहीं होते, किन्तु उन सबका कुछ न कुछ उपयोग अवश्य होता है। वे अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगी होते हैं और स्थूल बुद्धि की साधारण जनता के लिए हितकारी होते हैं। जो नाना प्रकार के नैतिक और धार्मिक आचरणों की व्यवस्थाएँ बड़े-बड़े विचारशील पुरुषों ने शास्त्रों में कही हैं, वे राजसी-तामसी प्रकृति के लोगों को पशु-वृत्ति से, अर्थात् अनियमित रूप से विषयादिकों के भोगने में ही निरन्तर लगे रहने के आसुरी भावों को हटा कर, उनको संयम से रहने, और नियमित रूप से, संस्कार किये हुए भोग भोगने में प्रवृत्त करती हैं। इसके अतिरिक्त जो लोग आधिभौतिकता ही को सत्य मान कर इस भौतिक शरीर के नाश होने पर कुछ भी शेष रहना नहीं मानते, तथा परलोक एवं पुनर्जन्म में विश्वास न रखने के कारण बुरे कर्मों से नहीं डरते, एवं ईश्वर अथवा आत्मा आदि अदृष्ट सर्वव्यापक सूक्ष्म शक्ति को न मान कर जगत का अहित करने और समाज को कष्ट देने में लगे रहते हैं (गी० अ० १६ श्लो० ७ से ९), उनको आस्तिक बना कर ईश्वर के भय, तथा जन्मान्तरों में स्वर्ग-नरक की प्राप्ति के रोचक-भयानक वचनों से, समाज-विध्वंसकारी कर्मों से निवृत्त करके प्राणी मात्र से प्रेम करने में प्रवृत्त करते हैं, जिससे वे स्वयं सुख पाते हैं और दूसरों को भी सुख देते हैं। सारांश यह कि ये कर्मकाण्डात्मक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक शास्त्र

स्थूल बुद्धि के विचार-हीन लोगों को सन्मार्ग में लगाने का काम तो अवश्य ही करते हैं; परन्तु इतना ही करके ये रह जाते हैं—इससे आगे नहीं बढ़ते; और साथ ही ये जनता को अन्धविश्वासी बना कर बुद्धि से काम लेने के अयोग्य कर देते हैं। अतः जो लोग इन धार्मिक क्रियाओं ही को सब कुछ मान कर इन्हींमें सदा उलझे रहते हैं, उनको आत्मज्ञान का सच्चा सुख, अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त नहीं होती; और अर्जुन जैसे अपने और दूसरों के हिताहित का विचार करने वाले विचक्षण बुद्धि के कार्यकर्ताओं को ये भेदवाद के कर्मकाण्डात्मक शास्त्र कुछ भी सहायता नहीं देते, किन्तु उलटा मोह बढ़ा कर उनकी किंकर्तव्य-विमूढ़ता को दृढ़ करते हैं।

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सब सूक्ष्म विचारवानों को उपदेश देते हैं, कि इन भेदवाद के शास्त्रों की उलझन में मत पड़ो। बुद्धिमान् लोगों का अधिकार इनसे ऊँचे उठ कर, सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त समत्व-बुद्धि से कर्मों के अधिपति रूप से जगत् के व्यवहार करने का होता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

अर्थ—कर्म ही में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं; तेरे कर्म फल के उद्देश्य से न होवें और कर्म न करने में तेरी आसक्ति न होवे। तात्पर्य यह कि ऊपर के दो श्लोकों में कहे अनुसार तू कर्मरूप प्रकृति का स्वामी है, अतः कर्मों के स्वामी-भाव से उन्हें करने का तेरा अधिकार है—वे तुझे अवश्य करने चाहिएँ; और फल कर्म के साथ ही रहता है अर्थात् जैसा कर्म होता है, उसीके अनुसार उसका फल स्वतः ही होता है, इसलिए कर्म से पृथक् फल पर किसीका कोई अधिकार नहीं होता, अतः तेरे कर्म किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त को लेकर नहीं होने चाहिएँ; और अपने कर्तव्य-कर्म दुःख-रूप अथवा बन्धन-रूप होने की आशंका से उन्हें छोड़ कर अकर्मी होने का भाव भी तेरे अन्तःकरण में नहीं होना चाहिए, क्योंकि कर्म तेरे से पृथक् नहीं हैं (४७)। हे धनंजय! योग में स्थित होकर तथा सङ्ग छोड़कर एवं सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कर्म कर; समत्व ही योग कहा जाता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव-युक्त साम्य-भाव से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म कर, और उसके

करने में व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव मत रख, तथा उनकी सफलता और असफलता में एक समान निर्विकार रह। इस श्लोक के आरम्भ में "योग" में स्थित होकर कर्म करने को कहा है, उस "योग" शब्द के अर्थ का खुलासा श्लोक के अन्तमें करते हैं कि सबकी एकता के साम्य-भाव (Sameness) को "योग" कहते हैं (४८)।

स्पष्टीकरण—कर्म जड़ है, वह चेतन कर्ता के आश्रय और अधिकार में रहता है; परन्तु अधिकार का तारतम्य कर्ता की चेतनता अर्थात् आत्मविकास के अनुसार होता है। मनुष्यों में आत्मविकास की अनन्त श्रेणियाँ हैं; नीचे की श्रेणी के आत्मविकास वाले व्यक्तियों का कर्म पर अधिकार कम होता है, ऊँची श्रेणी वालों का क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक होता है, और जिनका पूर्ण आत्म-विकास हो जाता है, वे पूर्ण रूप से कर्म के अधिपति हो जाते हैं। कर्म और फल का जोड़ा होता है अर्थात् कर्म की प्रतिक्रिया फल है, अतः फल कर्म के साथ ही रहता है। जैसा कर्म होता है वैसा उसका फल साथ ही उत्पन्न हो जाता है। इसलिए कर्म से भिन्न फल पर किसीका अधिकार नहीं होता। यदि कोई कर्म-फल को अन्यथा करना चाहे तो नहीं हो सकता। जैसा कर्म होता है उसीके अनुसार उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार अपनी सृष्टि निर्माण करके उनका फल भोगता है, और जब कि कर्म करने में स्वतन्त्रता है तथा फल कर्म ही से उत्पन्न होता है, तो कर्म के द्वारा फल पर भी अधिकार होता है, स्वतन्त्र फल पर अधिकार नहीं होता—यहां 'फल पर अधिकार नहीं है' कहने का यही तात्पर्य है।

जिन बढ़े हुए आत्मविकास वाले सज्जनों को सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव का पूरा अनुभव हो जाता है, वे अपने व्यक्तित्व को दूसरों से पृथक् नहीं समझते, और न उनके कर्म दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए ही होते हैं, किन्तु उनके सब व्यवहार लोक-संग्रह यानी सबके हित के लिए होते हैं; अतः उनके कर्मों के फल सबको प्राप्त होते हैं। उन आत्मज्ञानी महापुरुषों की दृष्टि में यह जगत्-प्रपञ्च उनके ही समष्टि-भाव की इच्छा या माया की रचना अर्थात् कर्मों का विलास होता है। इसलिए वे अपने समष्टि-भाव के इस खेल में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने शरीर की योग्यता के कर्म साम्य-भाव से करते रहते हैं।

इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् अर्जुन को श्लोक ४५-४६ में सर्वात्म-भाव में स्थित होने का उपदेश देकर, उक्त (ब्राह्मी) स्थिति में जगत् के व्यवहार करने के लिए कहते हैं कि "यह कर्म-रूप जगत् तेरे ही समष्टि-भाव की इच्छा का खेल होने के

कारण इस पर तेरा अधिकार है। तू दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति छोड़ कर, साम्य-भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक इस संसाररूपी खेल में अपने शरीर की योग्यता के कर्म करने रूप अपना पार्ट अच्छी तरह बजा। इस खेल में जो नाना भाँति के सुख-दुःख आदि द्वन्द्व प्रतीत हों, उनकी कुछ परवाह मत कर, क्योंकि यह सब तेरी ही कल्पना है, अतः इन द्वन्द्वों से विचलित न होकर इनमें एक समान (सम) बना रह।"

निवृत्ति-मार्ग के टीकाकार श्लोक ४७ का यह अर्थ निकालते हैं कि अर्जुन अज्ञानी था, इस कारण उसका अधिकार कर्म करने ही का था, इसलिए भगवान् ने उसे (अज्ञान अवस्था में ही) कर्म करते रहने का उपदेश दिया है। परन्तु पूर्वापर के सम्बन्ध पर ध्यान रखने से यह अर्थ ठीक नहीं बैठता; क्योंकि श्लोक ११ से ३० तक भगवान् ने पहले आत्मज्ञान के वर्णन से उपदेश का आरम्भ करके, श्लोक ३१ से ३८ तक कर्म करने की आवश्यकता बता कर, श्लोक ३९-४० में आत्मज्ञान सहित जगत् के व्यवहार करने का माहात्म्य कहा। फिर श्लोक ४१ से ४४ तक दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए काम्य-कर्मों के करने की निन्दा करके अन्त में श्लोक ४५-४६ में भेद-वाद के शास्त्रों की उलझन से ऊपर उठकर तथा द्वन्द्वों से रहित एवं योग-क्षेम की चिन्ता से परे होकर अपने आपमें परिपूर्णता के अनुभव करने का उपदेश दिया। अब श्लोक ४७-४८ में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने को कहते हैं। इन सब वचनों की सङ्गति करके विचार करने से अर्जुन को अज्ञान अवस्था ही में, फल त्याग कर कर्म करने का उपदेश देना नहीं पाया जाता, किन्तु सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ कर, व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना, अपनी प्रकृति के स्वामी भाव से, जगत्-रूपी खेल में स्वाधीनतापूर्वक अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करने का उपदेश देना पाया जाता है।

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ वस्तुतः यहींसे होता है; अतः कहना चाहिए कि श्लोक ४५ से ४८ तक चार श्लोक गीता-ज्ञान के मूल-मन्त्र हैं, इन्हीं चार श्लोकों की विस्तृत व्याख्या आगे की गई है। इन श्लोकों में सबकी एकता के अनुभव-युक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने का ही स्पष्ट विधान है; इससे यह स्वतः सिद्ध है कि गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय समत्व-योग ही है।

जिनको सर्वभूतात्मैक्य अर्थात् सबकी एकता का ज्ञान नहीं होता, वे व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करते हैं, और जिन कर्मों से किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि नहीं होती, उनको निरर्थक बोझ-रूप अथवा दुःख-रूप समझ कर छोड़ देते हैं। परन्तु जिनको सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान होता है उनको पृथक

व्यक्तित्व का अहंकार न रहने के कारण कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, किन्तु वे जगत् को अपने समष्टि-भाव का खेल समझ कर, उस खेल ही की सिद्धि के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के लिए, स्वेच्छा से कर्म किया करते हैं। उनका लक्ष्य कर्म-फल पर नहीं रहता, क्योंकि उनकी दृष्टि में कर्म और फल "अपने आप (आत्मा)" से भिन्न नहीं होते। जिनको व्यक्तित्व का अहंकार होता है उनके कर्म अपने व्यक्तित्व के लिए होते हैं, अतः उनको कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है; परन्तु जिनके सर्वात्म-भाव होता है उनके कर्म सबके लिए होते हैं, अतः उनके फल भी सबके लिए होते हैं। आत्मज्ञानी सारे कर्मों को अपना खेल समझते हैं, इसलिए उन्हें कर्म बोझ-रूप या दुःख-रूप प्रतीत नहीं होते; न वे उनको निरर्थक ही समझते हैं, क्योंकि वे कर्म उस खेल के उपयोगी होते हैं; इसलिए कर्म न करने का भाव उनके अन्तःकरण में उत्पन्न नहीं होता। इस तरह आत्मज्ञानयुक्त जगत् के व्यवहार स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको देते हैं।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था में उस राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अङ्ग होता है, राष्ट्र से वह भिन्न नहीं होता, किन्तु वह अपने को राष्ट्र-रूप ही समझता है; और उस राष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो-जो कर्म उसने अपने ज़िम्मे लिये हों, उनको वह स्वयं अपना कार्य समझ कर बहुत अच्छी तरह करता है, राष्ट्र के हित में अपना हित समझता है, राष्ट्र से अलग अपना व्यक्तित्व नहीं समझता, राष्ट्र के स्वार्थ के अन्तर्गत अपना स्वार्थ समझता है। उसी तरह समष्टि-आत्मा=परमात्मारूपी स्वाधीन राष्ट्र के संसाररूपी राज्य में प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति, समष्टि-आत्मा यानी परमात्मा का ही व्यष्टि रूप है, उससे भिन्न नहीं है। अतः अपने समष्टि-भाव के साम्राज्यरूपी इस जगत् को अच्छी तरह चलाने के लिए जो-जो कर्तव्य व्यष्टि-भाव से अपने ज़िम्मे लिये हों, उन्हें स्वयं अपने कार्य समझ कर अच्छी तरह करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को जगत् ❀ से अलग नहीं समझना चाहिए, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत् ❀ के स्वार्थों से अभिन्न, अर्थात् उनके अन्तर्गत समझना चाहिए। जगत् के हित में ही अपना हित जानना चाहिए। जिस तरह स्वाधीन राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने को स्वाधीन समझता है, और अपने कर्तव्य-कर्म स्वाधीनतापूर्वक स्वामी भाव से करता है, उनको त्याग कर राष्ट्र की हानि करने की इच्छा नहीं करता; उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस जगत् में अपने आपको

❀ यहाँ जगत् से तात्पर्य अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले लोगों से समझना चाहिए।

स्वाधीन समझ कर, जगत् के व्यवहार स्वाधीनतापूर्वक कर्तव्यों के स्वामी भाव से करना चाहिए—गुलामी के तौर पर नहीं। और अपने कर्तव्यों को त्यागने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जिस तरह व्यक्तियों का समष्टि-भाव ही राष्ट्र होता है, और राष्ट्र-सञ्चालन का कार्य यथायोग्य सभी व्यक्तियों का कर्तव्य होता है—वह कार्य उन व्यक्तियों से अलग नहीं हो सकता; उसी तरह व्यष्टि भावों का सम्मिलित (एकत्व) भाव ही परमात्मा है और उसका व्यक्त स्वरूप ही संसार है, अतः इसका यथायोग्य सञ्चालन करना प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति का कर्तव्य है; क्योंकि प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति के कार्य पर ही इसका अस्तित्व निर्भर है। इसलिए संसार रूपी कर्म से कोई भी अलग नहीं हो सकता। यह संसार समष्टि आत्मा यानी परमात्मा की इच्छा का खेल है, और समष्टि के कार्य को व्यष्टि मिटा नहीं सकती। इसलिए कोई भी व्यक्ति संसार के व्यवहार को त्याग नहीं सकता। और जब व्यष्टि भाव सर्वथा मिटकर पूर्ण समष्टि भाव हो जाता है, तो त्यागने या रखने का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि उस दशा में अपने से पृथक् त्यागने को कुछ रहता ही नहीं। अतएव भगवान् का सबको उपदेश है कि जगत् के व्यवहाररूपी कर्म करना सबका अधिकार है; अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार से तुम उसे छोड़ नहीं सकते (गी० अ० १८ श्लोक ५९), इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करो, और उन कर्मों के करने तथा न करने में व्यक्तित्व का अहङ्कार और उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वार्थ, अर्थात् "इन कर्मों से मुझे सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि फल प्राप्त होंगे" ऐसी भावना मत रक्खो; क्योंकि कर्म तुमसे भिन्न नहीं, और कर्मों के फल भी तुमसे भिन्न नहीं। इसलिए व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना आत्मज्ञानी के चित्त में उत्पन्न ही नहीं होनी चाहिए। आत्मज्ञानी को कुछ भी अप्राप्त नहीं है और न उससे कुछ पृथक् ही है। इसलिए वह किस पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करे और किससे अलग होने की ?

सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष, प्रकाश-अन्धकार, उत्पत्ति-विनाश, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्वों का जोड़ा होता है और वे दोनों साथ रहते हैं; अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, एक के अस्तित्व के लिए दूसरे का होना आवश्यक है; जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है, उतनी ही मात्रा में दूसरा उसी समय उत्पन्न हो जाता है—चाहे वह किसी व्यक्ति-विशेष को उसी समय और उसी स्थल पर प्रतीत हो या न हो। यदि एक का अस्तित्व सच्चा माना जाय तो दूसरे का भी सच्चा मानना आवश्यक है। आत्मज्ञानी लोगों को उनकी एकता का ज्ञान रहता है, अतः उनकी दृष्टि में ये परस्पर विरोधी

भाव एक समान मिथ्या, अर्थात् प्रभाव-रहित अतः सम होते हैं। जिस तरह एक साम्राज्य के किसी एक प्रदेश में बर्फ से लदे हुए बड़े-बड़े ऊँचे पहाड़ होते हैं जिनमें से नदियाँ निकलती हैं, दूसरे प्रदेश में नीची भूमि बिलकुल सूखी होती है; एक प्रान्त में कृषि अधिक होती है, दूसरे प्रान्त की भूमि में खनिज पदार्थ और चार आदि होते हैं; एक प्रान्त में खाद्य पदार्थ बहुतायत से उपजते हैं, दूसरे प्रान्त के लोगों के कला-कौशल में उन्नत होने के कारण उसमें कारीगरी की चीज़ें तैयार होती हैं; एक प्रान्त के निवासी विद्या, बुद्धि और व्यवसाय में चतुर होते हैं, दूसरे प्रान्त वालों में शारीरिक बल अधिक होता है; इस तरह प्रकृति के तीन गुणों के सम्मिश्रण के तारतम्य से भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपनी-अपनी विशेषताएँ और अपनी-अपनी न्यूनताएँ होती हैं; और जब तक प्रत्येक प्रान्त के निवासी एक दूसरे प्रान्त के निवासियों के साथ सहयोग रखते हुए, एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं, और अपनी विशेषताओं से दूसरों की न्यूनताएँ मिटाते रहते हैं, तब तक वह साम्राज्य अपने आपमें परिपूर्ण रहता है; समष्टिभाव से तो उसमें पूर्ण समता विद्यमान थी ही, परन्तु व्यष्टिभाव से भी समता हो जाती है—सब विषमताएँ आपस में मिलकर परिणाम में समता हो जाती है। उसी तरह जगत् के किसी विशेष प्रदेश अथवा विशेष व्यक्तियों में एक प्रकार की विशेषता और दूसरे प्रकार की न्यूनता होती है, और अन्य प्रदेश में तथा अन्य व्यक्तियों में किसी अन्य प्रकार की विशेषता तथा अन्य प्रकार की न्यूनता होती है। इस तरह तीन गुणों के तारतम्य से अनन्त प्रकार की विशेषताएँ और अनन्त प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं; परन्तु उन सबका योग कर देने अर्थात् मिला देने से कोई विशेषता या न्यूनता शेष नहीं रहती—विशेषताओं से न्यूनताओं की पूर्ति होकर सर्वत्र समता हो जाती है। यदि सब व्यक्ति अपने-अपने हिस्से के कार्य करते हुए, तथा पारस्परिक एकता के निश्चय से आपस में सहयोग रखते हुए एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक हों, तो किसीमें भी विशेषता या न्यूनता न रहे—सर्वत्र समता हो जाय। परन्तु जो लोग इस तरह एकता के भाव से व्यवहार न करके अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए खींचातानी करते हैं, वे ही विषमता उत्पन्न करते हैं और उसीसे सुख-दुःख आदि द्वन्द्व होते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४६॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—हे धनञ्जय ! कर्म, दूर होने के कारण बुद्धि-योग की अपेक्षा निकृष्ट है, अर्थात् कर्म, कर्ता की बुद्धि के आधीन हैं—जैसी बुद्धि होती है वैसे ही कर्म होते हैं, और उनका फल भी कर्ता की बुद्धि पर निर्भर रहता है, इसलिए कर्मों पर बुद्धि की प्रधानता है; (अतः) तू बुद्धि का आश्रय ले अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव की बुद्धि से कर्म कर; फल की इच्छा से कर्म करने वाले कृपण अर्थात् दीन होते हैं (४९)। जिसकी आत्मनिष्ठ (समत्व) बुद्धि होती है, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलग अर्थात् अलिप्त रहता है, इस कारण तू (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावरूप) योग में स्थित होकर व्यवहार कर; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावरूप) योग ही कर्म-कौशल (कर्मों पर आधिपत्य) है; अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने वाला कर्मों का स्वामी* होता है (५०)। साम्य-बुद्धियुक्त व्यवहार करने वाले ज्ञानी पुरुष, कर्मों के अच्छे-बुरे फल से परे होकर, तथा जन्म-मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर, (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) दुःखों से रहित पद को प्राप्त हो जाते हैं (५१)।

स्पष्टीकरण—कर्म, बुद्धि (विचार) के आधीन हैं, क्योंकि कर्म करने का विचार पहले अन्तःकरण में उठता है, पीछे कर्म किये जाते हैं। कर्मों का फल भी कर्ता की बुद्धि पर निर्भर रहता है। निरे जड़ कर्मों में अच्छे-बुरे फल देने की शक्ति नहीं होती, किन्तु उनमें चेतन पुरुष की बुद्धि का संयोग होने से अच्छा-बुरा फल उत्पन्न होता है। कर्ता की जैसी बुद्धि होती है उसीके अनुसार कर्म का फल होता है। निर्बुद्धि लोगों के कर्मों का फल बुद्धिमानों जैसा नहीं होता। अतः बुद्धि की अपेक्षा कर्म निकृष्ट हैं। जो लोग बुद्धि से काम न लेकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म करते हैं, वे बड़े कंजूस एवं दीन होते हैं; क्योंकि विवेकहीन कंजूस मनुष्य दिन-रात केवल अपने स्वार्थों में ही लगा रहता है—अपने स्वार्थ के बिना वह कुछ भी नहीं करता और न वह किसीके काम में आता है। वह सदा अपने को दीन ही अनुभव करता है। परन्तु जो लोग समत्व-बुद्धि से व्यवहार करते हैं, उनकी कर्मों

---

* जिस तरह कोई मनुष्य किसी विशेष कला में पूर्ण कुशल अर्थात् निपुण होता है तो वह उस कला का स्वामी (Master) होता है। उसी तरह समत्व-बुद्धि से व्यवहार करने वाला मनुष्य पूर्णतया व्यवहार-कुशल होता है, अतः वह सारे व्यवहारों अर्थात् कर्मों का स्वामी (Master of actions) होता है।

के फल में कुछ भी आसक्ति नहीं रहती, वे बहुत उदार एवं सब कर्मों के स्वामी होते हैं; अतः उनको पुण्य और पाप दोनों का बन्धन नहीं होता; न उनको जन्म-मरण आदि किसी प्रकार का क्लेश ही होता है। वे अपने आपको सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव करते हुए स्वेच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक सांसारिक व्यवहार करते हैं। सारांश यह कि साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करना ही कर्मों में कुशलता है और यही परम श्रेयस्कर है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्थ—जब तेरी बुद्धि (सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थित होकर) मोह (अज्ञान) के दल-दल से पार हो जायगी, तब जो कुछ (भेद-वाद के शास्त्रों के वचन) तूने सुने हैं, और भविष्य में जो कुछ सुनेगा, उन (सब) के प्रभाव से तू रहित हो जायगा, अर्थात् तू उन भेद-वाद के शास्त्रों के रोचक-भयानक वचनों की उपेक्षा कर देगा (५२)। कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों के भेद-वाद के नाना भाँति के वाक्यों से विचलित होकर भटकती हुई तेरी बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव के एक निश्चय पर अचल-अटल हो जायगी, तब तुझे समत्व-योग प्राप्त होगा, अर्थात् उस समय तू सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने में पूर्णतया कुशल होगा (५३)।

स्पष्टीकरण—संसार के व्यवहार करने में जिस समय कोई विकट समस्या सामने उपस्थित होती है और दो या उससे अधिक विरोधी धर्मों के संघर्ष का अवसर आ जाता है—जैसा कि अर्जुन के सम्मुख आया था, जब कि एक तरफ युद्ध करने से पूज्यों तथा स्वजन-बान्धवों की हत्या का पाप, और दूसरी तरफ़ युद्ध न करने से क्षात्र-धर्म का नाश दीखता था—ऐसी दशा में मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर मोह के दलदल में फँस जाता है, जिससे निकलने के लिए वह नीति और धर्मशास्त्रों की शरण में जाता है। परन्तु उन शास्त्रों के भेद-वाद के—अनेक स्थलों पर परस्पर विरोधी—वचनों से उलझनें और बढ़ जाती हैं; क्योंकि उनमें कहीं पर किसी धर्म की विशेषता, और कहीं पर उसके विरुद्ध धर्म की विशेषता की परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिलती हैं। कहीं दया और अहिंसा की महिमा गायी गई है, तो कहीं दुष्टों को दण्ड देना, युद्ध में शत्रुओं को मारना और यज्ञ में पशुओं का वध करना

परम धर्म माना गया है। कहीं सत्य के बराबर दूसरा कोई धर्म ही नहीं माना है, तो दूसरे स्थल पर छलियों और दुराचारियों के साथ छल करना न्यायसंगत माना है। कहीं दान का बड़ा माहात्म्य गाया गया है, तो कहीं दान देने से दुर्गति बताई है। कहीं पर प्राणी मात्र के साथ मैत्री-भाव रखने को कहा गया है, तो कहीं पर शठ—दुर्जनों के साथ उनके योग्य ही शठता आदि का वर्ताव करने की व्यवस्था दी गई है। कहीं पर आबाल-ब्रह्मचर्य का अखण्ड व्रत पालन करने की बहुत बड़ाई की गई है, तो कहीं पर संतान पैदा न करने वालों के लिए नरक में पड़ना अनिवार्य बताया गया है। कहीं पर माता-पिता की भक्ति की महिमा गाई है, तो कहीं पर उनके प्रतिकूल आचरण करने वालों की बड़ी प्रशंसा की गई है। किसी जगह भ्रातृ-स्नेह को बहुत सराहा है, तो किसी जगह भ्रातृ-द्रोहियों का बड़ा आदर किया गया है। इस तरह अनन्त प्रकार के भ्रम उत्पन्न करने वाले परस्पर विरोधी वाक्य भेद-वाद के शास्त्रों में पाये जाते हैं; और ज्यों-ज्यों अधिक छानबीन की जाती है, त्यों-त्यों उलझनें बढ़ती जाती हैं, जिनसे मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त विक्षिप्त हो जाती है और एक निश्चय पर पहुँचना असम्भव हो जाता है। इस महान् उलझन से पार होकर एक निश्चय पर पहुँचने का एकमात्र उपाय, बुद्धि को सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करना है, अर्थात् सदा यही विचार करते रहना कि एक ही आत्मा सब चराचर भूत-प्राणियों में समान भाव से व्यापक है, उससे भिन्न कुछ नहीं है, जो छोटे से छोटे जन्तु में है वही बड़ी से बड़ी देह में है, जो एक तृण में है वही ब्रह्माण्ड में है, जो मुझमें है वही दूसरों में है; इस तरह से अभ्यास करते-करते बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में जुड़कर निश्चल हो जाती है, तब वह भेद-वाद की उलझनों वाले शास्त्रों के वाक्यों से विचलित नहीं होती, क्योंकि उन शास्त्रों का उस पर कोई प्रभाव नहीं रहता, और तब सब समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं, और तब उस आत्मज्ञानी पुरुष के सभी व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से होने लग जाते हैं, जिनसे किसी प्रकार का क्लेश अथवा बन्धन नहीं होता, किन्तु सदा-सर्वदा आनन्द का साम्राज्य रहता है।

× × ×

समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने के इतने महत्त्व और इतनी आवश्यकता के वचन सुन कर यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती है कि उस समत्व-योग का स्वरूप और उसकी विधि क्या है? और जिसकी बुद्धि साम्य-भाव में स्थित हो जाती है, उस पुरुष के क्या लक्षण होते हैं, और उसके आचरण कैसे होते हैं? इसीका खुलासा करवाने के लिए अर्जुन का प्रश्न अगले श्लोक में है, जिसके उत्तर में भगवान् उसका खुलासा करते हैं।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे केशव ! साम्य-भाव में जिसकी बुद्धि स्थित (हो जाती) है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है ? और उस अविचल-बुद्धि वाले पुरुष की बोल-चाल, रहन-सहन (एवं) हलचल कैसी होती है ※ (५४) ? भगवान् ने कहा कि हे पार्थ ! जब (मनुष्य) व्यक्तिगत स्वार्थ की सब कामनाओं के सङ्कल्प मन से त्याग देता है, और अपने आप ही में सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-बुद्धि वाला व्यक्ति सब भूतों को अपने में और अपने को सब भूतों में अनुभव करता है, अपने से भिन्न कोई पदार्थ उसकी दृष्टि में नहीं रहता, इसलिए दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व का भाव और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाएँ उसके मन में शेष नहीं रहतीं—वह अपने आप में ही परिपूर्ण रहता है (५५)। दुःखों से जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुख के लिए जो लालायित नहीं होता, और जो राग, भय एवं

※ यहाँ पर "समाधि" शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह दूसरी टीकाओं से कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। दूसरी कई टीकाओं में इस शब्द का अर्थ "योग की समाधि अवस्था" किया गया है, परन्तु योग की समाधि में बोलना, चलना आदि सब व्यवहार बन्द रहते हैं, इसलिए अर्जुन का यह प्रश्न ही नहीं बन सकता था; और भगवान् ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है—"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" तथा "यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्" आदि—वह भी योग की समाधि अवस्था पर नहीं घट सकता, क्योंकि उस अवस्था में सुख-दुःख और भले-बुरे आदि की प्राप्ति ही नहीं होती। इसी अध्याय के ४४ वें श्लोक में "समाधि" शब्द आया है, वहां कई टीकाकारों ने उसका अर्थ "आत्माकार-वृत्ति" किया है, और आत्मा सम है, इसलिए इसका अर्थ "साम्य-भाव" ही उचित है।

क्रोध से ऊपर है, ऐसा ज्ञानी पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (५६)। जिसकी किसी भी पदार्थ में स्नेह की आसक्ति नहीं रहती, शुभ अर्थात् अनुकूल की प्राप्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, और अशुभ अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति में जिसको विषाद नहीं होता, उसकी बुद्धि (साम्य-भाव में) ठहरी हुई है (५७)। और जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से अपने अन्दर सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सब ओर से इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयों से समेट कर अपने अन्दर (अन्तर्मुख) कर ले, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए) (५८)। विषय तो निराहारी पुरुष के भी छूट जाते हैं, परन्तु उनका रस अर्थात् चाह नहीं छूटती; परमात्मा के दर्शन होने पर अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव होने पर उनकी चाह भी निवृत्त हो जाती है (५९)। हे कौन्तेय ! ये इन्द्रियाँ ऐसी प्रबल हैं कि प्रयत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी बलात्कार से खींच लेती हैं (६०)। इसलिए मेरे परायण होकर, उन सबको वश में करके, युक्त अर्थात् साम्य-भाव में स्थित होना चाहिए; जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है (६१)। विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य का उनमें संग अर्थात् आसक्ति हो जाती है; संग से (उक्त विषयों की प्राप्ति की) कामना उत्पन्न होती है, कामना से (प्राप्ति में बाधा पड़ने पर, अथवा विषयों का वियोग होने से, अथवा विषयों से तृप्ति न होने से, अथवा उनका दुष्परिणाम होने से) क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोध से संमोह अर्थात् किंकर्तव्य-विमूढ़ता होती है; संमोह से स्मृति बिगड़ जाती है, अर्थात् पूर्व अनुभव की यथार्थ स्मृति नहीं रहती; स्मृति के बिगड़ने से बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है; और विचार-शक्ति के नष्ट हो जाने से सर्वनाश हो जाता है (६२-६३)। परन्तु जिसका मन आत्मा यानी अपने आप में स्थित है, वह पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर अपने आधीन की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्न रहता है (६४)। चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःखों का अभाव हो जाता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती है (६५)। समत्व-योग से रहित पुरुष की बुद्धि (निश्चयात्मक) नहीं होती, और न समत्व-योग रहित पुरुष में भावना अर्थात् आत्मज्ञान में श्रद्धा ही होती है; श्रद्धा-विहीन पुरुष को शान्ति नहीं होती और अशान्त को सुख कहां ? अर्थात् जिसके मन में संशय और विक्षेप बने रहते हैं वह सुखी नहीं हो सकता (६६)। क्योंकि जो मन, विषयों में वर्तनेवाली इन्द्रियों के पीछे लगा रहता है, वह मनुष्य की बुद्धि को उसी प्रकार डाँवाडोल कर देता है, जिस प्रकार हवा नाव को पानी में (डाँवाडोल कर देती है) (६७)। इसलिए हे महाबाहु ! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार विषयों से निग्रह की हुई, अर्थात् अपने वश में की हुई हैं, उसीकी बुद्धि निश्चल होती है (६८)।

स्पष्टीकरण—सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में जिसकी बुद्धि स्थित हो जाती है, उस स्थितप्रज्ञ का सबसे पहला चिन्ह भगवान् यह बताते हैं कि वह अपने आपमें परिपूर्ण होता है, अपने से भिन्न किसी पदार्थ की प्राप्ति का उसके मन में सङ्कल्प नहीं उठता, क्योंकि वह सबको "अपने आप" में और "अपने आप" को सबमें अनुभव करता है (गी० अ० ६ श्लोक २९-३०)। इसलिए अपने से भिन्न कोई अप्राप्त वस्तु उसकी दृष्टि में नहीं रहती, अतः वह पूर्ण सन्तुष्ट रहता है। यह बात साधारण लोगों में भी प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जिसको जितने पदार्थों के साथ अपनी एकता का ज्ञान होता है, अर्थात् जो व्यक्ति जितने पदार्थ अपने मानता है, उनकी प्राप्ति की उसे आकांक्षा नहीं रहती। उस विषय में उस हद तक वह अपने को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट रहता है। जिस व्यक्ति के पास प्रचुर सम्पत्ति, पर्याप्त शक्ति और अनुकूल परिवार होता है, वह उस हद तक अपने को पूर्ण मानता है, और उन प्राप्त पदार्थों के विषय में उसकी इच्छा शान्त हो जाती है। उसी तरह आत्मज्ञानी को अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाने के कारण वह जगत् के सब पदार्थों को अपने समझता है, अतः उसको किसी पदार्थ की प्राप्ति की लालसा नहीं रहती। उसकी पूर्णता असीम होती है, किसी भी विषय में वह अपूर्ण नहीं रहता।

सुख-दुःख, अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व आत्म-ज्ञानी को विचलित नहीं करते, क्योंकि उसकी दृष्टि में उनका पृथक् अस्तित्व नहीं होता। प्रत्येक द्वन्द्व के दोनों भाग अन्योन्याश्रित होते हैं, जितनी मात्रा में एक का अस्तित्व होता है, उतनी ही मात्रा में उसके जोड़े के विरोधी भाव का अस्तित्व होता है। आत्मज्ञानी का सर्वात्म-भाव होने के कारण उसकी दृष्टि में दोनों सम होकर शान्त हो जाते हैं, इसलिए किसी एक का भी प्रभाव उसके मन पर नहीं पड़ता और किसीमें भी उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं रहती, न किसीसे राग-द्वेष ही होता है। द्वैत-भाव मिट जाने के कारण उसके चित्त में भय, शोक आदि विविध विकारों के उत्पन्न होने के लिए भी कोई कारण नहीं रहता।

विषयों में आत्मज्ञानी की आसक्ति नहीं रहती, इसलिए उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख नहीं होतीं अर्थात् अपने काबू से बाहर नहीं होतीं। इससे कोई यह न समझे कि स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियों का विषयों में व्यवहार ही सर्वथा बन्द हो जाता है। गीता में भगवान् व्यावहारिक वेदान्त का उपदेश दे रहे हैं, और यहां पर व्यावहारिक वेदान्त का आचरण करने वाले स्थितप्रज्ञ (समत्वयोगी) के लक्षण एवं आचरण (बोलना-चलना आदि) बता रहे हैं, और आचरण सब इन्द्रियों से ही होते हैं। यदि स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियाँ

बिलकुल निकम्मी हो जायँ—कुछ करें ही नहीं—तो वह आचरण करे ही किनसे? यदि आँखों से देखना, कानों से सुनना, वाणी से बोलना, मुख से खाना, हाथों से काम करना, पैरों से चलना आदि बन्द कर दे, तो शरीर का व्यवहार हो ही कैसे? इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा की अपरा प्रकृति है (गी० अ० ७ श्लोक ४), इसलिए विषयों की सर्वथा निवृत्ति का प्रयत्न अप्राकृतिक है। शरीर के रहते इन्द्रियों के विषय छूट नहीं सकते। जो लोग निराहार व्रत आदि—शरीर को कृश करने वाली—कठिन तपस्याओं से इन्द्रियों को शिथिल करके विषयों से निवृत्त होने का प्रयत्न करते हैं, वह उनका मिथ्याचार अर्थात् दम्भ है (गी० अ० ३ श्लोक ६); क्योंकि इस तरह के इन्द्रिय-निरोध से उन लोगों की विषयों में सुख-बुद्धि नहीं मिटती, अतः उनकी चाह मन में बनी रहती है। जब अवसर पाकर इन्द्रियाँ काबू से बाहर हो जाती हैं, तब अनियन्त्रित रूप से विषयों में उलझ जाती हैं जिससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। जैसे जबर्दस्ती रोका हुआ पानी का बहाव जब बाँध तोड़ कर अनियन्त्रित रूप से बह निकलता है, तब बड़े-बड़े उपद्रव करता है; उसी तरह अस्वाभाविक रूप से रोकी हुई इन्द्रियाँ निरङ्कुश होने पर उपद्रव करती हैं और फिर वश में नहीं हो सकतीं। बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् लोगों के मन को भी जब इन्द्रियों के स्वाभाविक वेग हठात् बहा ले जाते हैं, तो साधारण लोगों की इन्द्रियाँ हठ से अथवा दुराग्रह से कैसे रोकी जा सकती हैं? क्योंकि साधारण लोगों का चित्त रात-दिन बाह्य विषयों में ही संलग्न रहता है—कभी उनकी किसी विषय में प्रीति होती है और कभी किसीमें; जिससे उनका मन राग-द्वेष में आसक्त रहता है, बुद्धि विक्षिप्त रहती है—कभी एक निश्चय पर नहीं ठहरती; और अन्तःकरण के सदा संशय-ग्रस्त बने रहने के कारण उसमें स्थायी प्रसन्नता और शान्ति नहीं होती। परन्तु समत्वयोगी इन्द्रिय-संयम के लिए इस तरह हठ नहीं करता। उसकी विषय-निवृत्ति निराले ही ढङ्ग की होती है। वह इन्द्रिय-निग्रह के लिए न तो शरीर को कष्ट देता है, और न इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा हटा लेने अर्थात् इन्द्रियों के व्यवहार ही बन्द करने की अस्वाभाविक चेष्टा करता है। ऐसा करने की आवश्यकता ही वह नहीं समझता; क्योंकि वह जानता है कि इन्द्रियाँ और उनके विषय, सब आत्मा अर्थात् अपने आपके ही खिलवाड़ हैं—अपने से भिन्न कुछ नहीं है। अपने ही संकल्प से इन्द्रियाँ और उनके विषयों की सृष्टि होती है। एक तरफ मन का संकल्प व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होता है और दूसरी तरफ समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है। मन का सङ्कल्प एक तरफ तेजात्मक होकर नेत्र-रूप से देखता है और दूसरी तरफ दृश्य-रूप बनता है—देखना और दृश्य दोनों ही तेज के गुण हैं। मन का सङ्कल्प एक तरफ आकाशात्मक होकर श्रोत्र-रूप से शब्द सुनता है और दूसरी तरफ शब्द-रूप

बनता है— शब्द और सुनने की क्रिया दोनों ही आकाश के गुण हैं। इसी तरह सभी इन्द्रियों और उनके विषयों की एकता है। मन ही समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है और वही व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होकर उन्हें भोगता है। भोक्ता-भोग्य दोनों एक हैं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब मन इन्द्रियों के साथ रहता है तभी इन्द्रियों को विषय-रस का भान होता है, यदि मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी उनका भान नहीं होता। आँखों के सामने कितने ही प्रकार के दृश्य आवें, कानों के पास कितने ही शब्द होते रहें, जीभ कितने ही रसों को चखती रहे, नाक में कितनी ही तेज गन्ध आती रहे, स्पर्श-इन्द्रिय कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श करती रहे, परन्तु मन की अनुपस्थिति में किसी भी इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि न तो इन्द्रियों में स्वयं विषय भोगने की योग्यता है और न विषयों में अपना निज का कोई रस ही है। मन की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार ही विषय अच्छे-बुरे प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि विचार कर देखा जाय तो केवल इन्द्रियाँ ही विषयों को नहीं भोगतीं, किन्तु विषय भी इन्द्रियों को भोगते हैं; और इन्द्रियाँ विषयों को जितना भोगती हैं, उतना ही विषय भी इन्द्रियों को भोगते हैं। यह नियम है कि जो जिसको जितना भोगता है, उतना ही वह स्वयं भोगा जाता है—क्रिया की प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। सभी पदार्थ एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ५)। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों और उनके विषयों में वास्तव में कोई भेद नहीं है—वे एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। इसलिए आत्मज्ञानी की दृष्टि में विषयों के त्याग और भोग का प्रश्न कोई तथ्य नहीं रखता। जिस तरह एक पिता के बालक, पिता की उपस्थिति में आपस में खेलते हैं तो उनके खेलने से पिता के चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं होता, वह उनको खेलने से मना नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि खेलना बालकों का स्वभाव है, और उनके लिए खेलना आवश्यक भी है, बालक यदि न खेलें तो उनको हानि होती है; अतः वह उनके खेलने में वात्सल्य भाव से प्रसन्नतापूर्वक सहायक होता है। परन्तु साथ ही वह उनको यह स्वतन्त्रता नहीं दे देता कि खेल में वे इतने आसक्त हो जायँ कि दिन-रात उसीमें लगे रहें, अथवा इस तरह का कोई खेल खेलें कि जिसका दुष्परिणाम हो, और वर्तमान में अथवा भविष्य में कोई हानि पहुँचे, अथवा आपस में विरोध उत्पन्न हो, अथवा उनके खेल से अन्य लोगों को पीड़ा या असुविधा हो। इसी तरह स्थितप्रज्ञ, इन्द्रियों और उनके विषयों को अपनी ही रचना समझता है, और बच्चों के खेल की तरह उनका पारस्परिक व्यवहार स्वाभाविक एवं आवश्यक जानता हुआ उसमें रुकावट नहीं डालता। इन्द्रियों का विषयों में वर्तना स्वाभाविक धर्म है और अपने धर्म के

अनुसार वर्तना सबके लिए श्रेयस्कर होता है (गी० अ० ३ श्लो० ३३ से ३५)। अस्वाभाविक इन्द्रिय-निरोध से आत्मा के सगुण रूप इस संसार के खेल में विशृङ्खलता आती है, क्योंकि इसके सभी अंग अपना-अपना पार्ट यथायोग्य बजावें, यानी अपने-अपने धर्मों का ठीक-ठीक आचरण करें, तभी यह सुव्यवस्थित रूप से चलता है। परन्तु उनका आचरण ऐसा न होना चाहिए कि जिससे परस्पर में विरोध अर्थात् विषमता उत्पन्न हो, अथवा दूसरों को अपने धर्म पालन करने में बाधा पहुँचे, अथवा भविष्य में उसका दुष्परिणाम हो, अथवा खेल में अव्यवस्था आ जाय। इसलिए स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को उनके विषय भोगने में स्वतन्त्र अर्थात् निरंकुश नहीं कर देता, किन्तु उन्हें अपने आधीन रख कर उनसे इस तरह आचरण करवाता है कि जिससे किसी प्रकार का अनर्थ न हो। इन्द्रियों को मन के आधीन, मन को बुद्धि का अनुगामी और बुद्धि को आत्मनिष्ठ रखते हुए, वह राग-द्वेष रहित होकर प्रसन्न चित्त से लोक-संग्रह के लिए विषयों में वर्तता है। यदि इन्द्रियाँ मन के आधीन न रह कर उलटा मन इन्द्रियों का अनुगामी हो जाय, तो वे दोनों बुद्धि को आत्म-विमुख कर दें। और जिस तरह रथ के घोड़े स्वामीभक्त सारथी की लगाम में चलते हैं तभी रथ की यात्रा ठीक-ठीक होती रहती है; उसी तरह स्थितप्रज्ञ के शरीर-रूपी रथ के इन्द्रिय-रूपी घोड़े आत्मनिष्ठ बुद्धि-रूपी सारथी की मन-रूपी लगाम में चलते हैं, जिससे उसके व्यवहार यथार्थ होते हैं। स्थितप्रज्ञ की शरीर-यात्रा अज्ञानी लोगों की तरह व्यष्टि-भाव से नहीं होती, किन्तु सबके हित के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होती है। इसलिए इन्द्रियों के व्यवहारों में उसे कोई व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ अर्थात् विषय-भोग की आसक्ति नहीं रहती, किन्तु संसार-चक्र को यथावत् चलाने अर्थात् लोक-संग्रह के लिए ही वह सब प्रकार से वर्तता है (गी० अ० ३ श्लो० ६ से ३०)। यद्यपि वह देखना, सूँघना, सुनना, स्पर्श करना, खाना, चलना, सोना, जागना, बोलना, लेना, देना आदि सभी प्रकार के व्यवहार करता है, परन्तु अन्य लोगों की तरह वह केवल अपनी भोग-इच्छा से उन्हें नहीं करता, किन्तु लोक-संग्रह के लिए ही उसके सब व्यवहार होते हैं। अतः इन्द्रियों का उनके विषयों में वर्तने का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु गुण ही गुणों में वर्तते हैं, यही भाव उसके चित्त में रहता है। इसलिए वह सदा मुक्त और प्रकृति का स्वामी होता है (गी० अ० ५ श्लो० ७ से २१)।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६६॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो सब भूत-प्राणियों की रात होती है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है, और जिसमें सब भूत-प्राणी जागते हैं, ज्ञानवान् पुरुष उसे रात देखता है। तात्पर्य यह कि जिस तरह निशाचरों की आँखें सूर्य के प्रकाश को सहन नहीं कर सकतीं, इसलिए वे दिन में काम नहीं कर सकते, किन्तु रात के समय उन्हें प्रकाश दीखने के कारण वे रात ही में सब व्यवहार करते हैं; उसी तरह भौतिकता में आसक्त, स्थूल इन्द्रियों ही के ज्ञान को सत्य मानने वाले अज्ञानी लोगों की बुद्धि, सूक्ष्म आत्मज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए आत्म-ज्ञानियों के साम्य-भावयुक्त व्यवहारों के रहस्य को वे समझ नहीं सकते—अपने अविद्या-अन्धकार में किये हुए व्यवहारों ही को वे ठीक मानते हैं; परन्तु आत्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ जानता है कि वे लोग अविद्या-अन्धकार से ग्रसित हैं (६९)। जिस तरह सदा परिपूर्ण—भरे हुए तथा अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में चारों ओर से पानी आने पर भी वह अपनी मर्यादा से अविचल रहता है, उसी तरह सब कामनाओं (विषयों) के प्राप्त होने पर भी जो पुरुष अविचल रहता है, केवल उसे ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है—कामनाओं की चाह रखने वाले को नहीं (७०)। जो पुरुष सब कामनाओं से रहित होकर एवं व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की लालसा को छोड़ कर वर्तता है, अर्थात् जगत् के व्यवहार करता है, उसे ही शान्ति मिलती है (७१)। हे पार्थ! यही ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मभाव की स्थिति है, इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोह में नहीं फँसता; और अन्त-काल में भी इसमें स्थित होकर ब्रह्म-निर्वाण-पद को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि स्थितप्रज्ञ केवल जीवन-काल ही में व्यष्टि (जीव) भाव से रहित नहीं होता, किन्तु सदा के लिए व्यष्टि (जीव) भाव से रहित होकर ब्रह्म-रूप हो जाता है (७२)।

स्पष्टीकरण—जगत् के भौतिक नानात्व को सत्य मान कर उसमें उलझे हुए भेदवादी लोगों की राजसी-तामसी समझ (गी० अ० १८ श्लो० २१-२२)

समत्वयोगी के सर्वभूतात्मैक्य सात्विक ज्ञान (गी० अ० १८ श्लो० २०) को ग्रहण नहीं कर सकती। यह बात उनकी स्थूल बुद्धि में बैठ ही नहीं सकती कि एक, सत्य और अव्यक्त आत्मा में अनेक, मिथ्या और व्यक्त भाव किस तरह हो सकते हैं; और जो पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से अलग-अलग दीख रहे हैं, वे वस्तुतः एक कैसे हो सकते हैं, और जगत् की इतनी भिन्नता में एकता का व्यवहार कैसे बन सकता है? इन्द्रियों के विषयों में ही आसक्त रहने वाले उन अज्ञानी लोगों को, विषय-सुख की प्राप्ति अपने आप से बाहर ही होने का विश्वास रहता है, अतः वे सदा परावलम्बी और दीन बने रहते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा विषयों के साधन आदि अनेक प्रकार की पराधीनताओं में वे जकड़े रहते हैं, और संसार के प्रायः सभी व्यवहारों में अपनी परवशता का सदा अनुभव करते हैं; इसलिए समत्वयोगी के अपनी प्रकृति के स्वामी-भाव से स्वाधीनतापूर्वक किये हुए सात्विक आचरणों के रहस्य को वे समझ नहीं सकते, क्योंकि वे उसको भी अपने जैसा ही एक तुच्छ व्यक्ति मानते हैं। अतः उसके परमात्म-भाव को वे सहन नहीं कर सकते और उसके साथ द्वेष करते हैं। स्थितप्रज्ञ जिन व्यवहारों को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से लोगों के लिए कल्याणकर समझता है, उनको वे तामसी बुद्धि के लोग अधर्म मानते हैं (गी० अ० १८ श्लो० ३२)। स्थितप्रज्ञ अपनी सात्विकी बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३०) से निर्णय करके कभी सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा आदि सात्विक भावों के विपरीत आचरण करना लोक-हितकर समझता है, और कभी काम, क्रोध आदि राजसी-तामसी भावों को वर्तना उचित समझता है, क्योंकि वह तीनों भावों का स्वामी होता है, अतः आवश्यकतानुसार यथायोग्य उनके सदुपयोग द्वारा लोक-हित करता है; परन्तु तत्त्वज्ञान-शून्य मूढ़ लोग उसके उक्त आचरणों का विरोध करते हैं। उनमें यह समझने की योग्यता नहीं होती कि व्यक्तित्व के भाव से किये जाने पर सात्विक गुणों का भी दुरुपयोग होकर वे हानिकर हो जाते हैं; और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से करने पर राजस-तामस भावों का भी सदुपयोग होकर वे हितकर हो जाते हैं। वे केवल उसके आचरणों के बाह्य रूप से ही उनके अच्छे-बुरे पन का निर्णय कर लेते हैं। जिस बात को तत्त्वज्ञानी ग्राह्य समझता है, उसे अज्ञानी लोग हेय मानते हैं; और जिसको तत्त्वज्ञानी हेय मानता है, उसे वे ग्राह्य समझते हैं। संसार में अधिक संख्या अज्ञानियों की होती है, ज्ञानी कोई विरला ही होता है (गी० अ० ७ श्लो० ३ और १९)। यद्यपि लिखे-पढ़े लोगों की जगत् में काफ़ी संख्या है, शास्त्रों के ज्ञाता भी बहुत से हैं, जप, तप, दान, पूजा, पाठ, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रोक्त

क्रियाएँ करने वालों की भी कमी नहीं है, और ज्ञान की बातें बनाने वाले भी अनेक हैं; परन्तु सर्वभूतात्मैक्य व्यावहारिक ज्ञान के बिना उन विद्वानों और शुभ कर्म करने वालों को भी कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ बोध नहीं होता (गी० अ० ४ श्लो० १६)। वे लोग भी स्थितप्रज्ञ के "एक में अनेक और अनेकों में एक" के ज्ञान (गी० अ० ४ श्लो० १८) युक्त आचरणों के रहस्य को नहीं जान सकते, और अपनी उलटी समझ के अनुसार उस पर आक्षेप करते रहते हैं। स्थितप्रज्ञ के उपरोक्त इन्द्रिय-संयम को वे उसकी विषय-लंपटता बताते हैं। यदि वह भेद-वाद के शास्त्रों की मर्यादाओं और लौकिक रूढ़ियों पर कट्टरता न रख कर, सबके साथ समता का व्यवहार करता है, तो वे लोग उसको अधर्मी कहते हैं; और यदि वह धार्मिक कर्मकाण्ड की क्रियाओं की उपेक्षा करता है, तो वे उसे नास्तिक मानते हैं; उसका सत्य आचरण उनकी दृष्टि में मिथ्याचार और पाखण्ड होता है। तात्पर्य यह कि वे अपनी पृथक्ता की बुद्धि ही से काम लेते हैं, सबकी एकता के साम्य-भाव तक उनकी बुद्धि पहुँचती ही नहीं; इसलिए स्थितप्रज्ञ के आचरणों के विषय में वे अँधेरे ही में रहते हैं। परन्तु स्थितप्रज्ञ उन भौतिक दृष्टि के लोगों के भेद-भावयुक्त राजसी-तामसी व्यवहारों को अन्धकार-रूप अविद्या का कार्य समझता है, अतः वह उन लोगों के आचरणों की उपेक्षा करता है; और उनके विरोध, निन्दा अथवा अपमान आदि से कभी विचलित नहीं होता। उसकी स्थिति उन सबसे ऊपर रहती है (गी० अ० ६ श्लो० ४६)।

यद्यपि संसार के सभी पदार्थ स्थितप्रज्ञ के सम्मुख सदा उपस्थित रहते हैं; परन्तु जिस तरह वर्षा ऋतु में नदियों का अनन्त जल, वेग से समुद्र में जाने पर भी समुद्र अपनी अखण्ड मर्यादा में एक समान स्थित रहता है—उसमें घटा-बढ़ी नहीं होती; उसी तरह पदार्थों के आते रहने पर भी स्थितप्रज्ञ के मन में उनका कोई हर्ष या प्रमाद नहीं होता, किन्तु वह निश्चल और निर्विकार बना रहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में सब पदार्थों का अपार एवं अक्षय भण्डार तो वह आप होता है—पदार्थों की स्थिति के लिए उसके आपके सिवाय दूसरा कोई स्थान ही नहीं होता। जिस तरह नदियों का जल समुद्र से ही उठता और पीछा समुद्र में ही प्रविष्ट होता है; उसी तरह सभी पदार्थ आत्मज्ञानी के सङ्कल्प से ही उत्पन्न होते हैं, उसीमें रहते हैं और उसीमें लय होते हैं—उससे भिन्न कुछ भी नहीं होता। और स्थितप्रज्ञ को किसी भी वस्तु की बाहर से प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती, अतः उसका आचरण

व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होता है। शरीर के रहते और उसको छोड़ते समय भी उसकी यही आत्मनिष्ठ ब्राह्मी स्थिति निरन्तर बनी रहती है। जगत् के किसी भी पदार्थ और व्यवहार के विषय में वह मोहित नहीं होता। इसी ब्राह्मी स्थिति में वह सब प्रकार के व्यवहार करता है, और उस पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

तीसरा अध्याय

गीता का प्रतिपाद्य विषय—अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबकी एकता की साम्य-बुद्धि से करने का विधान—जो संक्षेप में सूत्र रूप से भगवान् ने दूसरे अध्याय में कहा है, उसको अच्छी तरह समझाने के लिए उसीकी विस्तृत व्याख्या शेष सोलह अध्यायों में विविध प्रकार से की गई है। उक्त व्याख्या का प्रारम्भ करने के लिए, इस तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन के प्रश्न-रूप से पूर्व-पक्ष उठाया गया है। जिसके उत्तर में भगवान् पहले उक्त साम्य-भावयुक्त जगत् के व्यवहार करने-रूपी यज्ञ की अवश्य-कर्तव्यता का निरूपण करते हैं।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन ! यदि आपके मत में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो आप मुझे इस (युद्ध के) घोर (हिंसात्मक) कर्म में क्यों लगाते हो (१)? मिले हुए से (द्विविध) वचनों से आप मेरी बुद्धि को मोहित करते हो—ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है; इसलिए निश्चय करके वह एक ही मार्ग या विधि बताइए कि जिससे मुझे श्रेय की प्राप्ति हो (२)।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि हे अनघ ! मैंने पहले इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा (स्थिति) कही—सांख्यों (तत्त्वज्ञानियों) की ज्ञान-योग (आत्मज्ञान) के अवलम्बन-युक्त, और (समत्व) योगियों की कर्म-योग के अवलम्बन-युक्त (३)। कर्म का आरम्भ न करने ही से मनुष्य निष्कर्मी नहीं हो जाता; और न संन्यास ले लेने ही से सिद्धि मिलती है (श्रेय-साधन होता है) (४)। क्योंकि कर्म किये बिना क्षण भर भी कभी कोई रह नहीं सकता; प्राकृतिक अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से विवश होकर सबको (सदा कुछ-न-कुछ) कर्म करना ही पड़ता है (५)। जो मूर्ख कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) को रोक कर, मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता हुआ बैठा रहता है, वह मिथ्याचारी (दम्भी) कहा जाता है (६)। परन्तु हे अर्जुन ! जो इन्द्रियों का मन से नियन्त्रण करके अनासक्त बुद्धि से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म-योग का आरम्भ करता है, अर्थात् सबकी एकता के साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करता है—वही श्रेष्ठ है (७)। तू (अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार) नियत कर्म*, अर्थात् अपने कर्तव्य-कर्म कर; कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं हो सकेगी, अर्थात् कर्म किये बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता (८)। यज्ञ के लिए, अर्थात् संसार-चक्र को अच्छी तरह चलाने में सहयोग देने के लिए किये जाने वाले कर्तव्य-कर्मों के अतिरिक्त, (केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए) जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही ये लोक बँधते हैं। तू सङ्ग रहित होकर अर्थात् दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर, उपरोक्त यज्ञ के लिए कर्म करता रह (९)। आरम्भ में (सृष्टि-रचना के अधिदेव, समष्टि-सङ्कल्परूप) प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ सहित, अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म—जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था, भलाई एवं उन्नति रूप लोक-संग्रह के लिए—करने के विधान सहित, प्रजा को रच कर (उससे) कहा कि इस

---

* अपने शरीर के स्वाभाविक गुणों के अनुसार जिन कर्मों के करने की योग्यता हो, वे ही अपने लिए नियत कर्म हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिन स्वाभाविक गुणों के साथ शरीर उत्पन्न होता है, वे ही सदा बने रहें। मनुष्य-शरीर में शिक्षा, सङ्ग और अनुभव आदि के प्रभाव से अपने स्वभाव (प्रकृति) को बदलने की भी योग्यता होती है। इसलिए जिस अवस्था में जिसके जो स्वाभाविक गुण हों, उन्हींके अनुसार उसके नियत कर्म होते हैं।

यज्ञ-चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे अर्थात् तुम इससे फलो फूलो; वह यज्ञ-चक्र तुम्हारे इच्छित पदार्थों को देने वाला (कामधेनु) होवे। तात्पर्य यह कि संसार स्वभाव से ही यज्ञमय है और यज्ञ पर ही निर्भर है, अर्थात् सब कोई अपने-अपने कर्तव्य पालन करके एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करें तभी वह सुख-समृद्धि-सम्पन्न रह सकता है (१०)। तुम इस (यज्ञ) से देवताओं को पुष्ट करो और वे देवता तुम्हें पुष्ट करें; इस तरह आपस में एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त होवोगे। तात्पर्य यह कि संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने के योग से, जगत् को धारण एवं सञ्चालन करने वाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पुष्ट (पूरित) होती हैं, और उन समष्टि शक्तियों के पुष्ट होने से ही प्रत्येक व्यक्ति की सब प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इस तरह आपस में एक दूसरे के उपकार अथवा सेवा करते रहने से सबका कल्याण होता है (११)। यज्ञ से पुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे; परन्तु उन (देवताओं) का दिया हुआ पीछा उन्हें दिये बिना, जो व्यक्ति (सब भोग्य पदार्थ) केवल आप ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जगत् को धारण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पोषित होती हैं, तब उनसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संसार के सभी भोग्य पदार्थ सबकी सम्मिलित शक्ति के योग से उत्पन्न होते हैं; परन्तु जो व्यक्ति उन सार्वजनिक पदार्थों से केवल अपनी ही व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करके दूसरों को उनसे वञ्चित रखता है, वह सबकी चोरी करता है (१२)। यज्ञ से बचे हुए भाग को भोगने वाले सज्जन पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं वे पापी पाप को भोगते हैं। तात्पर्य यह कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जो पदार्थ प्राप्त हों, उनसे दूसरों की आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करते हुए जो सज्जन अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें भोगते हैं, वे पाप के भागी नहीं होते; परन्तु जो दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं, वे पाप कमाते हैं (१३)। अन्न* अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत-प्राणी होते हैं; पर्जन्य* अर्थात् समष्टि उत्पादक शक्ति से अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ होते हैं; यज्ञ * से समष्टि

---

* प्रायः दूसरी टीकाओं में "अन्न" शब्द का अर्थ वर्षा से उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थ, और "पर्जन्य" शब्द का अर्थ मेघ अथवा वर्षा, तथा "यज्ञ" शब्द का अर्थ अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्ड, किये गये हैं; परन्तु ये अर्थ बहुत ही संकुचित

उत्पादक शक्ति होती है; और यज्ञ, कर्म से अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है (१४)। कर्म को प्रकृति-रूप ब्रह्म से, और प्रकृति को अत्तर अर्थात् समष्टि-आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान; इसलिए सर्वव्यापक प्रकृति-रूप ब्रह्म सदा ही यज्ञ में अर्थात् संसार-चक्र को चलाने में स्थित है। (१५) इस तरह, (जगत् के धारणार्थ) प्रवृत्त किये हुए यज्ञ-चक्र के अनुसार जो इस जगत् में नहीं वर्तता, उसकी आयु पाप-रूप है और उस इन्द्रिय-लम्पट का जीना व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति इस संसार के खेल में, अपने व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत स्वार्थों की सबके साथ एकता करके अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होकर संसार-चक्र को चलाने में योग नहीं देता, किन्तु केवल अपने व्यक्तिगत विषय-भोगों के लिए ही उद्योग करता रहता है, उसका जीना निरर्थक है (१६)। परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा ही में रत, और आत्मा ही में तृप्त एवं आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् जिसको सर्वत्र एक आत्मा यानी एकत्व-भाव का अनुभव हो जाता है, उसके लिए (कोई) कार्य (अवश्य-कर्तव्य) नहीं रहता। न तो संसार में कुछ करने से ही उसका कोई प्रयोजन होता है और न नहीं करने से ही; तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों से उसका व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता। तात्पर्य यह कि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसको परवशता से कुछ भी करना नहीं पड़ता, किन्तु वह इस जगत्रूपी अपने खेल के लिए स्वतन्त्रता से लोक-हित के व्यवहार करता है। उसके व्यवहारों में कर्मरूपता नहीं रहती, क्योंकि उसको अपने व्यक्तित्व के लिए कुछ भी करना अथवा न करना शेष नहीं रह जाता, और अपने से भिन्न कर्ता, कर्म, क्रिया आदि के भाव भी उसमें नहीं रहते (१७-१८)।

हैं। क्योंकि सारे भूत-प्राणी केवल वृष्टि-जन्य अन्न से ही नहीं होते, किन्तु अनेक प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि अथवा वायु से ही होते एवं उन पर निर्भर रहते हैं। जगत् में सभी पदार्थ परस्पर में भोक्ता-भोग्य अर्थात् एक दूसरे की खुराक हैं। वर्षा का होना भी केवल अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्डों पर ही निर्भर नहीं है। जिन देशों में ये कर्मकाण्ड नहीं होते वहाँ भी वर्षा बहुतायत से होती है। इसलिए "अन्न" शब्द का व्यापक अर्थ "सभी भोग्य पदार्थ"—चाहे वे वर्षा से उत्पन्न हों या और तरह से, तथा "पर्जन्य" शब्द का व्यापक अर्थ "समष्टि उत्पादक शक्ति"—चाहे वह वर्षा रूप में हो अथवा अन्य रूपों में, और "यज्ञ" शब्द का व्यापक अर्थ "सभी के अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करना"–चाहे वे वैदिक कर्मकाण्ड हों या अन्य प्रकार के, अधिक उपयुक्त है। सबके अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने ही से जगत् की समष्टि उत्पादक शक्ति बनती है, जिससे प्राणीमात्र के भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

इसलिए तू दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर (सबके साथ एकता के साम्य-भाव से) अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने कर्तव्य-कर्म सदैव अच्छी तरह तत्परता से करता रह; क्योंकि व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर कर्म करने वाला मनुष्य परमात्म-भाव में स्थित होता है (१९)। जनक आदि (अनेक ज्ञानी पुरुष, इस प्रकार) कर्म करते हुए ही (आत्मानुभवरूपी) परम सिद्धि में स्थित रहे हैं, अर्थात् सर्वात्म-भाव से जगत् के व्यवहार करते रहे हैं; अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से अर्थात् जगत् और समाज की सुव्यवस्था के लिए तुझे भी कर्म करना ही योग्य है (२०)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, दूसरे साधारण मनुष्य भी उसीके अनुसार किया करते हैं; वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण (मान कर) करता है, (दूसरे) लोग उसीका अनुकरण करते हैं (२१)। हे पार्थ ! मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न मुझे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है, तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ (२२)। क्योंकि यदि मैं कभी तत्परता से कर्म न करूँ, तो हे पार्थ ! लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लग जायँ, अर्थात् सब लोग काम करना छोड़ दें (२३)। (अतः) यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायँ; और वर्णसंकरता उत्पन्न करने वाला तथा इन प्रजाओं को बिगाड़ने वाला मैं ही होऊँ। तात्पर्य यह कि यदि मैं तत्परता से कर्म न करूँ तो मेरा अनुसरण करके लोग अपने-अपने वर्ण के कर्म छोड़ दें, जिससे सारी प्रजा नष्ट हो जाय (२४)। हे भारत ! अज्ञानी लोग (पृथक् व्यक्तित्व के भाव की) आसक्तिपूर्वक (पराधीनता से) जिस तरह कर्म किया करते हैं, ज्ञानी पुरुष व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना, लोक-संग्रह अर्थात् जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था की इच्छा से, (स्वाधीनता पूर्वक) उसी तरह कर्म करे (२५)। विद्वान् पुरुष (स्वयं कर्म करना छोड़ कर), कर्मों में प्रीति रखने वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भेद अर्थात् विपर्यास उत्पन्न न करे, किन्तु (स्वयं सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव से) युक्त होकर (सब प्रकार के कर्म) अच्छी तरह तत्परतापूर्वक करता हुआ उनको भी सारे कामों में लगावे (२६)। सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं, अर्थात् सबके स्वाभाविक गुणों के परस्पर गुणन से ही सब प्रकार के कर्म हुआ करते हैं; पर दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार में डूबा हुआ मूढ़ पुरुष ऐसा मानता है कि "मैं ही करता हूँ" (२७)। परन्तु हे महाबाहो ! गुण-कर्म-विभाग के रहस्य का ज्ञाता (तत्त्वज्ञानी) पुरुष यह जान कर कि गुण गुणों में वर्त रहे हैं, कर्मों में आसक्त नहीं होता, अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष को इस बात का ज्ञान होता है कि सबकी सम्मिलित समष्टि प्रकृति के तीनों गुणों के तारतम्य से उत्पन्न, अनन्त प्रकार के स्वभाव वाले शरीरों द्वारा ही उक्त तीनों गुणों के तारतम्य

के अनन्त प्रकार के कर्म होते हैं, यानी कर्ता और कर्म सब त्रिगुणमय हैं (गी० अ० १८ श्लो० २३ से २८), इसलिए गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं—अपने आप (आत्मा) को वह इन सबका आधार, सबका प्रेरक और सबका स्वामी जानता है—अतः वह कर्मों के आधीन नहीं होता, किन्तु अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए स्वाधीनतापूर्वक कर्म किया करता है (२८)। अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणों के उक्त रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे गुणों और कर्मों में उलझे हुए (उनके आधीन) रहते हैं; उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि लोगों को तत्त्वज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष (कर्म करने से) विचलित न करे (२९)। श्लोक २५ से २९ तक का तात्पर्य यह है कि जिनको आत्मज्ञान नहीं होता, वे स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों ही में अहंभाव रखते हैं यानी शरीरों ही को "अपना आप" मानते हैं, इसलिए उनकी अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्ति रहती है और उस आसक्तिपूर्वक ही वे सांसारिक व्यवहार करते हैं। उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि यह जगत् सबके एकत्व-भाव यानी समष्टि-आत्मा = परमात्मा के स्वभाव (प्रकृति) के तीन गुणों का खेल है, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा की इच्छा-रूप प्रकृति के गुणों के परस्पर गुणन से जगत् के सब कर्म होते हैं। इस रहस्य को न जान कर एवं पृथक्ता को सच्ची मान कर, वे अपने व्यक्तित्व को ही कर्मों का कर्ता मानते हैं, और इस कर्तापन के अहंकार के कारण कर्मों को दुःख और बन्धन-रूप मान कर वे उन्हें छोड़ कर संन्यास लेने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु आत्मज्ञानी पुरुष की सर्वात्म-भाव में स्थिति होने के कारण उसकी दृष्टि में अपने आप (आत्मा) से भिन्न कुछ भी नहीं रहता, न अपने (आत्मा) से भिन्न उसका कोई स्वार्थ ही शेष रहता है। इसलिए वह केवल लोक-संग्रह के निमित्त लोगों को पथप्रदर्शन कराने के लिए स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म किया करता है। यद्यपि आत्मज्ञानी को अपने लिए न तो कोई कर्म करना ही आवश्यक होता है और न कर्म छोड़ने ही का कोई प्रयोजन रहता है। वह कृत-कृत्य होता है, इसलिए शरीर के रहने व न रहने से भी उसका कोई प्रयोजन अथवा हानि-लाभ नहीं होता। परन्तु जिन लोगों को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उनके लिए तो अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार सब प्रकार के कर्म करना ही आवश्यक होता है; क्योंकि आत्मज्ञान की प्राप्ति का साधन शरीर है, और शरीर का निर्वाह सबके अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के कर्म करने द्वारा समाज और जगत् के सुव्यवस्थित रहने पर ही निर्भर रहता है; और यदि आत्मज्ञानी कर्म करना छोड़ दे तो अज्ञानी लोग भी—यह समझ कर कि जब आत्मज्ञानी लोग कर्म नहीं करते तो कर्म न करने ही में सुख अथवा कल्याण होगा—उन (आत्मज्ञानियों) की देखादेखी अपना-अपना स्वाभाविक कर्म छोड़ दें, जिससे बड़ा अनर्थ हो जाय;

क्योंकि शरीर के रहते कर्म सर्वथा छूट तो सकते नहीं। अतः जब देहाभिमानी अज्ञानी लोग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करना छोड़ दें, तो या तो वे विवश होकर दूसरे विरुद्धाचरण करने में प्रवृत्त हो जायँ अथवा निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी बन जायँ, जिससे जगत् और समाज की घोर अव्यवस्था होकर, कल्याण के साधन—शरीरों का निर्वाह होना ही असम्भव हो जाय। इसलिए तत्त्वज्ञानी महापुरुष कर्म करना छोड़ कर अज्ञानी लोगों को विरुद्धाचरण में प्रवृत्त करने तथा आलसी एवं प्रमादी बनाने का कारण उत्पन्न नहीं करते; किन्तु स्वयं अपने शरीरों की योग्यतानुसार सब प्रकार के कर्म अनासक्त बुद्धि से करते हुए दूसरे को भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसी तरह कर्म करने का आदर्श दिखाते रहते हैं। कर्म न करने के लिए तो किसी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु ज्ञानपूर्वक कर्म करने के लिए तत्त्वज्ञानी लोगों के आचरण ही अनुकरणीय होते हैं (२५ से २६)।

(इसलिए) तू सब कर्मों का अध्यात्म-बुद्धि से मुझ (सर्वात्मा=परमात्मा) में संन्यास करके, आशा और ममता से रहित होकर, एवं शोक-सन्ताप छोड़ कर युद्ध कर। तात्पर्य यह कि तू आत्मज्ञान से युक्त होकर यानी सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर, तथा कर्मों से केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आशा, एवं शरीर के सम्बन्धियों की ममता से रहित होकर, जगत् की सुव्यवस्था एवं सबके हित के लिए, युद्धरूपी अपना कर्तव्य-कर्म (मरने, मारने, अधर्म, पाप एवं नरक आदि सब प्रकार की) चिन्ता छोड़ कर अच्छी तरह उत्साहपूर्वक कर (३०)।

स्पष्टीकरण—दूसरे अध्याय में भगवान् ने पहले आत्मज्ञान का निरूपण किया जो केवल बुद्धि का विषय है; फिर अपने-अपने कर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म पालन करने की आवश्यकता बता कर सबके साथ अपनी एकता की साम्य-बुद्धि से कर्म करने का विधान करके सर्वत्र बुद्धि ही की प्रधानता का प्रतिपादन किया। इस पर यह शङ्का सहज ही उठती है कि जब सारा दार-मदार बुद्धि पर ही है, फिर कर्म करने की आवश्यकता ही क्या है? केवल बुद्धि को साम्य-भाव में स्थित करके सब कुछ छोड़-छाड़ कर शान्ति से बैठे हुए अपना श्रेय-साधन ही क्यों न किया जाय? इसके अतिरिक्त सबकी एकता के साम्य-भाव में बुद्धि को स्थित करने के उपदेश के साथ लड़ाई जैसे घोर-हिंसात्मक कर्म करने का विधान अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होता है; अतः इन विरोधी भावों का मेल कैसे हो सकता है? युद्ध जैसा घोर कर्म करते हुए बुद्धि साम्य-भाव में स्थित कैसे रह सकती है? इन दोनों विरोधी मार्गों में से वास्तविक श्रेयस्कर मार्ग कौनसा है—इसका

यथार्थ निर्णय होना नितान्त ही आवश्यक है। अर्जुन के इस आशय के प्रश्न के उत्तर में भगवान् विस्तारपूर्वक कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण करते हुए कहते हैं कि मैंने जो पहले आत्मज्ञान का और फिर साम्य-बुद्धि से कर्म करने का वर्णन किया है, उसका अभिप्राय अलग-अलग निष्ठाओं अर्थात् शरीर-यात्रा के जुदे-जुदे मार्गों के विधान करने का नहीं है, किन्तु एक ही ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मविद्या को अच्छी तरह समझाने के लिए पहले तत्त्वज्ञानियों का निर्णय किया हुआ आत्मज्ञान कह कर फिर उसी आत्मज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्म करने (ज्ञान-कर्म-समुच्चय) का विधान कहा है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म की अलग-अलग कर्तव्यता नहीं कही है, किन्तु एक ही व्यावहारिक ब्राह्मी स्थिति अथवा यथार्थ ब्रह्मनिष्ठा कही है। ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं है, किन्तु ये एक दूसरे के सहायक हैं; क्योंकि बुद्धि का धर्म (सूक्ष्म) विचार करना है और इन्द्रियों का धर्म (स्थूल) कर्म करना। अस्तु, बुद्धि ज्ञान (विचार) में लगी रहे और इन्द्रियाँ बुद्धि के निर्णयानुसार अपने-अपने कर्म करती रहें—इस तरह ज्ञानयुक्त कर्म होते हैं। बुद्धियुक्त प्राणियों के कर्म ज्ञान सहित ही होते हैं—चाहे वह ज्ञान यथार्थ हो या अयथार्थ। जिनकी बुद्धि आत्म-निष्ठ होती है उनके सभी व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य-भाव से होते हैं—उनमें उनके पृथक् व्यक्तित्व का भाव और व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, अतः न तो उनकी किसीसे प्रीति होती है और न विरोध। वे जो कुछ करते हैं वह सबके हित के लिए होता है; इसलिए उनके कर्म घोर (हिंसात्मक) होते हुए भी वास्तव में सौम्य (अहिंसात्मक) ही होते हैं। कर्मों में स्वयं अच्छापन या बुरापन कुछ भी नहीं है—अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव पर निर्भर रहता है। सबके साथ अपनी एकता के भाव से किये हुए कर्म, स्थूल दृष्टि से बुरे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में बुरे नहीं होते, किन्तु अच्छे ही होते हैं; और पृथक्ता के भाव से किये हुए कर्म, ऊपर से अच्छे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अच्छे नहीं होते, किन्तु बुरे ही होते हैं। आत्म-ज्ञान की समत्व-बुद्धि का कर्मों से कोई विरोध नहीं है, चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हों या सौम्य (अहिंसात्मक); और न आत्मनिष्ठ बुद्धि पर कर्मों का कोई प्रभाव ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों की सबके साथ एकता के साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है, उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं, अतः उनके लिए कर्म करने अथवा छोड़ने के लिए कुछ भी नहीं रहता। यह जगत्-प्रपञ्च उनके समष्टि-भाव की त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक खेल होता है, अतः वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते। परन्तु जिन लोगों को यह आत्मज्ञान नहीं है, वे यदि हाथ-पैर बाँध कर निकम्मे बैठे रहें अथवा संन्यास लेकर लौकिक व्यवहार छोड़

दें, तो भी कर्म-त्याग का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि लौकिक व्यवहार न करके निकम्मे बैठे रहना तथा व्यवहार छोड़ना भी तो कर्म ही है, और जब कर्म न करने अथवा त्याग देने के व्यक्तित्व का अहंकार बना हुआ है, तब न तो कुछ त्यागा गया और न यथार्थ ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति ही हुई। ब्राह्मी स्थिति तो पृथक् व्यक्तित्व की सबके साथ एकता करने से, अर्थात् भिन्नता के भाव मिटाने से होती है, न कि भेद-भावयुक्त त्याग करने से। शरीर और जगत् अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक खेल है, अतः इस खेल में तीनों गुणों का तारतम्य बना रहना अनिवार्य है। इनमें से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो नहीं सकता। सत्त्वगुण ज्ञानात्मक और सुखात्मक है, रजोगुण रागात्मक और क्रियात्मक, तथा तमोगुण जड़ात्मक है; इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में कोई भी व्यक्ति कुछ-न-कुछ किये बिना कभी रह ही नहीं सकता—अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार कर्म सबको करने ही पड़ते हैं, चाहे वह हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा करे, अथवा आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, अथवा मानसिक संकल्प-विकल्पों द्वारा, अथवा बुद्धि के विचारों द्वारा करे—शरीर के रहते कर्म सर्वथा छूट नहीं सकते। यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेकर एकान्त स्थान में जा बैठे, तो भी अपने खाने-पीने आदि के व्यवहार तो विवश होकर उसे भी करने ही पड़ते हैं; क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति-जन्य शरीर के स्वाभाविक धर्म—भूख, प्यास आदि तो शरीर के रहते छूट ही नहीं जाते। यदि हठ से शरीर के प्राकृतिक वेगों को रोका जाय, तो मन से तो उनका चिन्तन छूट ही नहीं सकता; और अपनी व्यक्तिगत कल्याण की कामना भी बनी ही रहती है। तात्पर्य यह कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के कर्म तो शरीर से अथवा मन से होते ही रहते हैं, केवल दूसरों की सेवा के अथवा लोक-संग्रह अर्थात संसार-चक्र को सुव्यवस्थित रूप से चलाने में योग देने के कर्म छूटते हैं; परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के अहंकार से संन्यास लेने वाला पुरुष अपने शरीर की आवश्यकताएँ तो दूसरों की सेवा द्वारा पूरी कराता है, परन्तु स्वयं दूसरों के लिए कुछ भी नहीं करता। यह मिथ्याचार अथवा पाखण्ड है। इसलिए सबसे श्रेष्ठ बात यह है कि आत्मज्ञान से इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए, अपने शरीर के स्वाभाविक गुणों के अनुसार जिन कर्मों के करने की योग्यता हो उनको, जगत् के व्यवहार यथायोग्य चलाने रूपी यज्ञ के लिए सबको अवश्य करते रहना चाहिए। यदि संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म न किये जायँ, तो अपने शरीर का भी निर्वाह नहीं हो सकता—चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी। क्योंकि संसार में जितने चेतन एवं जड़ पदार्थ हैं, वे एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अथवा भोक्ता-भोग्य (एक दूसरे के

काम में आने वाले) एवं अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले—सेवक-सेव्य) हैं, अर्थात् आपस में एक दूसरे की सेवा करें तभी सबका निर्वाह हो सकता है; इसलिए यदि कोई व्यक्ति अपने व्यष्टि अहङ्कार से अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म न करे, तो दूसरों से अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी कराने का उसे कोई अधिकार नहीं रहता, क्योंकि यदि इस तरह सब कोई अपने-अपने कर्म करना छोड़ दें तो फिर किसीका भी जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

जड़ सृष्टि और पशु-पक्षी आदि तो सर्वथा प्रकृति के आधीन रहते हैं, अतः वे स्वभाव ही से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। उनमें न तो प्रकृति के विरुद्ध कर्म करने की और न अपने कर्तव्यों की अवहेलना करके उन्हें छोड़ने की योग्यता ही होती है। वे अपने शरीरों को भी प्राकृत अवस्था में रखते हैं, और अपने शरीरों की सब प्रकार की आवश्यकताओं के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहते हैं। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) के शरीर में आत्मविकास की विशेषता होने के कारण वह प्रकृति के सर्वथा आधीन नहीं रहता, किन्तु उस पर शासन करने के प्रयत्न में लगा रहता है। वह प्रकृति को अपने आधीन करके उससे काम लेता है। वह अपने शरीर को प्राकृत अवस्था में ही रख कर संतोष नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के उपचारों से वह उसके रंग-रूप में ही नहीं, किन्तु बनावट में भी फेर-फार करता रहता है, और शरीर के स्वाभाविक गुणों को भी बदलता रहता है। शरीर की आवश्यकताओं के लिए वह सर्वथा प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहता, अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों को वह उनकी प्राकृत अवस्था में ही उपयोग में लेकर सन्तोष नहीं करता, किन्तु उनका प्रकृति द्वारा ही अच्छी तरह संस्कार करके उन्हें काम में लेता है; और अनेक पदार्थों को वह अपनी इच्छा से प्रकृति द्वारा उत्पन्न भी करवाता है। खाद्य पदार्थ जितने और जिन रूपों में प्रकृति द्वारा स्वतः उपजते हैं, उन्हें पशु-पक्षियों की तरह वह उतने ही और उसी अवस्था में नहीं खा लेता, किन्तु खेती आदि व्यवसायों से विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ प्रकृति द्वारा उत्पन्न कराता है, और उनका विविध प्रकार से योग करके, तथा भाँति-भाँति की क्रियाओं से संस्कार करके खाता है। शरीर को सुरक्षित रखने के लिए वह प्राकृतिक आश्रयों में ही नहीं रहता, अर्थात् वह गुफाओं, कन्दराओं अथवा वृक्षादि की ओट में ही शरीर की रक्षा नहीं करता और न नङ्गा ही रहता है, किन्तु प्राकृतिक द्रव्यों के उपयोग से विशाल भवन आदि बना कर उनमें रहता है; तथा भाँति-भाँति के वस्त्र बना कर पहिनता है। जो जितना ही अधिक उन्नत होता है, उतना ही अधिक वह प्रकृति पर विजय पाता है। मनुष्य देह में इतनी योग्यता है कि वह अपने पुरुषार्थ से प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त करके उस पर आधिपत्य कर सकता

है, और सर्वात्म-भाव से उसका समावेश भी "अपने आप" में कर सकता है। परन्तु समष्टि-भाव में पूर्ण रूप से स्थित होने से, अर्थात् सबके साथ पूर्ण एकता होने से ही ऐसा हो सकता है। जब तक व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति रहती है, तब तक प्रकृति की आधीनता से छुटकारा नहीं हो सकता—चाहे कोई गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक व्यवहार करे अथवा संन्यास लेकर काम करना छोड़ दे। तात्पर्य यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म किये जायँ अथवा छोड़े जायँ, दोनों ही अवस्थाओं में वे बन्धन के हेतु होते हैं; परन्तु संसार-चक्र को चलाने रूपी यज्ञ में योग देने के लिए, सबके साथ सहयोग रखते हुए, एवं सबके साथ शृङ्खलाबद्ध होकर अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से कोई बन्धन नहीं होता; और न उनसे कोई पाप ही लगता है—चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हों या सौम्य (अहिंसात्मक); क्योंकि जगत् की रचना यज्ञमय है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से ही जगत् बनता और स्थिर रहता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि प्रत्येक भौतिक द्रव्य का और जगत् की प्रत्येक हलचल का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव, उसका अधिदेव अर्थात् देवता कहा जाता है। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के आँखों से देखने, कानों से सुनने, नाक से सूँघने, त्वचा से स्पर्श करने, जिह्वा से स्वाद लेने, मुख से खाने, वाणी से बोलने, बुद्धि से विचार करने एवं हाथों से काम करने आदि प्रत्येक व्यष्टि व्यवहार-शक्ति का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव उसका अधिदेव अर्थात् देवता होता है—जैसे आँखों से देखने की शक्ति का समष्टि-भावापन्न देवता आदित्य, कानों से सुनने का देवता दिक्पाल, नाक से सूँघने का देवता अश्विनीकुमार, त्वचा से स्पर्श करने का देवता वायु, जिह्वा से स्वाद लेने का देवता वरुण, मुख से खाने का देवता अग्नि, वाणी से बोलने का देवता सरस्वती, बुद्धि से विचार करने का देवता बृहस्पति एवं हाथों से काम करने का देवता इन्द्र माना जाता है, इत्यादि। इस तरह अनन्त प्रकार के व्यष्टि व्यवहारों के समष्टि-भावापन्न अगणित देवता हैं। इन समष्टि शक्तियों रूपी देवताओं के अपने-अपने व्यापार करने से सारे जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड का धारण, पोषण एवं सञ्चालन होता है; और प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् पिण्ड की व्यष्टि शक्तियों के व्यापारों के योग ही से ब्रह्माण्ड की समष्टि शक्तियों के व्यापार होते हैं, क्योंकि सब पिण्डों का योग ही ब्रह्माण्ड है, अतः पिण्डों के व्यापारों के योग ही ब्रह्माण्ड के व्यापार हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता होने के कारण जो कुछ प्रत्येक व्यष्टि शरीर अर्थात पिण्ड में व्यष्टि रूप से है, वही अखिल जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड में समष्टि रूप से है। तात्पर्य यह कि व्यष्टि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों के योग से समष्टि जगत् पूरित

होता है, और समष्टि जगत् से व्यष्टि जगत् का धारण, पोषण एवं सञ्चालन होता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। अतः सबके यथायोग्य कर्म करने से ही यह संसार-चक्र ठीक-ठीक चलता रहता है।

जिस तरह समष्टि जगत् (ब्रह्माण्ड) का अस्तित्व सब (प्रत्येक पिण्ड) के अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ पर निर्भर है, उसी तरह मानवीय जगत् अर्थात् मनुष्य समाज का अस्तित्व भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने स्वाभाविक गुणों* की योग्यतानुसार, अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ पर ही निर्भर रहता है। सत्व-रज-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य (स्त्री-पुरुष), ज्ञान और विज्ञान आदि की शिक्षा-सम्बन्धी कार्य का सम्पादन करें, रज-सत्व-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले, शासन और रक्षा का कार्य करें, रज-तम-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले, पदार्थों को उपजाने और उनके व्यवसाय एवं विनिमय का कार्य करें, और तम-रज-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले, शारीरिक श्रम से कला-कौशल और सेवा आदि का कार्य करें; तथा उपरोक्त सभी वर्गों के लोग जीवन के प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य-व्रत से रह कर शारीरिक एवं मानसिक बल सम्पादन करते हुए अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार विद्याध्ययन करें, जीवन के द्वितीय भाग में गृहस्थाश्रम में रह कर अपनी-अपनी योग्यतानुसार जगत् के उपरोक्त व्यवहार करें, जीवन के तृतीय भाग में अपनी-अपनी योग्यतानुसार विशेषतया समाज-सेवा के कार्य करें, और जीवन के चतुर्थ भाग में अपनी विद्या-बुद्धि एवं तीनों अवस्थाओं में सञ्चित किये हुए अनुभव का लाभ, लोगों को सदुपदेश एवं सत्परामर्श देने द्वारा पहुँचावें, तभी समाज सुव्यवस्थित रह सकता है। मनुष्य समाज इसी यज्ञ के आधार पर निर्मित एवं अवस्थित है, और यह यज्ञ सबके हित के लिए अवश्य-कर्तव्य है। यदि मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार, अपने-अपने कर्तव्य-कर्म न करें तो समाज नष्ट हो जाय। शिक्षक वर्ग के लोग ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और उन्नति न करें तो अशिक्षित जनता में किसी भी काम के करने की योग्यता न रहे; रक्षक वर्ग के लोग शासन और रक्षा का काम न करें तो समाज में उच्छृङ्खलता आ जाय और अपने-अपने कर्म करने के लिए किसीको भी सुविधा न रहे; व्यवसायी लोग पदार्थ उत्पन्न करके उनके क्रय-विक्रय आदि का व्यवसाय न करें तो लोगों को शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ ही न मिलें; और श्रमी लोग यदि शिल्प और सेवा का कार्य

---

* गुणों के अनुसार कार्य-विभाग की चतुर्वर्ण-व्यवस्था का विशेष खुलासा १८ वें अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के तात्पर्य में किया गया है।

न करें तो दूसरे वर्ग वालों का कोई भी कार्य-सम्पादन न हो सके। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने-अपने जीवन की चारों अवस्थाओं में उपरोक्त चारों आश्रमों के व्यवहार करना भी आवश्यक है ॐ। तात्पर्य यह कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्म आपस की एकता के सहयोग से यथावत् करने से ही समाज की स्थिति रह सकती है; और जिस तरह मनुष्य समाज की स्थिति के लिए सब वर्गों के लोगों को अपना-अपना कर्तव्य पालन करना आवश्यक है, उसी तरह जगत् की स्थिति के लिए भी सबको अपना-अपना कर्तव्य पालन करना आवश्यक है; क्योंकि सबके अपने-अपने कर्तव्य-कर्म, आपस की एकता के भाव से करने रूपी यज्ञ से सब भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं और भोग्य पदार्थों पर ही सारे भूत-प्राणियों का अस्तित्व निर्भर है। जिस तरह शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्ग अपने-अपने स्वाभाविक कार्य, आपस की एकता के सहयोग से करें, तभी शरीर का निर्वाह हो सकता है। उसी तरह सब स्थावर-जङ्गम भूत-प्राणी जगत् रूपी शरीर के अङ्ग हैं, और वे सभी अपने-अपने स्वाभाविक कार्य—सबकी एकता के सहयोग से—जगत् के हित को लक्ष्य में रखते हुए करें, तभी यह संसार-चक्र ठीक-ठीक चल सकता है।

इस संसार-चक्र को चलाने रूपी यज्ञ के लिए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होते हैं, इसलिए अपना स्वभाव अर्थात् प्रकृति सब कर्मों का कारण है; और सबके स्वभाव अर्थात् प्रकृति का आधार, सबका एकत्व-भाव अर्थात् समष्टि-आत्मा=परमात्मा है। अतः जो कोई सबके एकत्व-भाव के इस यज्ञ की अवहेलना करके दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही काम करता है अथवा उन्हें छोड़ देता है, वह चोर होता है। जगत् में सभी पदार्थ एक दूसरे के सहयोग एवं सबकी सम्मिलित शक्ति से उत्पन्न होते हैं। उन सार्वजनिक पदार्थों के उपयोग से दूसरों को वञ्चित रख कर, जो उनको

ॐ यद्यपि समाज की सुव्यवस्था के लिए चार प्रकार की प्रधान आवश्यकताएँ होने के कारण मनुष्य समाज को, स्वाभाविक गुणों की प्रधानता के अनुसार चार वर्गों में विभक्त किया गया है, जिसको आर्य-संस्कृति में वर्णाश्रम-व्यवस्था कहते हैं; परन्तु सत्व, रज और तम भेद से तीन गुणों के सम्मिश्रण का अनन्त प्रकार का तारतम्य होता है और इसी तारतम्य के अनुसार मनुष्यों में कर्म करने की योग्यता की भी अनन्त श्रेणियाँ होती हैं। इसलिए प्रत्येक वर्ग के कार्य करने वालों में भी गुणों के तारतम्य के अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं; अतः अपने-अपने गुणों के तारतम्य के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना सबके लिए आवश्यक है।

केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के काम में लेता है, वह दूसरों का हक छीनता है; इसलिए वह चोरी करने का अपराधी है। यदि कोई इस संसार-चक्र को चलाने में अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने का योग न देकर, अपने व्यक्तिगत आराम अथवा शान्ति के लिए आलसी और निरुद्यमी होकर बैठ जाय, तो उसका मनुष्य होना, न होने के बराबर है; क्योंकि अपने शरीर-निर्वाह के कर्म तो उसको भी करने ही पड़ते हैं—केवल दूसरों के लिए काम करने से वह जी चुराता है—अतः यह स्वार्थपरता है। अपने पृथक् व्यक्तित्व का भाव तो पशु-पक्षियों में भी होता है और अपने-अपने शरीरों की आवश्यकताएँ प्राकृतिक पदार्थों से वे भी पूरी करते हैं—इतना ही नहीं, किन्तु वे दूसरों के उपयोग में भी आते हैं; परन्तु मनुष्य शरीर में सर्वात्म-भाव का ज्ञान प्राप्त करके प्रकृति पर शासन करने की योग्यता होते हुए भी, व्यक्तित्व के भाव से प्रकृति के आधीन रहना, व्यर्थ ही मनुष्य जीवन बिताना है।

इसलिए जगत् के व्यवहार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति छोड़ कर, सबके साथ एकता के साम्य-भाव से करने का उपदेश भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको देते हैं; और पूर्व काल में इस तरह आचरण करने वाले, राजा जनक को आदि लेकर आत्मज्ञानियों के उदाहरण पहले देकर, फिर स्वयं अपना उदाहरण देते हैं कि यद्यपि मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न मुझे किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की आवश्यकता ही है, परन्तु क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं और जिस बात को प्रमाण मानते हैं, अन्य साधारण लोग भी उन्हींका अनुसरण करते हैं, अतः यदि आत्मज्ञानी महापुरुष लौकिक व्यवहार करना छोड़ दें तो साधारण जनता कर्मों को बन्धन और दुःख-रूप निश्चय करके उनकी देखा-देखी काम करना छोड़ बैठे, तब केवल समाज ही नहीं किन्तु सारी सृष्टि का क्रम ही नष्ट हो जाय; इसीलिए मैं भी कर्म करता ही रहता हूँ ※। इसके अतिरिक्त अज्ञानी लोगों के व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति कर्म करने ही से कम होती है, क्योंकि वे लोग अपने शरीरों के अतिरिक्त

※ भगवान् ने जो यह कहा है कि तत्त्वज्ञानी लोग यदि लौकिक व्यवहार न करें तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करके अपने कर्तव्य-कर्म छोड़ दें जिससे लोकों का नाश हो जाय—ठीक यही हालत इस समय इस देश की हो रही है। जिन लोगों को थोड़ा या बहुत तत्त्वज्ञान होता है, वे अधिकतर अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिए लौकिक व्यवहारों से विरक्त होकर संन्यास ले लेते हैं अथवा भक्त बन बैठते हैं, और उनकी देखा-देखी बहुत से दूसरे लोग भी विरक्त अथवा भक्त होने के लिए काम-काज छोड़ कर आलसी एवं निरुद्यमी बन बैठते हैं; तथा जो लोग

अपने कुटुम्ब तथा समाज आदि में ममत्व के कारण उनके लिए भी कर्म करते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व का भाव कम होता जाता है; परन्तु यदि ज्ञानी लोग सांसारिक कर्म करना छोड़ दें तो उनका अनुकरण करके अज्ञानी भी कर्म-त्याग ही को प्रमाण मान कर जगत् के व्यवहार करना छोड़ दें और ऐसा करने से उनके व्यक्तित्व का भाव पुष्ट ही नहीं होता किन्तु उसमें वृद्धि होती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष लौकिक व्यवहार छोड़ कर अज्ञानी लोगों को पथ-भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु स्वयं अनासक्ति पूर्वक अच्छी तरह तत्परता से कर्म करके दूसरों को भी उसी तरह कर्म का मार्ग दिखाते रहते हैं। गुण-कर्म के विभाग को जानने वाला आत्मज्ञानी महापुरुष तो जानता है कि कर्म सब अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और गुण ही गुणों में वर्त कर यह खेल कर रहे हैं, अर्थात् जगत् में सब कोई अपने-अपने गुणों की योग्यता के अनुसार आचरण करके एक दूसरे के साथ वर्ताव करते हैं, ऐसा समझ कर वे तीनों गुणों के सम्मिश्रण के इस खेल में आसक्त नहीं होते *। परन्तु अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणों के उपरोक्त रहस्य को नहीं जानते, अतः उनकी बुद्धि में यह बात नहीं बैठ सकती कि कर्मों का खेल सबके स्वाभाविक गुणों के तारतम्य द्वारा ही हो रहा है, किन्तु अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार के कारण वे अपने (व्यक्तित्व) को ही कर्मों का कर्ता मानते हैं; और जो लोग कर्तापन के अहङ्कार में आसक्त होते हैं, उनको कर्म छोड़ने का अहङ्कार और भी अधिक होता है; इसलिए तत्त्वज्ञानी

लौकिक व्यवहार करते हैं, वे गुण-कर्म के तत्त्व से अनभिज्ञ रहते हैं, जिससे स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त का पालन नहीं करते। अधिकतर लोग तो अपने वंश-परम्परागत कर्मों में ही लगे रहते हैं—गुणों की योग्यता की आवश्यकता नहीं समझते; और कई लोग गुणों की अवहेलना करके अपने मनमाने कर्म करने लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त कर्म करने में जैसी तत्परता रखनी चाहिए, वैसी नहीं रखते। परिणाम यह हुआ है कि इस देश के लोगों की सब प्रकार से अवनति हो गई है और वर्तमान की सङ्कटापन्न अवस्था देखते हुए भविष्य बहुत ही भयङ्कर प्रतीत होता है। इस समय जो उन्नत देश हैं, उनमें तत्त्वज्ञानी लोग स्व पूर्णतया तत्परता के साथ लौकिक व्यवहार करके साधारण लोगों को मार्ग दिखाते रहते हैं, और साधारण लोग उनका अनुकरण करके अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार लौकिक व्यवहार करते हैं। इसी कारण वे लोग सुख-समृद्धि-सम्पन्न हैं। इस देश के निवासियों को यदि जीवित रहना है तो भगवान् के बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए।

*दूसरे अध्याय के अन्तमें स्थितप्रज्ञ के आचरण का स्पष्टीकरण देखिए।

पुरुष उनको अपने स्वाभाविक कर्म करने से निवारित करके उनके व्यक्तित्व का अहङ्कार बढ़ाने में सहायक नहीं होते।

सारांश यह कि आत्मा यानी अपने आप से भिन्न कहीं अन्यत्र से स्वार्थ-सिद्धि होने की आशा से, तथा आत्मा यानी अपने आप से भिन्न पदार्थों में ममत्व की आसक्ति से रहित होकर अपने-अपने शरीरों के स्वाभाविक गुणों के अनुसार लौकिक व्यवहार—चाहे वे घोर-हिंसात्मक हों या सौम्य-अहिंसात्मक—सबके साथ एकता के साम्य-भाव से, सबके साथ सहयोग रखते हुए, चिन्ता और भय छोड़ कर प्रसन्नता एवं तत्परता पूर्वक सबको करना चाहिए।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अर्थ—जो लोग दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस नित्य अर्थात् सब काल, सब देश और सबके लिए अनुसरणीय एवं हितकर मत (सिद्धान्त) के अनुसार आचरण करते हैं, वे भी कर्मों के बन्धन से छूट जाते हैं (३१)। परन्तु जो दोष-दृष्टि करके मेरे (इस नित्य) सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं करते, उन विवेक-हीन, सर्वज्ञान-विमूढ़ अर्थात् निरे मूर्खों को नष्ट हुए जानो (३२)। ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चेष्टा करता है, और भूत-प्राणी (सभी) अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के वश में रहते हैं; वहाँ (जबर्दस्ती) निग्रह क्या करेगा? तात्पर्य यह कि जब कि आत्मज्ञानी पुरुष के लिए परवशता से कुछ भी कर्तव्य न होने पर भी वह अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक व्यवहार करता रहता है, तो भौतिक शरीरों में आसक्ति रखने वाले अज्ञानी पुरुष, जो प्रकृति के आधीन रहते हैं, वे कर्मों से

रहित कैसे हो सकते हैं (३३)? प्रत्येक इन्द्रिय का अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय में द्वेष स्वभाव से ही नियत है, (परन्तु मनुष्य को) उनके वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे ही इस (मनुष्य) के शत्रु हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों की अनुकूल विषय में प्रीति और प्रतिकूल विषय में द्वेष होना स्वाभाविक है, वे मिट नहीं सकते; परन्तु मनुष्य उनमें आसक्त होकर उनके आधीन न होवे, किन्तु इन्द्रियों को अपने वश में रखता हुआ विषयों में वरते; राग-द्वेष के आधीन होने से ही दुर्दशा होती है (३४)। दूसरों के धर्म का आचरण यदि उत्तम (प्रतीत होता) हो, और अपना धर्म उसकी अपेक्षा हीन (प्रतीत) हो तो भी अपने लिए तो वही अच्छा है; अपने धर्म में (व्यक्तित्व का भाव मिटाने रूप) मर जाना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयानक होता है। तात्पर्य यह कि दूसरों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार जो कर्म उनके लिए नियत हों, वे यदि सौम्य, उत्तम एवं निर्दोष प्रतीत हों, और अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार नियत कर्म उनकी अपेक्षा क्रूर, बुरे, दोषयुक्त एवं हीन दीखते हों, तो भी अपने लिए अपने ही स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए अपने व्यक्तित्व का भाव मिटा कर अर्थात् व्यष्टि-भाव को समष्टि में जोड़ कर सबके साथ एकता के ज्ञान-युक्त अपने स्वाभाविक कर्म करना ही श्रेयस्कर होता है। अपने स्वाभाविक कर्म करने में यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह भी कल्याणकर होती है; परन्तु अपने कर्म छोड़ कर दूसरों के कर्मों में पड़ने से दुर्गति होती है (३५)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक ३ से आरम्भ करके भगवान् ने पहले देहधारी (चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी) के लिए कर्म करना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य बता कर, फिर तत्त्वज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य (सबकी एकता के) ज्ञानयुक्त, लोक-संग्रह अर्थात् जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए किस तरह किया करते हैं कि जिससे वे सब-कुछ करते हुए भी कर्मों के बन्धनों से सदा मुक्त रहते हैं—इस विषय का संक्षेप से वर्णन करते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सबको उसी तरह लोक-संग्रह के लिए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का उपदेश श्लोक २० तक दिया। अब उपरोक्त विधि से अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के निश्चय-युक्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का माहात्म्य, तथा उनके न करने से हानि बताते हैं। भगवान् कहते हैं कि जिन लोगों की आत्मज्ञान में स्थिति नहीं हुई है, वे भी मेरे (सर्वात्म-भावापन्न भगवान् श्रीकृष्ण के) इस सार्वभौम, सार्वजनिक एवं सदा एक समान उपयोगी, सनातन उपदेश में विश्वास करके श्रद्धापूर्वक एवं दोष-दृष्टि से

रहित होकर इसके अनुसार बरतें, यानी जगत् की एकता के विश्वास सहित सबके साथ साम्य-भाव से, अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों को अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा में आने वाले सब लोगों के साथ जोड़ कर तथा सबके साथ सहयोग रखते हुए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करें, तो उनको भी कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता। जो कर्म दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए व्यक्तित्व के अहङ्कार से किये जाते हैं, उन्हींके अच्छे-बुरे परिणाम कर्ता को भोगने पड़ते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व की आसक्ति ही से बन्धन होता है। परन्तु संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए, सर्वात्म-भावापन्न महापुरुषों की शिक्षानुसार जो अपने कर्तव्य-कर्म, दूसरों के साथ एकता एवं सहयोग-पूर्वक किये जाते हैं, उनका उत्तरदायित्व कर्म करने वाले पर नहीं रहता। प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जिसके ज़िम्मे जो कर्तव्य होता है, उसको यथायोग्य श्रद्धापूर्वक बजाने में जो बुरा-भला हो जाय उसका ज़िम्मेवार वह नहीं होता। इसी तरह जगत् का व्यवहार चलाने में योग देने के लिए अपना कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक करने वाले को कर्मों के अच्छे-बुरे फल का बन्धन नहीं होता।

परन्तु जो मूर्ख लोग, (भगवान् के) इस सर्व-लोक-हितकर उपदेश की अव-हेलना करके और इसमें दोषारोपण करके, अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही निरन्तर कर्म करते रहते हैं, अथवा दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव के कारण, कर्मों को दुःख-रूप, बोझ-रूप अथवा बन्धन-रूप समझ कर छोड़ देते हैं, यानी संसार के व्यवहारों को त्याग कर निठल्ले बन जाते हैं, वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं।

सब शरीरों की अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है—चाहे शरीर ज्ञानी का हो या अज्ञानी का; और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक चेष्टाएँ सभी करते हैं; परन्तु ज्ञानी अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ स्वतन्त्रता से चेष्टाएँ करता है, अतः वह सदा मुक्त रहता है, और अज्ञानी उनके वश में होकर बँधता है—यही अन्तर है।

पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है, अतः शरीर के प्रत्येक अङ्ग एवं जगत् के प्रत्येक पदार्थ का, अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के तारतम्य के अनुसार स्वाभाविक धर्म होता है, जो उसके साथ ही रहता है। जिस तरह मन का स्वाभाविक धर्म सङ्कल्प-विकल्प करना, बुद्धि का स्वाभाविक धर्म विचार करना, चित्त का चिन्तन करना, अहङ्कार का अभिमान करना, आँखों का देखना, कानों का सुनना, नाक का सूँघना, जिह्वा का स्वाद लेना, त्वचा का

स्पर्श करना, वाणी का बोलना, मुख का खाना-पीना, हाथों का काम करना, पैरों का चलना, गुह्य इन्द्रियों का मल त्याग करना, दाँतों का काटना या चबाना, नखों का खुरचना, इत्यादि। इस तरह सूक्ष्म, स्थूल, कोमल, कठोर, पवित्र, मलिन आदि भेद से प्रत्येक अङ्ग का, अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यतानुसार अलग-अलग चेष्टाएँ करना और अपने अनुकूल विषय में राग एवं प्रतिकूल विषय में द्वेष होना, स्वाभाविक धर्म होता है; और वे स्वाभाविक धर्म अर्थात् उनकी चेष्टाएँ एवं विषयों की अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा उनसे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष आदि, सदा एक-से नहीं रहते। सारे अङ्गों का समूह ही शरीर है; अतः सबकी अपनी-अपनी स्वाभाविक चेष्टाओं ही से शरीर का व्यवहार होता है, अर्थात् जब प्रत्येक अङ्ग—चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, कोमल हो या कठोर, पवित्र हो या मलिन—अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार यथायोग्य चेष्टाएँ, एक दूसरे के साथ एकता के सहयोग से करता है तभी शरीर का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। यदि इनमें से कोई भी अङ्ग अपने स्वाभाविक धर्म के अनुसार चेष्टा न करे तो शरीर का निर्वाह होना कठिन हो जाय। इसलिए शरीर-यात्रा की सिद्धि के लिए जितनी आवश्यकता बुद्धि से विचार करने, मन से सङ्कल्प करने आदि सूक्ष्म इन्द्रियों के व्यवहारों की है, उतनी ही हाथों से काम करने, पैरों से चलने आदि स्थूल इन्द्रियों के व्यवहारों की है; और जितनी आवश्यकता आँखों से देखने, कानों से सुनने, जिह्वा से स्वाद लेने, नाक से सूँघने, त्वचा से स्पर्श करने, वाणी से बोलने, मुख से खाने-पीने आदि कोमल एवं पवित्र इन्द्रियों के व्यवहारों की है, उतनी ही दाँतों से काटने, नखों से खुरचने, गुह्य इन्द्रियों से मल त्यागने आदि कठोर एवं मलिन अङ्गों के व्यवहारों की है। सभी अङ्ग एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं। इसलिए प्रत्येक के अपने-अपने स्वाभाविक धर्म सबके लिए हितकर होते हैं।

स्थूल पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थों में सत्वगुण की अधिकता होने के कारण उनकी स्वाभाविक योग्यता स्थूल पदार्थों के ऊपर रहने एवं उन पर शासन करने की होती है। इसलिए स्थूल अङ्गों के ऊपर सूक्ष्म इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के ऊपर उनसे सूक्ष्म मन और मन के ऊपर उससे भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि है; तथा इन सबके ऊपर, इन सबका सूक्ष्म सार, इन सबको धारण करने वाला, सबमें एक समान व्यापक, सबका एकत्व-भाव चेतन आत्मा है, जिसका सभी पर आधिपत्य है। वह सबका उपादान एवं निमित्त कारण है; इसलिए उसका स्वभाव शरीर के सब अङ्गों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए, सबको चेतनायुक्त रखते हुए, तथा सबकी चेष्टाओं में सत्ता एवं स्फूर्ति देते हुए भी, उनमें अलिप्त अर्थात् निस्संग, राग-द्वेषादि विकारों से रहित अर्थात्

निर्विकार, सदा इकसार अर्थात् सम एवं अकर्ता बने रहना है; उसकी कभी उत्पत्ति, नाश एवं परिवर्तन नहीं होता। अतः बुद्धि आत्माभिमुख अर्थात् सबके स्वामी सर्व-व्यापक आत्मा के ज्ञानयुक्त (सबकी एकता के निश्चययुक्त) होकर कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करती रहे, मन बुद्धि का अनुगामी रहता हुआ उसके निर्णयानुसार इन्द्रियों का संचालन करे, और इन्द्रियाँ मन के आधीन रहती हुई अपने-अपने विषयों में वरतें—इस तरह प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गों के साथ सहयोग रखते हुए, एक दूसरे से शृङ्खला-बद्ध होकर अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करे, तभी शरीर-यात्रा उत्तमता से हो सकती है। यदि शरीर का कोई भी अङ्ग अपने स्वाभाविक धर्म को निन्दनीय एवं दोषयुक्त समझ कर उसकी अवहेलना करके उच्छृङ्खल हो जाय और दूसरों के धर्म का आचरण करने लग जाय, अर्थात् रज एवं तम-प्रधान अङ्ग सत्व-प्रधान अङ्गों की अवहेलना करें, तथा कठोर एवं मलिन अङ्ग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के व्यवहार, कोमल और पवित्र अङ्गों की अपेक्षा दूषित और हीन मान कर उन्हें छोड़ दें और दूसरे अङ्गों के व्यवहार करने की चेष्टा करें, तो बड़ा अनर्थ हो जाय; क्योंकि न तो उनमें दूसरों के धर्म पालन करने की योग्यता होती है और न दूसरों में उनके धर्म पालन की। ऐसी दशा में विशृङ्खलता होकर सारा शरीर ही नष्ट हो जाय।

तात्पर्य यह कि सभी अङ्गों के समूह-रूप शरीर का निर्वाह और उसकी स्वस्थता सभी अङ्गों की पृथक्-पृथक् क्रियाओं (स्वाभाविक चेष्टाओं) पर निर्भर है, और प्रत्येक अङ्ग की स्वाभाविक चेष्टा, सभी अङ्गों के समूह-रूप शरीर की स्वस्थता और उसकी सामूहिक क्रियाशीलता पर निर्भर है। अतः प्रत्येक अङ्ग और प्रत्येक शरीर का अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के तारतम्य की योग्यतानुसार व्यवस्थित रूप से अपने-अपने व्यापार में लगे रहना ही श्रेयस्कर होता है।

आत्मा अपनी इच्छा-रूप प्रकृति से नाना भाव धारण करता हुआ और सभी अङ्गों के समूह-रूप शरीर को चेतना (क्रिया) युक्त करता हुआ अर्थात् उसके द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करवाता हुआ भी वस्तुतः अद्वैत, निर्विकार एवं सम रहता है, इसलिए वह सदा अकर्ता अर्थात् कर्म-अकर्म आदि द्वन्द्व-भाव से रहित होता है। परन्तु उसमें अकर्मी होने (अर्थात् क्रिया रहित होने) का गुण (विशेष धर्म) आरोप करके उक्त अकर्मशीलता के धर्म को शरीर के कर्मशीलता के धर्म से श्रेष्ठ मान कर, शरीर से अकर्मी होने के लिए उसके स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) छोड़ देने का प्रयत्न किया जाय तो उससे उलटी दुर्दशा होती है। शरीर और आत्मा अथवा कर्म और अकर्म की भिन्नता के राजस-ज्ञानयुक्त, व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने

स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) छोड़ देने से शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकती। सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तो कर्म-अकर्म का द्वैत-भाव मिटा कर आत्मज्ञान के साम्य-भावयुक्त अपने स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) में प्रवृत्त रहने से होती है (गी० अ० ४ श्लो० १८ से २४, अ० ५ श्लो० २ से ७)।

व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था प्रत्येक शरीर (पिण्ड) की है, वही समष्टि रूप से प्रत्येक समाज अथवा राष्ट्र की, और वही अखिल जगत् (ब्रह्माण्ड) की है। जिस तरह शरीर (पिण्ड) आत्मा की त्रिगुणात्मक व्यष्टि प्रकृति (व्यक्तिगत स्वभाव) का बनाव है, उसी तरह समाज, राष्ट्र और जगत् (ब्रह्माण्ड) आत्मा की त्रिगुणात्मक समष्टि प्रकृति (सबके स्वभाव) का बनाव है; और जिस तरह तीन गुणों के तारतम्य युक्त नाना अङ्गों का समूह शरीर है, उसी तरह तीन गुणों के तारतम्य युक्त अनेक शरीरों (व्यक्तियों) का समूह समाज, राष्ट्र और जगत् है; और जिस तरह शरीर के प्रत्येक अङ्ग के अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार चेष्टाएँ करने से शरीर-यात्रा उत्तमता से होती है, जिससे सभी अङ्गों को शान्ति, पुष्टि और तुष्टि मिलती है, उसी तरह प्रत्येक शरीर (व्यक्ति) के अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार सांसारिक व्यवहार करने से समाज, राष्ट्र और जगत् का धारण एवं पोषण होता है, जिससे सबको शान्ति, पुष्टि और तुष्टि अर्थात् श्रेय की प्राप्ति होती है। जगत् के सभी बनावों में तीनों गुणों का तारतम्य बना रहता है, इसलिए इसमें सूक्ष्म, स्थूल, सौम्य, क्रूर, पवित्र, मलिन आदि सभी तरह के व्यवहारों का होना अनिवार्य है, और वे सभी व्यवहार एक दूसरे पर निर्भर अर्थात् एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं; अतः अपने-अपने स्थान में सभी श्रेष्ठ और सबके लिए हितकर हैं। सांसारिक व्यवहार के लिए सत्वगुण-प्रधान लोगों के बौद्धिक विचार के सूक्ष्म एवं सौम्य कर्मों की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही रजोगुण-प्रधान लोगों के युद्धादिक क्रूर एवं हिंसात्मक कर्मों की, और उतनी ही तमोगुण-प्रधान लोगों के स्थूल एवं मलिन कर्मों की आवश्यकता है। कर्म सब एक ही आत्मा की प्रकृति के अनेक भाव होने के कारण उनमें वस्तुतः अच्छापन या बुरापन, उत्तमता अथवा निकृष्टता कुछ भी नहीं है। अच्छापन या बुरापन, उत्तमता अथवा निकृष्टता कर्ता के भाव से उत्पन्न होती है। दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, व्यक्तित्व के अहङ्कार युक्त किये जाने पर उत्तम, सौम्य एवं पवित्र माने जाने वाले कर्म भी वास्तव में निकृष्ट, क्रूर एवं दूषित होते हैं; और दूसरों के साथ एकता के निश्चय से, अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले जगत् के हित के लिए किये जाने वाले, अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के धर्म अर्थात् अपने कर्तव्य-कर्म, यदि घोर—हिंसात्मक

अथवा हीन एवं मलिन माने जाते हों तो भी वे बहुत श्रेष्ठ एवं पवित्र होते हैं। त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहार में यदि घोर—हिंसात्मक कर्मों तथा मैले साफ़ करने के मलिन कर्मों को निन्दनीय एवं निकृष्ट मान कर छोड़ दिया जाय तो संसार-चक्र चल ही नहीं सकता। जगत् में राजसी-तामसी प्रकृति के भूत-प्राणी भी होते हैं और वे घोर—हिंसात्मक कर्मों ही से शासित हो सकते हैं एवं उपद्रव करने से रोके जा सकते हैं। इसी तरह शरीरों से उत्पन्न मलिनताओं को साफ़ करने ही से लोग सुखपूर्वक रह सकते हैं। यदि घोर—हिंसात्मक कर्मों को कोई न करे तो क्रूर आसुरी स्वभाव के प्राणी जनता को रहने ही न दें; और यदि मैला साफ़ करने का काम कोई न करे तो मुर्दा लाशों एवं कूड़े-कर्कट से जनपद अर्थात् शहर, और गाँव इतने गंदे हो जायँ कि प्रजा का जीना ही कठिन हो जाय, तथा उत्तम और पवित्र माने जाने वाले व्यवहार बनना भी असंभव हो जाय। तात्पर्य यह कि अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार सबके धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म, अपने-अपने स्थान में लोकोपकारी हैं—अतः वे सभी श्रेयस्कर हैं। किसीको भी अपने अथवा दूसरों के स्वाभाविक धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मों को निकृष्ट मान कर उनसे घृणा, तिरस्कार एवं ग्लानि करने का कोई अधिकार नहीं है। यदि अपने स्वाभाविक धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मों को दूसरों से निकृष्ट एवं दोषयुक्त मान कर, उन्हें छोड़ कर दूसरों के धर्म अर्थात् दूसरों के स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म, जो अपने स्वभाव के अनुकूल न हों, स्वीकार किये जायँ तो उनसे बड़ा अनर्थ होता है; क्योंकि दूसरों के कर्तव्य-कर्म करने की योग्यता अपने में नहीं होती, इसलिए उनका तो अच्छी तरह सम्पादन नहीं हो सकता, और अपने कर्म छोड़ दिये जायँ, तब दोनों से भ्रष्ट होना पड़े, जिससे अपना भयानक पतन होने के साथ-साथ समाज अथवा राष्ट्र में भी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय; तथा उसके प्रभाव से संसार-चक्र में भी उस हद तक त्रुटि आजाय। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने स्वाभाविक धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म करने में अपने व्यक्तित्व को मिटा देना चाहिए, अर्थात् अपने पृथक् व्यक्तित्व की अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा में आने वाले जगत् के साथ एकता करके उसके हित में अपना हित और उसके स्वार्थ में अपना स्वार्थ समझते हुए, अपने-अपने शरीरों की स्वाभाविक योग्यतानुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! तो फिर मनुष्य इच्छा नहीं करता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पापाचरण करता है, मानो कोई जबर्दस्ती उससे करवा रहा है। तात्पर्य यह कि जब कि अपने स्वाभाविक धर्म यानी कर्तव्य-कर्म को छोड़ कर दूसरों के धर्म (कर्तव्य-कर्म) का आचरण भयावह (पाप-रूप) होता है, तो फिर मनुष्य (नहीं चाहता हुआ भी) बलात् उसमें क्यों लगता है—अपनी इच्छा से तो भयावह कर्म में कोई भी प्रवृत्त नहीं होता (३६)। भगवान् बोले कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम और यह क्रोध, जो बहुभोजी (कभी तृप्त न होने वाला) और महापापी है, इसीको तू इस विषय में (अपना) बैरी जान। तात्पर्य यह कि विषय-सुखों, धन, मान, कीर्ति, परिवार, स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति आदि अनन्त प्रकार की कामनाएँ, जो दूसरों से अपनी पृथकता के राजस ज्ञान से उत्पन्न होती हैं, और जो कभी शान्त नहीं होतीं तथा जिनकी पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होकर बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं, वे ही मनुष्य को अपने धर्म से विमुख करती हैं (३७)।

जिस तरह धुएँ से अग्नि आच्छादित होती है, और जिस तरह मैल से दर्पण और झिल्ली (जरायु-चर्म) से गर्भ ढका रहता है, उसी तरह इस (काम) से यह (आत्मज्ञान) ढका हुआ है (३८)। हे कौन्तेय! ज्ञानी की इस सदा की शत्रु, कभी तृप्त न होने वाली काम-रूपी अग्नि से ज्ञान ढका हुआ है। तात्पर्य यह कि कभी शान्त न होने वाले काम यानी व्यक्तिगत स्वार्थों की तरह-तरह की कामनाएँ ही आत्मज्ञान को घेरे रखती हैं, इसलिए सर्वभूतात्मैक्य (सबकी एकता के) ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में यह (काम) सदा ही विघ्न करता है (३९)। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके रहने के स्थान कहे जाते हैं; इन्हींके द्वारा आत्मज्ञान को आच्छादित करके, यह जीवात्मा को मोहित करता है। तात्पर्य यह कि यह काम ही इन्द्रियों, मन और बुद्धि में रह कर इनको बहिर्मुख रखता है, जिससे जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने पाता (४०)। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ! तू पहले इन्द्रियों को अपने वश में करके, (आत्म) ज्ञान और (लौकिक) विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी को मार डाल (४१)। (स्थूल पदार्थों से) इन्द्रियाँ परे अर्थात् ऊपर कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि है, तथा जो बुद्धि से भी परे है, वह (आत्मा) है (४२)। हे महाबाहो! इस प्रकार बुद्धि से परे उस (आत्मा) को जान कर, अपने वास्तविक आप—आत्मा में स्थित होकर, काम रूपी दुर्जय शत्रु को मार (४३)।

स्पष्टीकरण—३५ वें श्लोक में भगवान् ने व्यक्तित्व के भाव से रहित होकर अपने स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्मों) का आचरण करना श्रेयस्कर, और पराये धर्मों का आचरण भयावह बताया। यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जब अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म हीन एवं सदोष हों तो भी कल्याणकर होते हैं, और दूसरों के धर्म उत्तम हों, तो भी वे भयानक पाप-रूप होते हैं, तो फिर अपने कर्म छोड़ कर दूसरों के कर्म करने रूपी पापों में लोगों की प्रवृत्ति क्यों होती है? जान-बूझ कर दुःखदायक पापाचरण में पड़ना तो कोई नहीं चाहता। यद्यपि स्वयं अर्जुन की भी पापाचरण करने की इच्छा बिलकुल नहीं थी, फिर भी वह विवश होकर युद्ध करने के अपने क्षात्र-धर्म को छोड़ कर भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने आदि पराये धर्म को स्वीकार करने को उद्यत क्यों हो रहा था? इस विवशता का क्या कारण है? इस विषय का विशेष-रूप से खुलासा करने के लिए, अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि रजोगुण से उत्पन्न काम और उसकी प्रतिक्रिया क्रोध ही सम्पूर्ण अनर्थों का कारण है; अर्थात् जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नताओं को सच्ची मानने के अयथार्थ राजस ज्ञान से मनुष्य अपने को दूसरों से पृथक् मान कर

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में अहंभाव यानी देहाभिमान कर लेता है, और उन शरीरों के लिए अनन्त प्रकार की अस्वाभाविक एवं अनावश्यक उपाधियाँ अपने (आत्मा) से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त करने की कामनाएँ करता रहता है, इसीसे विरुद्धाचरण होते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो शरीरों की वास्तविक आवश्यकताएँ तो भूख-प्यास आदि प्राकृतिक वेगों को शान्त करने मात्र की होती हैं, जिनकी पूर्ति के साधन सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। प्राकृतिक आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति के साधन (समष्टि) प्रकृति साथ ही उत्पन्न कर देती है, जो अपने-अपने स्वाभाविक धर्म यानी कर्तव्य-कर्म करने से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु अधिकाँश लोग केवल शरीरों की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र ही से सन्तोष नहीं करते, किन्तु इन्द्रियों से नाना प्रकार के अनावश्यक विषय भोगने की कामनाएँ करते हैं; मन से धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि उपाधियों की कामनाएँ करते हैं; और बुद्धि से सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आचरणों द्वारा इस लोक में कीर्ति एवं मरने के बाद परलोक में भोग्य पदार्थों एवं स्वर्गादि सुखों, अथवा मुक्ति—अपने आप=आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र से—प्राप्त करने की कामनाएँ करते रहते हैं। संसार में उक्त कल्पित विषय-भोग तथा उपाधियाँ एवं सुख आदि असीम एवं अनन्त हैं, अतः उनकी प्राप्ति की चाहनाओं का कोई अन्त नहीं आता—उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी लगातार उत्पन्न होती रहती हैं। उनसे कभी तृप्ति नहीं होती और न किसी मनुष्य की सभी चाहनाओं की पूर्ति ही होती है। अतः उक्त चाहनाओं रूपी काम की प्रतिक्रिया से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। फिर लोभ और क्रोध मनुष्य का विवेक दबा देते हैं, फलतः वह अनेक प्रकार के कुकर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि राजस काम (पृथक्ता के ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की चाहना) ही सब अनर्थों का मूल है। इसीसे मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म (धर्म) को छोड़ कर दूसरों के धर्म का आचरण करने का पाप करता है। अर्जुन को भी पृथक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न काम से ही अपना क्षात्र-धर्म छोड़ कर भिक्षा आदि दूसरों के धर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा हुई थी। यद्यपि वह बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य था, इसलिए इन्द्रियों के विषयों और मानसिक (कल्पित) उपाधियों को तुच्छ समझ कर, उनकी चाहनाओं में तो आसक्त नहीं था, परन्तु धर्म-नाश के दोष एवं हिंसा के पाप तथा नरक-प्राप्ति के भय से बचने के विचार से वह युद्ध से हटना चाहता था। दूसरे शब्दों में सामाजिक एवं साम्प्रदायिक धर्म की रक्षा करने से, एवं अहिंसा आदि के पुण्य से उत्पन्न स्वर्ग एवं

कल्याण की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना, जो उसकी बुद्धि को घेरे हुए थी, उसीके कारण वह अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म को छोड़ कर पर-धर्म स्वीकार करने को उद्यत हुआ था। सारांश यह कि दूसरों से अपनी पृथक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना ही सारे अनर्थों का कारण है। यदि अर्जुन स्थूल शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि से भी सूक्ष्म और इन सब पृथक्ताओं से परे, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, नित्य, सदा एक-सा रहने वाले एकत्व-भाव, सबके अपने वास्तविक आप—आत्मा के सत्य (सात्विक) ज्ञान में स्थिति कर लेता तो वह जगत् की सारी पृथक्ताओं को एक ही आत्मा के अनेक नाम और रूपों का कल्पित बनाव अर्थात् अपना ही खेल जान लेता, और तब उसे अपने से भिन्न धर्म, पुण्य, स्वर्ग एवं कल्याण आदि की अन्यत्र से प्राप्ति की कामना नहीं रहती, और न अपने शरीर के स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) छोड़ने का भाव ही उसके अन्तःकरण में उत्पन्न होता। इसलिए अर्जुन को निमित्त करके भगवान् सबको उपदेश देते हैं कि बुद्धि से भी परे जो सबका एकत्व-भाव—अपना वास्तविक आप=आत्मा है, उसमें अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति करके, सब अनर्थों के कारण इस राजस काम पर विजय प्राप्त करो। इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर इस (काम) का प्रभाव रहता है, परन्तु इन सबसे परे, सबके स्वामी आत्मा के अनुभव से इस पर विजय प्राप्त हो सकती है। जिस तरह किसी प्रबल शत्रु पर विजय पाने के लिए, उससे भी अधिक प्रबल शक्ति की सहायता लेना आवश्यक होता है, उसी तरह राजस काम रूपी महाबली शत्रु पर विजय पाने के लिए, आत्मज्ञान रूपी सबसे अधिक बलवान् शक्ति का आश्रय लेना ही एक मात्र उपाय है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान ही से मनुष्य अपना धर्म यथायोग्य ठीक-ठीक पालन कर सकता है; इसलिए सबकी एकता का सात्विक ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रथम और आवश्यक कर्तव्य है। यहाँ जो काम रूपी शत्रु को मार डालने को कहा है, उसका तात्पर्य काम का वस्तुतः अभाव कर देना नहीं है, किन्तु उसका राजसीपन अर्थात् दूसरों से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव, जो सब अनर्थों का हेतु है उसको, पलट कर सबकी एकता के सात्विक ज्ञान-युक्त सबके हित-संपादन के काम में परिणत कर देना है। गुणी का विशेष गुण पलट देना ही उसको मार देना है। किसी भी पदार्थ का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता। धर्म के अविरुद्ध सात्विक काम को तो भगवान् ने अपनी विशेष विभूतियों में गिनाया है (गी० अ० ७ श्लो० ११)। सबकी एकता के सात्विक

ज्ञानयुक्त अपने-अपने स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) पालन करने के लिए सांसारिक पदार्थों के उपयोग की इच्छा—सात्विक काम है। इस सात्विक काम से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु जगत् के व्यवहार अर्थात् लोक-संग्रह के लिए यह आवश्यक होता है।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चौथा अध्याय
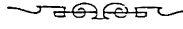
दूसरे और तीसरे अध्याय में कथित समत्व-योग की प्राचीनता, नित्यता एवं उसका महत्त्व आगे के तीन श्लोकों में भगवान् कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि यह अविनाशी समत्व-योग मैंने विवस्वान्—सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा (१)। इस तरह (उत्तराधिकार की) परम्परा से प्राप्त, इस (समत्व-योग) को राजर्षियों ने जाना। हे परन्तप ! वह समत्व-योग दीर्घ काल पाकर इस लोक (मनुष्य समाज) से नष्ट (लुप्तप्राय) हो गया था (२)। यह वही प्राचीन समत्व-योग है, जो अब मैंने तुझे बतलाया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा (मित्र) है; यह (समत्व-योग) अत्यन्त ही उत्तम रहस्य अर्थात् तत्त्वज्ञान का मर्म है (३)।

स्पष्टीकरण—सबका आत्मा = परमात्मा अपनी एक विशेष विभूति—सूर्य रूप से समत्व-योग के आचरण द्वारा जगत् का धारण-पोषण करता है, अतः जगत् में सूर्य द्वारा इस समत्व-योग का प्रचार हुआ और सूर्य द्वारा ही यह समत्व-योग जगत् में सदा विद्यमान रहता है। सूर्य सदा नियमित रूप से सारे ब्रह्माण्ड को समान भाव से प्रकाशित करता और गति देता है। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की विषमता नहीं है, न उसका किसीके साथ राग अथवा द्वेष है। वह सदा अपने केन्द्र अविचल रहता हुआ निरन्तर प्रकाश और उष्णता फेंकता रहता है—जिसकी

जैसी योग्यता हो उसके अनुसार उनका उपयोग करे—इससे सूर्य में कोई विकार नहीं होता। वह अपना कर्तव्य नियमित रूप से पालन करने में अटल रहता है, कभी त्रुटि नहीं करता। ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे, उत्कृष्ट-निकृष्ट, पवित्र-मलिन आदि में वह भेद नहीं करता, सब पर एक समान प्रकाश डालता और जीवन देता है। वह किसीमें ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, न कोई उसका निज का स्वार्थ ही होता है; केवल लोक-संग्रह अर्थात् जगत् को धारण करने के लिए ही उसका अस्तित्व है। तात्पर्य यह कि सूर्य में स्वभाव ही से समत्व-योग के आचरण का आदर्श है और इस प्रत्यक्ष आदर्श द्वारा समत्व-योग का उपदेश सब कोई ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए जब तक सूर्य है तब तक यह समत्व-योग भी जगत् में विद्यमान है। देश-भेद, काल-भेद और समाज-भेद से वह बदलता हुआ भिन्न-भिन्न रूपों में भले ही रहे, परन्तु वह सर्वथा नष्ट कभी नहीं हो सकता।

सूर्य से उक्त समत्व-योग को मानव-समाज के आदि व्यवस्थापक एवं सबसे पूर्ववर्ती राजा मनु ने ग्रहण करके इसके आधार पर मनुष्य समाज को सुव्यवस्थित रखने की योजना की। मनु से इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ और इक्ष्वाकु से उसके पीछे के राजाओं में वंश और राज्य-परम्परा से यह प्रचलित रहा। तात्पर्य यह कि मनुष्य समाज की व्यवस्था के आरम्भ ही से यह समत्व-योग प्रधानतया राजाओं की विद्या चली आ रही है, क्योंकि निर्दोष राज्य-शासन के लिए इस विद्या का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। जिस तरह सूर्य समत्व-योग के आचरण द्वारा सबको उसी समत्व-योग का उपदेश देता है, उसी तरह राजा भी स्वयं इस समत्व-योग का आचरण करके अपनी प्रजा में इसका प्रचार करता रहे, तभी राज्य और समाज की सुव्यवस्था रह सकती है; इसलिए राजा के लिए इस समत्व-योग अर्थात् ब्रह्म-विद्या का जानना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु संसार के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण, काल पाकर यह समत्व-योग समाज-विशेष से लुप्त हो जाया करता है, जिससे उस समाज में बहुत विश्रृङ्खलता आ जाती है। द्वापर-युग में यही अवस्था हो गई थी, जिसके परिणाम-स्वरूप सब लोग बहुत दुखी हो गये थे; तब सबके अन्तःकरण की सम्मिलित प्रेरणा के फल-स्वरूप, सर्वात्मा=परमात्मा ने, भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अवतार धारण करके उसी समत्व-योग का पुनः प्रचार करने के लिए, अर्जुन को निमित्त बना कर संसार को फिर से उसका उपदेश दिया। उस समत्व-योग के रहस्य को अच्छी तरह समझने और उसके अनुसार आचरण करने के लिए, प्रथम श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सद्गुरु से उपदेश लेने की, और निःसंकोच होकर प्रश्न करके, चित्त के सन्देह मिटा कर उस उपदेश को अच्छी तरह समझने और धारण करने की और फिर उसके

अनुसार आचरण करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। अर्जुन में इन सभी बातों की योग्यता थी। भगवान् श्रीकृष्ण का वह भक्त था, इसलिए उनके उपदेश में उसकी श्रद्धा थी; साथ ही साथ उनसे मित्रता का भाव होने के कारण निःसङ्कोच होकर खूब अच्छी तरह प्रश्न करके सब प्रकार के सन्देह मिटाने की योग्यता भी उसमें थी; और कार्य-कुशल एवं वीर क्षत्रिय होने के कारण समत्व-योग का आचरण भी वह यथायोग्य अच्छी तरह कर सकता था; इसलिए वह इस उपदेश का पूर्ण अधिकारी था।

× × ×

उपरोक्त प्रसङ्ग को लेकर, अर्जुन के पूछने पर भगवान् सर्वव्यापक आत्मा की नित्यता, अपने सर्वात्म-ईश्वर-भाव, तथा जीवात्मा और परमात्मा के कल्पित भेद एवं वास्तविक अभेद का खुलासा करके, फिर कर्म करने में मनुष्यों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन आगे करते हैं।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सवशः ॥ ११ ॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य बहुत पहले का है, अतः मैं कैसे जानूँ कि यह (समत्व-योग) आप ही ने पहले कहा है (४)। श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु हे परंतप ! तू नहीं जानता। तात्पर्य यह कि मुझ (ईश्वर) को अपने स्वरूप यानी सबके वास्तविक अपने आप= आत्मा की एकता, नित्यता एवं सर्वव्यापकता का पूर्ण-रूप से अनुभव होने के कारण मैं सर्वज्ञ हूँ, अतः भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की सब बातों को मैं जानता हूँ, इसलिए तेरे और मेरे अनेक जन्मों का मुझे ज्ञान है; परन्तु तू अपने व्यक्तित्व के भाव-जन्य देहाभिमान में आसक्ति रखने के कारण अल्पज्ञ है, इसलिए तुझे अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान नहीं है (५)। मैं (सबका) आत्मा जन्म से रहित, निर्विकार और सब भूत-प्राणियों का ईश्वर होता हुआ भी, अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर, अपनी (योग) माया से (विशेष रूपों में) प्रकट होता हूँ। तात्पर्य यह कि मैं, सबका अपना आप—समष्टि-आत्मा वास्तव में अनादि, अजन्मा और निर्विकार होता हुआ भी अपने स्वभाव ही से, सब भूत-प्राणियों के स्वामी-भाव से अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता पूर्वक अनेक रूप धारण करता हूँ (६)। हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म बढ़ जाता है, तब-तब

मैं अपने विशेष रूप को रचता हूँ अर्थात् विभूति-संपन्न रूप धारण किया करता हूँ। भले आदमियों की रक्षा और दुष्टों के नाश तथा धर्म की (पुनः) अच्छी तरह स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ। तात्पर्य यह कि जब-जब लोगों में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव कम होकर पृथक् व्यक्तित्व के भाव अत्यन्त बढ़ जाने के कारण अधिकतर मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने-अपने धर्म (स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म) छोड़ कर दूसरों के धर्मों‡ का आचरण करने रूपी अधर्म में विशेषतया प्रवृत्त हो जाते हैं और अनीति एवं अत्याचार करते हैं, जिससे जगत् में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब मैं (सबका आत्मा) परिस्थिति के अनुसार स्वेच्छा से विशेष रूपों में प्रकट होकर, अपने कर्तव्यों पर आरूढ़ रहने वाले श्रेष्ठ लोगों की रक्षा और कर्तव्य-विमुख दुराचारियों का नाश करके जगत् और समाज की सुव्यवस्था रखने वाले धर्म की पुनः स्थापना किया करता हूँ (७-८)। मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जो इस प्रकार तत्त्व से जानता है, वह शरीर छोड़ने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझमें मिल जाता है। तात्पर्य यह कि जो इस रहस्य को अच्छी तरह तात्त्विक विचार करके समझ लेता है कि सबका आत्मा=परमात्मा स्वेच्छा से स्वतन्त्रता-पूर्वक जन्म धारण करता और सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी वास्तव में अजन्मा, अकर्ता, निर्लेप और निर्विकार ही रहता है, दूसरे शब्दों में जो अपने वास्तविक आप—आत्मा के असली स्वरूप (समष्टि-भाव) को याथातथ्य जान लेता है, वह स्वयं सर्वात्म-भावापन्न ईश्वर अथवा परमात्म-स्वरूप हो जाता है यानी उसका जीव-ईश का भेद मिट जाता है—फिर वह अज्ञानी जीवों की तरह परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता (९)। बहुत से लोग मेरे (सर्वात्मा=परमात्मा के) साथ तन्मय होकर, अर्थात् मन को सबके अपने आप= आत्मा में जोड़ कर, मेरे आश्रय से अर्थात् आत्म-विश्वास से राग, भय और क्रोध से रहित होकर एवं आत्मज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर, मेरे भाव में आ मिले हैं। तात्पर्य यह कि अनेक लोग मेरा अवलम्बन करके, द्वैत-भाव छोड़ कर अपने वास्तविक आप—सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक एवं नित्य आत्मा के एकत्व-भाव के अनुभव द्वारा जगत् के स्वामी मुझ (ईश्वर-स्वरूप) में समा गये हैं। सारांश यह कि आत्मा जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है—चाहे वह व्यक्तित्व के भाव से जीव होकर परवशता से जन्मे-मरे और कर्मों के बन्धनों में बन्धा रहे, अथवा समष्टि-भाव से ईश्वर-स्वरूप होकर स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहार करे (१०)। जो मुझ (सबके अपने-आप, सर्व-व्यापक आत्मा) को जिस तरह का मान कर

‡ तीसरे अध्याय के श्लोक ३२ से ३५ तक का स्पष्टीकरण देखिए।

वर्ताव करते हैं, (उसीकी प्रतिक्रिया-स्वरूप) मैं (सर्वव्यापक आत्मा) उनके साथ उसी तरह व र्ता हूँ। हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे अर्थात् सबके अपने-आप सर्वव्यापक आत्मा ही के मार्ग का अनुसरण करते हैं। तात्पर्य यह कि जो लोग व्यष्टि-भाव में अहङ्कार करके अपने-आप (आत्मा) को जिस तरह का मान कर आचरण करते हैं, उसीके अनुसार वे हो जाते हैं और उसीके अनुसार उनके इर्द-गिर्द के जगत् के बनाव बन जाते हैं, और जगत्-रूपी जगदीश्वर उसीके अनुसार उनके साथ वर्ताव करता है (११)। यहाँ (मनुष्य-देह में) कर्मों की सिद्धि चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन करते हैं; वस्तुतः मनुष्य-लोक में कर्मों के फल शीघ्र ही उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि कई लोग अपने कर्मों की सिद्धि के लिए दैवी शक्तियों को आत्मा से भिन्न मान कर उनकी उपासना करते हैं; उनको उस उपासना में लगे हुए अपने मन की भावना और एकाग्रता के प्रभाव से अपने-अपने कर्मों के अनुसार बहुत जल्दी सफलता मिलती है। वास्तव में मनुष्य (स्त्री-पुरुष) की देह में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है, अतः यह कर्म-भूमि है; और इसी देह में मनुष्य अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करता है। इस देह में जितने ही अधिक मनोयोग से कर्म किये जाते हैं, उतनी ही जल्दी और उतनी ही अधिक उन कर्मों के अनुसार सफलता प्राप्त होती है (१२)। मेरे (समष्टि-भावापन्न आत्मा के) द्वारा गुणों के अनुसार कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। उस (व्यवस्था) का कर्ता होते हुए भी मुझ (सबके आत्मा) को निर्विकार एवं अकर्ता ही जान। मुझ (सबके आत्मा) को कर्मों का कोई लेप नहीं होता; (क्योंकि) मुझ (सबके आत्मा) को कर्मों के फल की चाह नहीं रहती। इस तरह जो मुझ (सबके अपने-आप—आत्मा) को यथार्थतया जानता है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता अर्थात् कर्मों के आधीन नहीं होता। पूर्वकाल में भी कर्मों के बन्धनों से मुक्त रहने की इच्छा रखने वालों ने इसी तरह जान कर अर्थात् इसी ज्ञान-युक्त कर्म किये हैं। अतः जिस तरह पहले वालों ने बहुत पहले कर्म किये हैं, उसी तरह तू भी कर्म ही कर। तात्पर्य यह कि यद्यपि जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त, शरीरों के भिन्न-भिन्न स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार कर्म करने की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष द्वारा निर्मित हुई है, क्योंकि सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष सब लोगों की सम्मिलित इच्छाओं और सबकी सम्मिलित शक्ति एवं सबके सम्मिलित ज्ञान का केन्द्र होता है, इसलिए जो-जो व्यवस्थाएँ समष्टि-समाज के लिए समय-समय पर आवश्यक, उपयोगी और हितकर होती हैं, उन्हें सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष ही निर्माण करता है; परन्तु यह सब-कुछ करता हुआ भी वास्तव में वह निर्विकार—अकर्ता ही रहता

क्योंकि सर्वव्यापक आत्मा में कर्ता, कर्म और कर्म-फल की कोई भिन्नता नहीं रहती। इसलिए जिसको उक्त सर्वात्म-भाव का अनुभव हो जाता है, उसे किसी कर्म के फल की इच्छा नहीं रहती; अतः सब कर्म करते हुए भी उसको कर्मों का कोई बंधन नहीं होता (१३ से १५)।

स्पष्टीकरण—भगवान् ने जब यह कहा कि इस समत्व-योग (ब्रह्म-विद्या) का उपदेश मैंने ही पहले पहल सूर्य द्वारा लोगों को दिया था, तो इस पर स्थूल (भौतिक) दृष्टि के (देहाभिमानी) साधारण लोगों को इस शङ्का का होना स्वाभाविक ही है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो द्वापर-युग के अन्त में वसुदेवजी के घर जन्मे थे, और सूर्य एवं मनु आदि बहुत पहले ही हो चुके थे, फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने इस ब्रह्म-विद्या का उपदेश सबसे पहले कैसे दिया? इस शंका के समाधान के निमित्त, अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक १२ से ३० तक कहे हुए आत्मज्ञान के आधार पर इस विषय का खुलासा करते हैं। भगवान् कहते हैं कि एक ही अज, अविनाशी, सम, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा आत्मा अपनी स्वाभाविक इच्छा से अनेक रूप धारण करता है। व्यष्टि-भाव से वह नाना जीव रूप होकर पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार करके अनेक प्रकार के कर्मों द्वारा जीव-रचित सृष्टि निर्माण करके अपने को उन्हीं कर्मों के आधीन मानता है, और अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल कर देह में अभिमान करके अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, उत्पत्ति-नाशवान्, सदा परिवर्तनशील, एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से युक्त मानता है, और वर्तमान शरीर के ज्ञान के अतिरिक्त भूत और भविष्य का ज्ञान साधारणतया नहीं रखता; और वही ब्रह्म अथवा आत्मा समष्टि-परमात्म-भाव से अपने वास्तविक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्वरूप का यथार्थ अनुभव रखता हुआ, अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति (इच्छा-शक्ति) के स्वामी रूप से जगत् की व्यवस्था करता है। उक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण जगत् में निरन्तर उलट-फेर होता रहता है, और उस उलट-फेर में जब व्यष्टि-भावापन्न देहाभिमानी लोग अपने व्यक्तित्व के अहंकार से व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए विरुद्धाचरण करके जगत् में अत्यन्त विषमता उत्पन्न कर देते हैं, जिससे अव्यवस्था होकर घोर अशान्ति फैल जाती है, और सब लोग उस अव्यवस्था से बहुत व्याकुल हो जाते हैं, तब उस अशान्ति से निस्तार पाने की सबकी सम्मिलित आतुरता की प्रतिक्रिया-स्वरूप वह समष्टि-भावापन्न आत्मा (परमात्मा) परिस्थिति के उपयुक्त किसी विशेष महापुरुष के रूप में प्रकट होकर विरुद्धाचरण करने वाले अत्याचारियों

का, यथायोग्य शिक्षा अथवा दण्ड द्वारा शमन करके, तथा अपने स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) पर आरूढ़ रहने वाले सज्जनों का (उन अत्याचारियों से) उद्धार करके एवं उक्त विषमता का सामंजस्य करके पुनः सुव्यवस्था स्थापित करता है। जिस तरह, (१) किसी राष्ट्रीय राज्य में जब व्यक्तिगत स्वार्थों के संघर्ष से विषमता बहुत बढ़ जाती है, तब जनता अनेक प्रकार के क्लेशों से अत्यन्त पीड़ित हो जाती है और समाज-सङ्गठन अस्त-व्यस्त हो जाता है; उस दशा में उस राष्ट्र के जिस महान् व्यक्ति में सारे राष्ट्र की एकता का पूर्ण भाव होता है और जनता का जिसमें विशेष विश्वास होता है तथा जिसमें राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँध कर उसका ठीक-ठीक संचालन करने की योग्यता एवं शक्ति होती है, वह आगे आकर अत्याचारियों को दण्ड देने एवं भले आदमियों की रक्षा करने द्वारा शान्ति-स्थापन करता है; अथवा, (२) किसी साम्राज्य के किसी विशेष प्रान्त में उक्त प्रकार की अशान्ति अथवा विप्लव होने पर राष्ट्रपति अथवा सम्राट् परिस्थिति के उपयुक्त एवं आवश्यकता के अनुसार किसी विशेष रूप में वहाँ जाकर उपरोक्त उपायों द्वारा शान्ति-स्थापन करता है; उसी तरह, सबका एकत्व-भाव अर्थात् समष्टि आत्म-शक्ति=परमात्मा अथवा ईश्वर अपने संसार रूपी साम्राज्य में कहीं पर अशान्ति उत्पन्न होने पर किसी विशेष विभूति-सम्पन्न व्यक्ति के रूप में वहाँ अवतार लेकर शान्ति-स्थापन करता है। यद्यपि राष्ट्रपति अथवा सम्राट् अपने राज्य की सुव्यवस्था के लिए किसी विशेष प्रान्त में एक विशेष व्यक्ति के रूप में कार्य करता है, परन्तु उसका राष्ट्रपति अथवा सम्राट् का भाव ज्यों का त्यों बना रहता है, तथा उसकी राज्य-सत्ता की दुहाई और उसके दण्ड-विधान के कानून आदि ज्यों के त्यों सारे राज्य में समान भाव से व्यापक रहते हैं; दूसरे शब्दों में समष्टि-भाव से वह अपने साम्राज्य की सीमा में सर्वव्यापक रहता है; तथा दुष्टों को दण्ड देने और भले आदमियों की रक्षा करने आदि के कर्म करता हुआ भी वास्तव में वह उन कर्मों से नहीं बंधता, क्योंकि उन कर्मों में उसका व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, किन्तु उसके वे कर्म सारी प्रजा की एकता के साम्य-भाव-युक्त सारे राज्य की सुव्यवस्था के लिए होते हैं। इसलिए सब-कुछ करता हुआ भी वह उन कर्मों के सम्बन्ध में वस्तुतः अकर्ता ही रहता है, और श्रेष्ठ तथा दुष्ट सबको अपनी प्रजा ही समझता है। इसी तरह समष्टि आत्म-शक्ति अथवा परमात्मा अथवा ईश्वर, जगत् अथवा समाज को धारण करने और उसे सुव्यवस्थित रखने के लिए परिस्थिति के उपयुक्त किसी विशेष व्यक्ति के रूप में प्रकट होकर आवश्यकतानुसार आचरण करता है, तो भी उसकी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता आदि सर्वात्म-ईश्वर-भाव में कोई

फर्क नहीं आता और न उसे कर्मों का कोई बन्धन ही होता है, क्योंकि उसके कर्म किसी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं होते, किन्तु समष्टि-हित के लिए होते हैं; इसलिए वास्तव में वह अकर्ता ही रहता है; और दुष्टों का दमन एवं सज्जनों की रक्षा करता हुआ भी वह उन दुष्टों तथा सज्जनों अथवा जगत् के किसी भी पदार्थ को अपने से भिन्न नहीं समझता, किन्तु सबको अपने ही विराट् शरीर के अनेक अङ्ग अनुभव करता है ❀।

जिस तरह व्यष्टि-भाव में अत्यन्त आसक्त लोग अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों को हानि पहुँचाने के अपराध में जेल जाते हैं और जेलख़ाने में क़ैदी की हैसियत से बन्धन में रहते हैं, तथा जेल के क्लेश भोगते हैं; और कभी-कभी राजा भो जेल की सुव्यवस्था के उद्देश्य से जेलख़ाने के अन्दर जाता है और उसके प्रबन्ध में यदि गड़बड़ देखता है तो ठीक करता है। इस प्रकार जेलख़ाने के अन्दर अपराधी क़ैदी भी जाता है और राजा भी, और वहाँ जाना या न जाना क़ैदी के भी अधिकार में है और राजा के भी अधिकार में है; अन्तर इतना ही है कि क़ैदी अपने व्यक्तित्व के भाव के कारण कुकर्म करके अपने लिए पहले बन्धन उत्पन्न कर लेता है, फिर उनका फल भोगने के लिए परवशता से जेल जाता है, और राजा अपनी सारी प्रजा की एकता के भाव से, सबके हित के लिए जेल की सुव्यवस्था करने को स्वतन्त्रतापूर्वक जाता है। इसलिए क़ैदी, जेल जाना दुःख और बन्धन रूप समझता है, परन्तु राजा को कोई दुःख या बन्धन प्रतीत नहीं होता। इसी तरह व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा व्यक्तित्व के अहङ्कार से व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए नाना प्रकार की वासनाओं के बन्धन में बँध कर अपनी वासनानुसार नाना शरीरों को धारण करता और छोड़ता है, जिसको वह अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण परवशता से जन्मना, मरना और नाना प्रकार के क्लेश भोगना मानता है; परन्तु ईश्वर-स्वरूप सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, अतः वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक शरीर धारण करता और छोड़ता है, और ऐसा करने में उसको कोई क्लेश या बन्धन प्रतीत नहीं होता।

यद्यपि व्यष्टि-भावापन्न प्रत्येक जीवात्मा में भी वही ईश्वरीय शक्ति अव्यक्त रूप से मौजूद है, परन्तु जब तक वह अपने-आपको पृथक् शरीरों के संकुचित भाव में सीमाबद्ध मानता है, तब तक अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परवश एवं तुच्छ

❀ इस विषय का विशेष खुलासा भगवान् ने गीता के १० वें और ११ वें अध्याय में किया है।

जीव रहता है। जब यह व्यष्टि-भाव की मान्यता दूर करके अपने असली सर्वात्म-भाव का पुनः अनुभव कर लेता है, तब ईश्वर-स्वरूप हो जाता है। जिस तरह, (१) एक बीज के अन्दर वृक्ष होने की शक्ति सूक्ष्म-रूप से मौजूद रहती है, और जब तक उक्त शक्ति का विकास नहीं होता, तब तक वह एक छोटा-सा बीज ही रहता है, परन्तु जब उस शक्ति का विकास हो जाता है तब वही अनन्त बीजों का आधार वृक्ष हो जाता है; उसी तरह छोटी-सी जीव-शक्ति में महान् ईश्वर-शक्ति मौजूद है अर्थात् अन्तवान् व्यष्टि शरीरों में अनन्त समष्टि आत्म-शक्ति मौजूद है—उसका जैसा और जितना विकास होता है उतनी ही वह व्यक्त और विस्तृत हो जाती है। अथवा जिस तरह, (२) एक राष्ट्रीय राज्य के प्रत्येक व्यक्ति में समष्टि राज्य-सत्ता मौजूद रहती है और उसको सारे राज्य-शासन में योग देने के पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं, यदि वह अपने व्यक्तित्व का भाव कम करके अपने राष्ट्र की एकता के कार्यों में योग देने लगे तो राज्य-शासन के सभी कार्य कर सकता है, और जितना ही व्यक्तित्व का भाव कम करके राष्ट्रीय एकता का भाव अधिक करता है तथा राष्ट्र के लिए अधिक स्वार्थ-त्याग करता है उतना ही राज्य-शासन के उच्च अधिकार प्राप्त करता है, और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया राष्ट्र के अर्पण कर देने से वह राष्ट्रपति भी हो सकता है; उसी तरह जीवात्मा अपने व्यक्तित्व का भाव ज्यों-ज्यों कम करता है, त्यों-त्यों कर्म-रूप जगत् पर अधिक आधिपत्य प्राप्त करता है, और जो अपने व्यक्तित्व को अपने समष्टि-भाव के व्यक्त स्वरूप जगत् से पूर्ण एकता कर देने द्वारा अपने असली स्वरूप का पूर्ण अनुभव कर लेता है, वह स्व ईश्वर-स्वरूप हो जाता है।

जीवात्मा वस्तुतः परमात्मा ही का व्यष्टि-भाव होने के कारण जैसी इच्छा करता है वैसा ही स्वयं बन जाता है, और अपनी इच्छा के अनुसार ही कर्मों द्वारा अपनी सृष्टि निर्माण करके उसमें वर्तता है तथा अपनी निर्माण की हुई कर्म-रूप सृष्टि के भोग भोगता है। यह कहावत ठीक है कि "जिसकी जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है" यानी अपने से सम्बन्ध रखने वाली अपने इर्द-गिर्द की सृष्टि अपनी ही भावना के अनुसार बन जाती है—अपनी सृष्टि का रचयिता मनुष्य आप ही है। जिस तरह मकड़ी आप ही तार फैला कर उसके ऊपर चलती है, उसी तरह मनुष्य सब प्रकार से अपने आत्मा ही के रचे हुए जगत् में व्यवहार करता है; आप ही अपने को एक विशेष व्यक्ति मान कर अपने लिए शरीर रचता है और उस शरीर के लिए आचरणीय कर्म नियत करता है; परन्तु अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप की विस्मृति के कारण उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना करता है, और उस स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपने से भिन्न देवताओं आदि को मान कर उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए उनकी उपासना

करता है, तब उस उपासना में अपने मनोयोग की दृढ़ता एवं तीव्रता के प्रभाव से सफलता जल्दी मिल जाती है। परन्तु उस सफलता का कारण स्वयं अपने-आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं होता, क्योंकि अपना मन जब एकत्व-भाव में जुड़ता है तभी सफलता होती है। मन को एकता में जोड़ने की योग्यता केवल मनुष्य-देह में ही है। मनुष्य-योनि के सिवाय अन्य योनियों में विचार-शक्ति का विकास न होने के कारण कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है; उनकी सभी चेष्टाएँ स्वाभाविक होती हैं; उनमें न तो कर्तापन का अहङ्कार रहता है, न कर्म करने की ज़िम्मेवारी; अतः वह केवल भोग-भूमि है। परन्तु मनुष्य-देह में विचार-शक्ति का विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है। इस देह में जीवात्मा अपने को प्रकृति के सर्वथा आधीन नहीं मानता, किन्तु वह प्रकृति के ऊपर शासन करने का प्रयत्न करता है और दूसरों से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहङ्कार करता है, इसलिए वह अपने कर्मों का जिम्मेवार होता है और अपने कर्मों के शुभाशुभ फल भी उत्पन्न करता है। इसलिए यह कर्म-भूमि है। इस देह में कर्मों की सिद्धि के पाँच कारणों (गी० अ० १८ श्लो० १३ से १५) की अनुकूलता पूर्वक, अच्छी तरह विधिवत् किये हुए कर्मों की सिद्धि अवश्य होती है। परन्तु जो लोग कर्मों के फल के लिए दैवी शक्तियों की उपासना करते हैं, वे अपने मनोयोग की शक्ति के प्रभाव से फल जल्दी उत्पन्न कर लेते हैं। जैसे बिजली आदि तेज मसाले की शक्ति के उपयोग से वनस्पतियों के फल जल्दी उत्पन्न किये जाते हैं, उसी तरह मानसिक शक्ति से कर्मों के फल जल्दी उत्पन्न किये जा सकते हैं। सारा जगत्-प्रपञ्च मन के सङ्कल्पों की रचना है, अतः एकाग्र किये हुए मन के तीव्र सङ्कल्प से कर्मों की सिद्धि तत्काल ही हो सकती है। सारांश यह कि जो अपने-आपको जैसा मानता है वैसा ही वह बन जाता है। यदि अपने को एक स्थूल शरीर का पुतला अथवा एक तुच्छ, अल्पज्ञ, कर्मों के बन्धनों से बँधा हुआ जीव मानता है और ईश्वर को अपने से भिन्न—कोई विशेष व्यक्ति मानता है तो उसके लिए वैसा ही हो जाता है; क्योंकि सृष्टि कल्पनामय है, जैसी कल्पना होती है वैसा ही बनाव बन जाता है। मनुष्य-देह में ही यह योग्यता है कि जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण करके चाहे जैसा बन जाय। यदि अपने लिए आधिभौतिक और आधिदैविक सुखों की प्राप्ति के निमित्त देवताओं की उपासना करता है तो अपनी भावना के अनुसार उन्हीं द्वारा उसका फल उत्पन्न करके भोगता है*; और यदि अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा का अनुभव कर लेता है तो ईश्वर-स्वरूप हो जाता है।

---

* देवताओं की उपासना से कामनाओं की सिद्धि होने का विशेष खुलासा सातवें अध्याय के श्लोक २० से २३ तक में किया गया है।

जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए, मनुष्य (स्त्री-पुरुषों) के शरीरों के प्राकृतिक गुणों की योग्यतानुसार कार्य-विभाग की व्यवस्था सर्वात्म-ईश्वर-भावापन्न महापुरुषों ने बनाई है। जिस तरह व्यष्टि शरीर के सत्वगुण-प्रधान अङ्ग—मस्तक में बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों का निवास होने के कारण वह ज्ञान का केन्द्र होता है; रजोगुण-प्रधान अङ्ग—भुजाओं में बल का निवास होने के कारण उनमें शासन और रक्षण की विशेष योग्यता होती है; रजोगुण और तमोगुण-प्रधान अङ्ग—जङ्घाओं और पैरों में चलने-फिरने आदि क्रियाओं की विशेष शक्ति होने के कारण उनमें व्यवसाय और श्रम द्वारा ऊपर के अङ्गों की आवश्यकताएँ पूरी करने की योग्यता होती है; उसी सिद्धान्त पर समाज-रूपी विराट् शरीर के भी चार प्रकार के कार्य-विभाग किये गये हैं†, और उन चार विभागों की क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा रखी गई है।

यह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था*, जगत् और समाज को धारणार्थ परम आवश्यक होने के कारण सब लोगों की सम्मिलित प्रेरणा के फलस्वरूप सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष (ईश्वर) ने सबके हित के लिए बनाई है। इसके बनाने में उसका निज का

---

† गुणों के अनुसार कार्य-विभाग की व्यवस्था के आधार पर चारों वर्णों के अलग-अलग कर्मों का वर्णन अठारहवें अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के अर्थ में देखिए।

* वर्तमान समय में इस देश में व्यक्तित्व के भाव अत्यन्त बढ़ जाने से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिलकुल बिगड़ गई है। अधिकतर लोग गुण और कर्मों की उपेक्षा करके केवल जन्म से ही वर्ण मानते हैं; अर्थात् ब्राह्मण की सन्तान में ब्राह्मणोचित गुणों की योग्यता न होने पर भी तथा ब्राह्मणोचित कर्म न करने पर भी उन्हें ब्राह्मण ही माना जाता है। क्षत्रिय की सन्तान में राज्य-शासन आदि रक्षण-कार्य की योग्यता न हो तो भी उन्हें क्षत्रिय ही माना जाता है और राज्य-शासन की अधिकारिणी भी वे ही होती हैं। वैश्य की सन्तानें व्यवसाय की योग्यता न रखने पर भी वैश्य ही रहती हैं और वे ही धन-सम्पत्ति के उत्तराधिकारिणी होती हैं। इसी तरह शूद्र की सन्तान में शारीरिक श्रम की शक्ति न होने पर भी वे शूद्र के सिवाय अन्य वर्ण की कभी नहीं हो सकतीं। उच्च वर्ण के लोग नीच वर्ण के कर्म करें, तो भी उनका वर्ण उच्च ही रहता है और उनके उच्च वर्ण के ही अधिकार बने रहते हैं। नीच वर्ण के लोगों में यदि उच्च वर्ण के योग्य गुण हों और वे उच्च वर्ण के कर्म करें, तो भी न तो उनका वर्ण बदल सकता है और न उनके अधिकार ही उन्नत हो सकते हैं। इन कारणों से

कोई पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है और न उसे व्यक्तित्व का अहङ्कार ही है; क्योंकि उसमें दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व का भाव ही नहीं है। इसलिए इस व्यवस्था के बनाने में उसको कर्तापन का अभिमान और कोई विकार या बन्धन नहीं होता। यह प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है कि लोक-हित के लिए सब लोग मिल कर एकत्व-भाव से (पंचायत द्वारा) कोई व्यवस्था बाँध कर उसके अनुसार आचरण करते हैं, तो उसमें न तो किसी व्यक्ति-विशेष को कर्तापन का अभिमान रहता है और न उसके अच्छे-बुरे परिणाम की जिम्मेवारी किसी व्यक्ति-विशेष पर रहती है। अतः जो लोग इस गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था-निर्माण के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर सबके हित के लिए (जिसमें वे स्वयं भी शामिल हैं), सबके साथ एकता के भाव से, सबके साथ सहयोग रखते हुए एवं सबके साथ शृङ्खलाबद्ध होकर अपने-अपने शरीरों के गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करते रहते हैं, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति नहीं रखते, उनको उक्त कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता, किन्तु वे सब प्रकार से उन्नति करते हुए सुख-समृद्धि-सम्पन्न होते हैं; और जिस समाज के लोग उपरोक्त गुण-कर्म-विभाग के सिद्धान्तानुसार आचरण करते हैं, वह समाज अवश्य ही उन्नत और सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है।

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको कहते हैं कि पहले भी सच्ची सुख-शान्ति और स्वतन्त्रता की इच्छा रखने वाले लोगों ने इसी तरह आत्मज्ञान-युक्त अपने-अपने कर्तव्य-कर्म किये हैं, और अब भी धर्माधर्म, पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त रहने और सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालों को इसी तरह सबकी एकता के साम्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म

समाज की बहुत दुर्दशा हो रही है और जनता में घोर अशान्ति फैल रही है। बहुत से लोग वर्ण-व्यवस्था ही को सारे अनर्थों का कारण मानते हैं; परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो इसमें दोष वर्ण-व्यवस्था का नहीं है, किन्तु उसके बिगड़ जाने का है। वर्ण-व्यवस्था रूपान्तर से सभी सभ्य समाजों में प्रचलित है। शिक्षक वर्ग, रक्षक वर्ग, व्यवसायी वर्ग, और श्रमी वर्ग—उनकी शाखा-प्रशाखाओं सहित—प्रायः सभी सभ्य देशों में हैं। जहाँ गुणों के अनुसार कर्मों के विभाग की व्यवस्था ठीक-ठीक चलती है, वे देश उन्नत और सुख-समृद्धि-सम्पन्न हैं; परन्तु जहाँ गुणों की अवहेलना करके व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए विरुद्धाचरण किये जाते हैं, वहाँ अशान्ति और दुःख के सिवाय और क्या हो सकता है?

करते ही रहना चाहिए। मोक्ष और बन्धन सब अपनी इच्छा और आचरण पर ही निर्भर है। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप ही है।

× × ×

श्लोक ५ से १५ तक भगवान् ने प्रसङ्गानुसार अपने अर्थात् समष्टि-भावापन्न ईश्वर के जन्म (शरीर धारण करने) और कर्म (लौकिक व्यवहार करने), तथा व्यष्टि-भावापन्न जीवों के जन्म और कर्म के भेद का खुलासा करने के अनन्तर यह स्पष्ट किया कि जीव और ईश्वर में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जीव में भी ईश्वरीय शक्ति बीज-रूप से विद्यमान रहती है, परन्तु व्यक्तित्व का भाव रखने से वह स्वयं ही अपनी शक्ति को परिमित कर लेता है। वास्तव में वह अपने कर्मों का आप ही स्वामी है, अर्थात् कर्म करने में स्वतन्त्र है—जैसी इच्छा करता है वैसा ही अपने कर्मों द्वारा बन जाता है।

फिर भगवान् ने जगत् के व्यवहार की सुव्यवस्था के लिए अर्थात् जगत् के धारणार्थ, गुणों के अनुसार कर्मों का विभाग करने द्वारा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की योजना का सिद्धान्त समझा कर उसके अनुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म सबके साथ एकता के साम्य-भाव से, व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति के बिना, सबके हित के लिए करने का उपदेश दिया। अब भगवान् कर्म करने अथवा न करने के मूल प्रश्न को लेकर कर्म की तात्त्विक मीमांसा करते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अर्थ—कर्म (का स्वरूप) क्या है और अकर्म (का स्वरूप) क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े बुद्धिमान् पण्डित भी भ्रम में पड़े हुए हैं। मैं तुझे वह कर्म (का रहस्य) बतलाऊँगा जिसे जान कर तू अशुभ से छूट जायगा अर्थात् तेरा मोह दूर हो जायगा। कर्म (साधारणतया कर्म का व्यापक स्वरूप) अवश्य जानना चाहिए; विकर्म (न करने योग्य—निषिद्ध अथवा त्याज्य कर्म का स्वरूप) भी जानना चाहिए; और अकर्म (कर्म से सर्वथा रहित होने अर्थात् कर्म-शून्यता का स्वरूप) भी जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, अर्थात् जो कर्म-रूप जगत् की निरन्तर परिवर्तनशील झूठी भिन्नता में अकर्म-रूप सच्चा एकत्व-भाव (सर्वत्र एक आत्म-तत्त्व—अपने-आप) का अनुभव करता है, और अकर्म रूप सत्य, नित्य, अपरिवर्तनशील एकत्व-भाव (एक आत्म-तत्त्व—अपने-आप) में कर्म-रूप विश्व की कल्पित एवं परिवर्तनशील भिन्नता का बनाव देखता है—इस तरह जो कर्म-अकर्म में अभेद देखता है—वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वही समत्वयोगी सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता (कर्मों का स्वामी) है। तात्पर्य यह कि मनुष्यों की कौन-कौनसी चेष्टाएँ कर्म रूप हैं, जिनके अच्छे-बुरे फल (शुभाशुभ परिणाम) में मनुष्य बँधता है, और कौनसी चेष्टाएँ अकर्म-रूप हैं जिनसे मनुष्य कर्म के शुभाशुभ परिणाम से मुक्त रहता है—इस विषय को अर्थात् कर्मों में फंसने और उनसे मुक्त होने के असली रहस्य को आत्मज्ञान के बिना, केवल सांसारिक विषयों में निपुण, बुद्धिमान् एवं शास्त्रज्ञ पण्डित लोग भी यथार्थतया नहीं जानते। बहुत से लोग तो सांसारिक (गृहस्थी के) व्यवहार करने मात्र ही को बन्धन रूप कर्म समझते हैं—चाहे वे व्यवहार शुभ हों या अशुभ, विहित हों या निषिद्ध, चाहे वे पूर्व-कथित

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार लोक-संग्रह के लिए किये जायँ, या व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, और चाहे वे व्यक्तित्व के भाव सहित किये जायँ, या व्यक्तित्व का अहङ्कार छोड़ कर; और उक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सब सांसारिक (गृहस्थी के) व्यवहार छोड़-छाड़ कर संन्यास धारण कर लेने, अथवा उद्यम-हीन होकर ध्यान में निमग्न हो जाने, अथवा समाधि लगाने, अथवा भजन, स्मरण आदि ईश्वराराधना में निरन्तर लगे रहने आदि को अकर्म अर्थात् कर्मों से रहित होना मानते हैं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं किन्तु भ्रमात्मक है। भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि तू भी उसी भ्रम में पड़ कर गुण-कर्म-विभाग के सिद्धान्तानुसार अपने हिस्से में आये हुए कर्तव्य-कर्म (क्षात्र-धर्म) को बन्धन-रूप कर्म समझ कर उसे छोड़ कर अकर्मी बनने के मोह में पड़ा हुआ है, इसलिए मैं तुझे कर्म का असली तत्त्व बताता हूँ जिसे जानने से तेरा यह दुःखदायी मोह दूर हो जायगा। यह विश्व सब कर्म-रूप है और सबके कर्मों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है, इसलिए कर्मों की गति अर्थात् कर्मों का पसारा, प्रभाव और पहुँच अत्यन्त ही गहरी अर्थात् जगत् में सूक्ष्म रूप से अत्यन्त व्यापक है। अतः कर्म और अकर्म के रहस्य को यथार्थतया जानने के लिए, पहले कर्म के साधारण एवं व्यापक स्वरूप को अच्छी तरह समझना चाहिए। फिर जिस विधि से कर्म करने से बन्धन होता है, उस निषिद्ध अर्थात् न करने योग्य (त्याज्य) कर्म—जिसको विकर्म कहते हैं—उसका स्वरूप जानना चाहिए; और जिस विधि से कर्म करने से कुछ भी बन्धन नहीं होता, उस अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए। संसार कर्ममय होने के कारण कुछ न कुछ करना प्रत्येक देहधारी का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु किस अवस्था में किस प्रकार से की हुई चेष्टाएँ, बन्धन करने वाले निषिद्ध कर्म अथवा (न करने योग्य) विकर्म रूप होती हैं, और किस अवस्था में किस प्रकार से की हुई चेष्टाएँ अकर्म (कुछ भी न करने यानी निष्कर्म) रूप हो जाती हैं—इस रहस्य को जानना प्रत्येक कार्यकर्ता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भेद-वाद के शास्त्रों के विद्वान् लोग इस मर्म को समझ नहीं सकते कि जगत् की भिन्नता को सच्ची मानने के मिथ्या-ज्ञानयुक्त किये हुए कर्म, चाहे बाहरी स्थूल दृष्टि से विहित अथवा शुभ प्रतीत हों तो भी वे निषिद्ध अथवा अशुभ विकर्म-रूप होते हैं। इसी तरह भिन्नता के मिथ्या-ज्ञानयुक्त, शरीरों के गुणों की योग्यता के स्वाभाविक एवं आवश्यक कर्तव्य-कर्मों का त्याग भी विकर्म-रूप हो जाता है। अतः इस प्रकार भिन्नता के भाव से कर्म करना और त्यागना दोनों ही निषिद्ध एवं बन्धन रूप होते हैं—इसलिए दोनों ही से रहित होना चाहिए; और सर्वत्र एकता को सच्ची मानने के सत्य ज्ञान से किये हुए सब प्रकार के कर्म, चाहे बाहरी स्थूल दृष्टि से बन्धन-रूप अथवा निषिद्ध एवं अशुभ विकर्म-रूप

प्रतीत होते हों, तो भी वास्तव में वे निर्बन्धन अकर्म-रूप ही होते हैं—इसलिए उन्हें अवश्य करना चाहिए। भिन्नता के व्यष्टि अहङ्कार से किये हुए शुभ कर्मों से यद्यपि आधिभौतिक और आधिदैविक सुख उत्पन्न करने वाला पुण्य तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु वह सुख, दुःख-मिश्रित होता है, और उन कर्मों से बन्धन भी होता है। हथकड़ी-बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, दोनों ही बाँधती हैं। सारांश यह कि भिन्नता के व्यष्टि अहङ्कार से किये हुए कर्म चाहे पुण्य हों या पाप, दोनों ही बन्धन रूप हैं। इस रहस्य को वही महापुरुष ठीक-ठीक जानता है जो विश्व की कल्पित भिन्नता में सच्ची एकता का अनुभव करता है, यानी इस जगत् को सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा ही के अनेक रूप समझता है—अपने-आप से भिन्न कुछ भी नहीं देखता। वही समत्वयोगी सच्चा बुद्धिमान् है, सारे कर्म उसीके किये हुए हैं, यानी वह सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता—सब कर्मों से उत्तीर्ण—कर्मों का स्वामी है; और कर्म के रहस्य को यथार्थतया जानने वाला भी वही है (१६, १७, १८)। जिसके सभी व्यवहार अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के सङ्कल्प से रहित होते हैं अर्थात् जिसके मन में दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव ही उत्पन्न नहीं होता, और (सर्वत्र एकत्व-भाव के) आत्म-ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके कर्म भस्म हो गये हैं, अर्थात् शुभाशुभ फल से शून्य अतः बन्धन रहित हो गये हैं, बुद्धिमान् लोग उसीको सच्चा विद्वान् कहते हैं (१९)। कर्मों के फल में आसक्ति न रख कर अर्थात् केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का ही भाव न रख कर (अपने आप में) सदा तृप्त अर्थात् अपने-आप को सदा परिपूर्ण अनुभव करने वाला, और (अपने से भिन्न किसी अन्य पर) निर्भर न रहने वाला (स्वावलम्बी पुरुष), कर्मों में अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ भी (वास्तव में) वह कुछ भी नहीं करता (२०)। (जो दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की) आशा से रहित है और जिसने मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है, तथा पदार्थों के संग्रह में जिसका ममत्व छूट गया है, वह (अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार) केवल शरीर द्वारा अपने कर्तव्य-कर्म करता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता (२१)। (उपरोक्त रीति से कर्म करने से) जो कुछ सहज ही लाभ हो जाय उसीमें सन्तुष्ट, (हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों से परे अर्थात् इनसे ऊपर उठा हुआ, ईर्षा-द्वेष आदि से रहित, और कर्मों की सफलता अथवा असफलता में एक समान निर्विकार रहने वाला अर्थात् हानि-लाभ, जय-पराजय आदि से विच-लित न होने वाला पुरुष (सब प्रकार के कर्म) करता हुआ भी बन्धन से सर्वथा रहित होता है (२२)। सर्वत्र एकत्व-भाव रूपी आत्मज्ञान में स्थित चित्त वाले, आसक्ति-रहित मुक्त पुरुष के, यज्ञ (लोक-संग्रह) के निमित्त किये हुए सारे कर्म

विलीन हो जाते हैं, अर्थात् अकर्म-रूप हो जाते हैं। अपण अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और कर्म करने के हथियार आदि साधन ब्रह्म हैं, हवि अर्थात् कर्म करने का द्रव्य (व्यवसाय की वस्तु) ब्रह्म है, अग्नि, अर्थात् जिसके उद्देश्य से कर्म किया जाता है वह ब्रह्म है, और होता अर्थात् कर्म का कर्ता ब्रह्म है; इस तरह कर्म करने में जिसका सर्वत्र ब्रह्म-भाव होता है, उसकी स्थिति ब्रह्म ही में होती है अर्थात् वह स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होता है। तात्पर्य यह कि जिनको आत्मज्ञान होता है उनके चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सभी व्यवहार केवल लोक-संग्रह रूपी यज्ञ के लिए होते हैं, उनमें व्यक्तित्व का भाव कुछ भी नहीं रहता; और सब व्यवहारों में उनको सर्वत्र ब्रह्म अथवा अपने वास्तविक आप का ही अनुभव होता है। सब वर्णों तथा सब व्यवसायों (पेशों) के करने वालों, उनके व्यवसायों, व्यवसाय करने के साधनों, तथा जिन वस्तुओं या पदार्थों के व्यवसाय किये जाते हैं उनको, और जिन लोगों से उनके व्यवसायों का सम्बन्ध होता है उन सबको वे एक ही आत्मा के अनेक रूप समझते हैं; अतः वे स्वयं और उनके सब कर्म ब्रह्म अथवा आत्म-स्वरूप ही होते हैं। उनके लिए कर्मों के बन्धन का प्रश्न ही नहीं रहता—जहाँ एक से अनेक होने का भाव होता है वहीं बन्धन होता है (२३-२४)।

स्पष्टीकरण—तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने पूछा था कि मेरे लिए अपने क्षात्र-धर्मानुसार युद्धादिक घोर (हिंसात्मक) कर्म करना कल्याणकर है या सब कर्मों को छोड़ कर अकर्मी हो जाना और आत्मज्ञान में लग जाना ठीक है; उसके उत्तर में भगवान् ने सबके लिए, अपने-अपने शरीरों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के कर्म, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार, आत्मज्ञान-युक्त साम्य-भाव से करना श्रेयस्कर बताया। अब भगवान् कर्म (कर्म करने) और अकर्म (कर्म से रहित होने) का तात्त्विक विवेचन करके अर्जुन का संशय अच्छी तरह मिटाते हैं। भगवान् कहते हैं कि आत्मा (सबके अपने वास्तविक आप) की क्रिया-शील त्रिगुणात्मक प्रकृति का नाना भावों युक्त बनाव—क्रिया-प्रतिक्रिया-स्वरूप यह विश्व—कर्म-रूप ही है, अर्थात् समष्टि (सबके) कर्मों ही से विश्व का अस्तित्व है; और इस (विश्व) में सर्वत्र वास्तविक एकता होने के कारण प्रत्येक कर्म का प्रभाव जगत् में सूक्ष्म रूप से अत्यन्त विस्तृत होता है। किसी भी व्यक्ति के कर्मों का सम्बन्ध और प्रभाव किसी देश-विशेष, काल-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष तक ही परिमित नहीं रहता, किन्तु सबके कर्मों का सम्बन्ध और प्रभाव स्थूल अथवा सूक्ष्म (दृष्ट अथवा अदृष्ट) रूप से जगत् में अत्यन्त व्यापक और विस्तृत होता है। अतः कर्म-अकर्म का यथार्थ रहस्य सर्वभूतात्मैक्य—आध्यात्मिक

ज्ञान के बिना, केवल आधिभौतिक और आधिदैविक भेद-भाव की दृष्टि से जाना नहीं जा सकता—चाहे भेद-वाद के शास्त्रों का कितना ही अध्ययन किया जाय और उन पर कितना ही विचार किया जाय। जगत् की नाना प्रकार की भिन्नताओं को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान् लोग कर्म-अकर्म का निर्णय, कर्म के स्थूल रूप और उससे होने वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि-लाभ की दृष्टि से, अथवा भेद-वाद के शास्त्रों में वर्णित, मरने के बाद प्राप्त होने वाले सुख-दुःख अथवा स्वर्ग-नरक आदि के विचार ही से करते हैं—कर्मों के सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव और उनसे होने वाले दृष्ट व अदृष्ट समष्टि हिताहित का सूक्ष्म एवं व्यापक विचार वे नहीं करते। उनमें से बहुत से विद्वान् लोग तो संसार अथवा गृहस्थी के व्यवहार मात्र ही को बन्धन-रूप कर्म समझते हैं—चाहे कोई व्यवहार शुभ हो या अशुभ, विहित हो या निषिद्ध, और चाहे वह किसी भी विधि से और किसी भी भाव से किया जाय—उनकी दृष्टि में सभी व्यवहार बन्धन के हेतु होते हैं; और संसार अथवा गृहस्थी के सारे व्यवहारों को छोड़ कर निरुद्यमी हो जाना अर्थात् संन्यास ले लेना ही वे मोक्ष का साधन—अकर्म समझते हैं; क्योंकि उनके मतानुसार, यह दुःखदायी एवं बन्धन-रूप जगत् कर्मों पर ही निर्भर होने के कारण, जब तक जगत् को बनाये रखने के हेतु-भूत कर्म किये जाते हैं, तब तक न तो यह जञ्जाल मिटता है और न इससे छुटकारा ही होता है; इसलिए कर्मों को सर्वथा त्याग देने से जगत् रूपी जञ्जाल से मनुष्य का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब शरीर छूटने (मरने) के बाद मुक्ति प्राप्त हो जाती है—फिर जन्म-मरण के चक्कर में आना नहीं पड़ता। दूसरे पण्डित लोग यह कहते हैं कि यज्ञादिक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, दान, पुण्य आदि परोपकार के कार्य, और जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया, अहिंसा आदि शुभ कर्मों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए (गी० अ० १८ श्लोक ३)। उनके मत में इन शुभ कर्मों से बन्धन नहीं होता, किन्तु इनसे पुण्य उत्पन्न होकर मरने के बाद स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति-रूप मुक्ति हो जाती है; इसलिए ये कर्म बन्धन के हेतु नहीं, किन्तु मोक्ष के हेतु—अकर्म हैं। कई विद्वान् कहते हैं कि किसी प्रयोजन-सिद्धि की कामना से जो कर्म किये जाते हैं उन्हींसे बन्धन होता है, इसलिए ऐसे काम्य-कर्मों को सर्वथा छोड़ देना ही मोक्ष का हेतु—अकर्म है। और कई बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म करने में कोई बन्धन नहीं है, बन्धन कर्म के फल में है, इसलिए कर्म का फल छोड़ देना ही अकर्म है (गी० अ० १८ श्लो० २)। भगवान् कहते हैं कि कर्म-अकर्म का उपरोक्त विवेचन, चाहे आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से ठीक हो, परन्तु आध्यात्मिक विचार की सच्ची कसौटी पर जाँच करने पर यह ठीक नहीं उतरता। कर्म-अकर्म का यथार्थ निर्णय करने के लिए सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि चेतना-युक्त

शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) सभी कर्म-मय हैं; क्योंकि चेतना क्रियाशील है, इसलिए कोई भी सचेतन पदार्थ कर्म से सर्वथा रहित हो नहीं सकता। अपने-अपने शरीरों के स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार साधारणतया कुछ न कुछ चेष्टाएँ सबको करनी होती हैं, चाहे कोई कितना ही त्यागी हो या ज्ञानी अथवा संन्यासी (गी० अ० ३ श्लो० ३३)। कई लोगों का मत है कि शरीर और जगत् कर्म-मय हैं तो भले ही हों—हमें उनसे क्या मतलब ? हमें तो अपनी मुक्ति से प्रयोजन है, सो सब कर्म छोड़-छाड़ कर जगत् और शरीर से पृथक् होने से वह प्राप्त हो जायगी; हमारे कर्म न करने से शरीर छूट जायगा अथवा जगत् का प्रलय हो जायगा तो सारा झंझट ही मिट जायगा ! परन्तु यह समझ गलत है, क्योंकि दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व के भाव से न तो कोई जगत् से अलग हो सकता है और न मर कर मुक्ति ही प्राप्त कर सकता है। पृथक्ता के भाव से जगत् का प्रलय भी कोई नहीं कर सकता, क्योंकि पृथक्ता का भाव ही तो जगत् की भिन्नता का बनाव है और वही बन्धन एवं दुःख-रूप प्रतीत होता है। बन्धन और मोक्ष सापेक्ष द्वन्द्व हैं, अर्थात् जब बन्धन माना जाता है तब उससे छुटकारा पाने को मोक्ष कहते हैं। जीवात्मा जब अपने को दूसरों से पृथक् व्यक्ति मानता है, तभी वह अपने लिए बन्धन उत्पन्न करता है; और जब उस प्रथक्ता के भाव को मिटा कर पूर्ण एकता का अनुभव कर लेता है, तब (अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न) बन्धन मिट जाने से अपने को मुक्त मानता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से होने वाले इस जगत् के सभी बनाव द्वन्द्व अर्थात् जोड़े के रूप में हैं, और सभी द्वन्द्व अर्थात् जोड़े सापेक्ष एवं सम हैं, यानी एक ही वस्तु के दो रूप होने के कारण वे समान परिमाण में रहते हैं। उनमें से किसी का भी पृथक् अस्तित्व नहीं होता। जो इन जोड़ों की आपस की भिन्नता एवं विषमता को सच्ची मानता है वह इनके बन्धन में बँधता है; परन्तु जो इनको एक ही वस्तु के दो रूप समझता है अर्थात् इनकी वास्तविक एकता का अनुभव करता है, उसकी दृष्टि में ये द्वन्द्व सम होकर शांत हो जाते हैं, यानी उसको इनसे कोई विक्षेप नहीं होता, अतः वह सदा मुक्त रहता है। तात्पर्य यह कि मुक्ति कोई स्वतन्त्र या पृथक् पदार्थ नहीं है कि जिसकी प्राप्ति किसी विशेष क्रिया के करने अथवा न करने से होती है, अथवा जिसके लिए किसी विशेष देश (गौ-लोक, ब्रह्म-लोक आदि लोकान्तर) में जाना पड़े, अथवा किसी काल-विशेष की प्रतीक्षा करनी पड़े, अथवा किसी एक शरीर को छोड़ कर दूसरा रूप धारण करने की आवश्यकता पड़े। मुक्ति के लिए न किसीसे अलग होने की आवश्यकता है, न सबको मिटियामेट करके सुनसान कर देने ही की जरूरत है। मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता का अनुभव तो अपने आपके वास्तविक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से, यहाँ का यहाँ, इसी शरीर में, जगत् में रहते हुए और सब व्यवहार करते

हुए ही होता है। दूसरे शब्दों में अपने-आपके वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति है। द्वैत-भाव जितना ही अधिक मिट कर दूसरों के साथ एकता का अनुभव होता है, और जितना ही अधिक दूसरों के साथ एकता का व्यवहार होता है, उतना ही अधिक स्वतन्त्रता या मुक्ति का अनुभव होता है। जब सारा द्वैत-भाव मिट कर सर्वत्र एकता का पक्का अनुभव हो जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप पूर्ण साम्य-भावयुक्त आचरण होने लगते हैं, तब सारा जगत् अपना ही स्वरूप दीखने लगता है। फिर अपने से भिन्न न किसी बाँधने वाली वस्तु का भ्रम रहता है और न किसी मुक्त करने वाली का। न कुछ त्यागने को रहता है और न ग्रहण करने को। सर्वत्र अपना-आप ही रहता है, जो न बन्धन का विषय है और न मोक्ष का। यदि मनुष्य शरीर के रहते ही अपने-आपके परिपूर्ण सर्वात्म-भाव का अनुभव न हुआ, और पृथक् व्यक्तित्व के भाव को सर्वात्म-भाव में लय नहीं किया, अर्थात् सबको अपना ही स्वरूप नहीं जाना, तो मरने के बाद मुक्ति किस साधन से होगी और उस मुक्ति का स्वरूप क्या होगा? मन और बुद्धि के व्यवहार न रहने से मुक्ति का अनुभव ही किस साधन से होगा? कुछ भी न रहने की शून्यता तो मुक्ति है ही नहीं! न जड़ता ही मुक्ति है! बेहोशी अथवा सुषुप्ति अथवा जड़ अवस्था में भी मन और बुद्धि के व्यवहार नहीं होते और न क्लेशों की प्रतीति ही होती है, परन्तु वह मुक्ति नहीं है। मुक्तावस्था तो वह है कि जिसमें निरपेक्ष, एवं देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, पूर्ण आनन्द रहे, और जिस आनन्द की प्रतिक्रिया न हो। मरने के बाद की जिस मुक्ति अथवा सुख-शान्ति अथवा स्वर्ग की आशा की जाती है वे तो काल-परिच्छेद, देश-परिच्छेद और वस्तु-परिच्छेद वाले हैं, अर्थात् वे वर्तमान काल में, इसी लोक में और इसी शरीर में नहीं होते। वर्तमान की सारी आयु तो ग्रहण और त्याग, विधि और निषेध, एवं दूसरों की दासता तथा खुशामद आदि के बन्धनों और शारीरिक कष्टों में बिताई जाय, और फिर मरने के बाद मुक्ति की आशा रखी जाय, यह कोरा भ्रम है।

यज्ञादिक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, दान, पुण्य आदि परोपकार के कार्य, और जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया और अहिंसा आदि शुभ कर्म आधिभौतिक दृष्टि से श्रेष्ठाचार अवश्य हैं, और आधिदैविक दृष्टि से व्यक्तिगत पारलौकिक सुखों के साधन के हेतु हो सकते हैं; परन्तु उनमें भी पृथक् व्यक्तित्व का भाव, कर्तापन का अहंकार तथा फलासक्ति आदि बने रहने के कारण वे अकर्म-रूप नहीं हैं। इन शुभ कर्मों के फलस्वरूप मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होकर जब पुण्य क्षीण हो जाता है, तब फिर वहाँ से गिरावट होती है (गी० अ० ९ श्लो० २६)।

इसके अतिरिक्त सभी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, अथवा दान-पुण्य आदि परोपकार के कार्य, अथवा जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया, अहिंसा आदि शुभ कर्म, सदा-सर्वदा श्रेष्ठाचार और पारलौकिक सुखों के साधन भी नहीं होते; क्योंकि यज्ञ, दान और तप, सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के होते हैं (गी० अ० १७ श्लो० ११ से २२); इनमें से सात्विक यज्ञ, दान और तप ही शुभ कर्म हैं; दूसरे नहीं।

इसी तरह पृथक्ता के भाव से किया हुआ काम्य-कर्मों का और सारे कर्म-फलों का त्याग भी अकर्म नहीं है; क्योंकि व्यक्तित्व के भाव से किया हुआ किसी भी प्रकार का त्याग वास्तव में त्याग नहीं होता (गी० अ० १८ श्लो० ८)। कर्म करने में कामना का सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि बिना उद्देश्य के कोई भी चेष्टा नहीं होती। बुद्धियुक्त प्राणी की प्रत्येक चेष्टा कुछ न कुछ उद्देश्य लेकर ही होती है। इसी तरह कर्म-फल का भी सर्वथा त्याग नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म और फल का जोड़ा है, अतः कर्म के साथ फल और फल के साथ कर्म बने ही रहते हैं। प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल अवश्य ही होता है। परन्तु जो लोग केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से कर्म करते हैं और कर्म-फलों से केवल अपना ही स्वार्थ-साधन करते हैं, वे ही कर्मों में बँधते हैं। जो सबके हित के उद्देश्य से अपने शरीर की योग्यता के कर्म करते हैं और उनके फल से सबको लाभ पहुँचाते हैं वे नहीं बँधते—वे वास्तव में अकर्मी हैं। यद्यपि साधारणतया कर्मों के फल भोगने में स्वतन्त्रता प्रतीत नहीं होती; परन्तु जिनको सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान होता है वे इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। उनकी सर्वात्म-भाव में स्थिति हो जाने के कारण उनके कर्मों के फल किसी व्यक्ति-विशेष तक ही परिमित नहीं रहते, किन्तु उनमें सबका साझा होता है। उनके कर्मों के अच्छे (अनुकूल) फल में पुण्यात्माओं का साझा होता है और बुरे (प्रतिकूल) फल में पापात्माओं का। जो यह कहा जाता है कि प्रारब्ध कर्मों के फल ज्ञानवानों को भी भोगने पड़ते हैं, सो भी पूर्णतया ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान होने पर सारे कर्म भस्म हो जाते हैं, चाहे वे सञ्चित हों या प्रारब्ध, क्रियमाण हों या आगामी (गी० अ० ४ श्लो० ३७)। तात्पर्य यह कि ज्ञानी को कर्मों के फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ भी नहीं रहती, अतः वे उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालते। उसके सभी कर्मों के फल वास्तव में सबके लिए होते हैं, इसलिए वह स्वयं पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। कर्म-फल भोगने में थोड़ी या बहुत स्वतन्त्रता तो साधारण लोगों को भी है। जब अच्छे कर्मों के फलस्वरूप अच्छे-अच्छे मिष्टान्न भोजन आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त हों तो उनको भोगे या न भोगे—अपने अधिकार की बात है। यह बात प्रत्यक्ष है कि

राजस-तामस आहार से तथा राजस-तामस अन्य पदार्थों के भोग से रोगादि अनेक उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं; यदि कोई व्यक्ति अपने मन को वश में रख कर राजस-तामस भोगों को न भोगे तो वह उन दुःखों से भी बच जाता है। इस तरह से अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भोगने में, मन के संयम की कमी-बेशी के अनुसार, थोड़ी या बहुत स्वतन्त्रता सबको है। जब कि साधारण अज्ञानी लोगों को भी फल भोगने में कुछ स्वतन्त्रता है, तो फिर आत्मज्ञानी तो सारे कर्मों का स्वामी होता है, उसको अच्छे और बुरे फल भोगने व न भोगने में पूर्ण स्वतन्त्रता होने में सन्देह ही क्या हो सकता है? सभी शरीर उसीके हैं। जिस शरीर की जैसी योग्यता हो उससे उसी तरह के भोग भोगता हुआ भी वास्तव में वह कुछ भी नहीं भोगता—सर्वथा अभोक्ता रहता है। यह बात अवश्य है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव अर्थात् आत्मज्ञान में जितनी अधिक स्थिति होती है, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता कर्म और फल के विषय में होती है। परन्तु फल-रहित कोई कर्म नहीं होता और न कर्म-फल को सर्वथा त्याग देने की आवश्यकता ही है।

सारांश यह कि चेतना युक्त सभी सृष्टि कर्म मय होने के कारण जगत् में कर्म सर्वव्यापक है, उससे सर्वथा रहित होकर कोई अकर्मी नहीं हो सकता। और स्वाभाविक कर्मों में साधारणतया कोई बन्धन और मोक्ष की शक्ति भी नहीं है। बन्धन और मोक्ष कर्ता के भाव और करने की विधि पर निर्भर हैं। अब देखना चाहिए कि किस भाव और किस विधि से किये हुए अथवा न किये हुए कर्म, दुःख-रूप एवं बन्धन के हेतु होते हैं—जिनकी विकर्म संज्ञा है; और किस भाव एवं किस विधि से किये हुए अथवा न किये हुए कर्म निर्बन्धन—अकर्म रूप होते हैं।

कर्म करना—प्रवृत्ति, और न करना अथवा त्यागना—निवृत्ति भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है। राजस और तामस प्रवृत्ति अर्थात् पृथक्ता के राजस और विवेकशून्य तामस ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २१-२२), अयथार्थ और विपरीत निर्णय करने वाली राजस एवं तामस बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३१-३२), तथा राग, द्वेष और प्रमाद के राजस एवं तामस भाव (गी० अ० १८ श्लो० २७-२८) युक्त, फलासक्त और विषाद-पूर्ण राजस एवं तामस धृति (गी० अ० १८ श्लो० ३४-३५) द्वारा, व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा कोरी मूढ़ता से किये जाने वाले राजस और तामस कर्म (गी० अ० १८ श्लो० २४-२५) बन्धन के हेतु—विकर्म होते हैं। इसी तरह राजस और तामस निवृत्ति, अर्थात् कर्मों को दुःख और कष्टदायक जान कर, अथवा निरी मूर्खता से किया हुआ राजस अथवा तामस कर्म-त्याग (गी० अ० १८ श्लो० ७-८) भी बन्धन का कारण—विकर्म होता है।

दूसरी तरफ़ सात्विक प्रवृत्ति, अर्थात् सबकी एकता के सात्विक ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २०), यथार्थ निर्णय करने वाली सात्विक बुद्धि (गी०अ०१८ श्लो०३०) तथा असङ्ग, अनहङ्कार, धैर्य, उत्साह और अविचलता के सात्विक भाव (गी० अ० १८ श्लो० २६) युक्त, सभी व्यवहार यथायोग्य साम्य-भाव से धारण करने की सात्विक धृति (गी० अ० १८ श्लो० ३३) द्वारा, व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर किये जाने वाले सात्विक कर्म (गी० अ०१८ श्लो० २३) वास्तव में अकर्म हैं। यही सच्चा सात्विक त्याग अर्थात् सच्ची निवृत्ति है (गी० अ० १८ श्लो० ६ से ११)।

यह पहले कह आये हैं कि जगत् की भिन्नता को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान् लोग कर्मों के बाहरी स्थूल रूप और उनसे होने वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि-लाभ ही को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि व्यक्तित्व के भाव तक ही सङ्कुचित रहती है; अतः प्रत्येक कर्म का प्रभाव विशेष व्यक्तियों तक ही सीमाबद्ध मान कर वे कर्म-अकर्म का निर्णय करते हैं, अर्थात् किसी कर्म का प्रत्यक्ष हानि-लाभ, उस कर्म के करने वाले, और जिनसे उस कर्म का प्रत्यक्ष सम्पर्क दीखता हो उनको क्या होता है—इसी बात को, अथवा भेद-वाद के शास्त्रों में वर्णित उन कर्मों के फल-स्वरूप, मरने के बाद स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुःख की प्राप्ति के विचार को ही वे विशेष महत्त्व देते हैं; समष्टि जगत् अथवा समाज की व्यवस्था पर उस कर्म का सूक्ष्म प्रभाव, अप्रत्यक्ष रूप से क्या पड़ेगा, इस बात पर वे ध्यान नहीं देते। परिणाम यह होता है कि कर्मों के बाह्य रूप पर ही विहित अथवा शुभ कर्म, एवं निषिद्ध अथवा अशुभ—विकर्म का स्वरूप वे सदा के लिए निश्चित कर लेते हैं; और विहित अथवा निषिद्ध, कुछ भी न करने को अकर्म मान लेते हैं। उदाहरणार्थः—(१) चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार व्यवसाय करना वे केवल इसीलिए विहित मानते हैं कि उनसे उन व्यवसायों के करने वालों तथा उनके कुटुम्ब आदि की आजीविका और अर्थोपार्जन होते हैं। इसके अतिरिक्त जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के समष्टि-हित का भाव उनके मन में नहीं रहता; फलतः वे गुणों की योग्यतानुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर स्थिर न रह कर जिस रीति से द्रव्योपार्जन अधिक हो वही काम करने लग जाते हैं। यदि वंश-परम्परागत व्यवसाय करने से अधिक धन प्राप्त हो तो वही करते हैं, नहीं तो जिन कामों से द्रव्योपार्जन अधिक होता हो उन्हें करने लग जाते हैं। इस तरह वर्ण-व्यवस्था को बिगाड़ कर उसके असली प्रयोजन और उसके वास्तविक लाभ से वञ्चित रहते हैं। (२) सत्य बोलना, हिंसा न करना, किसी का धन न छीनना, क्षमा करना, शुद्धता रखना, इन्द्रियों का निग्रह करना आदि सदाचारों को वे इसलिए श्रेष्ठ धर्म मानते हैं कि इनका आचरण करने वाला पुण्य का भागी होता है, उसका अन्तःकरण

शुद्ध होता है, वह श्रेष्ठ माना जाता है, और जिनके साथ उक्त सदाचारों का सम्बन्ध होता है उनको सुख होता है। परन्तु उनके सिवाय दूसरे लोगों को इन व्यवहारों से हानि-लाभ—प्रत्यक्ष में अथवा अप्रत्यक्ष में सूक्ष्म रूप से क्या होगा, इसका वे समुचित विचार नहीं करते। इन सदाचारों को वे प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ और नित्य-धर्म-रूप—अवश्य-कर्तव्य मानते हैं। यद्यपि साधारणतया इन सदाचारों से लोगों को बहुत लाभ होता है, इसलिए ये वास्तव में ही शुभ कर्म हैं। परन्तु अनेक अवसर ऐसे भी आते हैं जब कि राजस-तामस भाव से करने पर इन सदाचारों से जनता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बहुत हानि पहुँचती है और जगत् अथवा समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है—इस विषय की वे भेदवादी विद्वान् लोग उपेक्षा करते हैं। (३) काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, भय, अभिमान, हिंसा आदि को वे इसलिए निषिद्ध एवं पाप-रूप मानते हैं कि इनके आचरण करने वाले को पाप लगता है, दुःख होता है और उसका अन्तःकरण मलिन होता है; और इनके आचरण का जिनसे सम्बन्ध होता है उनको भी हानि और कष्ट होता है। यद्यपि साधारणतया इनके आचरण से लोगों को हानि और कष्ट अवश्य ही होता है, इसलिए ये त्याज्य हैं। परन्तु अनेक अवसर ऐसे आते हैं कि जगत् और समाज की सुव्यवस्था के लिए सात्त्विक भाव से किया हुआ इनका आचरण लोगों के लिए हितकर होता है; अतः वह अवश्य-कर्तव्य होता है, क्योंकि ऐसे अवसरों पर इनके बिना लोगों का बड़ा अहित होता है। इस बात को वे लोग कुछ भी महत्त्व नहीं देते। (४) धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, पूजा, पाठ, जप, तप, दान आदि धार्मिक कृत्यों को वे इसलिए अवश्य-कर्तव्य नित्य-धर्म मानते हैं कि इनके करने वालों को सद्गति मिलती है यानी स्वर्गादि ऊर्ध्व लोक प्राप्त होते हैं, उनकी आत्मिक उन्नति होती है, और अन्त में उनकी मुक्ति हो जाती है; लोगों में वे धर्मात्मा कहलाते हैं, और दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करके व्यक्तिगत लाभ उठाते हैं। कई व्यक्तियों को इन कृत्यों से आर्थिक लाभ भी होता है; और इन कृत्यों को न करने वालों की दुर्गति होती है, वे नरक में पड़ते हैं और अधर्मी एवं नास्तिक कहलाते हैं। इस बात पर वे ध्यान नहीं देते कि यद्यपि साधारणतया ये धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक कृत्य स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए कुछ लाभदायक होते हैं, परन्तु अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब कि ये बड़े-बड़े अनर्थों, अत्याचारों और भयानक विप्लवों के कारण हो जाते हैं और समाज के विध्वंस के हेतु बन जाते हैं।

परन्तु, जिनको सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान अर्थात् सारे जगत् की एकता का यथार्थ अनुभव होता है, वे कर्मों के उक्त बाह्य रूप से तथा व्यक्तिगत हानि-लाभ से

विचार से ही उनके अच्छे-बुरेपन, अथवा धर्म-अधर्म, अथवा शुभ-अशुभ, अथवा विहित-निषिद्ध का निर्णय नहीं कर लेते, किन्तु उन कर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से समष्टि जगत् और समाज की व्यवस्था पर क्या पड़ेगा, इस एकत्व-भाव की व्यापक दृष्टि से निर्णय करते हैं। इस सिद्धान्तानुसार व्यष्टि हानि-लाभ के विचार समष्टि हानि-लाभ के अन्तर्गत रहते हैं, क्योंकि जगत् में सर्वत्र वस्तुतः एकता होने के कारण कोई भी व्यक्ति दूसरों की हानि करके आप अकेला लाभ नहीं उठा सकता, दूसरों का अहित करके अकेला अपना हित नहीं कर सकता, और दूसरों को दुखी करके अकेला सुखी नहीं हो सकता। यदि ऐसा अस्वाभाविक प्रयत्न किया जाता है, तो क्रिया की प्रतिक्रिया होकर इस तरह के प्रयत्न करने वाले को ही हानि पहुँचती है। वास्तविक लाभ, हित अथवा सुख तो सबके साथ एकता का अनुभव करने अर्थात् "अनेकों में एक और एक में अनेक" देखने से होता है; इसलिए आत्मज्ञानी महापुरुष इसी एकता के अनुभव से गुणों के अनुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का आचरण, समष्टि-लोक-हित यानी जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त करते हैं। जब तक वंश-परम्परागत व्यवसाय (पेशा) करने के गुणों की योग्यता शरीर में होती है, तब तक वह व्यवसाय करते हैं; परन्तु जिस समय शरीर में उक्त गुणों की योग्यता न रहे अथवा उस व्यवसाय की समाज को आवश्यकता न रहे, तब गुणों की योग्यता और परिस्थिति की आवश्यकतानुसार व्यवसाय बदल कर शरीर के वर्तमान गुणों की योग्यता का व्यवसाय स्वीकार करने में कोई सङ्कोच नहीं करते। जिससे सच्ची लोक-सेवा होती हो और समाज की सुव्यवस्था बनी रहती हो, वही ऊँचा अथवा नीचा माना जाने वाला व्यवसाय आवश्यकतानुसार बड़ी प्रसन्नता से कर लेते हैं—किसी वर्ण-विशेष के व्यवहारों ही में आसक्ति नहीं रखते।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, क्षमा, शौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि सदाचार तथा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कृत्य आदि, जब तक सूक्ष्म विचार से सबके लिए हितकर होते हैं, तब तक वे उन्हें अवश्य करते हैं; परन्तु जब कभी समष्टि दृष्टि से वे हानि-कारक या अहितकर होते हैं, तब वे उन सदाचारों और धार्मिक कृत्यों की उपेक्षा कर देते हैं; ऐसी दशा में वे उनको निषिद्ध अथवा त्याज्य विकर्म समझते हैं, चाहे स्थूल दृष्टि से वे विशेष व्यक्तियों के लिए लाभकारी अथवा सुखदायक क्यों न दीखते हों। इसी तरह काम, क्रोध, दम्भ, मान, लोभ, भय, हिंसा आदि निषिद्ध माने जाने वाले आचरण यदि समष्टि दृष्टि से समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक एवं लोक-हितकर हों, तो उनको विहित कर्म समझ कर वे अवश्य करते हैं; उनसे

व्यक्तिगत हानि अथवा क्लेश होने की परवाह नहीं करते। (इस विषय का विशेष खुलासा प्रसङ्गानुसार यथास्थान आगे किया जायगा)।

इस प्रकार आत्मज्ञानी महापुरुष ही ठीक-ठीक जानते हैं कि किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कर्म, विकर्म होता है; और किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कर्म, अकर्म होता है।

जो इस तरह "अनेकों में एक और एक में अनेक" अर्थात् कल्पित पृथक्ता के भाव में सच्चे एकत्व-भाव के यथार्थ ज्ञान से प्रवृत्ति और निवृत्ति, अथवा कर्म-योग और संन्यास के अभेद (गी० अ० ५ श्लो० ३ से ५) के रहस्य को याथातथ्य जानता है, वह सारे कर्मों का पारङ्गत, सब कर्मों का अधिष्ठाता, सब कर्मों का स्वामी और कर्म के सिद्धान्त को यथार्थ जानने वाला सच्चा पण्डित होता है, और वही कर्म-अकर्म के विषय में सच्चा निर्णायक और आदर्श दिखाने वाला होता है। वह सर्वात्म-भाव के समत्व-योग में स्थित महापुरुष संसार के सब प्रकार के अच्छे और बुरे माने जाने वाले कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता (गी० अ० १८ श्लो० १७)। वह महा-कर्ता और साथ ही महा-अकर्ता होता है। उसकी दृष्टि में कर्ता, कर्म, करण, देश, काल, वस्तु आदि सब ब्रह्म-रूप अथवा अपने-आपके स्वरूप होते हैं। इसलिए उसके व्यवहारों में कर्म-रूपता कुछ भी नहीं रहती। लौकिक स्थूल दृष्टि से उसके व्यवहार शुभ हों या अशुभ, विहित हों या निषिद्ध, उच्च हों या नीच, लाभदायक हों या हानिकारक, पवित्र हों या मलिन, पुण्य हों या पाप—वह महापुरुष भेद-बुद्धि से रहित होने के कारण इन द्वन्द्वों से परे होता है, और सर्वत्र एकत्व-भाव के सात्विक-ज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने का ज्ञान-यज्ञ करता रहता है।

× × ×

संसार के कर्म-रूप होने के कारण अर्थात् सबके कर्मों पर निर्भर रहने के कारण सबके कर्म संसार को धारण करने वाले यज्ञ होते हैं; परन्तु यज्ञ भी सात्विक, राजस और तामस भेद से कई प्रकार के होते हैं। श्लोक २४ तक भगवान् ने एकत्व-भाव के सात्विक-ज्ञानयुक्त, सात्विक यज्ञ अथवा ज्ञान-यज्ञ का स्वरूप और उसकी महिमा कही। अब व्यष्टि-भाव से किये जाने वाले दूसरे प्रकार के यज्ञों का थोड़ा-सा उल्लेख करके बताते हैं कि यद्यपि ये भी यज्ञ ही माने जाते हैं, क्योंकि इनसे मनुष्य के व्यक्तित्व के भाव रूपी पशु-वृत्ति शनैः-शनैः कम होती है, अतः ये ज्ञान-यज्ञ के साधन हैं; परन्तु सच्चा यज्ञ ज्ञान-यज्ञ ही है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३० ॥

अर्थ—दूसरे कर्मयोगी (कर्मों में लगे हुए लोग) दैव-यज्ञ को ही करते हैं, अर्थात् सांसारिक सुखों के लिए देवताओं की उपासना करते हैं; और दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ को यज्ञ से ही होमते हैं, अर्थात् कई लोग ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति के लिए अपने यज्ञों को उस ब्रह्म के अर्पण करने रूपी यज्ञ करते हैं (२५)। कई लोग कान आदि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नि में होमते हैं; और कई शब्द आदि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में होमते हैं। तात्पर्य यह कि कई (कर्मयोगी) लोग इन्द्रियों के नियन्त्रण यानी उनको अपने विषयों से हटाने रूपी यज्ञ करते हैं, और कई लोग इन्द्रियों के विषयों को विधिवत् भोगते रहने का यज्ञ करते हैं (२६)। और कई (कर्मयोगी) लोग, इन्द्रियों और प्राणों के सारे व्यापारों को, ज्ञान से प्रकाशित अन्तःकरण के संयम रूप योग-अग्नि में होमते हैं, अर्थात् आत्म-विचारपूर्वक मन को सब इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं से हटा कर उसे एकाग्र करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं (२७)। कई द्रव्य-यज्ञ अर्थात् परोपकार के लिए द्रव्यादि को लगाने रूप सात्विक दान देने, कई तप-यज्ञ (सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्विक तप करने), कई योग-यज्ञ (पातंजल राज-योग का अभ्यास करने), कई स्वाध्याय-यज्ञ (पढ़ने), और कई ज्ञान-यज्ञ (आत्मा का विचार करने) में यत्नशील होकर अत्यन्त दृढ़ व्रत से लगे रहते हैं (२८)। कई

एक प्राण अर्थात् श्वास को अन्दर खींचने, और अपान अर्थात् श्वास को बाहर छोड़ने की गति को रोकने द्वारा प्राणायाम करके अपान को प्राण में और प्राण को अपान में होमते हैं, अर्थात् श्वास लेना और छोड़ना कुछ समय के लिए रोक कर प्राण और अपान की एकता करके, प्राणायाम रूपी यज्ञ करते हैं (२९)। कई नियत आहार करने वाले कर्मयोगी प्राणों को प्राणों में होमते हैं, अर्थात् नियमित भोजन करके श्वास-प्रश्वास की गति पर ध्यान लगाने द्वारा मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण करने रूपी यज्ञ करते हैं। ये सभी यज्ञ के जानने वाले हैं और इनके अन्तःकरण का मैल यज्ञ ही से क्षीण हो जाता है; अर्थात् उपरोक्त चेष्टाएँ करने वाले लोग भी इन सब क्रियाओं को यज्ञ समझ कर ही करते हैं और इनसे उनके व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति शनैः-शनैः मिट कर अन्तःकरण शुद्ध होता है (३०)।

× × ×

अब भगवान् उपरोक्त विविध प्रकार के यज्ञों की अपेक्षा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान सहित किये जाने वाले यज्ञ की श्रेष्ठता और उसकी अकर्म-रूपता का प्रतिपादन करके, उक्त ज्ञान की प्राप्ति के साधन और उसका माहात्म्य कह कर, फिर उस ज्ञान-युक्त, अपने स्वाभाविक कर्म करने के उपदेश को दुहराते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

अर्थ—यज्ञ से अवशिष्ट (बचे हुए) अमृत को भोगने वाले मनुष्य (स्त्री-पुरुष) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (परन्तु) हे कुरुओं में श्रेष्ठ! यज्ञ से रहित (मनुष्य) का यह लोक भी नहीं है, तो दूसरा कहाँ? तात्पर्य यह कि अपने-अपने शरीर की योग्यतानुसार अपना-अपना कर्तव्य-कर्म, सबकी एकता के ज्ञान-युक्त, लोक-संग्रह यानी समाज अथवा जगत् की सुव्यवस्था के लिए करने रूपी यज्ञ से जो कुछ पदार्थ प्राप्त हों, उनसे दूसरों को यथायोग्य लाभ पहुँचाते हुए, जो उनको अपने उपयोग में लेते हैं वे सनातन ब्रह्म-रूप हो जाते हैं। परन्तु जो इस तरह लोक-संग्रह के लिए अपने कर्तव्य-कर्म रूपी यज्ञ नहीं करते, किन्तु आलस्य और प्रमाद में पड़े रहते हैं, अथवा पशु-पक्षियों की तरह केवल अपने शारीरिक सुखों के लिए ही दौड़-धूप करते रहते हैं, वे लोग इस लोक में भी किसी योग्य नहीं रहते, न किसी प्रकार की उन्नति कर सकते हैं, न सुख-शान्ति की प्राप्ति ही, तो फिर इस शरीर के छूटने के बाद परलोक में उनको सुख अथवा मुक्ति की प्राप्ति क्या होनी है? ऐसे अवनत संस्कारों के लोग तो मरने के बाद मूढ़ योनियों में जाते हैं, जहाँ कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती (३१)। इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञों का वर्णन विद्वानों द्वारा वेदादि

शास्त्रों में विस्तार से किया हुआ है, उन सबको कर्म-जन्य जान, ऐसा जानने से तू मुक्त होगा। तात्पर्य यह कि जगत् में अनेक प्रकार के यज्ञों का शास्त्र-विहित प्रचार है और वे सब यज्ञ कर्म करने ही से सम्पादित होते हैं, इसलिए वे सब कर्म-मय हैं। कर्म की व्यापकता का रहस्य इस तरह जान लेने से कर्म करने अथवा न करने के व्यक्तित्व का अहङ्कार मिट जाता है, फिर कर्मों का बन्धन नहीं होता (३२)। हे परन्तप! द्रव्य-मय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ! सारे कर्म ज्ञान में पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि पदार्थों को अग्नि में होमने, या दान देने, अथवा शरीर की नाना प्रकार की क्रियाओं से होने वाले द्रव्य-मय यज्ञों की अपेक्षा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान-युक्त अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ होता है। सर्वत्र एकता के ज्ञान-युक्त किये जाने पर सम्पूर्ण कर्मों का कर्मत्व समूल नष्ट हो जाता है (३३)। (अहङ्कार रहित नम्रता और सरलतापूर्वक) दण्डवत् प्रणाम करके एवं सेवा करके, विधिवत् पूछने (सच्ची जिज्ञासा करने) द्वारा तू उस (ज्ञान) को जान; तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेंगे। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अहङ्कार की आसक्ति से रहित होकर अत्यन्त नम्रता और सरलतापूर्वक लोक-सेवा करते रहने से जब सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब तत्त्वज्ञानी महात्मा लोगों के उपदेश से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त होता है (३४)। जिसे जान लेने पर, हे पाण्डव! तुझे फिर इस प्रकार का मोह नहीं होगा; उस ज्ञान से सारे भूत-प्राणियों को तू अपने-आप में और मुझमें देखेगा। तात्पर्य यह कि उक्त ज्ञान की प्राप्ति होने पर तू सारे विश्व को, अपने आपको और मुझको एक ही आत्मा के अनेक रूप समझेगा, यानी सर्वत्र एकत्व-भाव हो जायगा, तब फिर कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह होने का अवकाश नहीं रहेगा (३५)। यदि तू सारे पापियों से भी बढ़ कर पाप करने वाला है तो भी ज्ञान-रूपी नौका से तू सारे पापों से तर जायगा। तात्पर्य यह कि सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान-युक्त कर्म चाहे कितने ही घोर-हिंसात्मक अथवा पापात्मक हों, वास्तव में वे पाप रूप नहीं होते; क्योंकि पाप-पुण्य आदि के भाव, भेद-बुद्धि से होते हैं; जब सब भेद मिट कर सर्वत्र एकता हो जाती है, तब सभी द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं, फिर पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं रहता (३६)। हे अर्जुन! जिस तरह प्रज्वलित अग्नि, लकड़ियों को भस्मीभूत कर देती है, उसी तरह (एकत्व-भाव की) ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है; अर्थात् एकत्व-भाव के ज्ञान-युक्त किये हुए कर्मों का कर्मत्व कुछ भी नहीं रहता (३७)। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है और वह (ज्ञान) समत्व-योग में पूर्णता-प्राप्त पुरुष, समय पाकर स्वयं ही अपने-आप में पा लेता है। तात्पर्य यह

कि जब तक भेद-बुद्धि से स्थूल शरीरों में अहंभाव रहता है तब तक ही मलिनता रहती है, परन्तु जब एक ही आत्मा के सर्वत्र समान भाव से व्यापक होने के अभेद-ज्ञान द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब फिर किसी भी प्रकार की अपवित्रता के लिए स्थान नहीं रहता। इस अभेद-ज्ञान का उपदेश ३४ वें श्लोक में कथित विधि से तत्त्वदर्शी महात्माओं से लेकर, फिर उसके अनुसार सर्वत्र एकता के साम्य-भाव से (समत्व-योग का) आचरण करने के अभ्यास में उन्नति करते-करते जब समय पाकर सम्पूर्ण व्यवहार उक्त साम्य-भावयुक्त निरन्तर होने लग जाते हैं, तब सारे विश्व की अपने-आप ही में एकता का पूर्ण अनुभव हो जाता है। सारांश यह कि आत्मज्ञान कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होता, किन्तु समत्व-योग के आचरण से अपने-आप ही में उसका अनुभव हो जाता है, क्योंकि जह अपने-आप ही का यथार्थ अनुभव है। पहले-पहल सर्वात्म-साम्य-भाव में स्थित महापुरुषों से श्रद्धापूर्वक उपदेश लेकर, और उस उपदेश को मन में अच्छी तरह धारण करके, उस ज्ञान-युक्त आचरण करने में लगना चाहिए, क्योंकि केवल उपदेश सुन लेने अथवा समझ लेने मात्र से ही सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति नहीं हो जाती, किन्तु उसके अनुसार आचरण करने से उसमें स्थिति होती है। इसलिए यद्यपि महात्माओं से सुना हुआ अथवा पुस्तकों में पढ़ा हुआ परोक्ष ज्ञान, समत्व-योग के आचरण का साधन है, परन्तु अपने-आप (आत्मा) के ज्ञान में पूर्ण रूप से दृढ़ स्थिति, समत्व-योग के आचरण से ही होती है। इस तरह समत्व-योग के आचरण का कारण परोक्ष आत्म-ज्ञान है, और फिर अपरोक्ष आत्म-ज्ञान में दृढ़ स्थिति होने के लिए समत्व-योग का आचरण ही परम आवश्यक है; अतः ये दोनों एक दूसरे के साधक हैं (३८)। श्रद्धावान् और तत्परता से लगने वाला जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है, और ज्ञान को पाते ही उसी क्षण परम शान्ति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के उपदेशों में श्रद्धा करके उनके अनुसार आचरण करने के अभ्यास में दृढ़तापूर्वक निरन्तर लगे रहने से, तथा इन्द्रियों को वश में रखने से ही आत्म-ज्ञान में स्थिति होती है; और आत्म-ज्ञान में स्थिति होने पर फिर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में कुछ भी देर नहीं लगती—उसी क्षण हो जाती है; क्योंकि वास्तव में आत्मज्ञान ही शान्ति, पुष्टि और तुष्टि है (३९)। यथार्थ ज्ञान से रहित और श्रद्धा से शून्य पुरुष संशय में ग्रस्त रह कर नष्ट हो जाता है; संशयशील का न तो यह लोक है और न परलोक, और न उसे सुख ही होता है। तात्पर्य यह कि जिस पुरुष को न तो यथार्थ ज्ञान है और न तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के उपदेशों में श्रद्धा ही, वह सदा संशय में ही रहता है—किसी एक निश्चय पर नहीं ठहरता; उसका मन सदा डाँवाडोल रहता है, कभी कुछ मानता है कभी कुछ; इसलिए उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। जो

सदा संशय ही में पड़ा रहता है, वह इस लोक अर्थात् वर्तमान शरीर में कोई कार्य सुसम्पन्न करके अपना जीवन सफल नहीं कर सकता, और न वह अपना परलोक ही सुधार सकता है; अतः उसका यह लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं—तीन काल में भी उसको सुख नहीं होता (४०)। जिसने समत्व-योग में कर्मों का संन्यास कर दिया है और सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से जिसके संशय कट गये हैं, हे धनञ्जय! उस आत्मज्ञानी को कर्म बाँध नहीं सकते। तात्पर्य यह कि जिस पुरुष के सभी कर्म सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त लोक-संग्रह के लिए होते हैं और अपने आप—आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने से जिसके सारे संशय मिट गये हैं, वह कर्मों के बन्धनों से सदा मुक्त है (४१)। इसलिए हे भारत! (अपने यथार्थ स्वरूप के) अज्ञान से उत्पन्न, अन्तःकरण में स्थित इस संशय को, आत्म-ज्ञान रूपी तलवार से काट कर समत्व-योग में लगने के लिए उठ खड़ा हो। तात्पर्य यह कि आत्मा के यानी अपने-आप के विषय में यथार्थ ज्ञान न होने के कारण जो तेरे अन्तःकरण में यह संशय उत्पन्न हुआ है कि "मेरे लिए युद्ध करना श्रेयस्कर है अथवा न करना?", उस सन्देह को उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से दूर करके, सबके साथ एकता के साम्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध करने के लिए उठ खड़ा हो (४२)।

स्पष्टीकरण—भगवान् कहते हैं कि इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि दैव-यज्ञ से लेकर जो-जो यज्ञ श्लोक २५ से ३० तक कहे हैं तथा उनके अतिरिक्त जो अन्य अनेक प्रकार के यज्ञों का बहुत-सा विधान शास्त्रों में किया गया है, वे सभी किसी न किसी प्रकार की क्रिया करने से ही सिद्ध होते हैं। अभिप्राय यह कि कर्म तो सभी दशाओं में करने ही पड़ते हैं, बिलकुल क्रिया-रहित होने से कुछ भी नहीं होता। इसलिए समाज और जगत् की सुव्यवस्था अर्थात् लोक-संग्रह के लिए अपने-अपने शरीरों की स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने रूपी यज्ञ करना ही श्रेष्ठ है, जिससे सबके हित के साथ-साथ अपना भी वास्तविक हित होता है। इसी यज्ञ से मनुष्य-जन्म सार्थक होता है; क्योंकि यह जगत् सबके एकत्व-भाव=समष्टि-आत्मा की इच्छा (स्वभाव) का बनाव अथवा खेल है, और यह खेल व्यष्टि आत्मा (जीवात्माओं) के कर्मों से ही सम्पादित होता है, और मनुष्य की देह में बुद्धि के रूप में आत्मा का विशेष विकास होता है, जिससे उसे कर्म करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता है, इसलिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा जगत् को धारण करने में सहायक होने की उसकी विशेष जिम्मेवारी होती है। आलस्य, नींद

अथवा अपनी व्यक्तिगत शान्ति में पडे रहना अथवा अपने व्यक्तिगत सुखों के लिए ही चेष्टाएँ करना तो जड़ पदार्थों और पशु-पक्षियों का भी स्वाभाविक धर्म है; परन्तु मनुष्य की देह में यही तो विशेष योग्यता है कि वह दूसरों के साथ सहयोग करके सबके हित के लिए, समाज और जगत् के धारणार्थ व्यवहार करे। ऐसा करने से ही वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ, सबकी एकता का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर, अपने असली स्वरूप—शान्ति-पुष्टि-तुष्टिरूप परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है। जो लोग मूढ़ता वश निरुद्यमी होकर उपरोक्त लोक संग्रह के यज्ञ नहीं करते, किन्तु आलस्य और प्रमाद में अथवा व्यक्तिगत शान्ति में पड़े रहते हैं, अथवा केवल अपने व्यक्तिगत सुखों के लिए ही दौड़-धूप करते रहते हैं, अथवा मरने के बाद विषय-सुख अथवा मोक्ष की प्राप्ति की आशा लगाये बैठे रहते हैं, वे किसी भी योग्य नहीं रहते। जब कि मनुष्य देह में सब प्रकार के साधन और योग्यताओं के होते हुए भी वे अपने असली स्वरूप=परमात्म-भाव में स्थिति नहीं कर सकते और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते हैं—जड़ पदार्थों और पशु-पक्षियों की तरह आयु व्यतीत कर देते हैं—तो फिर मरने के बाद क्या कर सकेंगे? जो लोग तामस ज्ञान से आलस्य और प्रमाद के वश निरुद्यमी बने रहते हैं, वे इस जन्म में तो जड़ पदार्थों की तरह दूसरों से पद-दलित रहते हैं, और मरने के बाद जड़ (स्थावर) सृष्टि में जा मिलते हैं; तथा जो लोग दूसरों से अपनी पृथकता के राजस ज्ञान से केवल अपने ही स्वार्थों के लिए उद्योग करते हुए दूसरों के स्वार्थों को हानि पहुँचाते हैं, वे इस जन्म में तो दूसरों के आधीन होकर अपने सब स्वत्व एवं अधिकार खो देते हैं एवं दूसरों से सताये जाते हैं, और मरने के बाद पशु-पक्षियों की योनि धारण करते हैं, जहां कुछ भी उन्नति करने की योग्यता नहीं रहती। सारांश यह कि जो लोग अपने शरीरों की स्वाभाविक योग्यता के कर्म, लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, उनका यह लोक तथा परलोक, दोनों बिगड़ जाते हैं।

यद्यपि उक्त लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार करने से मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति तो अवश्य होती है, परन्तु पूर्ण पद की प्राप्ति अर्थात् ब्राह्मी स्थिति तब ही होती है, जब कि सबके साथ अपनी एकता का दृढ़ ज्ञान हो जाता है, और उक्त दृढ़-ज्ञानयुक्त सब प्रकार के व्यवहार लोक-संग्रह के लिए स्वतः ही होने लगते हैं; क्योंकि कोरे शारीरिक अथवा मानसिक कर्मों की अपेक्षा बुद्धि द्वारा विचार करके किये जाने वाले कर्मों की योग्यता अधिक होती है, और बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थित होती है, तब सभी कर्म अकर्म-रूप हो जाते हैं और वही निर्द्वन्द्व ब्राह्मी स्थिति है।

वह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने जाति, कुल, पेशे, वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा; धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, परिवार, विद्या, बुद्धि, बल, कार्य-कुशलता, रूप, यौवन, सभ्यता, सदाचार, धर्म, सम्प्रदाय, भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, तप, दान, कर्म-काण्ड, परोपकार, त्याग, वैराग्य एवं संन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अभिमान से रहित होकर, लोक-सेवा के कार्य करता हुआ, अत्यन्त नम्रता एवं सरलतापूर्वक निष्कपट भाव से, उन लक्षणों वाले तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों की शरण में जाकर आत्मज्ञान के उपदेश की जिज्ञासा करे, जिसका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ के वर्णन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १७ से ३० तक, व गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४ तक, व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १७ से २८ तक, व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वर्णन में, तथा गी० अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वर्णन में, तथा गी० अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान के वर्णन में, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक गुणातीत के वर्णन में, तथा गी० अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दैवी सम्पत्ति के वर्णन में किया गया है; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य) आत्म-ज्ञान अपने-आपके अनुभव और उस अनुभव से सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त आचरण करने का विषय है; इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते हैं जिनको स्वयं वह अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते हैं। परन्तु जिनको जीव, जगत् और ब्रह्म के एकत्व-भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता, दूसरे शब्दों में सबके साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उन भेदवादी लोगों के आचरण सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव युक्त नहीं हो सकते, अतः वे इस विषय का उपदेश नहीं दे सकते। क्योंकि जो वस्तु जिसके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास जो वस्तु होती ही नहीं वह उसे कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब तक उपरोक्त लक्षणों वाला सच्चा तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी गुरु न मिले, तब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी तरह जब तक उपदेश लेने वाला भी अपने शरीर की उपाधियों के बड़प्पन का अभिमान रखता है, तब तक उसे यह उपदेश नहीं मिल सकता; क्योंकि

वह अपने को दूसरों से बड़ा और ऊँचा मानता है, इसलिए वह जन-साधारण से अलग रहता है, और तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सत्संग में, जहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच;

कुलीन-अकुलीन, धनी-निर्धन, पवित्र-पतित आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना सबके साथ समानता का वर्ताव होता है, वहाँ जाना और उनके सामने नम्रता प्रकट करना वह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है; और इस तरह के देहाभिमानी लोगों में सेवा-भाव का तो प्रायः अभाव ही होता है।

दूसरी तरफ़ आत्मज्ञानी महापुरुषों को न तो धन की परवाह होती है, न मान की, और न उन्हें किसी भी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक विषय-सुखों अथवा सेवा-शुश्रूषा की इच्छा होती है; क्योंकि वे अपने-आप में परिपूर्ण होते हैं। उनको न किसी से राग होता है न द्वेष; वे न किसी का भय करते हैं, न किसी की खुशामद। वे तो सम-द्रष्टा होते हैं, अतः सबको एक समान उपदेश देते हैं। परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्त उपरोक्त देहाभिमानी लोग, यदि कभी उनके पास जाते हैं तो वहाँ किसी भी प्रकार का मूल्य चुकाये बिना, अर्थात् धन की भेंट अथवा शरीर से सेवा किये बिना, तथा किसी भी प्रकार के तप आदि के कष्ट भोगे बिना मिलने वाले समत्व-योग के उपदेशों में न तो उनकी श्रद्धा होती है और न वे उन्हें अच्छी तरह समझ कर धारण ही कर सकते हैं; क्योंकि जो घट स्थूल एवं भारी पदार्थों से भरा होता है, उसमें सूक्ष्म एवं हलकी वस्तु समा नहीं सकती। इस तरह के देहाभिमानी लोगों की राजस-तामस अन्ध-श्रद्धा तो नाशवान् एवं तुच्छ शारीरिक सुखों तथा धन, मान, कुटुम्ब आदि की प्राप्ति कराने और मरने के बाद स्वर्ग में ले जाने, अथवा अपने से भिन्न ईश्वर के निकट पहुँचाने रूपी मुक्ति आदि के सरसब्ज़ बाग दिखाने वाले भेद-वाद के शास्त्रों के रोचक वचनों में ही होती है (गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४); और ऐसे लोगों का मन भी एक निश्चय पर नहीं ठहरता, किन्तु सदा संशय-ग्रस्त ही रहता है; इसलिए न तो उनको इहलौकिक अभ्युदय प्राप्त होता है और न पारलौकिक सुख-शान्ति ही। क्योंकि इस जन्म में जिसकी जिन विषयों में आसक्ति रहती है और जिन वासनाओं में वह उलझा रहता है, मरने के बाद उनके अनुसार ही उसके लिए बनाव बन जाते हैं। सारांश यह कि जब इसी जन्म में सुख-शान्ति प्राप्त होने का नक़द सौदा हाथ न लगा, तो मरने के बाद परलोक का उधार सौदा क्या हाथ लगेगा?

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको कहते हैं कि तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महापुरुषों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुन कर, उसे अच्छी तरह विचारपूर्वक धारण करके, उसके अनुसार एकता के ज्ञान-युक्त अपने-अपने शरीरों की योग्यता के व्यवहार, संशय-रहित होकर उत्साह और तत्परता पूर्वक करने में सदा प्रवृत्त रहना चाहिए। इस तरह आचरण

करते-करते काल पाकर जब दृढ़ अभ्यास हो जाता है, तब अपने वास्तविक स्वरूप सर्वभूतात्मैक्य-भाव में पूर्ण रूप से स्थिति हो जाती है, फिर उस जीवन्मुक्त अवस्था की ब्राह्मी स्थिति से कभी पतन नहीं होता और न अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषय में कभी मोह ही होता है किन्तु लोक-हित के सांसारिक व्यवहार पूर्ण-रूप से स्वतः ही होते रहते हैं। उस स्थिति में कर्मों का पाप-पुण्य रूप कोई बन्धन भी नहीं रहता, क्योंकि सब कर्म अपने-आपके एकत्व-भाव में लय हो जाते हैं। अपने से भिन्न कर्मों का कर्मत्व ही नहीं रहता।

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पांचवाँ अध्याय
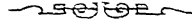
जब किसी मनुष्य के चित्त में मोह-वश कोई बात जम जाती है अथवा कोई मत जँच जाता है तो उसका बदलना बहुत कठिन हो जाता है। उसके विरुद्ध उसे जो भी कुछ कहा जाता है, उसमें उसे संशय बना रहता है और अपने मन में जमी हुई बात को सहसा बदलने को उसका दिल नहीं चाहता। अर्जुन के चित्त में यह बात जम गई थी कि लड़ाई जैसे घोर—हिंसात्मक कर्म से अपने स्वजन-बान्धवों की हत्या करवा कर अपना क्षात्र-धर्म पालन करने की अपेक्षा, सब-कुछ छोड़-छाड़ कर, अर्थात् संन्यास लेकर, भीख माँग के खाना अच्छा है; इसलिए दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में भगवान् ने जो समत्व-योग अर्थात सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का स्पष्ट विधान किया, उसमें उसे संशय बना रहा ।

संशय बना रहने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म एवं गहन है कि उसका अच्छी तरह हृदयंगम हो जाना सहल नहीं है। इसलिए बहुत से लोगों को कर्म (सांसारिक व्यवहार) करने में तो कर्तव्याकर्तव्य, विहित-निषिद्ध, पुण्य-पाप आदि के विचार, तथा शारीरिक कष्ट एवं परिश्रम आदि अनेक प्रकार के झंझट और बखेड़े प्रतीत होते हैं, परन्तु कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लेने पर उन्हें सब झंझट और बखेड़ों से रिहाई मिल जाने, तथा आत्मज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त हो जाने की विश्वासपूर्ण आशा बनी रहती है, अतः कर्म करना छोड़ कर संन्यास ले लेने की तरफ़ उनका झुकाव सहज ही अधिक होता है। अतएव कर्म-संन्यास और कर्म-योग का तुलनात्मक विवेचन करके कर्म-योग की विशेषता और उसके महत्त्व आदि का अधिकाधिक स्पष्टीकरण करने तथा उसे बार-बार समझाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। इसी अभिप्राय को लेकर इस (पाँचवें) अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन का प्रश्न है, जिसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण आगे के अध्यायों में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की विशेषता और उसकी आवश्यकता पर फिर से स्पष्ट शब्दों में ज़ोर देते हुए, सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने की व्याख्या और उसका महत्त्व, तथा उक्त ज्ञान सहित साम्य-भाव से जगत् के

व्यवहार करने वाले समत्वयोगियों के लक्षण, उनके आचरण एवं उनकी ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करने के साथ-साथ सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति के साधन आदि विषयों का निरूपण विविध प्रकार से विस्तारपूर्वक करते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास की और फिर (कर्म) योग की प्रशंसा करते हो; इन दोनों में से जो एक वास्तव में श्रेयस्कर हो, वही मुझे अच्छी तरह निश्चय करके बतलाइए (१)। श्री भगवान् बोले कि (यद्यपि) संन्यास और कर्म-योग, दोनों ही निःश्रेयस्कर हैं, परन्तु इन दोनों में से कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग ही की विशेषता है, अर्थात् कर्म-योग ही अधिक श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह कि निःश्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति तो ज्ञानसहित संन्यास से, अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर घर-गृहस्थी से अलग होकर तथा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कर्म छोड़ कर आध्यात्मिक विचार में लगे रहने से, और ज्ञानसहित कर्म-योग से, अर्थात् गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करते रहने से—दोनों ही से होती है; परन्तु कर्म-योग की यह विशेषता है कि इसमें

अभ्युदय अर्थात् आधिभौतिक सुख-समृद्धि और निःश्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक कल्याण, दोनों ही प्राप्त होते हैं। संन्यास-निष्ठा में जगत् की भौतिकता को मिथ्या एवं तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार किया जाता है, इसलिए उससे आधिभौतिक अर्थात् इस लोक की उन्नति कुछ भी नहीं हो सकती; परन्तु कर्म-योग-निष्ठा में सारे जगत् को एक आत्मा अथवा अपने-आप के अनेक कल्पित रूप होने के निश्चय युक्त, नामरूपात्मक भिन्नताओं को मिथ्या और सबकी एकता को सत्य जानते हुए सांसारिक व्यवहार किये जाते हैं, इसलिए इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करने की योग्यता रहती है। इस त्रिगुणात्मक जगत् के खेल में दोनों ही आवश्यक हैं, तथा आधिभौतिक उन्नति के बिना आध्यात्मिक उन्नति हो भी नहीं सकती, इसलिए कर्म-योग ही की विशेषता है (२)। जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा (अभिलाषा) रखता है, उसे नित्य संन्यासी समझना चाहिए, अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है, क्योंकि हे महाबाहो ! द्वन्द्वों से रहित हुआ वह सहज ही बन्धन से छूट जाता है। तात्पर्य यह कि जगत् की पृथक्ता को सच्ची मान कर कर्मों से द्वेष करके, गार्हस्थ्य को छोड़ कर वनवासी हो जाने से, अथवा एक वेष और एक नाम को छोड़ कर दूसरे वेष और दूसरे नाम को ग्रहण कर लेने से सच्चा संन्यास नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, बन्ध-मोक्ष आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठने, यानी भिन्नता के भावों में एकता के अनुभवपूर्वक आचरण करने से ही सच्चा संन्यास होता है और उसी से सब प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति होती है। वेष का संन्यासी तो घर छोड़ कर वनवासी होने पर होता है, परन्तु द्वैत-भाव को छोड़ कर एकत्व-भाव से आचरण करने वाला जीवनमुक्त समत्वयोगी सदा ही संन्यासी होता है (३)। सांख्य, अर्थात् घर-गृहस्थी से अलग होकर अध्यात्म-विचार में लगे रहने की संन्यास-निष्ठा, और योग, अर्थात् घर-गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करने की कर्म-निष्ठा को बेसमझ अर्थात् अज्ञानी लोग पृथक्-पृथक् कहते हैं; पंडित अर्थात् ज्ञानी (ऐसा) नहीं (कहते)। जो दोनों में से किसी (एक निष्ठा) में भी पूर्णतया स्थित हो जाता है, उसे दोनों का फल मिल जाता है (४)। जिस स्थान को सांख्य (संन्यास-निष्ठा वाले) प्राप्त होते हैं, वहीं योगी (कर्म-निष्ठा वाले) भी जाते हैं; जो सांख्य अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त संन्यास-निष्ठा, और योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त कर्म-निष्ठा की एकता देखता है अर्थात् जो इनमें अभेददर्शी है, वही (वास्तव में) देखता है, यानी वही यथार्थदर्शी है (५)। परन्तु हे महाबाहो ! कर्म-योग के बिना अर्थात् साम्य-भाव से घर-गृहस्थी के

व्यवहार किये बिना संन्यास की प्राप्ति बहुत ही दुःख से होती है अर्थात् अत्यन्त कठिन है; कर्म-योग में लगा हुआ मुनि (विचारशील मनुष्य) तुरन्त ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है (६)। श्लोक ४ से ६ तक का तात्पर्य यह है कि सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य, चाहे सबके हित के लिए यानी लोक-संग्रह के लिए गृहस्थ के स्वांग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करे, अथवा संन्यासी के स्वांग में आध्यात्मिक विचारों में लगा रहे तथा उनके प्रचार आदि का कार्य करे, दोनों की योग्यता एक समान है; स्वांग दोनों ही एक समान कल्पित होते हैं; शरीर दोनों के स्वभाव से ही क्रियाशील होते हैं, अतः शारीरिक चेष्टाएँ दोनों ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार लोक-संग्रह के लिए करते रहते हैं; सबकी एकता का आत्मज्ञान दोनों को एक समान होता है, अतः दोनों को एक ही स्थिति अथवा पद प्राप्त है, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के आत्मानुभव की ब्राह्मी स्थिति दोनों की एक ही है; और यदि दूसरों से अपनी पृथक्ता के राजस ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए गृहस्थी के व्यवहार किये जायँ अथवा उनका त्याग करके संन्यास लिया जाय, उस दशा में दोनों ही एक समान बन्धन-रूप एवं दुःखदायी हैं। इसलिए तत्त्वतः संन्यास और कर्म-योग में कोई अन्तर नहीं है। जो इस अभेद-तत्त्व को ठीक-ठीक जानते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी हैं। वे ग्रहण अथवा त्याग किसी में भी आसक्ति नहीं रखते, अतः शरीरों के स्वाभाविक व्यवहार छोड़ने का प्रश्न उनके नजदीक उपस्थित नहीं होता। सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति हुए बिना वास्तविक संन्यास नहीं होता और उक्त साम्य-भाव में स्थिति के सरल साधन गृहस्थी के व्यवहार ही हैं। गृहस्थ अपने पर निर्भर रहने वाले कुटुम्बी जनों तथा अन्य सम्बन्ध रखने वालों को अपना मान कर उनके लिए उद्यम करता है, जिससे उसके व्यक्तित्व का भाव कम होकर एकता का अभ्यास बढ़ता है और उसके चित्त में आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण भी उत्पन्न होते रहते हैं (गी० अ० ६ श्लो० ३ देखिए), तथा मन, इन्द्रियों और शरीर के प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन सहज ही उपलब्ध होने के कारण उसे मन को टिकाने (संयत करने) में भी सुभीता रहता है। अतः अभ्यास करते-करते क्रमोन्नति करता हुआ समय पाकर वह सबके साथ अपनी एकता का पूर्णतया अनुभव प्राप्त कर सकता है और तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है; परन्तु अज्ञान अथवा अल्पज्ञान की दशा में संन्यास का स्वांग धारण कर लेने पर फिर सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति होना महान् दुर्लभ होता है; क्योंकि संन्यास का स्वांग धारण कर लेने मात्र ही से मन और इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म नष्ट नहीं हो जाते; अतः प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन उपलब्ध न होने

के कारण जब मन और इन्द्रियां चंचल हो जाती हैं तब वे अनेक प्रकार ने प्रलोभनों में फँस कर बहुत अनर्थ करती हैं। सारांश यह कि गंभीरता से विचार करने पर कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है (४-६)। सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ा हुआ, (एवं दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से रहित) शुद्ध अन्तःकरण वाला, मन पर विजयप्राप्त, इन्द्रियजीत पुरुष सब भूतों का आत्मभूत—आत्मा होता है, अर्थात् अपने-आपको सारे जगत् में और सारे जगत् को अपने में अनुभव करता है, (अतः वह जगत् के सब प्रकार के व्यवहार) करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव होने से आत्मज्ञानी कर्मयोगी के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं इन्द्रियों आदि का इतना संयम हो जाता है कि कर्मों में उसकी आसक्ति नहीं रहती और कर्ता, कर्म, करण आदि त्रिपुटियों में वह अभेद देखता है, इसलिए कर्तापन का अहंकार उसके अन्तःकरण में नहीं रहता, अतः वह सब कुछ करता हुआ भी वास्तव में अकर्ता ही रहता है (७)। उपरोक्त समत्व-योग में जुड़ा हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता अथवा देता हुआ, ग्रहण करता अथवा लेता हुआ, आँखें खोलता और मूँदता हुआ भी यही मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) में वर्त रही हैं, यही धारणा रखता है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र एकता के भाव में स्थिति हो जाने से तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी की दृष्टि में इन्द्रियाँ और उनके विषय एक ही वस्तु अर्थात् आत्मा अथवा अपने-आपके अनेक रूप होते हैं और आत्मा अथवा अपने-आपको वह उन कल्पित रूपों का आधार अर्थात् उनकी असलियत अथवा वास्तविकता मानता है, इसलिए अपने उन कल्पित बनावों में उसकी आसक्ति नहीं होती। इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहारों में न तो उसको अपने व्यक्तित्व का अहंकार होता है और न उसे किसी विषय में सुख-प्राप्ति का आकांक्षा ही रहती है। इसलिए उसकी इन्द्रियों से स्वाभाविक व्यवहार होते हुए भी उनसे किसी तरह के अनर्थ नहीं होते और न उसे इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहार त्याग देने की आवश्यकता ही रहती है ❀। (८-९) कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके अर्थात् कर्मों को सबके अपने-आप = आत्मा से अभिन्न समझ कर, उनमें सङ्ग अर्थात् कर्ता और कर्म की पृथक्ता की आसक्ति से रहित होकर, जो(उन्हें)करता है, वह पापों

❀ गी० अ० २ श्लो० ५५ से ६८ के स्पष्टीकरण में स्थितप्रज्ञ के आचरणों का खुलासा देखिए।

से उसी तरह अलिप्त रहता है जिस तरह कमल का पत्ता जल से। तात्पर्य यह कि जो कर्ता, कर्म, करण आदि में सबके एकत्व-भा=वब्रह्म अथवा सबके अपने-आपको देखता है (गी० अ० ४ श्लो० २४), वह अभेददर्शी समत्वयोगी दूसरों से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रखता, अतः वह यदि लोक-संग्रह के लिए हिंसा आदि पापरूप प्रतीत होने वाले कर्म भी करता है तो भी पापों से सर्वथा रहित रहता है, क्योंकि पाप-पुण्य आदि की संभावना भेद-बुद्धि से व्यक्तित्व के अहंकार युक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने पर ही होती है; परन्तु जहाँ अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं वहाँ पाप-पुण्य के लिए अवकाश नहीं रहता (१०)। समत्वयोगी लोग संग अर्थात् व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से अथवा केवल इन्द्रियों से भी कर्म किया करते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी समत्वयोगी शरीर के स्वाभाविक कर्म अर्थात् लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार छोड़ कर, एवं निरुद्यमी बन कर दूसरों पर अपने जीवन-निर्वाह का बोझ डालने, और साथ ही साथ गृहस्थाश्रम, जो सबका उत्पादक और पालक है, उसे दुःखरूप समझ कर हठात् उसका तिरस्कार करने रूपी भेद-भाव की मलिनता से अपने अन्तःकरण को दूषित नहीं करते, किन्तु शरीर के जिस अङ्ग की जैसी स्वाभाविक योग्यता होती है उसीके अनुसार उसके द्वारा सांसारिक व्यवहार लोक-संग्रह के लिए व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर करते रहते हैं जिससे उनका अन्तःकरण उक्त द्वैतभाव रूपी मलिनता से रहित—निर्मल रहता है (११)। युक्त अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव में स्थित कर्मयोगी कर्मफल को त्याग कर नैष्ठिकी अर्थात् अटल शान्ति को प्राप्त होता है; (परन्तु) अयुक्त अर्थात् जो एकता के साम्य-भाव में स्थित नहीं हुआ है वह अज्ञानी पुरुष कामना करके फल में आसक्त हुआ बन्धायमान होता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगी को अपने आपकी परिपूर्णता का अनुभव रहता है, इसलिए उसके अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ कहीं अन्यत्र से सिद्ध करने बाकी नहीं रहते, अतः उसके अन्तःकरण में कभी अशान्ति नहीं होती, किन्तु उसकी स्वाभाविक शान्ति सहज ही बनी रहती है; परन्तु पृथकता के ज्ञान से जगत् के पदार्थ अथवा इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख अथवा मुक्ति कहीं बाहर से प्राप्त करने की कामना रखने वाले की अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्ति रहती है इसलिए वह सदा कामनाओं के बन्धनों में जकड़ा रहता है (१२)। नियामक देही, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार एवं इन्द्रियादि सबका प्रेरक एवं सबको धारण करने वाला, सबका स्वामी—आत्मा, सब कर्मों का मन से संन्यास करके, न कुछ करता हुआ

और न कुछ कराता हुआ, (दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक मुख और दो मल-सूत्र त्यागने के द्वार, इस तरह) नव द्वारों के (शरीर रूपी) नगर में सुख से रहता है। तात्पर्य यह कि सबका आधार, सबका प्रेरक, सबका स्वामी, सबका मूल-भूत, सर्वव्यापक सच्चिदानन्द आत्मा शरीर में रहता हुआ और सब चेष्टाएँ करवाता हुआ भी कर्ता, कर्म, करण आदि भेदों से रहित अपने सहज-स्वभाव आनन्द स्वरूप में स्थित रहता है। इसलिए आत्मज्ञानी समत्वयोगी जो सबका आत्मभूत-आत्मा होता है (गी० अ० ५ श्लो० ८), वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप सारे संघात के नियामक रूप से स्वेच्छापूर्वक नव दरवाजों वाले इस भौतिक शरीर में रहता हुआ और सब कुछ करता-कराता हुआ भी वास्तव में न कुछ करता है और न कुछ कराता है, किन्तु पूर्ण रूप से शान्त रहता है; क्योंकि उसके मन में कर्मों के कर्तापन का कोई अहङ्कार नहीं होता और न किसी कर्म के फल में उसकी आसक्ति रहती है; यह जगत्-प्रपञ्च उसको केवल अपना खिलवाड़ मात्र प्रतीत होता है (१३)। प्रभु अर्थात् ईश्वर लोगों के कर्तापन, कर्मों और कर्मों के फल के संयोग की रचना नहीं करता, किन्तु (सबका अपना-अपना) स्वभाव ही वर्त रहा है, अर्थात् लोग अपने ही स्वभाव अथवा अपने मन के संकल्पों से कर्मों, उनके कर्तापन के अहङ्कार और कर्मों के फल की प्राप्ति की रचना करते रहते हैं; अपने से भिन्न ईश्वर कुछ भी नहीं करता (१४)। सर्वव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा न तो किसी के पापों को लेता है और न किसी के पुण्य को ही; ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है उसीसे जीव मोहित हो रहे हैं, अर्थात् अविचार के कारण लोग अपने वास्तविक स्वरूप—सबकी एकता को भूले हुए हैं, उसीसे यह भ्रम हो रहा है कि कर्मों आदि की रचना कोई दूसरा करता है (१५)। परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान अर्थात् अध्यात्म-विचार से नष्ट हो गया है, उनका (वह) आत्मज्ञान, उस परमतत्त्व अर्थात् सबके अपने-आपकी वास्तविकता—सबके एकत्व-भाव को सूर्य की तरह प्रकाशित करता है। तात्पर्य यह कि अध्यात्म-विचार से जब द्वैत-भावरूपी पर्दा हट जाता है, तब जिस तरह सूर्य के प्रकाश से जगत् के सारे पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, उसी तरह आत्मज्ञान के प्रकाश से अपने वास्तविक स्वरूप—सबके एकत्व-भाव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है (१६)। जिनकी बुद्धि उस (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) में स्थित हो जाती है, और जो उस (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) को ही अपना आत्मा अनुभव करते हैं, तथा उसी (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) में जिनकी दृढ़ स्थिति हो जाती है, और जो उसी (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) परायण अर्थात् तद्रूप हो जाते हैं, उनका द्वैत-भावरूपी मैल (उक्त एकता के) ज्ञान से धुल जाता

है और वे उस पद को पहुँचते हैं जहां से लौटना नहीं होता (१७)। श्लो० १४ से १७ तक का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान से शून्य लोगों को यह मिथ्या विश्वास रहता है कि अपने से भिन्न परमात्मा अथवा ईश्वर कर्मों को रच कर उनके पीछे लगा देता है और उन कर्मों के अच्छे-बुरे फल उनको देता है, इसलिए वे परवशता से कर्मों के बन्धनों से बंधे हुए दुःख पाते हैं और पुण्य अथवा पाप के फल भोगते हैं। भगवान् कहते हैं कि लोगों का यह कोरा भ्रम है। सर्वात्मा = परमात्मा किसी व्यक्ति के लिए विशेष कर्म और उन कर्मों का कर्तापन तथा उन कर्मों के अच्छे-बुरे फलों की प्राप्ति का अयोजन नहीं करता; किन्तु लोग अपने-अपने स्वभाव से अर्थात् अपने पृथकूता के भाव से ही अपने लिए कर्म और उनका कर्तापन और उनके अच्छे-बुरे फल उत्पन्न करके अपने-आपको उनसे बंधा हुआ और सुखी अथवा दुखी मानते हैं। वास्तव में परमात्मा अथवा ईश्वर लोगों से भिन्न तो है ही नहीं कि जो कहीं अलग बैठा हुआ उनके लिए कर्मों और उनकी कर्तव्यता और उनके फल की योजना करता रहे। सबका आत्मा अर्थात् सबका समष्टि-भाव ही परमात्मा अथवा ईश्वर है, इसलिए कर्म और कर्मों की कर्तव्यता एवं कर्मों के फल की प्राप्ति सबके अपने-आपकी ही रचना होती है। पाप, पुण्य, दुःख, सुख, बन्धन, मोक्ष आदि भी सब अपने अपने स्वभाव अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के भाव की ही रचनाएँ होती हैं, किसी दूसरे की नहीं। जब तक अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से पृथक् व्यक्तित्व का भाव बना रहता है, तब तक यह भ्रम बना रहता है कि कर्मों का रचने वाला अपने से भिन्न कोई दूसरा है; पर जब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् सबकी एकता का ज्ञान होकर सर्वात्म-भावरूपी परमतत्त्व में पूर्णतया स्थिति हो जाती है, तब कर्ता, कर्म और कर्म-फलादि सबकी एकता हो जाती है, अर्थात् सबका अपने-आप में समावेश हो जाता है, तब न कोई पाप रहता है न कोई पुण्य, न सुख रहता है न दुःख, न कोई बन्धन रहता है न मोक्ष, और न कुछ ग्रहण करने को रहता है और न त्यागने को। सब अपने-आपके ही अनेक रूप हो जाते हैं; उस स्थिति पर आरूढ़ होने से फिर द्वैतभाव का मोह कभी उत्पन्न नहीं होता। साराँश यह कि जो लोग कर्म करने और उनके फल भोगने में पूर्ण रूप से परतन्त्रता मानते हैं और अपने से भिन्न किसी दूसरी शक्ति पर निर्भर रह कर परावलम्बी, निरुद्यमी एवं उत्साहहीन बने रहते हैं, वे मोह (भ्रम) में पड़े हुए अपना पतन करते हैं। मनुष्य सब आप ही करता है और आप ही भोगता है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं आप ही है (गी० अ० ४ श्लो० ११-१२ और अ० ६ श्लो० ५-६ का स्पष्टीकरण देखिए) (१४ से १७)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् यहाँ संन्यास और कर्म-योग का तुलनात्मक विवेचन करते हैं। इस विवेचन का यह आशय है कि यदि केवल आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो संन्यास और कर्म-योग दोनों ही श्रेष्ठ हैं; इतना ही नहीं, किन्तु दोनों एक ही हैं; क्योंकि जिनको पूर्ण रूप से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान हो जाता है उनको अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाता है, अर्थात् वे सबको अपने में और अपने को सबमें अनुभव करते हैं और सारा जगत् उनको अपना ही रूप प्रतीत होता है; अतः जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त चाहे वे गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए आत्मज्ञान-युक्त साम्य-भाव से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार यथायोग्य सांसारिक व्यवहार करके दूसरों को सच्ची कर्म-निष्ठा का आदर्श दिखाते हुए सबके हित में लगे रहें; अथवा संन्यासी का वेष, जो कि देहाभिमान के परिच्छिन्न अहंकार को जला कर सबके साथ एकता के समष्टि अहंकार में स्थित होने का सूचक है, उसे धारण करके एक छोटे-से परिवार के बदले "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् अखिल विश्व को अध्यात्म-दृष्टि से अपना परिवार समझते हुए, देशभेद, जातिभेद, धर्मभेद, सम्प्रदायभेद, वर्णभेद, आश्रमभेद, पदभेद आदि सब प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठ कर, तथा विधि-निषेध, राग-द्वेष, ग्रहण-त्याग आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों से परे होकर सब लोगों के कल्याण के लिए तत्त्वज्ञान के प्रचार द्वारा लोगों की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होवें—यह उनकी इच्छा पर निर्भर होता है; क्योंकि वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं, अतः उनके नज़दीक संन्यास अथवा कर्म-योग का भेद कुछ भी नहीं रहता और किसी प्रकार के विधि-निषेध उन पर लागू नहीं होते। सारांश यह कि पूर्णावस्था की स्थिति में संन्यास और कर्मयोग दोनों एक ही हैं। गार्हस्थ्य और संन्यास के स्वांग दोनों ही एक समान कल्पित हैं और लोक-संग्रह के लिए दोनों ही अपने-अपने स्थान में एक समान आवश्यक एवं उपयोगी हैं। सच्चा संन्यास तो राग-द्वेष, ग्रहण-त्याग आदि द्वन्द्वों से परे होने से होता है, चाहे गृहस्थ के स्वांग में हो या संन्यासी के स्वांग में। इसलिए पूर्णावस्था की संन्यास-निष्ठा और कर्म-योग-निष्ठा में भेद समझ कर एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट मानना मूर्खता है।

परन्तु उक्त आध्यात्मिक पूर्णावस्था तक लाखों-करोड़ों में कोई विरला ही पहुँचता है और उन महापुरुषों के लिए इन निष्ठाओं की भिन्नता कोई तथ्य नहीं रखती। साधारण जनता में तो अधिकांश लोग अज्ञानी हुआ करते हैं। हज़ारों में कोई एक-आध तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु होता है; और उन तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं में भी बहुत थोड़ों को यत्किंचित् तत्त्वज्ञान होता है। ये अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी

लोग सांसारिक व्यवहारों को दुःख एवं बन्धनरूप मान कर, अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से, घर-गृहस्थी को छोड़ कर संन्यास का स्वांग धारण कर लें तो वह वास्तविक संन्यास नहीं होता, किन्तु ऐसे लोग उभयभ्रष्ट हो जाते हैं और समाज की सुव्यवस्था बिगाड़ कर बड़े-बड़े अनर्थ करते हैं। शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्मों को हठ पूर्वक छोड़ने में सफलता नहीं हो सकती (गी० अ० ३ श्लो० ३३), किन्तु इन्द्रियों को अपने विषयों से जबर्दस्ती रोकने के प्रयत्न में मन की चंचलता उलटी बढ़ कर बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है; फलतः इस तरह के संन्यास लेने वालों में से अधिकांश का भयंकर पतन हो जाता है और वे लोग उच्छृङ्खलता से अव्यवस्थित भोग भोगने और कुकर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। वर्तमान में यह अत्यन्त शोचनीय अवस्था प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। एक बार संन्यासी का स्वांग लेने के बाद फिर पीछा गृहस्थ होना तो असम्भव-सा हो जाता है, क्योंकि संन्यासी का पद बहुत ऊँचा, आदरणीय और पूजनीय माना जाता है, इसलिए पीछा गृहस्थ होने में लज्जा, अपमान एवं गिरावट समझी जाती है, तथा फिर वे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कर्म करने योग्य भी नहीं रहते और गृहस्थों के समाज में उनके लिए कोई स्थान भी नहीं रहता; अतः वे संन्यास ही के स्वांग में रहते हैं। उनमें से जो विद्वान्, चतुर और वाचाल होते हैं वे तो अपनी वाक्पटुता और दंभ (छल) से धर्म, नीति और ज्ञान की थोथी बातें बना-बना कर गृहस्थों, विशेषकर स्त्रियों को रिझाते और उनसे भेंटें लेते हैं, और इस प्रकार धन का संग्रह करके बड़े-बड़े विशाल मठ, मन्दिर, आश्रम आदि बनाते हैं और उनमें सब प्रकार के विषय-भोगों तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के अमीरी ठाट के साधनों का संग्रह करते हैं। यद्यपि गृहस्थों की तरह वे एक स्त्री से विधिपूर्वक विवाह नहीं करते, परन्तु गृहस्थों की सैकड़ों बहू-बेटियाँ उनके पास सदा आती-जाती रहती हैं और चेले एवं चेलियों के रूप में उनकी गृहस्थी साधारण गृहस्थों की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत होती है। यदि उनसे कोई पूछता है कि "आप संन्यासी होकर इतना प्रपञ्च क्यों करते हैं?" तो वे यह कह कर टालमटूल कर देते हैं कि हम कुछ नहीं करते, इस शरीर के प्रारब्ध ही स्वतः सब कुछ करवा रहे हैं। इस तरह प्रारब्ध की मनगढ़न्त ओट लेकर भोले-भाले लोगों की श्रद्धा जमाये रखते हैं। जो लोग इतने बड़े सामान जुटाने की योग्यता नहीं रखते, वे थोड़े में ही निर्वाह करते हैं। वे लोग गृहस्थों से भिक्षा ले-लेकर अथवा नाना भाँति की चालाकियों से उन्हें ठग-ठग कर आलसी जीवन बिताते हैं, तथा तीर्थ-यात्रा आदि के बहाने से अपने मनोविनोद के लिए देशाटन करने में गृहस्थों के धन का बहुत ही दुरुपयोग करते हैं। यद्यपि ये नाम मात्र के संन्यासी लोग स्वांग तो पूरे विरक्त और त्यागी संन्यासी का रखते हैं और समदर्शन की बड़ी-

बड़ी बातें बनाया करते हैं, परन्तु वास्तव में ये साधारण गृहस्थों से भी बहुत अधिक रागी और लोभी होते हैं। क्रोध, अहङ्कार, द्वेष और घृणा के भाव इनमें गृहस्थों से बढ़कर होते हैं। जिन लोगों से इनको कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि होने की आशा रहती है, उनके साथ तो बहुत आदर-युक्त प्रीति रखते हैं, परन्तु जिनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उन्हें केवल उपेक्षा की दृष्टि से ही नहीं देखते किन्तु उनसे घृणा और द्वेष भी रखते हैं, तथा ऊँच और नीच माने जाने वाले लोगों में इतना अन्तर रखते हैं और उनके साथ इतनी विषमता का वर्ताव करते हैं कि जितना सामान्य लोग भी नहीं करते। सारांश यह कि सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी सम्पत्ति के अधिकांश लक्षण इन नामधारी संन्यासियों में पाये जाते हैं।

वर्तमान में इस तरह धर्म की ओट में शिकार करने वाले छोटे-बड़े महन्तों, मठाधीशों, मण्डलेश्वरों, आचार्यों, गुसाइयों आदि और उनके चेलों तथा अन्य भिखमंगे पाखण्डी संन्यासियों की संख्या ५०–६० लाख के करीब बताई जाती है, जिनका गृहस्थों पर बड़ा भारी बोझा लदा हुआ है और यह इस देश की दरिद्रता और दुखों का एक मुख्य कारण हो रहा है। भला, इस तरह के व्यक्तित्व के अहङ्कार और विषयादिकों में आसक्त और केवल अपना पेट पालने वाले लोग कर्मों के बन्धनों से रहित होकर ब्रह्म-भाव में स्थित कैसे हो सकते हैं और कैसे वे दूसरों का कल्याण अथवा हितसाधन कर सकते हैं? हां, इतनी बड़ी संख्या में कुछ त्यागी एवं विरक्त महात्मा, संन्यासाश्रम के गौरव का नमूना दिखलाने वाले भी अवश्य विद्यमान हैं, जो निःस्वार्थ-भाव से लोगों को अपने सदुपदेशों द्वारा अध्यात्म-ज्ञान एवं कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देकर जनता का हित करते हैं और जिनके प्रभाव से ही दूसरे पाखण्डी भी पूजे जाते हैं, क्योंकि थोड़ी-बहुत असलियत के बिना केवल नकल ठहर नहीं सकती; परन्तु उन महात्माओं की संख्या आटे में नमक के बराबर अर्थात् बहुत ही अल्प है।

संन्यास-निष्ठा में जगत् की भौतिक अवस्था की एक प्रकार से उपेक्षा की जाती है, अतः उससे उपराम होकर अथवा उसका तिरस्कार करके केवल आध्यात्मिक विचार में ही निरन्तर लगे रहना होता है, इसलिए उसमें आधिभौतिक (लौकिक) उन्नति के अर्थात् भौतिक सुख-समृद्धि एवं भौतिक बल सम्पादन करने के लिए कोई स्थान नहीं रहता। परन्तु आध्यात्मिक विचार भी मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि के संघात एवं पंच भूतों के पुतले इस शरीर द्वारा ही होते हैं, और यह शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव होने के कारण इसमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों भाव बने रहते हैं—ये कभी मिट नहीं सकते। अतः आधिभौतिक, आधिदैविक और

आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति से ही सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती है। जब तक शरीर की प्राकृतिक आवश्यकताएँ—भूख-प्यासादि—पूरी नहीं होतीं, शरीर बलवान् और आरोग्य नहीं होता तथा मन व्याकुल रहता है, तब तक वह आत्मज्ञान में टिक नहीं सकता। भूखे, दरिद्री, निर्बल एवं रोगी लोगों का चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है, इसलिए वे तत्त्वज्ञान में भी उन्नति नहीं कर सकते (मुण्डकोपनिषद् मुं० ३ खं० २ मं० ४)। प्राणी मात्र की सबसे पहली आवश्यकता पेट भरने की रहती है। अतः जो लोग यहाँ पर (इसी शरीर में) अभ्युदय (भौतिक उन्नति) नहीं कर सकते अर्थात् भौतिक दृष्टि से अवनत दशा में रहते हैं, उनका पारमार्थिक (आध्यात्मिक) कल्याण होना बहुत ही कठिन होता है। यद्यपि संन्यास-निष्ठा भौतिक उन्नति की सर्वथा अवहेलना करती है, परन्तु भूख, प्यास, शीत, ताप आदि शरीर के विकार संन्यासी के भी छूट नहीं जाते, अतः इनकी निवृत्ति के लिए उसे गृहस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है और इस तरह के परावलम्बन में चित्त सर्वथा उद्वेग रहित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध न होने पर संन्यासी को अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं; और संन्यासाश्रम की उच्चता के अहङ्कार के कारण मानापमान के विचार भी समय-समय पर उसके चित्त को विक्षिप्त करते रहते हैं।

परन्तु घर-गृहस्थी में रह कर सांसारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य के लिए उपरोक्त कठिनाइयां नहीं रहतीं और न इस प्रकार पतन की ही आशंका रहती है; क्योंकि वह अपने और अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगों के जीवन-निर्वाह के लिए पूर्वकथित वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने शरीर की योग्यता के सांसारिक व्यवहार करता रहता है, जिनसे उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों पर निर्भर रहना नहीं पड़ता, किन्तु स्वावलम्बन और उद्यमशीलता से वह केवल अपनी ही शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी करके तथा केवल अपनी ही भौतिक उन्नति करके संतोष नहीं करता, किन्तु अपनी योग्यता के तारतम्यानुसार दूसरों की शरीर-यात्रा और सामूहिक उन्नति में भी सहायक होता है। इस तरह कर्तव्यपरायणता और आपस के सहयोग के फलस्वरूप जो भोग्य पदार्थ उसे उपलब्ध होते हैं, उन्हें व्यवस्थित रूप से भोग कर वह अपने मन और इन्द्रियों के वेगों को शान्त करता है, जिससे उनके उच्छृङ्खल होने की संभावना कम रहती है। साथ ही उसे अपने कुटुम्ब और बन्धुजनों से अपनी आत्मीयता अथवा एकता का निश्चय बना रहता है और उस आत्मीयता अथवा एकता के निश्चयपूर्वक वह उनके लिए उद्यम करता है, जिससे उसके पृथक् व्यक्तित्व का भाव कम होकर उसे सबके साथ एकता के भाव बढ़ाने और व्यक्तिगत

स्वार्थ त्यागने में सहायता मिलती है। सारांश यह कि गृहस्थी में रह कर सांसारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में सुविधा रहती है। अस्तु, जो लोग व्यवस्थितरूप से उपरोक्त कर्म-योग का अभ्यास करते हैं, उनके चित्त में समय पाकर आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उस तरफ़ लगने पर शनैः-शनैः क्रमोन्नति करते हुए जब उनकी सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है, तब वे समत्वयोगी अपने को सबमें और सबको अपने में अनुभव करने रूपी ब्रह्म-भाव में स्थित हो जाते हैं और स्वेच्छा से सब प्रकार के आचरण स्वतन्त्रतापूर्वक करते हुए भी पूर्ण रूप से अलिप्त और अकर्ता बने रहते हैं।

बहुत से लोगों का यह अनुमान है कि आत्मज्ञानी पुरुष के शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि की सारी चेष्टाएँ छूट जाती होंगी; परन्तु उनका यह अनुमान गलत है। आत्मज्ञानी पुरुष भी साधारण लोगों की तरह बुद्धि से विचार करता है, मन से संकल्प करता है, चित्त से चिंतन करता है, अहङ्कार से अहङ्कार करता है, आंखों से देखता है, कानों से सुनता है, नाक से सूंघता है, मुख से खाता है, जीभ से स्वाद लेता है, वाणी से बोलता है, त्वचा से स्पर्श करता है, हाथों से लेता-देता और काम करता है, पैरों से चलता है, गुह्य इन्द्रियों से मल-मूत्र त्यागता है, इत्यादि। सारांश यह कि वह सभी तरह की चेष्टाएँ अन्य मनुष्यों की तरह ही करता है, परन्तु अज्ञानी मनुष्य की और उसकी चेष्टाओं में इतना अन्तर रहता है कि अज्ञानी अपने को मन, बुद्धि और इन्द्रियों का संघातरूप शरीर मात्र ही समझता है, इसलिए शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों, विषयों एवं व्यवहारों ही को सब कुछ मान कर उन्हींमें सदा आसक्त एवं तल्लीन रहता है और अनुकूलता-प्रतिकूलता में राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि से उसका चित्त विक्षिप्त एवं अशान्त रहता है; परन्तु ज्ञानी पुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियों आदि को तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों को अपनी रचना समझता है और अपने-आपको उनका आत्मा, उनका आश्रय, उनका नियामक अथवा स्वामी मानता है, अतः वह उनमें आसक्त नहीं होता, किन्तु उनको अपने आधीन रखता है, और उनको अपने-अपने स्वाभाविक धर्मों में लगाये रखता हुआ भी उनके प्रत्येक व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है; और ऐसा करते हुए भी उनके व्यवहारों का उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। जिस तरह एक राजा अपनी प्रजा को कानून आदि द्वारा अपने शासन और नियन्त्रण में रखता हुआ सबको उनकी भिन्न-भिन्न योग्यतानुसार व्यवहार करने में लगाये रखता है और राजा की सत्ता प्रजा में सर्वव्यापक रहती है तथा उस सर्वव्यापक सत्ता के आश्रय में ही प्रजा के सारे व्यवहार होते हैं, परन्तु प्रजा के व्यवहारों में राजा का कोई पृथक्

व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, न उसकी किसी व्यक्ति के अच्छे-बुरे आचरणों में राग-द्वेष की आसक्ति रहती है। इसी तरह आत्मज्ञानी पुरुष के मन, बुद्धि और शरीर द्वारा सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ एकता के भाव से होते रहते हैं, किसी में भी उसकी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का उद्देश्य नहीं रहता, और न उसे किसी विषय में राग-द्वेष ही रहता है, अतः सब व्यवहार करते हुए भी उसके अन्तःकरण में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी शान्ति ही भङ्ग होती है।

बहुत से लोगों को यह संदेह है कि कर्म-रूप जगत् और उसके व्यवहारों को तो जगत् और जीवों से अलग रहने वाले, उन सबके स्वामी ईश्वर ने बनाया है और सब जीवों के कर्तव्य-कर्मों का भी उसी ने निर्माण किया है तथा वही सब प्राणियों को कर्मों में जोड़ता है, एवं कर्मों का फल देने वाला भी वही है, फिर आत्मज्ञानी पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र, अनासक्त, कर्मों का स्वामी, सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता और शुभाशुभ फल से रहित कैसे हो सकता है? उक्त सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं कि लोगों के कर्म, उनकी कर्तव्यता एवं उनके फलादि को, उनसे कोई अलग रहने वाला ईश्वर नहीं रचता, क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वर कोई अलग व्यक्ति नहीं है कि जो कहीं अलग बैठ कर कर्म-रूप सृष्टि की रचना, पालन और संहार आदि करता रहे। सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा अथवा ईश्वर स्वयं ही सृष्टि-रूप एवं जीव-रूप होकर अनेक तरह के स्वांग करता है (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ७)। वे स्वांग ही अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं, तथा जिस स्वांग की जैसी योग्यता होती है, उसी के अनुसार अपने-अपने स्वांग के कर्म और उनकी कर्तव्यता आदि, वे स्वांग ही स्वयं कल्पित कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वभाव से, अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के भाव से अपने लिए कर्मों की कल्पना करता है और आप ही अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के कारण उनका फल उत्पन्न करके आप ही भोगता है। यह बात प्रत्यक्ष है कि कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिए ईश्वर पर निर्भर रह कर निश्चिन्त नहीं हो जाता किन्तु सब कोई अपने लिए थोड़ा या बहुत उद्योग करते रहते हैं और सब कोई अपने ही कर्मों के फल भोगते हैं। एक के कर्मों का फल कोई दूसरा नहीं भोगता। वास्तव में सर्वव्यापक समष्टि आत्मा, अथवा परमात्मा, अथवा ईश्वर में कर्मों का कर्तापन अथवा भोक्तापन, और पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व कुछ भी नहीं होते; क्योंकि सर्वव्यापक आत्मा के एकत्व-भाव में सभी द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं—किसी का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। कर्ता-भोक्तापन व्यक्तित्व के भाव में है।

जो आत्मज्ञानी लोग इस रहस्य को यथार्थतया जान लेते हैं, वे तो अपने को स्वाधीन एवं स्वतन्त्र अनुभव करते हुए सारे कर्मों को अपनी ही कल्पना समझ कर स्वामीभाव से उन्हें करते हुए उनमें आसक्त नहीं होते, अतः उन्हें कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता, क्योंकि अपनी कल्पना वस्तुतः अपने को नहीं बांध सकती; न वे अपने परमात्म-स्वरूप से ही कभी डिगते हैं। परन्तु जो लोग उक्त रहस्य को नहीं जानते उन्हें अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण वे नामरूपात्मक कल्पित स्वांग के व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति रखते हैं और कर्मों तथा उनकी कर्तव्यता और उनके फलों को अपनी रचना नहीं समझते, किन्तु अपने से भिन्न ईश्वर की रचना मानते हैं। अतः वे चाहे गृहस्थी में रह कर संसार के व्यवहार करें, या संन्यास का स्वांग धर कर गृहस्थी से अलग हो जायँ, उनका भ्रम कभी मिट नहीं सकता, और वे कर्मों के बन्धन में सदा बँधे ही रहते हैं; क्योंकि जो अपने को पराधीन एवं परावलंबी मानता है वह स्वतन्त्र अथवा मुक्त नहीं हो सकता।

श्लोक ८ से १७ तक के अर्थ का अनर्थ करके कई लोग उसकी ओट में बहुत विरुद्धाचरण करते हैं। वे कहते हैं कि "हम तो ब्रह्म अथवा आत्मा हैं, और आत्मा में कुछ करना-कराना है नहीं, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं, इससे हमारा (आत्मा का) क्या बनता-बिगड़ता है; हम तो इन्द्रियों से पृथक् हैं, हमारा इन्द्रियों से क्या सम्बन्ध ?" इस तरह वे अपने मुख से ब्रह्म अथवा परमात्मा होने की डींगें हाँकते हैं, परन्तु उनमें व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ इतना बढ़ा हुआ होता है और विषयादिकों की लालसा इतनी प्रबल होती है कि वे चोरी, ठगी, व्यभिचार, हिंसा आदि घोर कुकर्म करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। जो विषयलम्पट लोग गृहस्थी में रह कर द्रव्योपार्जन की योग्यता न रखने और अपनी मनमानी न चला सकने के कारण संन्यास का स्वांग धरके आत्मज्ञान की कुछ बातें सीख लेते हैं, अथवा जो गृहस्थी में रहते हुए भी वेदान्ती एवं आत्मज्ञानी होने का झूठा दम भरते हैं, अथवा जो अपने आपको कृष्ण या ईश्वरस्वरूप बता कर लोगों का सर्वस्व छीनने की धुन में लगे रहते हैं, वे ही लोग शास्त्रों के कुछ वाक्यों को चुन कर उनके भाव का विपर्यास करके भोले-भाले लोगों को और विशेष करके श्रद्धालू स्त्रियों को अपने मायाजाल में फंसा कर दुराचार करते हैं और परिणाम में वे अपना तथा दूसरों का सर्वनाश करते हैं। वे लोग अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त की एक प्रकार से विडम्बना और समाज की महान् हानि करते हैं।

इन श्लोकों की उपरोक्त व्याख्या में यह तो स्पष्ट कर ही दिया गया है कि भगवान् ने यह निरूपण गृहस्थी में रहने वाले उन समत्वयोगियों के आचरणों

का किया है, जो कि सबके साथ अपनी एकता के ज्ञानयुक्त, शरीर और इन्द्रियों के व्यवहार सुव्यवस्थित-रूप से करते हैं; संन्यास का स्वांग करने वालों तथा ज्ञान की थोथी बातें बनाने वालों एवं अपने को ब्रह्म अथवा श्रीकृष्ण अथवा ईश्वर कहने वालों के दुराचारों का निरूपण इन श्लोकों में नहीं है। इसलिए संन्यास का स्वांग धारण करने वाले पाखण्डी तथा आत्मज्ञान की थोथी बातें बनाने वाले एवं अपने को श्रीकृष्ण कह कर भोले लोगों को ठगने वाले दंभी लोगों के लिए अपने कुकर्मों की सफाई देने की इन श्लोकों में कोई गुञ्जाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिनको आत्मज्ञान हो जाता है वे अखिल विश्व को अपने में अनुभव करते हैं, अतः उनको अपने से भिन्न पदार्थों के संयोग से सुख-प्राप्ति की चाह हो ही कैसे सकती है, तथा दूसरों के धन एवं दूसरों की स्त्रियों पर हाथ मारने का विचार उनके मन में उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ?

जो धूर्त पाखण्डी लोग आत्मज्ञान की बातों की ओट में इस तरह के अत्याचार करते हैं, उनके कुमार्ग में यदि कोई बाधक होता है, अथवा उनका वह चोरी और ठगी का सामान जब कोई दूसरा उड़ा लेता है तब वे लड़ाइयां और मुकद्दमेबाजी करते हैं और तब उनके "अहं ब्रह्मास्मि" की पोल अच्छी तरह खुल जाती है।

× × ×

अब भगवान् उपरोक्त समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—विद्या और विनय (नम्रता) संपन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में और इसी तरह कुत्ते तथा चाण्डाल में (आत्मज्ञानी) विद्वान् पुरुष समदर्शी होते हैं। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगियों की दृष्टि में विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि ऊंचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि सभी प्राणियों के विषय में सर्व-भूतात्मैक्य समता (Sameness) का भाव रहता है, क्योंकि वे जानते हैं कि सबका असली तत्त्व यानी सबका मूल आधार—आत्मा एक है, चेतनता सबमें एक समान है, और जिन पंचभूतों के सबके शरीर होते हैं वे पंचभूत भी सबमें एक समान हैं, तथा शरीर सभी एक समान विकारी, परिवर्तनशील एवं उत्पत्तिनाशवान् होते हैं; इसलिए तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है। भेद केवल तीन गुणों के तारतम्य अर्थात् कमी-बेशी की विचित्रता और उससे उत्पन्न होने वाले पारस्परिक संबंध में होता है, सो वे गुण-वैचित्र्य और आपस के संबंध सदा एक-से नहीं रहते, किन्तु निरन्तर बदलते रहते हैं। जिस पदार्थ में कभी सत्वगुण की प्रधानता होती है उसीमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता हो जाती है, और जिसमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता होती है उसमें कभी सत्वगुण की प्रधानता हो जाती है (गी० अ०१४ श्लो०१०)। दुष्टाचरण करने से विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण भी पतित हो जाता है; रोगग्रसित गौ छूने योग्य भी नहीं रहती; विपत्ति आने पर महाकाय हाथी, चींटी से भी दीन बन जाता है। दूसरी तरफ़ भैरव का वाहन कुत्ता विशेष

अवसरों पर पूजनीय होता है, तथा पहरेदार कुत्ते बहुत लोकोपकारी होते हैं; और भगवद्भक्त एवं आत्मज्ञानी चांडाल वंदनीय हो जाते हैं। हिन्दू धर्म छोड़ कर अन्य किसी धर्म को स्वीकार कर लेने से ब्राह्मण का ब्राह्मणपन और चाण्डाल का चाण्डालपन नहीं रहता किन्तु सब एक-मेक हो जाते हैं। सारांश यह कि गुण-वैचित्र्य और आपस के संबंध, जो बाहरी दृश्य मात्र हैं, उनमें स्थायित्व नहीं होता किन्तु वे बदलते रहते हैं। इसलिए तत्वज्ञानी लोग उन बाहरी कल्पित नामों और रूपों की भिन्नताओं की अपेक्षा उनकी असलियत अर्थात् सबकी एकता जो सदा एकसमान बनी रहती है, उसको अधिक महत्त्व देते हैं, और सबको एक ही आत्मा यानी अपने-आपके अनेक रूप समझते हुए, किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार एवं छल आदि के दुर्व्यवहार नहीं करते और न किसी को दबा कर उस पर अत्याचार ही करते हैं, किन्तु सबके साथ यथायोग्य समता का वर्ताव* करते रहते हैं (१८)। जिनका मन (उक्त) समता के एकत्व-भाव में स्थित हो जाता है, वे संसार को यहीं (इसी शरीर में) जीत लेते हैं; (और) क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष एवं सम है इसलिए वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह कि द्वैतभाव से उत्पन्न राग, द्वेष आदि सब दोषों से रहित साम्य-भाव (Sameness) ही ब्रह्म है, इसलिए जिनका मन उक्त साम्य-भाव में स्थित हो जाता है, उन्हें मुक्त होने के लिए कोई दूसरा शरीर धारण करके किसी दूसरे लोक-विशेष में जाने की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु वे यहां (इस शरीर में) ही साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं और वे जीवनमुक्त महापुरुष विश्व-विजेता अर्थात् सारे जगत् के स्वामी होते हैं (१९)। जो प्रिय (पदार्थों) को पाकर विशेष हर्षित नहीं होता और अप्रिय (पदार्थों) को पाकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिर-बुद्धि वाला मोहरहित ब्रह्मवेत्ता (समत्वयोगी) ब्रह्म में स्थित है। (पदार्थों और व्यक्तियों के) बाहरी संबंधों में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं होता, वह अपने अन्तरात्मा में जो सुख है उसे प्राप्त होता है, और वह ब्रह्मभाव में स्थित समत्वयोगी अक्षय सुख अर्थात् नित्यानन्द का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव रूपी ब्रह्म अथवा परमात्मा में स्थित समत्वयोगी का अन्तःकरण सांसारिक भिन्नताओं के बनावों और उनके संबंधों में आसक्त नहीं होता किन्तु उसका लक्ष्य सबके भीतरी एकत्व-भाव पर रहता है अर्थात् वह सब बाहरी बनावों को एक ही आत्मा के अनेक रूप अनुभव करता है, इसलिए अनुकूल पदार्थों अर्थात् शुभ, पवित्र, उच्च कोटि के एवं प्यारे लगने वाले तथा सुखदायक माने जाने वाले पदार्थों

* समता के वर्ताव की विशेष व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

अथवा व्यक्तियों के संयोग से उसे कोई विशेष हर्ष नहीं होता और प्रतिकूल अर्थात् अशुभ, मलिन, हीन कोटि के एवं बुरे लगने वाले तथा दुःखदायक माने जाने वाले पदार्थों एवं व्यक्तियों के संयोग से उसे कोई उद्वेग नहीं होता। उसकी स्थिति निरन्तर सबके अन्तरात्मा के साम्य-भाव (Sameness) रूप ब्रह्म में रहती है, अतः वह सदा सबकी एकता के आत्मानंद में ही निमग्न रहता है। सच्चा और अक्षय सुख सबके अन्तरात्मा अर्थात् सबके एकत्व-भाव में है, न कि बाहरी भेद-भाव के दिखावटी बनावों में। बाहर से सुखदायक प्रतीत होने वाले भिन्नता के बनावों में आसक्ति रखने से धोखा होता है (२०-२१)। पदार्थों के (बाहरी बनाव के) संयोग से उत्पन्न होने वाले जो भोग हैं, वे दुःख के ही जनक होते हैं (और वे) उत्पत्ति-विनाश वाले भी हैं, (इसलिए) बुद्धिमान् मनुष्य उनमें प्रीति नहीं रखता। तात्पर्य यह कि सांसारिक पदार्थों के बाहरी बनावों से संबंध रखने वाले जितने विषय हैं—चाहे वे इन्द्रियों के भोग यानी खाने, पीने, देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूंघने आदि से संबंध रखने वाले हों, या अनुकूल व्यक्तियों अथवा पदार्थों के संयोग-सम्बन्धी हों—सभी दुःख के ही कारण होते हैं; क्योंकि जिस वस्तु का संयोग होता है उसका वियोग अवश्य होता है, अतः संयोग में सुख मानने से वियोग का दुःख उससे अधिक होता है। सारांश यह कि पदार्थों के बाहरी नाम-रूपों के बनावों में आसक्ति रखने वालों को अवश्य ही धोखा होता है (बृहदा० उ० अ० २ ब्राह्मण ४ मंत्र ६)। इसलिए विचारवान् लोग किसी भी वस्तु के बाहरी रूप में आसक्ति नहीं रखते (२२)। जो यहीं पर (इसी जन्म में) शरीर छूटने से पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर सकता है, वही समत्व-योगी है और वही सुखी मनुष्य है। तात्पर्य यह कि मनुष्य देह में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण इसमें विचारपूर्वक आचरण करने की योग्यता होती है, इस-लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार, अभिमान आदि अनेक प्रकार के राजसी भावों के जो अनर्थकारी वेग उत्पन्न होते हैं, उनको विचार पूर्वक थामकर हानि रहित बना देने अर्थात् उनसे कोई अनर्थ न होने देने की योग्यता इस मनुष्य देह में ही होती है, अन्य किसी देह में नहीं होती; अतः जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) इस शरीर के रहते ही इन वेगों पर विजय पा लेता है अर्थात् इनके वश में होकर अनर्थ नहीं करता, वही सच्चा समत्वयोगी है और उसीको सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती है (२३)। जो पुरुष (पदार्थों और व्यक्तियों की कल्पित अनेकता के बाहरी रूपों में आसक्ति न रख कर सबकी भीतरी एकता रूपी) अन्त-रात्मा में सुख का अनुभव करता है, (सबके भीतरी एकत्व-भाव-रूपी) अन्तरात्मा में आराम पाता है और जो (सबके भीतरी एकत्व-भाव-रूपी) अन्तरात्मा ही से

प्रकाशित हो रहा है यानी सबमें एक आत्मा ही के प्रकाश अथवा चमत्कार का अनुभव करता है, वह ब्रह्म-स्वरूप समत्वयोगी ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित होता है। तात्पर्य यह कि जो समस्त बाहरी नाम-रूपों की कल्पित भिन्नताओं की सच्ची एकता के अनुभव में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता है, वह समत्वयोगी द्वन्द्वातीत ब्रह्म-स्वरूप होता है (२४)। जिनका द्वैत-भाव निवृत्त हो गया है और अन्तःकरण को जिनने अपने वश में कर लिया है, वे सब भूत-प्राणियों के हित में लगे रहने वाले निष्पाप ऋषि लोग ब्रह्म-निर्वाण-पद को पाते हैं। तात्पर्य यह कि जिन महापुरुषों के अन्तःकरण का द्वैत-भाव निवृत्त हो जाता है, वे ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित होकर सब प्रकार के भेद-भाव से रहित सारे भूत-प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, अर्थात् उनकी सर्वभूतात्मैक्य-दृष्टि में विशेष और सामान्य, अथवा व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं रहता, क्योंकि वे जानते हैं कि व्यष्टि अर्थात् एक-एक व्यक्ति का योग ही समष्टि अर्थात् सब है, और समष्टि अर्थात् सबमें व्यष्टि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का समावेश है, इसलिए किसी एक व्यक्ति का अनिष्ट करके सबका हित नहीं हो सकता और न सबका अहित करके किसी एक व्यक्ति का वास्तविक हित हो सकता है, अतः वे व्यष्टि और समष्टि के हित को अन्योन्याश्रित समझते हुए किसी भी प्रकार के भेद बिना प्राणीमात्र के हित* में लगे रहते हैं (२५)। जिनका काम-क्रोध निवृत्त हो गया है तथा जिनने चित्त को अपने वश में कर लिया है, ऐसे आत्म-ज्ञानी यतियों के ब्रह्म-निर्वाण-पद नितान्त ही निकट रहता है। तात्पर्य यह कि जिन आत्मज्ञानी जितेन्द्रिय महापुरुषों ने मन को वश में करके द्वैत-भाव से उत्पन्न काम-क्रोधादि मलिन भावों को सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान द्वारा जीत लिया है, वे सदा-सर्वदा ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित रहते हैं (२६)।

स्पष्टीकरण—श्री भगवान् कहते हैं कि जो आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं वे भौतिक शरीरों के बाहरी भेदभाव के बनाव को महत्त्व नहीं देते, किन्तु सब शरीरों को एक ही निर्विकार एवं सम ब्रह्म अथवा आत्मा के अनेक नामों और रूपों का कल्पित बनाव समझकर सबके साथ एकता के साम्य-भाव का वर्ताव करते हैं। शरीर चाहे सर्वगुणसंपन्न ब्राह्मण का हो या एक मेहतर अथवा चाण्डाल का; पवित्र गाय का हो या अपवित्र कुत्ते का, मोटा हाथी का हो या छोटा चींटी का, उनकी सबके विषय में सदा समदृष्टि रहती है; क्योंकि वे जानते हैं कि ऊंचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सभी द्वन्द्व, सबके आत्मा=परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के बनाव

* सबके हित में लगे रहने का खुलासा आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

मात्र हैं (गी० अ० ७ श्लो० ४-५); और वे बाहरी बनाव प्रतिक्षण परिवर्तनशील अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाले, एवं उत्पत्तिनाशवान् अर्थात् बनने और मिटने वाले होते हैं, इसलिए उनके भेद सभी कल्पित और झूठे हैं, अतः इन भेद-भावों का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न वे अपने साम्यभाव से ही विचलित होते हैं, अर्थात् वे न तो वस्तुतः किसी को ऊंचा, पवित्र अथवा मोटा मान कर उससे विशेष प्रभावित होते हैं और न किसी को नीचा, अपवित्र अथवा छोटा मान कर उसका तिरस्कार करते हैं, किन्तु सबके साथ उनके स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार वे समता का व्यवहार करते हैं। उनको अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति से इतना हर्ष नहीं होता और प्रतिकूल की प्राप्ति से इतना उद्वेग नहीं होता कि जिससे उनके साम्य-भाव में कोई अन्तर आवे, अर्थात् आँखों के सामने अच्छे, चित्ताकर्षक, शुभ एवं पवित्र रूप और दृश्य आवें अथवा बुरे, अशुभ एवं मलिन रूप और दृश्य आवें; कानों में सुरीले, मान बढ़ाने वाले एवं मांगलिक शब्द पड़ें अथवा कड़वे, कर्कश, अपमानजनक एवं अमांगलिक शब्द पड़ें; नाक में सुगन्ध आवे अथवा दुर्गन्ध; त्वचा को कोमल, सुहावने एवं पवित्र स्पर्श प्राप्त हों अथवा कठिन, असह्य एवं मलिन स्पर्श; जिह्वा को स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हों अथवा बेस्वाद भोजन; इस तरह सभी इन्द्रियों तथा मन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थों एवं विषयों की प्राप्ति से उनके अन्तःकरण में हर्ष अथवा उद्वेग-जनित क्षोभ नहीं होता। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ज्ञानी पुरुष को इन्द्रियों के विषयों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। वास्तव में साधारण लोगों की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी को इन विषयों का विशेष ज्ञान होता है, क्योंकि उसकी ज्ञान-शक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। परन्तु वह अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का अनुभव करता हुआ भी उनसे विचलित नहीं होता। जिनका मन साम्य-भाव में स्थित हो जाता है, वे अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छे-बुरे आदि सब द्वन्द्वों को अपनी ही प्रकृति का बनाव मात्र समझते हैं, अर्थात् यह जगत्-प्रपञ्च उनको अपने ही समष्टि-भाव की इच्छा, प्रकृति अथवा स्वभाव का खेल जान पड़ता है—उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न द्वैत-प्रपंच कुछ रहता ही नहीं।

जगत् के पदार्थों को वस्तुतः अलग-अलग अस्तित्व मान कर उनके संयोग से होने वाले क्षणिक सुखों में आसक्ति रखने से दुःख अवश्य ही होता है, क्योंकि शरीरों से संबंध रखने वाले बाहरी विषयों की अनुकूलता-रूप जितने भी सुख हैं, उनके साथ ही प्रतिकूलता-रूप दुःख लगा रहता है। अनुकूलता, प्रतिकूलता

अथवा सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों के जोड़े हैं, अतः वे साथ ही रहते हैं और दोनों ही परिवर्तनशील एवं आने-जाने वाले हैं; इसलिए यदि अनुकूलता के संयोग में सुख माना जाता है तो उसके वियोग में दुःख अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त पहले तो उन सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं, फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख-प्राप्ति की लालसा होती है, और दूसरों के अधिक सुखों की ईर्षा होती है, एवं प्राप्त सुखों के नाश का भय बना रहता है, और सुख-भोग के अनंतर उसका दुष्परिणाम भी अवश्य होता है। फिर जहाँ अनुकूल पदार्थों की आकांक्षारूप काम उत्पन्न होता है वहां उसकी प्रतिक्रियारूप क्रोध अवश्य उत्पन्न होता है (गी० अ० २ श्लो० ६२), और काम-क्रोध अथवा राग-द्वेष ही सब दुःखों एवं बन्धनों के कारण हैं। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख राजस सुख है, जो पहले तो अमृत-सा प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष की तरह होता है (गी० अ० १८ श्लो० ३८), अतः वह वास्तविक सुख नहीं किन्तु दुःख ही का जनक है। एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्ति रखने से भी बन्धन और दुःख होता है, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। जैसे कि—हरिण और सर्प की कान के विषय में अधिक आसक्ति होने के कारण वे राग सुन कर पकड़े जाते हैं; हाथी जैसा मोटा पशु स्पर्श-इन्द्रिय के विषय में विशेष आसक्ति रखने के कारण मादा (हथनी) के संयोग के प्रलोभन से बंधता है; पतंग आँखों के विषय में विशेष आसक्ति रखने के कारण अग्नि में पड़ कर जलता है; मछली जिह्वा के विषय में विशेष आसक्त होने के कारण जाल में फंसती है; और भौंरा नासिका के विषय में विशेष आसक्ति रखने के कारण पुष्प की सुगन्धि में मस्त होकर उसी में बन्द हो जाता है। जब कि एक-एक इन्द्रिय के विषय की आसक्ति इतनी दुःखदायक एवं बंधन का कारण होती है, तब पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से दुःखों का क्या ठिकाना? सारांश यह कि पदार्थों के बाहरी संयोग से होने वाले विषय-सुखों की आसक्ति वास्तव में बहुत दुःखदायक होती है, इसलिए विचारवान् पुरुष इनमें आसक्ति नहीं रखते।

यदि सूक्ष्म विचार कर देखा जाय तो पता लगता है कि पदार्थों के बाहरी रूपों में जो सुख प्रतीत होता है वह भी वस्तुतः उन बाहरी नाम-रूपों के परिवर्तनशील बनाव का नहीं होता किन्तु उन पदार्थों और भोगने वाले दोनों के भीतरी तत्त्व—सच्चिदानन्द-घन-स्वरूप आत्मा की एकता का प्रसाद होता है। जब मन में किसी नाम-रूपात्मक बाह्य पदार्थ के प्राप्त करने अथवा किसी विषय के भोगने

की इच्छा उत्पन्न होती है, तब मन की वृत्ति उस इच्छित वस्तु को अपने से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त करने के लिए बहिर्मुख होती है, उस समय उसमें अन्तरात्मा के एकत्व-भाव से विमुख होने का क्षोभ होता है; फिर जब इच्छित पदार्थ प्राप्त हो जाता है तब इच्छा पूरी होने पर वह पीछी लौट कर कुछ काल के लिए अन्तरात्मा की एकता में विश्राम करती है और तब उस एकाग्रता की शान्ति का आनन्द अनुभव करती है, जिसको वह अज्ञानवश पदार्थों के बाहरी संयोगों का सुख मानती है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों के विषयों में कोई स्वतन्त्र सुख नहीं है, किन्तु उनमें प्रतीत होने वाला सुख सबके एकत्वभाव यानी अन्तरात्मा (वास्तविक अपने-आप) के ही आनन्द का आभास है। वास्तव में आनन्दस्वरूप एक आत्मा ही है जो सबका अपना-आप है।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियों में विषय भोगने की शक्ति भी सबके एकत्वभाव आनन्दस्वरूप आत्मा के प्रसाद से ही होती है। इस पर एक दृष्टान्त नमूने के तौर पर दिया जाता है—

एक बादशाह अथवा धन-कुबेर के पास कल्पनातीत भोग्य पदार्थ उपस्थित हैं। रात्रि का समय प्रायः सभी इन्द्रियों के विषय-भोगों के लिए विशेष अनुकूल होता है। अस्तु, विलासिता की संपूर्ण सामग्रियों से सजे हुए और ऋतु के अनुसार ठंडे अथवा गरम हो सकने वाले महल में, बिजली के देदीप्यमान प्रकाश में, रूपवती युवतियों के हाव-भाव-कटाक्षयुक्त नाच, गायन, वाद्य और अपने गुण-कीर्तन की कविता आदि से वह प्रफुल्लित हो रहा है; भवन विविध प्रकार की मनोमुग्धकर सुगन्धियों से महक रहा है, जिसमें वह उन रमणियों से घिरा हुआ भांति-भांति के स्वादिष्ट भोजन और मादक पीने के पदार्थों का स्वाद लेता हुआ उनसे तरह-तरह के विलास करता है। सारांश यह कि सब प्रकार के बढ़िया से बढ़िया भोग उसे प्राप्त हैं— ज़रा-सी भी कसर नहीं है। दीन-दुनिया की उसे कुछ भी खबर नहीं है। ऐसे अनुपम भोग भोगते हुए चार या छः घंटे बीत जाते हैं; नींद आने लगती है। वह कोशिश करता है कि नींद को रोके परन्तु नहीं रुकती। युवतियां विनय करती हैं कि "हुजूर ! नींद क्या लेते हैं, जरा इधर तो देखिए। एक नाज़नी नई तर्ज की गज़ल और एक नया नाच पेश करती है, उसे तो एक नज़र बक्श दीजिए"। परन्तु 'हुजूर' को अब वे ऐशो-आराम कुछ भी अच्छे नहीं लगते। वह उन सबके बीच में नींद के खुर्राटे लेने लगता है। जब कोई छेड़ता है तो कहता है कि थोड़ी देर मुझे नींद ले लेने दो, फिर तरोताज़ा होकर मौज उडावेंगे। आखिर "जहाँपनाह" नींद की गोद में पनाह लेते हैं। सुबह होने लगता है, "भैरवी" का समय हो जाता है,

परन्तु "हुजूर" अभी नहीं जागते हैं। उन्हें जगाने की किसी में हिम्मत नहीं है—खफ़ा होने का डर है—क्योंकि नींद से जागना बहुत ही बुरा लगता है। कुछ समय बाद प्राकृतिक वेग उन्हें जगाते हैं। यद्यपि सुस्ती तो छाई हुई है और सिर में दर्द भी है, तो भी विषयों की आसक्ति फिर उस तरफ़ खींचती है और पहले की तरह राग-रंग होने लगते हैं, परन्तु थकावट के असर से पहले वाला लुत्फ़ नहीं रहता। थोड़ी देर बाद सूर्य भगवान् का प्रकाश रंग फ़ीका करने में मदद देता है। लाचार जल्सा बर्ख़ास्त होता है और "हुजूर" को दिनभर लम्बी तान कर पड़े रहना पड़ता है। जब शाम तक नींद लेकर वह तरोताज़ा हो जाता है तब दूसरी रात को फिर विलास करने के योग्य होता है।

यह दृष्टान्त कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु जो लोग इस तरह की विलासिता करते हैं, उनका प्रत्यक्ष का अनुभव है। इस प्रत्यक्ष के अनुभव से यह स्पष्ट है कि वास्तव में पदार्थों के बाहरी रूपों के नाना विधि के भोगों में सुख नहीं है, क्योंकि यदि उनमें सुख होता तो उनसे थकावट न आती और उनको छोड़ कर नींद लेने की इतनी आतुरता नहीं होती और न नींद लेने से आराम और तरोताज़ापन ही प्राप्त होता।

केवल विषय-भोगों की विलासिता में ही नहीं, किन्तु बाहरी नाम-रूपों की पृथक्ता को सच्ची मान कर भेद-बुद्धि से किये जाने वाले सभी व्यवहारों में—चाहे वे धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठान, सन्ध्या-वन्दन, ध्यान, जप, तप, पूजा, पाठ, प्राणायाम, भजन, कीर्तन, शास्त्राध्ययन, तीर्थाटन, दान, पुण्य, व्रत, उपवास आदि हों अथवा किसी वर्ण एवं आश्रम के विविध प्रकार के व्यवसायों के काम-धंधे हों, अथवा अन्य किसी भी तरह के शारीरिक एवं मानसिक व्यापार हों—उन सबमें, थकावट, अरुचि, विमनस्कता एवं व्याकुलता आदि आये बिना नहीं रहती और वह थकावट तथा व्याकुलता आदि तभी दूर होती हैं जब कुछ समय तक गहरी नींद लेकर आन्तरिक एकत्व-भाव में स्थिति कर ली जाती है।

गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में सुख अथवा आराम मिलने का कारण यह है कि उसमें बाहरी दृश्य के सारे भेदभाव कुछ काल के लिए मिट कर परम-सुख रूप आन्तरिक एकत्व-भाव में स्थिति हो जाती है, और वह अवस्था ऊंचे, नीचे, पवित्र, मलिन, छोटे, मोटे आदि सभी प्राणियों के लिए एक समान आनन्द-स्वरूप होती है, अर्थात् उस अवस्था का जितना आनन्द एक विद्वान् ब्राह्मण को और महलों में सोने वाले एवं मखमल आदि के कोमल बिस्तरों पर लेटे हुए एक सम्राट् को होता है,

उतना ही पथरीली भूमि पर, एवं गंदगी में पड़े हुए एक मज़दूर एवं अछूत-चमार अथवा भंगी को होता है और उतना ही अन्य देहधारियों को होता है। सारांश यह कि उस अवस्था में किसी की कोई विशेषता नहीं रहती, किन्तु पूर्ण एकता अथवा समता होती है (बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ मंत्र २२)। यही कारण है कि जब बाहरी भेदभाव के व्यवहारों में थकावट आदि आकर वे दुःखदायी प्रतीत होने लगते हैं, तब उनसे निवृत्त होकर पूर्ण सुख-रूप सुषुप्ति अवस्था के एकत्व अथवा साम्य-भाव में प्रविष्ट होने (नींद लेने) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, और जब उस सुषुप्ति अवस्था की आन्तरिक एकता में स्थिति हो जाती है तभी सुख-शान्ति मिलती है, और यही कारण है कि उसमें प्रविष्ट होने पर फिर उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता एवं दूसरे सारे विषय-भोग उस आनन्द के सामने तुच्छ प्रतीत होते हैं। उस आन्तरिक एकता के आनन्द की प्राप्ति होने पर बाहरी भेदभाव के व्यवहारों की प्रतिक्रिया-जन्य जो थकावट और व्याकुलता आदि होती हैं, वे शान्त हो जाती हैं और उसी आन्तरिक एकत्व-भाव के आनन्द की प्राप्ति करके प्राणी फिर बाहरी व्यवहार करने के योग्य होते हैं। तात्पर्य यह कि मन भीतरी एकता के आनंद का कुछ अंश लेकर बाहर आता है और बाहरी विषयों में उसे खर्च करता है, और जब वह उस आनंद को खर्च कर चुकता है, तब फिर उसे अंदर से आनन्द लाना पड़ता है और तब फिर से वह बाहरी विषयों में वर्तने के योग्य होता है। जिस तरह बालक अपनी माता की गोद से अलग होकर खेलता है और खेलते-खेलते जब थकावट आती है तब वह पीछा अपनी माता की गोद में जाकर लेट जाता है और उसका स्तन-पान करके जब ताजा हो जाता है, तब फिर खेलने के योग्य होता है; उसी तरह मन गहरी नींद (सुषुप्ति) की अवस्था के आन्तरिक एकत्व-भाव अथवा प्रकृति माता की साम्यावस्था-रूप गोद से निकल कर जाग्रत अवस्था के बाहरी विषयों में वर्तता हुआ जब भीतर से लाई हुई आनंद की पूंजी को खर्च कर देता है, तब थक जाता है; और फिर सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में प्रकृति माता की साम्यावस्था-रूप (आन्तरिक एकता की) गोद में कुछ काल के लिए विश्राम करके जब उसके आनंद से आनंदित हो जाता है, तब पुनः बाहरी विषयों में वर्तने के योग्य होता है।

इस प्रत्यक्ष के अनुभव से स्पष्ट है कि बाहरी नाम-रूपात्मक भिन्नता के विषय-भोगों तथा अन्य व्यवहारों में वस्तुतः कोई सुख नहीं है, किन्तु उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह सबके भीतरी एकत्व-भाव के आनन्द का आभास (प्रितिबिम्ब) मात्र है; इसलिए पदार्थों के बाहरी नाम-रूपों के संयोगों में सुख मान कर उनमें आसक्ति करने अर्थात् उनमें उलझे रहने से दुःख होता है।

इस विवेचन में सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) की अवस्था को जो आनंदरूप एवं आनन्द का केन्द्र बताया है, उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि "नींद लेने में ही सच्ची एवं स्थायी सुख-शान्ति होती है, और सब विषय-भोग तथा अन्य व्यवहार छोड़-छाड़ कर दिन-रात नींद में ही पड़े रहना चाहिए;" क्योंकि यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में सारे बाहरी भेद-भाव मिट कर प्रकृति की साम्यावस्था-रूपी एकत्व-भाव में स्थिति होती है और शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि की पृथक्ता के सभी भाव उनके कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में विश्राम ले लेते हैं, तब कुछ काल के लिए सब भिन्नताएँ मिट जाने से एकता का आनन्द तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु वहां अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अपने-आप अर्थात् सर्वान्तर्यामी आत्मा अथवा सबकी एकता का ज्ञानपूर्वक अनुभव नहीं होता, किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान अथवा अन्धकार का आवरण बना रहता है, इसलिए नींद का सुख तामस माना गया है (गी० अ० १८ श्लो० ३७), जो नींद आने से पहले और नींद खुलने के बाद नहीं रहता।

सुषुप्ति अवस्था जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं की कारण है, अतः जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं के प्रपंच का आविर्भाव (उत्पत्ति) सुषुप्ति अवस्था से होता है और उसी में उसका तिरोभाव (लय) हो जाता है। जब जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ सुषुप्ति से आविर्भूत होती हैं तब उस एकत्व-भाव की अवस्था के सुख से संयुक्त रहती हैं; फिर जब भेद-भाव की आसक्ति-युक्त व्यवहारों में उस सुख का व्यय हो जाता है और एकत्व-भाव से विमुखता-जन्य क्लेश दबाते हैं, तब उस दुःख को मिटा कर सुखी होने के लिए फिर से एकत्व-भाव की सुषुप्ति अवस्था में जाने की आवश्यकता होती है। इस तरह सुषुप्ति अवस्था से आना और उसमें जाना बना रहता है। इसलिए यद्यपि जाग्रत और स्वप्न के बाहरी द्वैत-प्रपंच की अपेक्षा सुषुप्ति अवस्था में एकत्व-भाव के विशेष सुख का अनुभव होता है, क्योंकि वहाँ द्वैत-प्रपंच कुछ काल के लिए दब जाता है, परन्तु द्वैत-प्रपंच सर्वथा मिट नहीं जाता; अर्थात् वहां "एक में अनेक और अनेकों में एक" का ज्ञान नहीं होता, अतः वहां सच्चा और अक्षय सुख नहीं है। सच्चा एवं अक्षय सुख तो जाग्रत अवस्था में ही सात्विक ज्ञान द्वारा अखिल विश्व की एकता का पूर्ण रूप से अनुभव कर लेने से होता है। सारांश यह कि सात्विक ज्ञान से सबकी एकता के निश्चयपूर्वक विषयों को यथायोग्य भोगते हुए भी उनसे जो सुख प्रतीत हो, उसे बाहरी पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुआ न समझ कर सबके अन्तरात्मा अर्थात् सबके एकत्व-भाव यानी सच्चिदानन्द-स्वरूप अपने-आपके आनन्द का आभास समझने ही से यथार्थ सुख होता है।

जब कि सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत और स्वप्न के द्वैत-प्रपंच कुछ समय के लिए तमोगुण में दब जाने से भी इतना सुख होता है कि जिसके प्रसाद से जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ भी सुख-रूप प्रतीत होती हैं, तब सबकी एकता के वास्तविक अर्थात् सात्विक ज्ञान की स्थिति के सुख का तो कहना ही क्या? वह तो अकथनीय है।

यदि पदार्थों के बाहरी रूपों में वास्तविक सुख होता तो अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु सभी अवस्थाओं में उनसे सुख होता; पर ऐसा होता नहीं है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ बहुत सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी किसी अवस्था में वही पदार्थ घोर दुःखरूप हो जाता है। कोई भी सांसारिक पदार्थ अपनी बाहरी नाम-रूपात्मक पृथक्ता के भाव में सुखदायक अतः प्यारा नहीं होता, किन्तु उसमें प्यारापन अन्तरात्मा यानी सबके अपने-आपके एकत्व-भाव का होता है। स्त्री के लिए पति और पति के लिए स्त्री, माता-पिता के लिए पुत्र और पुत्र के लिए माता-पिता, इसी तरह कुटुम्बी एवं संबंधी-जन, धन, सम्पत्ति, राज, समाज, विद्या, बुद्धि, मान, प्रतिष्ठा, धर्म, कर्म, लोक, परलोक, देह, इन्द्रियाँ, यहां तक कि ईश्वर और मुक्ति आदि जितने भी सांसारिक एवं पारमार्थिक विषय हैं, वे सब आत्मा यानी अपने-आप (सबकी अन्तरात्मा) के लिए अच्छे लगते हैं; अर्थात् जिस-जिसके साथ अपनी अनुकूलता और अपनी एकता का अनुभव होता है वही पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, और जब वह अपने लिए अनुकूल नहीं होता और अपने से बिलग माना जाता है तब उसमें प्यारापन नहीं रहता, और न उससे सुख ही होता है; किन्तु उल्टा द्वेष होकर दुःख होता है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४)। इसलिए आत्मज्ञानी समत्वयोगी सांसारिक पदार्थों की पृथक्ता के बाहरी नाम-रूपों को एक ही सम आत्म-तत्त्व (सबके अपने-आप) के अनेक रूप अनुभव करता हुआ इन्द्रियों के विषयों को आसक्ति रहित होकर विधिवत् भोगता है और सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार यथायोग्य करता है और उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता में सम रह कर किसी से राग अथवा द्वेष नहीं करता; तथा काम, क्रोध* आदि के वेगों से विचलित नहीं होता। उसकी दृष्टि सब नाम-

---

* काम-क्रोध आदि के वेगों का अन्तःकरण में उत्पन्न होना तो स्वाभाविक है, परन्तु ज्ञानी के अन्तःकरण में वे वेग पानी के ऊपर लकीर खींचने की तरह होते हैं अर्थात् उत्पन्न होते ही शान्त हो जाते हैं; अथवा वह उनका इस तरह सदुपयोग करता है कि उनसे कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु उल्टा लोक-हित होता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानी के अन्तःकरण में उनका विष पलट कर अमृत हो जाता है।

रूपात्मक शरीरों की असली एकता पर रहती है, अतः वह पृथकता के सारे द्वन्द्वों से परे होकर एकता के ब्रह्म-भाव से सारे भूत-प्राणियों को अपना ही रूप अनुभव करता है और सबके हित के लिए जगत् के सब प्रकार के व्यवहार उनके स्वामीभाव से करता हुआ इसी शरीर में सच्चे एवं अक्षय सुख के भण्डार ब्रह्मनिर्वाण-पद में स्थित रहता है। मनुष्य जन्म उसी का सार्थक है, जो इस तरह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों में सम रह कर व्यष्टि और समष्टि की एकता के अनुभव से सब लोगों के हित के लिए जगत् के व्यवहार करता हुआ अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म-भाव में स्थित रहता है। जो बाहरी नाम-रूपों की भिन्नताओं में जितनी ही कम आसक्ति रखता है और सबकी आन्तरिक एकता में जितना ज्यादा विश्वास रखता है अथवा जितना ही अधिक अन्तःकरण को लगाये रखता है, उतना ही अधिक वह ब्रह्मनिर्वाण-रूपी मोक्ष के निकट पहुँचता है।

श्लोक २५ वें में "सर्वभूतहिते रताः" अर्थात् सब भूत-प्राणियों के हित में लगे रहने का वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। आधिभौतिक सुख-वाद के पंडित लोग अर्थात् भौतिक सुखों को ही सब कुछ मानने वाले विद्वान् लोग "अधिक लोगों के अधिक सुख" के सिद्धान्त को ही कर्तव्यता एवं नीतिमत्ता की पराकाष्ठा मानते हैं। यद्यपि साधारणतया यह सिद्धान्त समाज की सुव्यवस्था के लिए बहुत अच्छा है, क्योंकि इसके आचारण से जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके अनेक प्रकार के कष्टों की निवृत्ति में बहुत कुछ सहायता मिलती है, इसलिए इसका आचरण करना ठीक है; परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष एवं पूर्ण नहीं है। इसमें कई प्रकार के दोष एवं त्रुटियाँ हैं। प्रथम तो भौतिक दृष्टि से "अधिक लोगों" का और उनके सुख की अधिकता एवं न्यूनता का निर्णय होना ही असंभव है, क्योंकि सब देशों के सब लोगों की गणना करके, किसको किस बात से सुख और किसको किस बात से दुःख होता है, इसका पता लगाना अशक्य है। इसी तरह "अधिक सुख" का भी निश्चय होना अशक्य है; क्योंकि सुख का कोई निश्चित माप अथवा तोल अथवा मात्रा नहीं है कि किसी विशेष माप, तोल अथवा मात्रा को सबसे अधिक मान लिया जाय। सुख, मन की एक अनुकूल वेदना है, जो सदा एक-सी नहीं रहती। किसी को, किसी समय, किसी विषय में अनुकूलता प्रतीत होती है, दूसरे व्यक्ति को, अथवा दूसरे समय (उसी व्यक्ति को), उसी विषय में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। एक व्यक्ति को थोड़ा भी सुख बहुत प्रतीत होता है, और दूसरे व्यक्ति को बहुत सुख भी थोड़ा प्रतीत होता है; और जहां बाहरी अथवा शारीरिक सुख प्रतीत होता है वहां भीतरी

अथवा मानसिक दुःख हो सकता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्तियों की संख्या और सुख की मात्रा का निर्णय वर्तमान काल ही को लक्ष्य करके किया जायगा, और ऐसा करने से वर्तमान में जो सुख है, वह भविष्य में भी सुख-रूप ही रहेगा या नहीं, एवं भविष्य में होने वाले व्यक्तियों के लिए वर्तमान का सुख, सुख-रूप होगा कि नहीं, अथवा वर्तमान से अधिक होगा अथवा न्यून होगा—इत्यादि बातों का कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता। इस तरह के कई दोष "अधिक लोगों के अधिक सुख" के सिद्धान्त में हैं। इसलिए भगवान् ने "अधिक लोगों के अधिक सुख" के सिद्धान्त को आदर्श नहीं माना है; किन्तु उससे आगे बढ़ कर "सर्वभूतहिते रताः" के निर्दोष एवं अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सुख और हित में बड़ा अन्तर है। सबका हित अथवा सबकी भलाई करने और सबको सुख देने में बहुत फ़र्क है। हित तो सदा-सर्वदा सुखदायक होता है, परन्तु सुख सदा-सर्वदा हितकर नहीं होता अर्थात् हित से कभी किसी को दुःख नहीं होता परन्तु सुख से अहित हो सकता है। साधारणतया लोगों को सुख पहुँचाने के तीन मुख्य प्रकार हो सकते हैं—(१) शरीर को नाना प्रकार के आराम देने के लिए भांति-भांति के आधिभौतिक सुखों का आयोजन करना, (२) अन्तःकरण की प्रसन्नता के लिए लोगों के साथ प्रेम और आदर का वर्ताव करने तथा पठन-पाठन, खेल-तमाशे एवं हास्य-विनोद की व्यवस्थाएँ करने आदि विविध प्रकार के आधदैविक सुखों का आयोजन करना, और (३) आत्मिक शान्ति के लिए दार्शनिक शिक्षा एवं उपदेशों आदि द्वारा तथा उपासना एवं योगाभ्यास के साधनों आदि द्वारा आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति के साधन करना। इनमें आधिभौतिक और आधिदैविक सुख प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं उत्पत्ति-नाशवान् होते हैं और उनके साथ ही उनकी प्रतिक्रिया (reaction) भी लगी रहती है यानी उनके परिणाम में दुःख होता है। आध्यात्मिक सुख में यद्यपि ये दोष नहीं है, परन्तु उसमें शारीरिक और मानसिक सुखों का तिरस्कार होता है, और मन की वृत्ति आत्मा अथवा परमात्मा में ठहराने में पहले कष्ट होता है और जब-जब वह वृत्ति बहिर्मुख होती है तब-तब विक्षेप होता है। परन्तु हित वह है कि जिसमें उपरोक्त दोष और त्रुटियाँ नहीं होतीं और जिसमें पहले अथवा पीछे कोई क्लेश अथवा विपरीत परिणाम नहीं होता।

सुख और हित का अन्तर समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए:—भूखों के लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट पकवान और प्यासों के लिए बर्फ सहित ठण्डे पानी अथवा शर्बत आदि का प्रबन्ध करना, वस्त्रहीन लोगों के लिए

बढ़िया कीमती वस्त्र बनवा देना, गृहहीन लोगों के लिए सब प्रकार के ऐशो-आराम के साधनों से सुसज्जित विशाल भवन बनवा देना, निर्धनों को धन देना और सर्वसाधारण के मनो-विनोद के लिए हास्य-विनोद, खेल-तमाशे, सैर-सपाटे के साधन कर देना आदि आयोजन अवश्य ही सुखकर होते हैं, परन्तु ये सदा हितकर नहीं होते, क्योंकि इनसे उद्यमहीनता, विलासिता, अमीरी और परावलम्बन के भाव बढ़ते हैं, तथा लोगों का रहन-सहन बहुत खर्चीला हो जाता है। इसके सिवाय खान-पान, रहन-सहन, ऐशो-आराम एवं मनो-विनोद आदि के सामान नित-नये एक-दूसरे से बढ़कर बनते रहते हैं, इसलिए इन साधनों से लोगों के जीवन की आवश्यकताएँ एवं विलासिता दिन-दिन बढ़ती रहती है जिनका कभी अन्त नहीं आता और जिनसे कभी तृप्ति नहीं होती, न कभी सन्तोष ही होता है। इस प्रकार के विलासी जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा आकस्मिक दुर्घटनाओं की विपत्तियाँ भी आती रहती हैं। फिर उन रोगादि के प्रतीकार के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना और विपत्तिनिवारक आयोजन करके दुखियों की सहायता करना आवश्यक होता है, परन्तु वे आयोजन भी (कुछ हद तक) सुखकारक ही होते हैं—हितकारक नहीं होते; क्योंकि रोगों की चिकित्सा के लिए जो अस्पताल आदि संस्थाएँ होती हैं उनसे यद्यपि आराम मिलता है और विपत्तिनिवारक संस्थाओं से यद्यपि लोगों को विपत्तियों में सहायता मिलती है परन्तु उनसे जनता के रोग और विपत्तियाँ मिट नहीं जातीं, किन्तु जब तक रोगों और विपत्तियों के उपरोक्त कारण बने रहते हैं, तब तक वे दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं। इसी तरह लोगों की ज्ञान-वृद्धि आदि के लिए विद्याध्ययन की व्यवस्थाएँ करना तथा आत्मिक सुख के लिए आत्मज्ञान की शिक्षा तथा उपदेश आदि की व्यवस्थाएँ करना आदि सुखकारक अवश्य होती हैं, परन्तु वे भी सदा हितकारक नहीं होतीं; क्योंकि दुष्ट प्रकृति के लोगों की विद्या और ज्ञान, उनके अत्याचारों में सहायक हो सकते हैं और अव्यावहारिक आत्मज्ञान से समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। (इस अध्याय के श्लोक १ से १७ तक के स्पष्टीकरण में पृ० २२६—२२७ देखिए)।

परन्तु लोगों का हित करने में इस प्रकार एकांगी एवं दोषयुक्त सुखों के आयोजन नहीं होते। "सर्वभूतहित" के सिद्धान्त के आधार पर समाज की व्यवस्था करने में लोगों को अपनी-अपनी योग्यता के कामों में लगाये रख कर उन कामों द्वारा एक-दूसरे के जीवन के लिए आवश्यक सामग्रियां यथायोग्य प्राप्त होने का प्रबन्ध रहता है और साधारणतया, परिस्थिति के अनुसार सादे खान-पान, सादे

रहन-सहन तथा सादे मनो-विनोद के साधनों में सन्तुष्ट रहने, तथा इन्द्रियों के भोगों में संयम रखने द्वारा शरीर को आरोग्य, सुदृढ़ एवं सहनशील, तथा अन्तःकरण को शुद्ध, शान्त और प्रसन्न बनाये रखने का स्वभाव बनाया जाता है, जिससे विलासिता न बढ़े और उस विलासिता से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दुष्परिणाम एवं उपद्रव न हों, किन्तु सब कोई स्वावलम्बन एवं शान्ति-पूर्वक जीवन-यात्रा करते हुए अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। विद्याध्ययन सदाचार की शिक्षासहित कराया जाता है, और आत्मज्ञान का अभ्यास व्यावहारिक विज्ञान सहित कराया जाता है, जिनसे सबकी भलाई होती है। इस प्रकार "सर्वभूतहित" के सिद्धान्तानुसार आचरण करने में किसी विशेष व्यक्ति, समाज अथवा व्यक्तियों की संख्या को अथवा किसी विशेष प्रकार के सुख को महत्त्व नहीं दिया जाता, किन्तु आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ पूर्व-वर्णित समता का वर्ताव किया जाता है, अर्थात् सबको एक ही आत्मा—अपने-आपके अनेक रूप जान कर सबके साथ यथायोग्य साम्य-भाव का व्यवहार किया जाता है। किसी भी प्राणी से वर्ताव करते समय अपने-आपको उसकी स्थिति में रख कर फिर उसके सुख-दुःख आदि की वेदनाओं का अनुमान करना होता है; अर्थात् यह विचारना होता है कि यदि मैं उसकी स्थिति में होता और मेरे साथ इस तरह का वर्ताव किया जाता तो मुझे वह कैसा लगता और उस वर्ताव का वर्तमान और भविष्य में मुझ पर क्या प्रभाव पड़ता? इस तरह आत्मौपम्य-बुद्धि द्वारा विचारपूर्वक सबके साथ उपरोक्त समता का वर्ताव करने से किसी का अहित नहीं होता और न उसका दुष्परिणाम ही होता है।

इस प्रकार समष्टि-भाव से, वर्तमान और भविष्य पर दृष्टि रखते हुए, तात्त्विक विचारपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उससे यदि किसी को प्रत्यक्ष में थोड़ा या बहुत सुख न भी हो तो उससे किसी को दुःख तो वर्तमान में या भविष्य में अवश्य ही नहीं होता। इसलिए सूक्ष्मदर्शी, तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी का लक्ष्य सबके हित करने का रहता है और गीता में भगवान् ने अनेक स्थलों पर सबके हित में लगे रहने का ही उपदेश दिया है।

श्लोक १८ वें में वर्णित साम्य-भाव के विषय आज-कल बहुत विवाद चल रहा है। एक तरफ उदार विचार के लोगों का कहना है कि भगवान् ब्राह्मण, चाण्डाल, स्त्री, पुरुष, भले, बुरे, पशु, पक्षी आदि सबके साथ समता के वर्ताव करने का उपदेश देते हैं; और दूसरी तरफ रूढ़िवादी लोगों का कहना है कि इस श्लोक में "समदर्शिनः" वाक्य है, उसका स्पष्ट अर्थ समता देखना है, न कि समता

का वर्ताव करना। अब विचार यह करना है कि भगवान् का अभिप्राय सबमें समता देखने मात्र ही का है या जैसा देखे उसी के अनुसार वर्ताव करने का भी है। यदि समता के वर्ताव का यह तात्पर्य हो कि जो वर्ताव एक सत्त्वगुण-प्रधान सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण गुणसम्पन्न व्यक्ति के साथ किया जाय, वही एक तमोगुण-प्रधान मूर्ख एवं उजड्ड व्यक्तिके साथ, और वही एक पशु के साथ किया जाय, और जो वर्ताव एक सज्जन के साथ किया जाय, वही दुर्जन के साथ किया जाय, और जो वर्ताव स्त्री के साथ किया जाय, वही पुरुष के साथ किया जाय, तब न तो ऐसा बन सकता है और न कोई समझदार व्यक्ति इस तरह के समता के वर्ताव का समर्थन ही कर सकता है; क्योंकि वास्तव में यह समता का वर्ताव नहीं, किन्तु विषमता का वर्ताव है। समता का वर्ताव तो यह है कि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले सारे शरीरों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने आपके अनेक रूप समझते हुए, जिस शरीर के गुणों की जैसी योग्यता हो और जैसा आपस का सम्बन्ध हो, उसीके अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाय। यदि शरीरों के गुणों की योग्यता के अनुरूप वर्ताव न होकर उसके विपरीत वर्ताव होता है तो वह समता का वर्ताव नहीं, किन्तु विषमता का वर्ताव है। जिस तरह—सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण ब्राह्मण माने जाने वाले सदाचारी विद्वान् के शरीर की योग्यता ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा एवं सदुपदेशादि द्वारा लोक-सेवा करने की होती है, अतः उस शरीर को सर्वात्मा = परमात्मा का एक सत्त्वगुण-प्रधान रूप एवं समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अंग समझ कर उसकी सात्विक लोक-सेवा के अनुरूप आदर-पूर्वक उसका सत्कार करना, सात्विक भोजन, उपयुक्त वस्त्र, स्थान एवं विद्याध्ययन आदि के साधनों द्वारा उसकी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना, उसके योग्य समता का वर्ताव है; और तमोगुण की प्रधानता के कारण चाण्डाल माने जाने वाले एक अशिक्षित व्यक्ति की योग्यता अपने शारीरिक श्रम द्वारा मजदूरी करने अथवा मैला साफ़ करने आदि लोक-सेवा करने की होती है, अतः उसे भी उसी तरह सर्वात्मा = परमात्मा का एक तमोगुण-प्रधान रूप एवं समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अंग समझ कर उसके साथ प्रेम करना, उसका तिरस्कार अथवा उससे घृणा कदापि न करना, किन्तु उस पर अनुग्रह रखना तथा उस तमःप्रधान शरीर और उसके शारीरिक परिश्रम की स्थूल लोक-सेवा के अनुरूप, शरीर को सुदृढ़ रखने वाले मोटे भोजन, वस्त्र तथा सादे रहन-सहन आदि के साधनों द्वारा उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करने में सहायक होना और उसकी सब प्रकार की उन्नति करने में सहायता और सहयोग देना, उसके योग्य समता का वर्ताव है। गाय के शरीर में यद्यपि मनुष्य शरीर की अपेक्षा तमोगुण की प्रधानता होती

है, परन्तु अन्य पशुओं की अपेक्षा उसमें कुछ सत्वगुण अधिक होता है, अतः अन्य पशुओं की अपेक्षा वह पवित्र, अहिंसक एवं विशेष लोकोपकारी पशु है; उसको भी सर्वात्मा = परमात्मा का एक विशेष रूप एवं लोकोपयोगी आवश्यक अंग समझ कर उस शरीर की आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार उसकी सावधानी से रक्षा करना, निर्मल पानी एवं अच्छे घास आदि से उसका पालन करना, स्वच्छ एवं सुरक्षित स्थान में रखना तथा उस शरीर के योग्य उसका उपयोग करना, उसके योग्य समता का वर्ताव है; और कुत्ता एक मलिन एवं मांसाहारी पशु होने पर भी मनुष्यों की अनेक प्रकार की सेवाएँ करता है; उसके लिए यद्यपि गाय जितनी हिफ़ाज़त की आवश्यकता नहीं है, फिर भी उसको परमात्मा का एक विशेष रूप एवं जगत् का एक आवश्यक अंग समझ कर, उसके साथ प्रेम और दया का भाव रखते हुए, भूखे-प्यासे होने पर उसे खाना-पीना देना तथा आपत्तियों से उसकी रक्षा करना और उसकी योग्यतानुसार उसका उपयोग करना, उसके योग्य समता का वर्ताव है। हाथी के शरीर की योग्यता मनभर आहार खाने और विस्तृत देश में रहने तथा भारी काम करने की होती है, और चींटी के शरीर की योग्यता एक कण आहार खाने और स्वल्प स्थान में रहने की होती है। इस-तरह भिन्न-भिन्न शरीरों की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, परन्तु प्रत्येक शरीर एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष गुण-संपन्न रूप होता है और भी शरीरों का कुछ न कुछ उपयोग और उनकी आवश्यकता भी होती है, निरर्थक पदार्थ जगत् में कुछ भी नहीं है; इसलिए सब शरीरों को परमात्मा के जगत्-रूपी विराट् शरीर के अंग समझ कर प्रत्येक शरीर की अलग-अलग योग्यता और उपयोगिता के अनुसार ही उसके साथ उपयुक्त व्यवहार करना चाहिए, और किसी की प्राकृत आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा न देना, किन्तु सबके प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रखना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार पुरुष के साथ पुरुषोचित, स्त्री के साथ स्त्रियोचित, पशुओं के साथ पशुओं के उपयुक्त वर्ताव करना, सज्जन के साथ सज्जनोचित (सौजन्य एवं मित्रता का) और दुर्जन के साथ दुर्जनोचित (शासन एवं उपेक्षा का) वर्ताव करना, समता का वर्ताव है।

इस तरह गुणों की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ताव करते हुए भी सबकी वास्तविक एकता के साम्य-भाव को भूल कर किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि नहीं करना चाहिए, न किसी को दबाना और न किसी पर अत्याचार ही करना चाहिए। शरीरों की जो बाहरी भिन्नताएँ हैं, वे सब एक ही आत्मा (अपने-आप) के अनेक रूप हैं—ऐसा निश्चय रखने से अपने-आपके साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के बुरे वर्ताव हो नहीं सकते। जिस तरह एक ही शरीर के अनेक अंग

होते हैं—कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई सूक्ष्म, कोई स्थूल, कोई कोमल, कोई कठोर, कोई पवित्र, कोई मलिन, कोई ज्ञान-व्यवसायी, कोई कर्म-व्यवसायी आदि, परन्तु वास्तव में उनमें पृथकता नहीं होती और कोई भी अंग किसी दूसरे अंग से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि नहीं करता, सभी आपस में एकत्व-भाव से सहयोग करके वर्तते हैं। यदि कोई अंग रोग से ग्रसित होता है तो सभी अंग उस अंग के कष्ट का अनुभव करते हैं और उसकी चिकित्सा करते हैं। यदि कोई अंग दूषित हो जाता है तो दूसरे अंग, सारे शरीर की स्वस्थता के लिए उस अंग का यथोचित उपचार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसे काट भी फेंकते हैं, परन्तु द्वेषभाव से नहीं। इसी तरह सभी भूत-प्राणियों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के जगत् रूपी विराट् शरीर के अनेक अंग समझ कर सबके साथ एकता के प्रेमभाव* का यथायोग्य वर्ताव करना ही सच्ची समता का वर्ताव है। शरीरों की योग्यता के जो भेद हैं वे प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणों के तारतम्य के बनाव हैं, और वे अस्थायी एवं परिवर्तनशील हैं अर्थात् सदा बदलते रहते हैं। इस गुण-वैचित्र्य के तत्व को भूल कर केवल शरीरों में आसक्ति करके आपस में राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के विपरीत आचरण करना अनर्थ का हेतु होता है।

उपरोक्त गुण-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करना यद्यपि समता का वर्ताव है, परन्तु अनेक बातें ऐसी हैं जो सभी शरीरों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं आवश्यक हैं। जिस तरह—रहने, सोने, बैठने और घूमने-फिरने के लिए पर्याप्त भूमि, पीने आदि के लिए स्वच्छ पानी, स्वस्थ जीवन के लिए शुद्ध हवा तथा प्रकाश, भूख की शान्ति के लिए भोजन, एवं एक से अनेक होने की स्वाभाविक इच्छा अथवा काम के वेग की शान्ति के लिए नर-मादा का सहवास आदि प्राकृतिक आवश्यकताएँ समान-रूप से मनुष्य (स्त्री-पुरुष) एवं पशु-पक्षियों को भी रहती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के शरीरों में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण साधारणतया इनमें अपने स्वाभाविक गुणों, विद्या, ज्ञान, बल एवं वैभव संबंधी उन्नति करने की विशेष योग्यता होती है; तथा मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक आदि मानसिक वेदनाएँ भी सभी स्त्री-पुरुषों में प्रायः स्वाभाविक होती हैं; अतः उपरोक्त सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा सब प्रकार की उन्नति करने के लिए सबको एक समान सुविधाएँ रहनी चाहिएँ, तथा सबकी मानसिक वेदनाओं का लिहाज़ भी रखना चाहिए। गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न ब्राह्मणपन और चाण्डालपन के भेद की अपेक्षा मनुष्यत्व का अभेद अधिक व्यापक

* प्रेम का स्पष्टीकरण बारहवें अध्याय में देखिए।

और स्थाई होता है, अतः वह अधिक सत्य है। इसी तरह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भेद की अपेक्षा मनुष्यत्व अधिक व्यापक और अधिक सत्य है, इसलिए मनुष्यत्व के एकत्व-भाव की योग्यता ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व के भेद की अपेक्षा अधिक होती है; फलतः मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारों और सामान्य आवश्यकताओं की योग्यता उपरोक्त ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि भिन्नताओं के विशेष अधिकारों और विशेष आवश्यकताओं से अधिक होती है। अतः गुण-वैचित्र्य की भिन्नताओं के अनुसार विशेष वर्ताव करने में मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारों और आवश्यकताओं की अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिए। सारांश यह कि सर्व-साधारण के सामान्य अधिकारों को छीन कर विशेष लोगों के विशेष अधिकारों की रक्षा करना "समदर्शन" के विरुद्ध है। प्राणियों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन, यदि बलात् न छीने जायँ तो वे स्वतः ही प्रस्तुत रहते हैं; तथा साधारण मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के शरीरों की जो उपरोक्त विशेष आवश्यकताएँ हैं उनकी पूर्ति में भी यदि स्वार्थवश जबर्दस्ती बाधाएँ न दी जायँ तो वे भी अनायास ही पूरी होती रहें, और ऐसा होने से गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न पृथक्-पृथक् शरीरों की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण भी सुगमता से होते रहें, जिससे सबका हित होता रहे, क्योंकि व्यष्टि-हित समष्टि-हित पर और समष्टि-हित व्यष्टि-हित पर निर्भर है। परन्तु जब मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के साधारण अधिकारों और स्वाभाविक आवश्यकताओं को कुचलने का अस्वाभाविक प्रयत्न, विशेष-शक्ति-संपन्न लोगों द्वारा किया जाता है, तब सर्वत्र विषमता उत्पन्न होकर सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है, जिससे महान् अनर्थ होते हैं।

सारांश यह कि १८ वें श्लोक में भगवान् ने जो "समदर्शन" का विधान किया है, उसका अभिप्राय ऊपर लिखे अनुसार सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप अनुभव करते हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्ण साम्य-भाव का वर्ताव करने का है। तीसरे अध्याय के श्लोक ३५ में भगवान् ने सबके कर्त्तव्य-कर्मों को अपने-अपने स्थान में श्रेष्ठ कहा है, और फिर चौथे अध्याय के श्लोक २४ में कर्ता, कर्म, करण आदि सबको ब्रह्म-रूप बताया है, अर्थात् जो परमात्मा पण्डितों तथा उनके शास्त्र-ग्रन्थों में है, हवन करने वालों तथा हवन-कुण्ड एवं हवन के साधनों में है, ज्ञानियों तथा उनके ज्ञान में है, साधुओं तथा उनके वेष में है, योगियों तथा उनकी समाधि में है, मन्दिरों, पुजारियों तथा मूर्तियों में है, और जो परमात्मा कर्मकाण्डियों तथा उनके कर्मों में है—वही परमात्मा शासक क्षत्रिय और उसकी

तलवार में, वही वैश्य और उसकी कलम में, वही शिल्पकार और उसकी शिल्पकला में, वही लोहार और उसकी भट्टी में, वही कुम्हार और उसके चाक में, वही सुथार और उसके वसूले में, वही जुलाहे और उसके करघे में, वही कारखानों और मशीनों में, वही एञ्जिन और बायलरों में, वही मेहतर और उसकी झाड़ू में वही चमार और उसके चमड़े में, तथा वही कसाई और उसके छुरे में है, और वही परमात्मा पुरुषों और उनके द्रव्योपार्जन के उद्योगों में और वही स्त्रियों तथा उनके गृहस्थी के काम-काज में है। तात्पर्य यह कि यदि कर्म और व्यवसाय (पेशे) की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी गीता में उपरोक्त समता के वर्ताव ही का विधान है।

जो लोग कहते हैं कि भगवान् "समदर्शन" अर्थात् सबमें एक एवं सम आत्मा देखने मात्र ही का उपदेश देते हैं, न कि "समवर्तन" अर्थात् समता के वर्ताव करने का, वे या तो इस उपदेश के उपरोक्त अभिप्राय से अनभिज्ञ हैं, या उसकी उपेक्षा करते हैं। यदि यहां पर 'दर्शन' शब्द का अर्थ केवल आँखों से देखना ही लिया जाय तो कुछ अर्थ ही नहीं होता, क्योंकि समता अथवा एकता (सबका आन्तरिक एकत्व-भाव अर्थात् आत्मा) स्थूल आँखों अर्थात् चर्म-चक्षुओं से देखने का विषय नहीं है। एकता अथवा समता तो बौद्धिक विचार अर्थात् ज्ञान-चक्षु का विषय है, अतः "समदर्शन" वाक्य का तात्पर्य साम्य-भाव के ज्ञान से है (गी० अ०६ श्लो० ९, अ०१२ श्लो० ४), न कि आँखों से समता देखने मात्र से। जब बुद्धि साम्य-भाव में स्थित हो जाती है तब देखने, सुनने आदि सारे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यवहार स्वतः ही साम्य-भाव से होने लगते हैं, क्योंकि विचारवान् पुरुषों के सारे व्यवहार बुद्धि ही की प्रेरणा से होते हैं। इस पर भी यदि "समदर्शन" वाक्य का अर्थ केवल "समान देखना" ही लिया जाय तो भी जैसा देखा जाता है उसी के अनुसार वर्ताव होता है—देखने के विपरीत वर्ताव नहीं हो सकता। इससे भी सिद्ध है कि "समदर्शन" से भगवान् का अभिप्राय केवल समता देखना मात्र ही नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण,—जो अपने को सबका आत्मा = परमात्मा कहते हैं, उनकी कही हुई गीता में ऐसा अस्वाभाविक उपदेश कभी नहीं हो सकता कि सब में देखो तो समता और वर्ताव करो उसके विपरीत विषमता का; सर्वत्र एक एवं सम आत्मा अथवा ब्रह्म को परिपूर्ण जानो (वासुदेवः सर्वमिति), और व्यवहार करो उसके साथ घृणा, तिरस्कार और निर्दयता का, अर्थात् ज्ञान तो सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव का रक्खो और वर्ताव भिन्नता के भावयुक्त विषमता का करो; कहना-सुनना तो यह कि "एक ही परमात्मा सबमें समानभाव से व्यापक है, इसलिए सबके साथ प्रेमभाव

से रहना चाहिए" और वर्ताव में उस पर कुछ भी अमल न करना तथा लोगों से ईर्षा, द्वेष; घृणा, तिरस्कार करना, लड़ना, झगड़ना और निर्बलों के अधिकार छीन कर उन पर अत्याचार करना एवं उनको पददलित रखना! इससे अधिक पाखण्ड दूसरा क्या हो सकता है? इस उल्टी समझ से ही तो इस हिन्दू जाति की इतनी दुर्दशा हो गई है कि जिससे निस्तार पाना असंभव-सा हो रहा है। गीता का स्पष्ट आदेश है कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव का आचरण करो (गी० अ० २ श्लो० ४८ से ५०, अ० ६ श्लो० २९ से ३२), और किसी भी प्रकार के भेद-भाव से रहित, सब भूत-प्राणियों के हित में लगे रहो (गी० अ० ५ श्लो० २५, अ० १२ श्लो० ४)। कि सर्वत्र एक आत्मा (अपने-आप) अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म को एक समान देखने को कहा जाता है (गी० अ० १३ श्लो० २७-२८), और उससे भिन्न कुछ भी नहीं बताया जाता—जैसा कि गीता में सर्वत्र कहा है—तो क्या परमात्मा अथवा ब्रह्म अथवा अपने-आपसे ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि विषमता का वर्ताव युक्ति-संगत हो सकता है? हठधर्मी से ऊपर उठ कर अच्छी तरह विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि जहां बार-बार एकता अथवा समता का ही प्रतिपादन किया गया है, वहाँ किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि करने तथा किसी पर अत्याचार करने और निर्बलों के अधिकार छीनने तथा उनको पद-दलित रखने के विषमता के भावों के लिए अवकाश ही नहीं है। प्राचीन काल के समत्वयोगियों के इतिहासों में भी जगह-जगह उपरोक्त समता के वर्ताव ही के उल्लेख पाये जाते हैं, जिनके थोड़े-से उदाहरण "उपोद्घात" प्रकरण में दिये गये हैं।

कई लोगों की यह समझ है कि शास्त्रों में समता के वर्ताव के वर्णन ज्ञानी लोगों के आचरणों के हैं, वे साधारण लोगों पर लागू नहीं हो सकते; ज्ञानियों का पद बहुत ऊँचा होता है, वे यदि विरुद्धाचरण भी करें तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता; कहावत भी है "समरथ को नहिं दोष गुसाँई", परन्तु साधारण लोग उनकी बराबरी नहीं कर सकते; इत्यादि।

यह समझ गलत है। ज्ञानी लोगों के आचरणों का वर्णन साधारण लोगों के अनुकरण करने के लिए ही होता है। यदि ऐसा न हो तो इन वर्णनों का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता, क्योंकि ज्ञानियों के लिए तो उनके आचरणों के वर्णन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, अज्ञानियों को ही उनका अनुकरण करने के लिए मार्ग दिखलाने की आवश्यकता रहती है। तीसरे अध्याय में भगवान् ने स्वयं

इस बात का खुलासा कर दिया है कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग उसका अनुकरण करते हैं, वह जिस आदर्श को उपस्थित करता है, लोग उसी के पीछे चलते हैं (गी० अ० ३ श्लो० २१); और यहां तक कहा है कि लोग मेरे ही मार्ग का अनुकरण करते हैं (गी० अ० ३ श्लो० २३)। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानियों के आचरणों के वर्णन साधारण लोगों के अनुकरण करने ही के लिए किये गये हैं। जो व्यवहार ज्ञानियों के स्वभाव-सिद्ध अथवा सहज होते हैं, वे ही साधारण लोगों के लिए आदर्श-रूप से अवश्य-कर्तव्य, अथवा साधन-रूप से आचरण करने योग्य होते हैं। ज्ञानी लोग अपने ज्ञान-रूप प्रकाश में जिस मार्ग से चलते हैं, अज्ञानी लोगों के लिए उन्हींके पीछे चलना हितकर होता है, न कि अपने अज्ञान-रूपी अन्धकारमय स्वतन्त्र मार्ग से। ज्ञानी का पद साधारण लोगों से बहुत ऊँचा अवश्य है, परन्तु इसमें साधारण लोगों की ही त्रुटि है। इस त्रुटि को मिटाने और ज्ञानी के पद तक पहुँचने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है, न कि अपनी अज्ञान की दशा ही में पड़े रहने में संतोष करने की।

"समरथ को नहिं दोष गुसाँई" का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के आचरण यदि अज्ञानी लोगों को दोषपूर्ण प्रतीत हों तो भी वास्तव में वे दोषपूर्ण नहीं होते। यह अज्ञानियों की समझ का दोष है कि ज्ञानियों के आचरणों में उन्हें दोष प्रतीत होते हैं। अज्ञानियों को अपने इस दोष को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, न कि ज्ञानियों के आचरणों में दोषारोपण करके उनसे परहेज़ करना। इस कहावत का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि "ज्ञानियों के आचरण भी दोषपूर्ण होते हैं परन्तु उन्हें उनका दोष नहीं लगता"। यदि ज्ञानियों के आचरण दोषपूर्ण होते तो दूसरों के लिए उनके अनुकरण करने का विधान नहीं होता।

परमात्मा के अवतारों की लीलाओं के जो वर्णन शास्त्रों में हैं उनसे भी यह स्पष्ट होता है कि उनने अपने आचरणों द्वारा ही समय-समय पर लोगों को समता-रूपी धर्म का मार्ग दिखाने द्वारा विषमता-रूपी अधर्म से हटाकर धर्म में प्रवृत्त किया। रामावतार में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने वनवास में जाते समय निषादराज गुह से सखाभाव से आलिङ्गन करके उसका अतिथि-सत्कार स्वीकार किया; फिर भरतजी सेना सहित उसके अतिथि होकर सत्कारित हुए। ऋषियों ने भीलनी का तिरस्कार किया, जिससे सरोवर का पानी रक्तमय हो गया, तब भगवान् ने भीलनी ही के चरण-परस से सरोवर का पानी शुद्ध करा कर ऋषियों को पिलाया और इस तरह उनसे तिरस्कार का प्रायश्चित्त कराया। भीलनी के झूठे बेर लक्ष्मण ने बिना खाये फेंक दिये, जिसका उससे इतना

प्रायश्चित्त कराया कि उन्हीं बेरों की संजीवनी बूटी ऊगी, जिससे उसकी मूर्छा मिटी। ब्राह्मण-कुलोत्पन्न रावण के दुराचारों के कारण उससे लड़ने के लिये रीछों और बन्दरों की सेना का आयोजन किया और उन जंगली पशुओं द्वारा उसके परिवार को नष्ट कराया। अहिल्या, सीता, अनसूया, तारा, मन्दोदरी, सुलोचना आदि का समुचित सम्मान करके स्त्री-जाति के प्रति पूर्ण समता के वर्ताव का आदर्श दिखाया; इत्यादि।

कृष्णावतार की तो सारी लीलाएँ समत्व-योग का मूर्तिमान् आदर्श ही हैं, यह बात "उपोद्घात" प्रकरण में कह आये हैं। यहाँ पर भी कुछ घटनाओं का संक्षेप से उल्लेख कर देते हैं।

क्षत्रिय-वंश में जन्म लेकर अहीर नंद को पिता मान कर उसके पुत्र-रूप से रहना तथा किसी भी प्रकार के भेद बिना ग्वाल-ग्वालिनों के समाज में रह कर उनकी महिमा बढ़ाना; राजा दुर्योधन की मेहमानी स्वीकार न करके दास विदुर के घर की शाक-भाजी खाना और राजा की अपेक्षा दास को श्रेष्ठ बताना; रीछ-कन्या जाम्बवती को क्षत्रिय कन्याओं के समान ही अपनी पटरानी बनाना; तथा पाण्डवों के अश्वमेध यज्ञ में चाण्डाल (मेहतर) को दूसरे उच्च जाति के लोगों के समान ही निमन्त्रित करके भोजन कराये बिना यज्ञ की अपूर्णता बताना, और फिर पाण्डवों को उसके पास भेज कर आदर-सम्मान पूर्वक उसे बुला कर उसी तरह भोजन करवाने के बाद यज्ञ की पूर्णाहुति करवाना—इत्यादि घटनाएँ श्रीकृष्ण महाराज के समत्व-योग का साधारण लोगों में प्रचार करने का पर्याप्त प्रमाण हैं।

समत्वयोगी की किसी व्यक्ति-विशेष अथवा धर्म-विशेष अथवा आचरण-विशेष में ममत्व की आसक्ति नहीं रहती, न वह किसी रीति-रिवाज में ही कट्टरता रखता है, किन्तु वह समष्टि लोक-हित की व्यापक दृष्टि से जिस परिस्थिति में जो व्यवहार विशेष उपयुक्त होता है वही करता है। लोक-हित के लिए किसी व्यक्ति को कोई हानि या कष्ट हो तो वह लोक-हित को ही अधिक महत्त्व देता है।

परन्तु वर्तमान समय में भगवान् के कहे हुए उपरोक्त साम्य-भाव के विपरीत अत्यन्त विषमता के आचरण बहुतायत से हो रहे हैं जिनसे जनता में बहुत अशान्ति फैल रही है। शरीरों के व्यक्तित्व के अहंकार और पृथकृता के भावों की प्रबलता के कारण व्यक्तिगत स्वार्थों में लोगों की आसक्ति इतनी बढ़ गई है कि व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए भौतिक जड़-पदार्थों, वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों के साथ तो मनुष्योचित ही नहीं, किन्तु देवताओं के योग्य वर्ताव हो रहे हैं, और नीच जाति के माने जाने

वाले मनुष्यों के साथ तथा स्त्रियों के साथ जड़ पदार्थों एवं पशु-पक्षियों के योग्य वर्ताव हो रहे हैं; और ये विरुद्धाचरण एवं अत्याचार, धर्म या मज़हब की छाप लगा कर किये जाते हैं, अर्थात् धर्म अथवा मज़हब में अन्ध-श्रद्धा रखने वाले लोग इन विरुद्ध आचरणों को ही सच्चा धर्म मानते हैं* ।

दूसरी तरफ़ जो नई रोशनी के लोग किसी धर्म या मज़हब पर कट्टरता नहीं रखते, उनमें से अधिकांश के विषमता के आचरण और भी अधिक उग्र होते हैं । बेचारे धार्मिक लोगों के अन्ध-श्रद्धा के आचरणों में प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों के त्याग का भाव तो थोड़ा या बहुत रहता है, परन्तु इन सभ्य और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों के आचरणों में प्रायः अपने शरीरों के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों की ही प्रधानता रहती है । त्याग के भाव इनके मन में बहुत कम होते हैं । ये लोग जो कुछ करते हैं वह विशेषकर अपने शरीरों के भौतिक सुखों और अधिकारों के लिए ही होता है, दूसरे लोगों को उससे क्या हानि-लाभ होगा, इसकी इन्हें विशेष चिन्ता नहीं रहती । यदि गरीबों के लिए कभी कुछ करते हैं तो उसमें भी भीतरी प्रयोजन किसी न किसी प्रकार से अपनी स्वार्थ-सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति आदि की प्राप्ति का ही विशेषतया रहता है । यद्यपि ये लोग धार्मिक लोगों को जड़ मूर्तियों आदि के पूजक, जाहिल तथा अन्ध-विश्वासी कह कर उनकी हंसी करते हैं, परन्तु स्वयं उनसे भी बढ़कर मूर्ति-पूजक और अन्ध-विश्वासी होते हैं । धार्मिक लोगों की मूर्ति-पूजा ईश्वर, देवी-देवता आदि परोक्ष शक्तियों को निमित्त करके होती है, परन्तु केवल भौतिक सुखों में आसक्त, सभ्य माने जाने वाले लोग अपने शरीरों पर पहिनने के कपड़ों तथा आभूषणों, और मकानों की सजावट मात्र के लिए पत्थर, लकड़ी और धातु आदि के सामानों—खास करके तस्वीरों, मूर्तियों और मरे हुए जानवरों की खोलों पर इतना धन व्यय करते हैं कि बेचारे गरीबों की तो शारीरिक आवश्यकताएँ उसके शतांश से भी पूरी हो जायँ; और इन जड़ पदार्थों को वे इतने आदर और चाव के साथ ऐसे अन्तःस्थानों में रक्षापूर्वक रखते हैं कि जहाँ गरीब लोगों को तो उनके दर्शन पाने तक का सौभाग्य भी प्राप्त नहीं होता । ये लोग कुत्ते, बिल्ली, तोते, मैना आदि अनेक प्रकार के जानवरों तथा चिड़ियाओं को तो बड़े शौक़ से पालते हैं और सदा अपने साथ रखते हैं, परन्तु दुखी-दरिद्री स्त्री-पुरुषों को देखने से भी घृणा करते हैं । धार्मिक लोगों की मृतक-श्राद्धादि जीमनवारें अपने मृत सम्बन्धियों के निमित्त से होती हैं और उनमें से बची-खुची और झूठी

---

* नवमें अध्याय में उपासना का स्पष्टीकरण, सोलहवें अध्याय में आसुरी सम्पत्ति का स्पष्टीकरण और सत्रहवें अध्याय में दान का स्पष्टीकरण देखिए ।

सामग्री गरीबों के पल्ले भी पड़ती है, परन्तु इन सभ्य कहलाने वाले लोगों के नेताओं, विशेषज्ञों एवं आविष्कर्ताओं आदि के जन्म, मृत्यु आदि विशेष घटनाओं के स्मारक में जो जयन्ति, स्वर्ण-जयन्ति, वर्षी, शताब्दी आदि के महोत्सव किये जाते हैं, वे भी रूपान्तर से श्राद्ध ही होते हैं, और उन आडम्बरों में धन एवं पदार्थों का बहुत ही अपव्यय होता है, परन्तु उनसे गरीबों को कोई लाभ नहीं होता, किन्तु उल्टा कष्ट होता है। ये लोग अपने मनो-विनोद के लिए बेचारे निर्दोष पशु-पक्षियों का शिकार करते हैं, उनको आपस में लड़ाते हैं, घुड़दौड़ और सर्कस आदि खेल-तमाशों के लिए उनको बहुत कष्ट देते हैं, और इन कामों के लिए उन्हें तैयार करने में उन मूक प्राणियों को कितना क्लेश होता है और साधारण जनता की उससे कितनी हानि होती है, इस बात पर कुछ भी ध्यान देने की आवश्यकता इनके निकट नहीं होती। इनका अन्ध-विश्वास धार्मिक लोगों के अन्ध-विश्वास से कुछ कम नहीं होता। धार्मिक लोग जन्मान्तरों में अथवा अप्रत्यक्ष में होने वाले सुख-दुःखों और अदृष्ट शक्तियों पर तथा इस विषय का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों के वचनों में अन्ध-विश्वास रखते हैं, परन्तु ये लोग तो प्रत्यक्ष में दुःख-परिणाम वाले एवं क्षणिक भौतिक सुखों के लिए भौतिक विषयों के डॉक्टरों और वैज्ञानिक पण्डितों के सदा पलटने वाले सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं में अन्ध-श्रद्धा रखते हैं और उनके निमित्त बहुत ही धन खर्च करते हैं।

उपरोक्त विवेचन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि गुणों के तारतम्य से उत्पन्न शरीरों की पृथक्-पृथक् योग्यता के विचार की सर्वथा उपेक्षा करके सब एकाकार कर दिया जाय, अर्थात् सबके एक-से कर्म, एक-से भोग और एक-से रहन-सहन यानी एक-सी जीवन-चर्या कर दी जाय; एवं जिन सत्वगुण तथा रजोगुण-प्रधान लोगों में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक उन्नति करने की विशेष योग्यता हो, वे तमोगुण-प्रधान लोगों के साथ बन्धे हुए हीनावस्था में ही पड़े रहें और अपनी उन्नति करने में अग्रसर न हों। ऐसा करना अप्राकृतिक होने के अतिरिक्त मनुष्यता से भी गिरना है। मनुष्य-देह में आत्म-विकास की विशेषता होने के कारण सब प्रकार की उन्नति करने की योग्यता भी होती है; अतः गुणों के तारतम्य के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए और साथ ही उसे सब प्रकार की उन्नति के लिए अवश्य ही प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी में मनुष्य की मनुष्यता है। परन्तु आधिभौतिक और आधि-दैविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति अवश्य होनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति रहित आधिदैविक और आधिभौतिक उन्नति अशान्ति और विप्लव

का कारण होती है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व का भाव बेहिसाब बढ़ कर विषमता के आचारण होने लगते हैं, जिनसे अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की खींचातानी उत्पन्न होकर परस्पर में घोर विद्वेष फैल जाता है। यदि आधिभौतिक और आधिदैविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती रहे तो उसके प्रसाद से सबमें पारस्परिक एकता के प्रेम का भाव बना रहे और उस एकता के प्रेम रहित सब कोई अपने-अपने गुणों की योग्यतानुसार सांसारिक व्यवहार करते हुए और यथायोग्य भोग भोगते हुए परम सन्तुष्ट रहें। सत्व-रज-प्रधान लोग तम-प्रधान लोगों से अधिक उन्नत होते हुए और विशेष भोग भोगते हुए भी उनको अपना ही अंग समझ कर उनसे एकता के प्रेम का वर्ताव करते रहें तथा उन लोगों की स्वाभाविक आवश्यकताओं और अधिकारों एवं मनो-वेदनाओं को अपनी समझें (गी० अ० ६ श्लो ३२)—उनकी उपेक्षा न करें—तो समाज में अशान्ति उत्पन्न नहीं होती। जिस समाज के उन्नतिशील लोग जिस विषय में जितनी ही अधिक उन्नति करें, उसमें उस समाज के सब लोगों को यथायोग्य अपना साझेदार समझें, अर्थात् उस उन्नति का लाभ सारे समाज को यथायोग्य पहुँचावें और उस विषय में सारा समाज ही उन्नत होवे तभी वास्तविक उन्नति होती है; क्योंकि दूसरों की सहायता और सहयोग बिना कोई विशेष व्यक्ति अकेला उन्नति नहीं कर सकता। यदि कोई विशेष व्यक्ति तो उन्नति करके विशेष प्रकार के भोग भोगता है और दूसरों को उस उन्नति से सर्वथा वंचित एवं हीन दशा में रखता है तो वह यथार्थ उन्नति नहीं होती, किन्तु वह अवनति का कारण होती है। इसके अतिरिक्त अपनी-अपनी उन्नति करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) का जन्म-सिद्ध होता है; उस अधिकार को छीनने अथवा कुचलने का प्रयत्न कदापि नहीं होना चाहिए। उन्नति का मार्ग सबके लिए एक समान खुला रहना चाहिए, उसमें किसी के लिए भी कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए और इस विषय में किसीका ठेका नहीं होना चाहिए— ठेका होने से ही परस्पर में विद्वेष और अशान्ति फैलती है।

दूसरी तरफ़ रज-तम-प्रधान लोगों को चाहिए कि वे सत्व-रज-प्रधान लोगों से प्रेम का वर्ताव रखते हुए, उनके अधिक उन्नतिशील होने और विशेष भोग भोगने से ईर्षा एवं द्वेष न करें, किन्तु उन्हें अपने ही स्वजन समझ कर मोद करें, क्योंकि विशेष उन्नति और विशेष भोग, विशेष गुणों का परिणाम होता है। जिसकी जिस विषय में विशेष उन्नति करने की योग्यता होती है वही उस विषय में उन्नति कर सकता है, उसमें किसी विशेष व्यक्ति अथवा समाज-विशेष का ठेका नहीं है। इसलिए किसी के साथ ईर्षा, द्वेष आदि करने का कोई कारण नहीं रहता।

इस तरह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, तीनों प्रकार की उन्नति करते हुए सब कोई एक दूसरे को एक ही शरीर अथवा कुटुम्ब के अङ्ग समझते हुए आपस में एकता के प्रेम-भाव का वर्ताव करें, व्यष्टि (प्रत्येक व्यक्ति) समष्टि (सब) के हित के लिए प्रयत्नशील रहे, और समष्टि (सब कोई) व्यष्टि (प्रत्येक व्यक्ति) के हित में सहायक रहें, तभी सबकी यथार्थ उन्नति और सबका यथार्थ हित हो सकता है। यही सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव अथवा सच्चा सम-दर्शन है।

इस स्पष्टीकरण के समाप्त करने के पूर्व गीता-प्रतिपादित समत्व-योग, और साधारणतया माने जाने वाले समानता के वर्ताव अथवा आधुनिक साम्य-वाद में जो अन्तर है, प्रसंगवश उसका खुलासा कर देना उचित प्रतीत होता है।

गीता के समत्व-योग की भित्ति अथवा मूल आधार सबकी वास्तविक एकता (Unity) एवं समता (Sameness) का सिद्धान्त है। गीता का मन्तव्य है कि सारी चराचर सृष्टि में एक, सत्य, नित्य एवं सम (same) आत्मा—जो सबका अपना आप है—समान रूप से परिपूर्ण है। वस्तुतः इस एक आत्मा—जिसे चाहे ब्रह्म कहें या परमात्मा अथवा ईश्वर कहें, या "अहं" यानी "मैं" कहें—के सिवाय और कुछ भी नहीं है; और सारी चराचर सृष्टि के जो अनन्त प्रकार के अनेकता के भाव हैं, वे सब उसी एक के संकल्प के नाना नामों और नाना रूपों के परिवर्तनशील बनाव हैं। इस तरह सबकी एकता को सच्ची और अनेकता को झूठी समझ कर, भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले शरीरों के साथ उनके गुणों की पृथक्-पृथक् योग्यतानुसार यथायोग्य व्यवहार करना, और ऐसा करते हुए भी सबकी आपस की वास्तविक एकता का सदा स्मरण रखते हुए, अन्तःकरण में किसी के साथ राग, द्वेष, ईर्षा, घृणा, तिरस्कार आदि मलिन भाव न रखना और किसी को वस्तुतः ऊँचा, नीचा, पवित्र, मलिन, अच्छा, बुरा, बड़ा, छोटा आदि न समझना तथा किसी पर अत्याचार न करना, किसी को न दबाना, किसी के स्वाभाविक अधिकार न छीनना—यह गीता-प्रतिपादित समत्व-योग है। जिस तरह एक कुटुम्ब के अनेक सदस्य होते हैं, उनकी योग्यता भिन्न-भिन्न होती है और वे अपनी-अपनी योग्यता के के अनुसार अलग-अलग कार्य करते हैं और अलग-अलग भोग भोगते हैं और आपस में एक दूसरे के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु इस भिन्नता के रहते भी, सब एक ही कुटुम्ब के सदस्य होने के नाते, एक दूसरे की कौटुम्बिक एकता का प्रेम उन सबके अन्तःकरण में बना रहता है, अतः एक दूसरे के साथ समता का वर्ताव भी बना रहता है। इसी तरह सारी सृष्टि को एक ही शरीर अथवा कुटुम्ब के

अनेक अङ्ग समझ कर सबके साथ एकता के प्रेम सहित यथायोग्य वर्ताव करना गीता-प्रतिपादित समत्व-योग का आचरण है।

परन्तु साधारणतया जो समानता के वर्ताव अथवा आधुनिक साम्य-वाद का सिद्धान्त प्रचलित है, वह उक्त सर्वभूतात्मैक्य-सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। आधुनिक साम्य-वाद के सिद्धान्त के अनुसार सबको मूल से ही अलग-अलग मान कर, फिर सबके साथ समानता (Equality) का वर्ताव करने की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है, अर्थात् सब व्यक्तियों की पृथकता को वस्तुतः सच्ची मानते हुए और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी, प्रत्येक व्यक्ति के सब प्रकार के भौतिक अधिकार एक समान करने का प्रयत्न किया जाता है। इस कृत्रिम अथवा बनावटी समानता के वर्ताव के सिद्धान्त अथवा साम्य-वाद की भित्ति केवल भौतिक नींव पर निर्भर है जो स्वयं परिवर्तनशील है; इसलिए इसकी भित्ति अनिश्चित होने के कारण यह लम्बी मुद्दत तक ठहर नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त कई लोग केवल आध्यात्मिक साम्य-वाद के पक्षपाती हैं। उनका सिद्धान्त है कि जगत् के भौतिक बनावों की सर्वथा उपेक्षा करके केवल आध्यात्मिक एकता पर ही लक्ष्य रख कर सबके साथ एक ही प्रकार के प्रेम का वर्ताव किया जाना चाहिए, यहाँ तक कि दुष्टों को दण्ड भी न देना चाहिए। परन्तु इस त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहारों में इस प्रकार का कोरा आध्यात्मिक साम्य-वाद अव्यवहार्य है—कार्यरूप में इसका निर्वाह नहीं हो सकता।

यद्यपि ये दोनों प्रकार के साम्य-वाद अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक साम्य-वाद कहने-सुनने में बड़े सुन्दर और चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तविक उपयोग की दृष्टि से दोनों ही अपूर्ण और दोष-युक्त हैं। गीता के समत्व योग में ये त्रुटियाँ नहीं हैं। न यह कृत्रिम है और न अव्यावहारिक ही। तात्त्विक विचार न करने पर यह जटिल और दुष्कर भले ही प्रतीत हो परन्तु वास्तविक साम्य-वाद अथवा समता का व्यवहार यही है; क्योंकि यह मौलिक और तात्त्विक है। और इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों साम्यवादों का समन्वय हो जाता है।

× × ×

समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति और महिमा कह कर भगवान् अब समत्व-योग

में स्थित होने के लिए मन की एकाग्रता के साधनों का वर्णन प्रारंभ करते हैं; और उनमें से एक साधन—राज-योग का सूत्रपात यहाँ से करते हैं:—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

अर्थ—(इन्द्रियों के) बाहरी विषयों को बाहर करके अर्थात् मन से विषयों का ख़याल हटाकर, दृष्टि को दोनों भौंओं के बीच में स्थित करके तथा नासिका के अन्दर आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जिसने अपने वश में कर लिया है, और जिसने इच्छा, भय तथा क्रोध को निवृत्त कर दिया है, वह मोक्ष-परायण मुनि सदा मुक्त ही है। तात्पर्य यह कि प्राणायामादि साधनों से जिसके अन्तःकरण में बाहरी अनेकता के भाव मिट कर भीतरी एकता का साम्य-भाव जम जाता है, उस जीवनमुक्त महापुरुष के इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने वश में रहते हैं और किसी भी प्रकार की कामना, भय और क्रोध आदि विकारों के लिए उसके अन्तःकरण में स्थान नहीं रहता; अतः वह सदा ही मुक्त है, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति के निमित्त उसके लिए न तो कोई विशेष कर्तव्य ही रहता है और न उसे किसी काल-विशेष, देश-विशेष अथवा अवस्था-विशेष की प्रतीक्षा ही करनी पड़ती है; किन्तु वह स्वयं इसी देह में परमात्मा-स्वरूप ही होता है (२७-२८)। (वह) मुझे यज्ञों और तपों का भोक्ता, सब लोकों का महान् ईश्वर, सब भूतों का सुहृद् (प्यारा-अन्तरात्मा) जान कर शान्ति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि यज्ञ और तप आदि जितने भी पुण्य-कर्म हैं, वे चाहे किसी भी देवता को लक्ष्य कर किये जायँ, उन सबका वास्तविक भोक्ता अर्थात् अन्तिम गति, सबका आत्मा = परमात्मा ही है, क्योंकि सब कर्म आत्मा अथवा अपने आपके लिए किये जाते हैं, और सबका आत्मा ही परमात्मा है, इसलिए यज्ञादिक सब कर्मों का भोक्ता वही है; और सर्वात्मा = परमात्मा ही सब स्थूल-सूक्ष्म अथवा ऊपर-नीचे के लोकों का स्वामी है, अर्थात् परमात्मा की सत्ता एवं स्फूर्ति से ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप अखिल विश्व का संचालन होता है और उसी पर सबका अस्तित्व

निर्भर है; तथा वही सब भूत-प्राणियों का अन्तरात्मा—सबका प्यारा = अपना-आप है। इस तरह जो इस अखिल विश्व की एकता-स्वरूप सबके आत्मा = परमात्मा को ही सब कुछ जानता है, उसीको सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती है (२९)।

॥ पांचवाँ अध्याय समाप्त ॥

छठा अध्याय
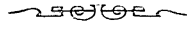
पाँचवें अध्याय के श्लोक २७-२८ में समत्व-योग में मन को ठहराने के लिए भगवान् ने राज-योग के साधन का जो सूत्रपात किया था, उसकी व्याख्या इस छठे अध्याय में की गई है। उक्त व्याख्या करने के पहले भगवान् ने कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की श्रेष्ठता, सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने के महत्त्व, उक्त समत्व-योग में स्थित होने के लिए मन के संयम अर्थात् एकाग्रता की आवश्यकता, और समत्वयोगी के साम्य-भाव-युक्त आचरण के स्वरूप आदि के वर्णन को दोहरा कर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ पर राज-योग के अभ्यास का विधान, केवल समत्व-योग में स्थित होने के लिए एक साधन के रूप से किया गया है, न कि इस की स्वतन्त्र कर्तव्यता अथवा निरन्तर योगाभ्यास में लगे रहने के लिए।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि कर्म-फल के आश्रय बिना अर्थात् कर्मों के फल में किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति न रख कर, जो (मनुष्य) अपने कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी अर्थात् समत्वयोगी है; न तो निरग्नि अर्थात् गृहस्थाश्रम को त्यागने वाला, और न अक्रिय अर्थात् कर्मों से रहित होने वाला ही। तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम और उसके व्यवहार छोड़ कर निठल्ले बैठे रहने वाला वास्तविक संन्यासी नहीं होता, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति बिना अपने कर्तव्य-कर्म करने वाला समत्वयोगी ही सच्चा संन्यासी होता है (१)। जिसको संन्यास कहते हैं उसीको, हे पाण्डव! योग अर्थात् समत्व-योग जान; क्योंकि मानसिक संकल्पों के संन्यास बिना कोई भी योगी अर्थात् समत्वयोगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उपरोक्त समत्व-योग को ही सच्चा संन्यास समझना चाहिए, क्योंकि सच्चा समत्वयोगी वही होता है, जिसके मन में व्यष्टि और समष्टि की एकता हो जाती है, एवं जिसका व्यष्टि-जीवन समष्टि-जीवन के लिए हो जाने से जिसके मन में दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के सङ्कल्प ही नहीं उठते, और जो अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म, अनासक्त बुद्धि से लोक-संग्रह के लिए करता रहता है (२)। योगारूढ़ होने की इच्छावाले मुनि का कारण कर्म कहा जाता है, (और) उसी योगारूढ़ का कारण शम कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जब किसी विचारशील कार्यकर्ता के सामने अपने कर्तव्य-कर्म करने में अड़चनें आती हैं तथा उनमें दुःख-रूपता अथवा उलझनें प्रतीत होती हैं अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न होता है, तब वह उन अड़चनों आदि से छुटकारा पाने के लिए उपाय की खोज करता है, और उस खोज में जब उसे यह पता लगता है कि सबकी एकता के ज्ञान सहित साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करना ही सब प्रकार की अड़चनों, दुःखों, उलझनों, एवं मोह पर विजय पाने का एक मात्र उपाय है, तब उसे उक्त समत्व-योग में स्थित होने की इच्छा होती है। इसलिए उस विचारशील पुरुष के योगारूढ़ होने के लिए इच्छावान् होने का कारण अर्थात् उसमें उक्त इच्छा की जागृति का कारण कर्म ही होता है। इच्छावान् पुरुष से उसकी इच्छा भिन्न नहीं होती, इसलिए श्लोक के पूर्वार्द्ध में "योगारूढ़ होने की इच्छावाले मुनि का कारण कर्म कहा जाता है" ऐसा कहा है। जब वह योगारूढ़ होने की इच्छावाला पुरुष भिन्नता के भावों में आसक्ति-रूप अपने मन की चंचलता का शमन अथवा निरोध कर लेता है, अर्थात् मन को एकत्व-भाव में स्थित कर लेता है तब वह पूर्वोक्त समत्व-योग में आरूढ़ हो जाता है। इसलिए उस योगारूढ़ पुरुष के समत्व-योग में आरूढ़ होने का कारण शम अर्थात् मनो-निग्रह कहा गया है। यहाँ भी "उस (मुनि) का कारण शम" कहा

है, इसका अभिप्राय "विचारशील पुरुष की उस स्थिति का कारण शम है" ऐसा समझना चाहिए (३)। क्योंकि जब वह (विचारशील पुरुष) इन्द्रियों के विषयों और कर्मों में आसक्त नहीं होता, तथा सब कामनाओं का मन से संन्यास करता है तब (वह) योगारूढ़ कहा जाता है। तात्पर्य यह कि वह विचारशील पुरुष समत्व-योग में आरूढ़ तब होता है जब कि इन्द्रियों के विषयों और जगत् के कर्मों से व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने के संकल्प उसके मन में नहीं उठते, क्योंकि योगारूढ़ हो जाने पर उसका मन सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ जाता है, इसलिए वह विषयों तथा कर्मों एवं सारे जगत् को अपने-आप से अभिन्न अर्थात् अपना स्वरूप ही समझता है (४)। आप ही अपना उद्धार करे अर्थात् मनुष्य आप ही अपने को ऊँचा उठावे, अपने को गिरावे नहीं, क्योंकि आप ही अपना (उद्धार करने वाला) बन्धु है, और आप ही अपना (पतन करनेवाला) शत्रु है। जिसने अपने-आप को अर्थात् अपने अन्तःकरण को जीत लिया है, यानी जिसका मन अपने वश में है, वह स्वयं अपना बन्धु है; और जिसने अपने-आप (अन्तःकरण) को नहीं जीता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान शत्रुता (वैर) का वर्ताव करता है। तात्पर्य यह कि लोग साधारणतया अपने-आपको दूसरों से पृथक्, पंचभूतों का एक पुतला अर्थात् स्थूल शरीर मात्र ही मान कर, अथवा स्थूल शरीर के अन्दर रहने वाला—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा सूक्ष्म भूतों एवं सूक्ष्म इन्द्रियों के समूह—वासना-मय सूक्ष्म शरीर मान कर अपने को अल्पज्ञ, अल्प-शक्तिमान्, दीन, हीन, सदा-सर्वदा प्रकृति के आधीन, उसके विकट बन्धनों से बन्धा हुआ, एक तुच्छ व्यक्ति समझते हैं, और जगत् के कल्पित एवं क्षण-क्षण में बदलने वाले नाम-रूपात्मक पदार्थों को अपने से भिन्न एवं किसी दूसरे के रचे हुए जान कर उन्हीं से सुख होने के भ्रमात्मक निश्चय से उनकी प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करते रहते हैं—अपने-आपके परिपूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप की कुछ भी खबर नहीं रखते—यही आत्मिक पतन है। मनुष्य-शरीर में आकर इस तरह पतन के प्रवाह में बहते चले जाना और उससे ऊपर उठ कर आत्मिक उन्नति का कुछ भी प्रयत्न न करना, अपने-आपके साथ दुश्मनी करना है। सर्व-व्यापक, अनन्तशक्ति-सम्पन्न, सदा-मुक्त-स्वरूप, सच्चिदानन्दघन आत्मा को एक दीन, दुखी, अनेक बन्धनों से बन्धा हुआ परावलबी एवं तुच्छ व्यक्ति मानना—इससे अधिक शत्रुता और क्या हो सकती है? मनुष्य का मनुष्यत्व तो इसमें है कि वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूप, सबके एकत्व-भाव का अनुभव करे, और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियों एवं शरीरादि संघात को अपने व्यष्टि-भाव की रचना समझ कर उस पर शासन करे; तथा अखिल विश्व को अपने समष्टि-भाव की रचना समझ कर व्यष्टि-समष्टि

की एकता के निश्चय से पदार्थों के बाहरी नाम-रूपों में आसक्ति न रखे। य जीवात्मा ने अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को भुलाकर अपने-आपको एक तुच्छ व्यक्ति कल्पित कर लिया है, परन्तु मनुष्य जब स्वयं अपने समष्टि-भाव, सच्चिदानन्द स्वरूप का निश्चय कर लेता है, तब वह तुच्छता के सारे भाव मिटाकर आप ही अपना उद्धारक हो जाता है। जब कि अपने-आपके असली स्वरूप को भूलने वाला आप ही है तो उसका ज्ञान भी आप ही कर सकता है, इसमें अपने सिवाय दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता। अस्तु, जो लोग अपने से भिन्न, परमात्मा पर यह दोषारोपण करते हैं कि "उसने हमें मोह में डाल रखा है तथा उसी ने हमारे पीछे नाना प्रकार की उपाधियों के बन्धन और दुःख लगा रखे हैं और वही हमारा उद्धार करेगा," वे नितान्त ही भूल में हैं। भगवान् कहते हैं कि अपना उद्धार करने वाला आप ही है और आप ही अपने-आपको बान्धने वाला या गिराने वाला है; क्योंकि अपने से भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं। अतः विचारवान् पुरुषों को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में आप ही अग्रसर होना चाहिए और पूरे स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी तथा आत्म-निर्भर रहते हुए जगत् के व्यवहार करने चाहिएँ। अपने से भिन्न किसी दूसरे की कल्पना करके उस पर निर्भर रह कर परावलम्बी नहीं बनना चाहिए। जो अपने से भिन्न दूसरे किसी पर निर्भर रहते हैं, वे स्वयं अपने ही दुश्मन हैं; और जो स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी एवं आत्म-निर्भर हैं, वे अपने-आपके मित्र होते हैं। अपने-आपके सिवाय दूसरा न कोई लाभ पहुँचा सकता है, न कोई दुःख दे सकता है और न कोई सुख ही दे सकता है। उपरोक्त रीति से जो जितना ही अधिक एकत्व-भाव में उन्नत और आत्मविश्वासी एवं आत्म-निर्भर रह कर सांसारिक व्यवहार करता है, उतना ही अधिक वह सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है, और जितना ही अधिक भिन्नता के दल-दल में फंस कर परावलम्बी होता है, उतना ही अधिक वह गिरता और कष्ट पाता है (५-६)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में आगे समत्व-योग में मन को स्थित करने के लिए साधनरूप से राज-योग का कुछ वर्णन होगा। उससे कोई यह न समझ ले कि "यह वर्णन, संसार के व्यवहार छोड़ कर निरन्तर योगाभ्यास में लगे रहने वाले योगियों का है;" इसलिए भगवान् अध्याय के आरम्भ ही में स्पष्ट शब्दों में फिर से कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की श्रेष्ठता और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि निरग्नि होने से, अर्थात् जन्म देने और पालन-पोषण करने वाले माता, पिता तथा अपने ऊपर निर्भर

रहने वाले स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव एवं अन्य कुटुम्ब आदि को छोड़ कर और गार्हस्थ्य-धर्म के कर्तव्यों एवं दायित्व से विमुख होकर जंगल में चले जाने और गेरुए वस्त्र आदि का स्वांग धारण करके भीख मांग कर खाने, एवं शरीर की स्वाभाविक योग्यता के सांसारिक व्यवहारों को छोड़ कर निरुद्यमी बन जाने से वास्तव में कोई संन्यासी नहीं हो जाता; क्योंकि जब तक शरीर है तब तक संसार का संग सर्वथा छूट नहीं सकता और न कोई सर्वथा क्रिया रहित ही हो सकता है। यदि कोई घर को छोड़ कर मठ, मन्दिर, कुटी, कन्दरा आदि में अथवा वृक्षों के नीचे निवास करता है तो वहाँ उन स्थानों और उनके निकटवर्ती पदार्थों का संग हो सकता है; और माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्ब तथा समाज से नाता तोड़ता है तो गुरु, चेलों एवं सम्प्रदायों से तथा वनों में रहने वाले लोगों एवं पशु-पक्षियों से नाता जोड़ सकता है; अपने उद्यम से उपार्जित धन-सम्पत्ति को त्यागता है तो लोगों की दी हुई भेंटों तथा भिक्षा अथवा दण्ड-कमण्डलु, कोपीन, पुस्तक आदि में उसका ममत्व हो सकता है; गार्हस्थ्य के स्वांग और वेष-भूषा को छोड़ता है तो संन्यास के स्वांग और वेष-भूषा में अधिक आसक्ति रख सकता है—जिनको त्यागना असंभव-सा हो जाता है; और गृहस्थाश्रम के व्यवहारों, कर्तव्यों और मर्यादाओं के बदले संन्यासाश्रम के व्यवहारों, कर्तव्यों और मर्यादाओं के अहङ्कार में अधिक मज़बूती से जकड़ा जा सकता है। सारांश यह कि शरीर के रहते शरीर से और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों एवं व्यवहारों से सर्वथा पृथक् कोई किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता। अधिक परिग्रह वालों का जितना ममत्व उनके अधिक परिग्रह में होता है, उतना ही अथवा उससे भी अधिक ममत्व थोड़े परिग्रह वालों का उनके थोड़े परिग्रह में होता है। एक राजा का जितना ममत्व उसके विशाल ऐश्वर्य में हो सकता है, उतना ही ममत्व एक संन्यासी का उसके दण्ड-कमण्डलु, कोपीन एवं पुस्तक आदि में हो सकता है। कर्म और उसके फलों में जितनी आसक्ति एक सांसारिक सुखों की चाहना वाले काम्य-कर्मी गृहस्थ की होती है, उतनी ही एक पारमार्थिक कल्याण की इच्छा वाले संन्यासी की अपने पारमार्थिक साधनों एवं उनके फल—मुक्ति आदि में हो सकती है। सङ्ग और आसक्ति का माप पदार्थों की योग्यता, संख्या, परिमाण एवं मूल्य, तथा कर्मों की न्यूनाधिकता पर निर्भर नहीं है, किन्तु अपने मन की स्थिति पर निर्भर है। जिनका मन अपने वश में होता है, उनके पास धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, मान, मर्यादा आदि कितना ही परिग्रह क्यों न हो, और वे चाहे कितने ही बड़े-बड़े काम अपने तथा अन्य लोगों के लिए क्यों न करते हों, उनमें उनका संग और आसक्ति नहीं होती; और जिनका मन अपने वश में नहीं

होता, उनका परिग्रह चाहे बहुत ही अल्प हो और उनके लिए कर्तव्य-कर्म भी बहुत ही थोड़े हों, तो भी उनका उतने ही में संग और आसक्ति बहुत ही ज़्यादा होती है। जिसका मन जितना ही अधिक अपने वश में होता है, उतना ही अधिक वह निःसंग और अनासक्त रहता है; और जिसका मन जितना ही कम अपने वश में होता है, वह उतना ही कम निःसंग और कम अनासक्त होता है—चाहे कोई बहुत परिग्रह वाला कर्मशील गृहस्थ हो, अथवा परिग्रह और कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी। इसलिए सच्चा संन्यासी वही समत्वयोगी होता है जिसने अपने मन को वश में कर लिया हो, अर्थात् जिसका मन बुद्धि के आधीन और बुद्धि आत्मनिष्ठ यानी सबकी एकता के निश्चयवाली हो, और जो सबकी एकता के निश्चययुक्त साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार यानी अपने कर्तव्य-कर्म करता हो।

जो लोग अज्ञान-अवस्था में ही कर्मों अर्थात् गृहस्थाश्रम के व्यवहारों को त्याग कर निठल्ले हो जाते हैं उनके मन में समत्व-योग की प्राप्ति का विचार ही उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि उनको जगत् के व्यवहारों में उपस्थित होने वाली अड़चनों का सामना नहीं करना पड़ता, इसलिए उनके निवारण के उपाय ढूंढ़ने की जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न ही नहीं होती; परन्तु जो लोग जगत् के व्यवहार करते हैं उन्हीं के सामने अपने व्यवहारों में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ तथा प्रतिकूलताएँ और असफलताएँ आती हैं; तब जो विचारशील कार्यकर्ता होते हैं, वे उनके विषय में अनुसंधान करते हैं, जिससे उनकी समझ में यह बात आती है कि दूसरों के साथ अपनी पृथक्ता के निश्चय से जगत् के व्यवहार करना ही इन आपत्तियों का कारण है, और सबकी एकता के निश्चय से अन्तःकरण को साम्य-भाव में जोड़ कर व्यवहार करने पर सब आपत्तियाँ मिट कर सब प्रकार की सुख-शान्ति प्राप्त होती है। अतः वे इस समत्व-योग में स्थित होने के प्रयत्न में लगते हैं, और जब उक्त अभ्यास से अन्तःकरण का द्वैत भाव मिट जाता है, तब वे पूर्ण रूप से समत्व-योग में स्थित हो जाते हैं और तब उन्हें सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि उक्त प्रकार की उद्यमशीलता ही मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति का कारण है; और उद्यमहीनता ही सब प्रकार की अवनति तथा दुःखों का कारण है। अतः अपनी उन्नति चाहने वाले मनुष्य को उपरोक्त साम्य-भाव-युक्त उद्यमशील बने रहना चाहिए। उद्यमहीनता को कभी आश्रय नहीं देना चाहिए।

जिन लोगों का यह विश्वास है कि मनुष्य के किये से कुछ नहीं होता, उन्नति और अवनति ईश्वराधीन है, उनके लिए भगवान् यहां स्पष्ट कहते हैं कि अपनी

उन्नति अथवा अवनति करना मनुष्य के अपने ही अधिकार में है, दूसरा कोई ऊंचा चढ़ाने या नीचा गिराने वाला नहीं है। जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने-अपने अन्तःकरण को सबके साथ एकता के साम्य-भाव में जोड़ने के प्रयत्न में लगे रह कर अपने-अपने शरीरों की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार अच्छी तरह करते रहते हैं वे अवश्य ही अपनी उन्नति करते हैं; परन्तु जो लोग भेद-भाव के विपरीत ज्ञान से अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म करते हैं अथवा कर्मों का संन्यास करते हैं, अथवा ईश्वरादि अदृष्ट शक्तियों पर अथवा दूसरे लोगों पर निर्भर होकर उद्यमहीन बन जाते हैं वे आप ही अपना पतन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपना उद्धार-कर्ता—मित्र आप ही है; और जो इस तरह अपना उद्धार नहीं करता, वह अपने-आप का पतन करने वाला—शत्रु भी आप ही है। ऊँचे चढ़ने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है, परन्तु यदि चढ़ने का प्रयत्न न किया जाय तो गिरावट होना स्वाभाविक है, क्योंकि कोई भी पदार्थ सदा एक स्थिति में नहीं ठहर सकता।

× × ×

अब आगे के तीन श्लोकों में भगवान् उपरोक्त समत्वयोगी के आचरणों में उसके अन्तःकरण की स्थिति कैसी रहती है, इसका वर्णन करते हैं।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

अर्थ—जिसने अपने-आप अर्थात् अपने मन को जीत लिया है (और) जो पूर्ण शान्त है, उसका अन्तरात्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में सम अर्थात् एक-सा बना रहता है; तात्पर्य यह कि समत्वयोगी सब प्रकार के द्वन्द्वों अर्थात् परस्पर विरोधी भावों में एक समान निर्विकार एवं शान्त बना रहता है (७)। ज्ञान* अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा की एकता, नित्यता, समता एवं सर्व-व्यापकता आदि के अनुभव और विज्ञान* अर्थात् दृश्य जगत् के प्रत्यक्ष

* ज्ञान-विज्ञान का विशेष खुलासा आगे सातवें और नवमें अध्याय में किया जायगा।

प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील पदार्थों और भावों को तत्त्वतः एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से, जिसका अन्तःकरण तृप्त अर्थात् शान्त हो गया है, तथा सबके आधार आत्मा में जिसकी स्थिति दृढ़ हो गई है; और जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, तथा (जिसकी दृष्टि में) लोहा, पत्थर और सोना एक समान है, अर्थात् जो इन पदार्थों को वस्तुतः एक ही समान दृश्य जगत् की कल्पित नाम-रूपात्मक भिन्नताएँ समझता है, वह समत्वयोगी युक्त अर्थात् सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ा हुआ कहा जाता है (८)। सुहृद् यानी दूसरों की अपेक्षा अधिक प्यारे लगने वाले आत्मीयजनों, मित्र अर्थात् प्रेम रखने वालों, शत्रु अर्थात् वैर रखने वालों, उदासीन अर्थात् उपेक्षा करने वालों, मध्यस्थ अर्थात् जो न तो उपेक्षा करते हों और न विशेष प्रेम ही रखते हों किन्तु निष्पक्षभाव का वर्ताव करते हों, द्वेष के योग्य अर्थात् जिनके साथ साधारणतया द्वेष होना उचित हो, बान्धव अर्थात कुटुम्बीजनों, साधु अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों, एवं पापियों अर्थात् दुराचारियों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम होती है, अर्थात् जो इनको एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप समझता है वह अधिक श्रेष्ठ है (९)।

स्पष्टीकरण—इन तीन श्लोकों से कोई यह न समझे कि समत्व-योगी इतना संज्ञाहीन अथवा जड़ हो जाता है कि उसको सुख-दुःख, ठंडे-गर्म, मान-अपमान, अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे, लोहे, पत्थर और सोने आदि का कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता। वास्तव में समत्वयोगी इस तरह संज्ञाहीन नहीं होता, वह तो आत्मज्ञान और दृश्य पदार्थों के तात्त्विक विज्ञान में पूर्ण होता है, इसलिए उसे जगत् की इन भिन्नताओं का उतना ज्ञान होता है कि जितना साधारण लोगों को होना संभव नहीं। परन्तु साधारण लोग तो इन सब भिन्नताओं के केवल बाह्य रूपों का इन्द्रिय-जन्य ज्ञान रखते हैं, इसलिए इनको सत्य मान कर इनमें आसक्त और विक्षिप्त रहते हैं, और आत्मज्ञानी समत्वयोगी इन भिन्नताओं के बाह्य रूपों के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहता, किन्तु इनके भिन्न-भिन्न गुणों, इनकी अलग-अलग योग्यताओं और इनके सूक्ष्म कारणों सहित इनकी भीतरी असलियत अर्थात् सबकी आध्यात्मिक एकता का भी यथार्थ ज्ञान रखता है, और इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान युक्त सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह किसी में आसक्ति नहीं रखता, अतः सम और शान्त रहता है। यद्यपि वह शरीर रूप से ठंडे और गर्म, सुख और दुःख, मान और अप-मान, अनुकूल और प्रतिकूल, अच्छे और बुरे आदि द्वन्द्वों की अलग-अलग वेदनाएँ उसी तरह अनुभव करता है, जिस तरह कि दूसरे लोग करते हैं; परन्तु उसकी बुद्धि

में यह निश्चय रहता है कि भोक्ता और भोग्य, अथवा अनुभव करने वाला और अनुभव किया जाने वाला, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुतः एक ही हैं। पृथकता के बनाव कल्पित, परिवर्तनशील एवं आने जाने वाले हैं। किसी अवस्था में सुख और मान आदि अनुकूल वेदनाएँ भी अहितकर होती हैं, और किसी अवस्था में दुःख और अपमान आदि प्रतिकूल वेदनाएँ भी हितकर होती हैं। इसलिए उसका अन्तःकरण अनुकूलता-प्रतिकूलता की वेदनाओं का अनुभव करता हुआ भी तत्त्व-ज्ञान के कारण उनसे प्रभावित नहीं होता। इसी तरह यद्यपि लोहे, मिट्टी और सोने का बाहरी भेद यानी उनके पृथक्-पृथक् रंग, रूप, गुण, मूल्य आदि उसकी इन्द्रियों को वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि दूसरों को, और उनका भिन्न-भिन्न प्रकार से यथायोग्य उपयोग भी वह करता है, परन्तु ऐसा करते हुए भी उसकी दृष्टि इन सबके एकत्व-भाव पर जमी रहती है। वह इन सबको एक समान पार्थिव पदार्थ समझता है। यद्यपि उपयोग की दृष्टि से वह भी इनकी योग्यता भिन्न-भिन्न समझता है, तथापि उसको यह ज्ञान रहता है कि किसी भी पदार्थ के उपयोग, मूल्य और अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सदा एक-से नहीं रहते, किन्तु देश-काल आदि की परिस्थिति के साथ वे बदलते रहते हैं। किसी परिस्थिति में सोने का कोई उपयोग नहीं होता, तथा उसका संग्रह बहुत ही दुःखदायक होता है, और मिट्टी तथा लोहे से बड़ा लाभ होता है; उस स्थिति में सोने की कोई कीमत नहीं होती, किन्तु लोहा और मिट्टी बड़े कीमती हो जाते हैं। इसलिए वह लोहे, मिट्टी और सोने की पृथक्-पृथक् योग्यता का भेद अनुभव करता हुआ भी तात्त्विक विचार से उस भेद को कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है; अतः उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति में उसको कोई हर्ष या विषाद नहीं होता। इसी तरह अपने शरीर के सम्बन्धियों में भी वह भेद का अनुभव अवश्य करता है और उस अनुभव सहित ही वह सबकी पृथक्-पृथक् योग्यता और परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है, अर्थात् अपने आत्मीय-जनों को वह अपने शरीर के निकटवर्ती स्वजन समझता हुआ उनसे घनिष्ठ प्रेम का व्यवहार करता है, मित्रों के साथ साधारण प्रेम का, वैर रखने वालों के साथ उनकी भावनानुसार वैर का, उपेक्षा करने वालों के साथ उपेक्षा का, शत्रु और मित्र की बीच की स्थितिवालों के साथ साधारण शिष्टाचार का, जो द्वेष रखने वाले हैं उनसे उनकी भावना एवं योग्यता के अनुसार द्वेष का, बन्धुजनों के साथ उनके योग्य प्यार एवं सहानुभूति का, सज्जनों के साथ उनके अनुकूल सौजन्य का, तथा शठों के साथ उनके अनुकूल शाठ्य का वर्ताव करता है। तात्पर्य यह कि जिस शरीर की जैसी योग्यता और जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार वह उसके

साथ वर्ताव करता है; परन्तु वे वर्ताव उन भिन्न-भिन्न शरीरों के पूर्व तथा वर्तमान कर्मों के फल-स्वरूप उनके स्वाभाविक गुणों एवं भावनाओं की योग्यतानुसार स्वतः ही होते हैं, अर्थात् उन लोगों की भावनाएँ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्तावों का कारण होती हैं। समत्वयोगी के अन्तःकरण में उन भिन्नता के वर्तावों का कोई प्रभाव नहीं रहता और वह अपनी तरफ़ से किसी के साथ कोई अच्छा या बुरा वर्ताव नहीं करता, अर्थात् उसके अन्तःकरण में न किसी से राग रहता है न द्वेष, न व्यक्तित्व का यह अहंकार रहता है कि मैं अमुक व्यक्ति के साथ अमुक प्रकार का अच्छा या बुरा वर्ताव कर रहा हूँ। उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, इसलिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का वर्ताव करता है तो भी वह उसके हित के लिए ही होता है, द्वेषवश किसी की हानि करने के लिए नहीं होता। अतः सबके साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ताव करते हुए भी अपने शरीर और दूसरों के शरीरों में वह तत्त्वतः कोई भेद नहीं समझता, किन्तु अपने तथा दूसरों के शरीरों को एक ही आत्मा (अपने आप) के अनेक रूप जानता है। भेद केवल गुण-वैचित्र्य का मानता है और गुणों की भिन्नता सदा इकसार नहीं रहती, इसलिए उसको कल्पित जान कर वह उसमें आसक्ति नहीं रखता। उसके अन्तःकरण में एक तरफ़ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न गुणों की योग्यता और उनके साथ अपने भिन्न-भिन्न संबंधों एवं उन सम्बन्धों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्तावों का अनुभव रहता है, और दूसरी तरफ़ सबके एकत्व-भाव का अनुभव रहता है, इसलिए वह भिन्नता के प्रभाव से वस्तुतः रहित होता है। उसका अन्तःकरण काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ग्लानि, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, सुख, दुःख आदि अनेक प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता हुआ भी निर्विकार, शान्त एवं सम बना रहता है। श्लोक ९ के अन्तिम पद में "समबुद्धिर्विशिष्यते" कह कर भगवान् ने इस अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। जिसकी बुद्धि जितनी ही अधिक सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित होती है, उतनी ही अधिक उसके अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएँ प्रभाव-रहित होती हैं; और जिसकी बुद्धि पूर्णतया सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित हो जाती है, उसका अन्तःकरण इन वेदनाओं में तथा अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे आदि के सम्बन्धों में पूर्णतया सम रहता है और उसकी स्थिति सबके ऊपर होती है। शारीरिक कष्टों में अविचलित रहने तथा सांसारिक पदार्थों से वैराग्य होने की अपेक्षा भी अपने-पराये, शत्रु-मित्र, सज्जन-दुर्जन आदि के सम्बन्ध में अन्तःकरण की समता बनाये रखने का पद बहुत ऊँचा है।

× × ×

अब भगवान् १० वें श्लोक से २६ वें श्लोक तक मन की एकाग्रता के साधन-रूप राज-योग के अभ्यास का निरूपण करके, श्लोक २७ से ३२ तक उक्त योगाभ्यास की पूर्णता-प्राप्त समत्वयोगी की साम्य-भाव की स्थिति का वर्णन करते हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—योगी* अर्थात् समत्व-योग में आरूढ़ होने की इच्छावाला साधक पुरुष सदा अर्थात् नित्य-नियम से एकान्त स्थान में (नियत काल तक) अकेला स्थित होकर चित्त और इन्द्रियों के संघात को अपने वश में करके, आशा और परिग्रह अर्थात् पदार्थों के संग्रह की ममता से रहित हो कर अपने को योग में लगावे अर्थात् योगाभ्यास करे (१०)। पवित्र देश अर्थात् शुद्ध भूमि पर कुशा और उस पर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर अपना दृढ़ आसन लगावे, जो न अधिक ऊँचा हो

---

* यहाँ पर 'योगी' शब्द साम्य-भाव की स्थिति प्राप्त करने के साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ है "जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्व-भाव की स्थिति" इत्यादि। सबकी एकता, आत्मा अथवा परमात्मा में होती है और आत्मा अथवा परमात्मा सम है (गी० अ० ५ श्लो० १६, अ० ६ श्लो० २६, अ० १३ श्लो० २७-२८), इसलिए गीता में भगवान् ने सबकी एकता के साम्य-भाव की स्थिति को 'योग' कहा है (गी० अ० २ श्लो० ४८, अ० ६ श्लो० २६ से ३३)। गीता में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रधानतया इसी अर्थ में अर्थात् एकता के साम्य-भाव की स्थिति के लिए, और उस साम्य-भावयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने रूपी कर्म-योग के लिए हुआ है; तथा उक्त साम्य-भाव की स्थिति में आरूढ़ होने के साधनों के लिए भी 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी तरह सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थित होने वाले तथा साम्य-भाव-युक्त व्यवहार करने वाले कर्मयोगी को 'योगी' कहा है, और उक्त समत्व-योग के साधक के लिए भी 'योगी' शब्द का प्रयोग हुआ है। अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग साध्य और साधन, अथवा कार्य और कारण, दोनों के लिए एक ही रूप में होता है।

कई स्थलों पर 'योग' शब्द साम्य-भाव की स्थिति से कुछ विलक्षण अर्थ में भी आया है। जैसे परमात्मा के विश्व-रूप होने की माया अथवा ऐश्वर्य को 'योग' कहा है (गी० अ० ७ श्लो० २५, अ० ९ श्लो० ५, अ० १० श्लो० ७, अ० ११ श्लो० ८); और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को भी योग कहा है (गी० अ० २ श्लो० ४५, अ० ९ श्लो० २२)। परन्तु उन स्थलों पर भी एकता अथवा मेल के भाव की ही प्रधानता है। इनके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ दूसरे शब्दों के साथ 'योग' शब्द का समास हुआ है, जैसे—बुद्धि-योग, कर्म-योग, ध्यान-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग आदि, वहाँ भी उन शब्दों से जो-जो भाव व्यक्त होते हैं, उन-उन भावों में जुड़ने रूप एकता का अर्थ ही सिद्ध होता है।

और न अधिक नीचा (११)। वहाँ (उक्त) आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों के व्यापारों को रोक कर, मन को एकाग्र करके, आत्मा यानी अन्तःकरण की (द्वैत-भाव रूपी मलिनता से) शुद्धि के लिए योग में प्रयुक्त होवे अर्थात् योगाभ्यास में लगे (१२)। काया अर्थात् धड़, शिर और गर्दन को सम अर्थात् सीधी (खड़ी) रेखा में स्थिर रख कर अचल होता हुआ तथा (इधर-उधर) दिशाओं को न देखता हुआ अपनी दृष्टि को नाक के अग्रभाग (नोक) पर जमाकर, निर्भय होकर अन्तः-करण को अच्छी तरह शान्त रखता हुआ और ब्रह्मचर्य-व्रत को पालन करता हुआ, मन का संयम करके (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मेरे चिन्तन पूर्वक, मेरे परायण हुआ अर्थात् (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें लौ लगा कर योगाभ्यास में स्थित होवे (१३-१४)। इस प्रकार मन का संयम कर के सदा अपने-आपको युक्त करता हुआ अर्थात् योगाभ्यास में लगा हुआ योगी, (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें रहने वाली परम निर्वाण-स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है (१५)। परन्तु, हे अर्जुन! बहुत अधिक खाने वाले या बिल-कुल न खाने वाले (भूखे रहने वाले) बहुत सोने वाले या बहुत जागने वाले का योगाभ्यास सिद्ध नहीं होता (१६)। यथायोग्य (नियमित) आहार-विहार करने वाले, तथा यथायोग्य (नियमित) कर्माचरण करने वाले और यथायोग्य (नियमित रूप से) सोने तथा जागने वाले का योगाभ्यास दुःखनाशक होता है। तात्पर्य यह कि अपनी शारीरिक प्रकृति के अनुकूल, तथा परिमित मात्रा में आहार, अपनी शक्ति के अनुसार उचित विहार (घूमने-फिरने आदि), तथा अपनी स्थिति के अनुसार व्यवस्थित काम-काज करने और समयानुसार एवं परिमित सोने व जागने से ही योगाभ्यास सुखदायक होता है (१७)। अच्छी तरह वश में किया हुआ चित्त जिस समय आत्मा में भली प्रकार स्थिर हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है और सब कामनाओं से निःस्पृह अर्थात् बाह्य पदार्थों की प्राप्ति की लालसा से रहित हो जाता है, तब युक्त ऐसा कहा जाता है (१८)। जिस तरह वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक निश्चल रहता है, वही उपमा योगाभ्यास में लगे हुए योगी के संयत चित्त को दी जाती है अर्थात् योगी का एकाग्र किया हुआ चित्त अडोल दीप-शिखा की तरह अविचल रहता है (१९)। योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जब उपराम अर्थात् इधर-उधर भटकने से रहित—शान्त हो जाता है और जब वह आत्मा से ही आत्मा को देखता हुआ आत्मा ही में सन्तुष्ट होता है अर्थात् स्वयं अपने-आपके एकत्व-भाव में स्थित होकर प्रसन्न होता है; (तब वह) इन्द्रियों के अगोचर, जो बुद्धि-गम्य अपरिमित एवं अत्यन्त सुख है, उसका अनुभव करता है और उस अवस्था में स्थित होकर फिर वह तत्त्व से नहीं डिगता अर्थात् अपने-आपके आत्मानुभव से विचलित

नहीं होता। जिसको पाकर वह उससे अधिक और कोई लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित होकर वह महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता (किन्तु सम रहता है), उस दुःख के संबंध के वियोग को अर्थात् दुःख के अभाव को 'योग' नाम-वाला जानना चाहिए अर्थात् उसका नाम समत्व-योग है, और उस समत्व-योग की प्राप्ति, मन को उकताये बिना निश्चयपूर्वक ही करनी चाहिए। तात्पर्य यह कि उपरोक्त योगाभ्यास से चित्त के एकाग्र होने पर सबके एकत्व-भाव अर्थात् सर्वत्र अपने-आप = आत्मा के अनुभव की मस्ती छा जाती है; आत्मानुभव की मस्ती का वह सुख, इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होने वाला नाशवान् अथवा दुःख-परिणाम वाला राजस सुख नहीं होता, किन्तु आत्मनिष्ठ बुद्धि का सच्चा और अक्षय सुख होता है, जिसके प्राप्त होने पर संसार में दूसरा कोई अधिक सुख प्राप्त करने योग्य नहीं रहता, और उस अवस्था में कितना ही भारी दुःख आ पड़े तो भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि उस साम्य-भाव में दुःख की दुःख-रूपता ही नष्ट हो जाती है; इस लिए उस समत्व-योग की प्राप्ति के अभ्यास से चित्त को डावाँडोल न करके, उसमें दृढ़ता के साथ अवश्य लगे रहना चाहिए (२०-२३)। संकल्प से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं का सर्वथा त्याग कर, मन से ही इन्द्रियों को सब ओर से रोक कर, धारणायुक्त बुद्धि से शनैः-शनैः उपरत अर्थात् सांसारिक पदार्थों की आसक्ति से रहित होवे, और मन को आत्मा में स्थित करके बाह्य विषयों का कुछ भी चिन्तन न करे। जिस-जिस विषय को लेकर यह चञ्चल और अस्थिर मन बाहर भटके, उस-उससे रोक कर इसे आत्मा के ही आधीन करे। तात्पर्य यह कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि की जितनी भी कामनाओं के संकल्प मन में उठा करते हैं, उन सबको छोड़ कर मन से इन्द्रियों का नियन्त्रण करे, और बुद्धि में आत्मज्ञान की दृढ़ धारणा करके शनैः-शनैः मन का नियन्त्रण करे और उसे दूसरे विषयों से हटाकर आत्मा में जोड़े। मन स्वभाव से ही चञ्चल होता है, इसलिए उसका एक जगह टिकना कठिन होता है, अतः जिस-जिस विषय की तरफ़ यह जावे, वहीं इसे रोक कर आत्मा में जोड़े, अर्थात् सभी पदार्थों में एक ही आत्मा का चिन्तन करने से मन जिस पदार्थ की तरफ़ जावेगा, वहाँ एक आत्मा को ही पावेगा तब इसे एकाग्र होना पड़ेगा (२४-२६)। इस शान्त-चित्त, निष्पाप और ब्रह्मस्वरूप योगी का रजोगुण शान्त हो जाता है अर्थात् दब जाता है और इसे निश्चय ही उत्तम सुख प्राप्त होता है (२७)। इस प्रकार सदा आत्मा-नुभव में लगा हुआ पाप रहित योगी सहज ही ब्रह्म-भाव के आत्यन्तिक सुख का उपभोग (अनुभव) करता है (२८)। जिसका अन्तःकरण सबकी एकता के साम्य-भाव से युक्त हो गया है, वह सर्वत्र समदर्शी अर्थात् सबमें समता का अनुभव करने वाला समत्वयोगी अपने को सब भूत-प्राणियों में और

सब भूत-प्राणियों को अपने में देखता है (२९)। जो मुझ अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा को सबमें देखता है, और सबको मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में देखता है, उससे मैं अलग नहीं होता और न वह मुझसे अलग होता है (३०)। जो (सबके) एकत्व-भाव में अच्छी तरह स्थित हो कर सब भूतों में रहने वाले मुझको भजता है, अर्थात् सब भूत-प्राणियों को अपने और सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम रखता है, वह समत्वयोगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में ही वर्तता है, अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह परमात्म-स्वरूप मुझमें ही स्थित रहता है (३१)। २९ से ३१ तक के श्लोकों का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त योगाभ्यास से जिनकी सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति हो जाती है, वे अपने को सबका आत्मा समझते हैं और अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं, यानी सबको अपना ही रूप जानते हैं, अतः उनमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वे स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी उनकी स्थिति समता-स्वरूप परमात्म-भाव में ही बनी रहती है (२९-३१)। हे अर्जुन! जो आत्मौपम्य-बुद्धि से, यानी सबको अपना आत्मा समझ कर, सर्वत्र, यानी सबके, सुख अथवा दुःख को समान-भाव से देखता है, अर्थात् दूसरों के सुख-दुःख को अपने समान ही अनुभव करता है, वह परम योगी माना गया है। तात्पर्य यह कि जो इस निश्चय से कि सब कोई एक ही आत्मा अथवा मेरे "अपने-आपके" अनेक रूप हैं, यह अनुभव करता है कि "जैसा मैं हूँ वैसे ही दूसरे हैं," और दूसरों के सुख-दुःख आदि को अपने ही समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य समता* का वर्ताव करता है वही पूर्ण समत्वयोगी है। किसी भी व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय अपने को उसकी स्थिति में रखने की कल्पना करना, अर्थात् मन में यह विचार करके कि यदि मैं इसकी जगह होता और यह मेरी जगह होता तो मेरे साथ इसका किस तरह का वर्ताव उचित होता—किस तरह के वर्ताव से मुझे सुख होता और किस तरह के वर्ताव से दुःख—यह आपस की एकता का विचार आत्मौपम्य-बुद्धि है। इस आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही सच्चा समता का वर्ताव है (३२)।

स्पष्टीकरण—गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका में कह आये हैं कि

---

* समता के वर्ताव का विशेष स्पष्टीकरण पांचवें अध्याय में देखिए।

समत्व-योग में स्थिति होने के लिए भगवान् ने योगाभ्यास द्वारा मन को एकाग्र करने का विधान भी एक साधन रूप से किया है। यहां पर भगवान् उस योगाभ्यास का वर्णन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि योगाभ्यास करने के लिए पहले शरीर की सारी चेष्टाओं को सम करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक शारीरिक चेष्टाओं में समता नहीं होती तब तक मन में भी समता अथवा एकाग्रता नहीं हो सकती। इसलिए मनको एकाग्र करने के निमित्त योगाभ्यास करने वाले को आहार-विहार, रहन-सहन, सोना-जागना, काम-काज आदि शरीर की सब चेष्टाओं को यथायोग्य सम करना चाहिए। भोजन (खाना-पीना) समयानुसार, उस प्रकार तथा उतनी मात्रा में एवं उस ढंग से करना चाहिए कि जो अपनी प्रकृति के अनुकूल हो और जो सहज ही पच जाय, तथा जिससे मन और इन्द्रियों की चंचलता न बढ़े, एवं अरुचि, अजीर्ण और आलस्य आदि विकार उत्पन्न न हों; घूमना, फिरना, खेलना, कसरत करना, मनो-विनोद तथा इन्द्रियों के विषयों में वर्तना आदि विहार, नियत समय पर उचित रीति से उतने ही करने चाहिएँ कि जिनसे शरीर और इन्द्रियों में शिथिलता एवं निर्बलता न आवे, और न उनमें इतनी आसक्ति ही रखनी चाहिए कि उनका व्यसन पड़ जाय, एवं प्रमाद होकर समय का अपव्यय होने लगे। काम-काज़ भी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार व्यवस्थित रूप से नियत समय पर तथा उतना ही करना चाहिए कि जिससे शरीर में थकावट न आवे और शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता रहे; सारांश यह कि आठों पहर काम-धन्धों में ही न बितावे। नींद साधारणतया रात के समय परिमित समय तक लेनी चाहिए, विशेष आवश्यकता के बिना दिन में अथवा असमय में एवं अधिक समय तक नहीं सोना चाहिए। व्रत, उपवास आदि करके भूखे-प्यासे रह कर खान-पान के त्याग से और जागरण करके नींद न लेने से शरीर में शिथिलता और व्याकुलता उत्पन्न होती है, तथा विहारों को सर्वथा त्याग देने से चित्त विक्षिप्त रहता है, और काम-धन्धे छोड़ देने से शरीर-निर्वाह के साधन प्राप्त नहीं हो सकते। तात्पर्य यह कि इस तरह के त्याग से विषमता और अशान्ति होती है, अतः ये भी समत्व-योग के बाधक हैं। इसलिए शरीर के आहार-विहार आदि त्यागने नहीं चाहिएँ किन्तु उन्हें उपरोक्त रीति से नियमित रूप से समुचित परिमाण में करते हुए शरीर की समता बनाये रख कर, नित्य-प्रति नियमपूर्वक नियत समय के लिए, सब प्रकार की कामनाओं और ममताओं की लाग-लपेट से रहित होकर, योगाभ्यास करने के लिए समतल भूमि पर डाभ, उसके ऊपर मृगछाला और उस पर कपड़ा बिछा कर उस पर अपना दृढ़ आसन जमा कर शरीर को सीधा (सम रेखा में) रखते हुए दृष्टि को

सब तरफ़ से हटा कर नासिका की नोक पर जमाना चाहिए। उस समय अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की सब चेष्टाओं को रोक कर मन को केवल आत्मा अथवा परमात्मा के ध्यान में इस प्रकार लगाना चाहिए कि दीपक की लौ की तरह वह निरंतर अडिग रहे। इस तरह धीरज के साथ मन को शनैः-शनैः दृढ़तापूर्वक एकाग्र करना चाहिए, और जहाँ-जहाँ वह भागे, वहीं आत्मा अथवा परमात्मा ही का चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् जिस पदार्थ में मन जावे उसी पदार्थ को अपने-आपसे अभिन्न अपना आत्म-स्वरूप अथवा परमात्मा-स्वरूप समझना चाहिए। ऐसा समझने से मन जहाँ जायगा वहाँ आत्मा अथवा परमात्मा ही को पावेगा, तब वह आत्मा अथवा परमात्मा में ठहर जायगा। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप से अन्तःकरण के चार भाव हैं। मन का स्वभाव अत्यन्त चंचल तथा संकल्प-विकल्प करने का है; बुद्धि का स्वभाव विचार करने, जानने और समझने का है; चित्त का स्वभाव चिन्तन अथवा स्मरण करने का है; और अहंकार का स्वभाव व्यक्तित्व का अनुभव करने का है। इनमें से जिस भाव की प्रबलता होती है वह दूसरे भावों को दबा देता है। अतः मन की चंचलता को बुद्धि अथवा चित्त की क्रियाओं से दबाना चाहिए; अर्थात् मन को बाहरी विषयों में भटकने से रोकने के लिए बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि बाहरी पदार्थों में उनका अपना सुख कुछ भी नहीं है, किन्तु उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह सबके अपने-आप आत्मा का है, इसलिए उनमें आसक्त होना हानिकर है; अथवा चित्त से यह स्मरण करना चाहिए कि सभी बाहरी पदार्थ एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप हैं, वास्तव में सर्वत्र एक आत्मा ही है, आत्मा से पृथक् इनमें सुख की आशा रखने से दुःख होता है। इस तरह अभ्यास करते-करते जब मन एकत्व-भाव में ठहर जाता है, तब पूर्ण सुख और शान्ति प्राप्त हो जाती है; जिस सुख-शान्ति के आगे संसार के सभी सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं, फिर किसी भी पदार्थ के प्राप्त करने की कामना शेष नहीं रहती। उस अवस्था में पहुँचने के बाद फिर दुःख का लेश भी नहीं रहता; क्योंकि तब अपने-आपसे पृथक् कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती कि जिससे दुःख होने की संभावना हो। उस सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति में अखिल विश्व और ईश्वर अथवा परमात्मा भी आत्मा अर्थात् अपने-आपके ही अनेक भाव प्रतीत होने लगते हैं—अपने-आपसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता। उस ब्रह्म-भाव अथवा परमात्म-भाव अथवा एकत्व-भाव के आत्मानुभव की स्थिति में समत्वयोगी सब प्रकार से जगत् के व्यवहार उनके स्वामी-भाव से पूर्ण स्वतन्त्रता और समता पूर्वक करता हुआ भी अपने परमात्म-स्वरूप से कभी नहीं डिगता।

उस पूर्णता की स्थिति पर पहुंचा हुआ समत्वयोगी सब भूत-प्राणियों को

एक समान अपना आत्मा ही अनुभव करता है, और सबके सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि को अपने ही समझता हुआ आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य समता का वर्ताव करता है।

× × ×

यद्यपि उपरोक्त योगाभ्यास से मन को एकाग्र करके समत्व-योग में स्थित होने का विधान भगवान् ने ऊपर के श्लोकों में अच्छी तरह किया है, परन्तु उक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में दृढ़ स्थिति होना और सबको अपनी आत्मा समझ कर सबके साथ आत्मौपम्य-बुद्धि से समता का वर्ताव करना, इतना गहन और कठिन विषय है कि प्रथम तो इसकी प्राप्ति के लिए जिस योगाभ्यास का वर्णन ऊपर किया गया है उसमें मन का लगना ही अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है; और यदि किसी तरह मन इस अभ्यास में लग भी जावे तो समत्व-योग की पूर्णावस्था तक पहुँच सकना तो जन्मभर में भी असंभव जान पड़ता है; और यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि किसी भी कार्य को पूर्ण किये बिना उसका नतीजा नहीं निकलता। अस्तु, इसी अभिप्राय को लेकर अर्जुन आगे के श्लोकों में भगवान् से कहता है कि जो समत्व-योग आपने कहा, उसमें मन का पूरी तरह टिक सकना मुझे असंभव-सा दीखता है। उस पर भी मनुष्य यदि यत्नपूर्वक इसके अभ्यास में लगे और पूर्णता को पहुँचे बिना, अर्थात् थोड़े बहुत अभ्यास के बाद बीच में ही उसका शरीर छूट जाय तो इस अभ्यास से क्या लाभ होगा? इस अभ्यास में लगने से शास्त्रों में विधान किये हुए हवन-यज्ञ, बलि-वैश्वदेव आदि कर्मकाण्ड तथा देव-पूजन, व्रत-उपवास एवं तप आदि धार्मिक कृत्य, जो पारलौकिक सुख के साधन बताये जाते हैं, वे तो बन नहीं सकते, इसलिए उन सुखों से वंचित रहना पड़ेगा; और इस समत्व-योग में पूर्णता की प्राप्ति न होने के कारण इसका जो फल आपने कहा है, वह प्राप्त नहीं होगा; परिणाम यह होगा कि समत्व-योग के साधन में लगने वाला "धोबी का कुत्ता घर का न घाट का" की कहावत को चरितार्थ करता हुआ उभय-भ्रष्ट हो जायगा अर्थात् दोनों तरफ़ से जायगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन आशंकाओं का समाधान करते हुए भगवान् आगे कहते हैं कि यद्यपि यह अभ्यास कठिन अवश्य है, परन्तु प्रयत्न करने से इस जन्म में नहीं तो आगे के जन्मों में सफलता अवश्य मिलती है। इसके अभ्यास में लगने वाले की इस जन्म में अथवा आगे के जन्मों में कभी अवनति नहीं होती, किन्तु वह उत्तरोत्तर उन्नति ही करता है। सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि के जितने भी साधन हैं, उन सबसे समत्व-योग श्रेष्ठ है, इसलिए इसी का अभ्यास करना चाहिए।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि, हे मधुसूदन ! आपने जो यह साम्य-भाव का योग कहा, (मन की) चंचलता के कारण मैं इसकी दृढ़ स्थिति नहीं देखता; क्योंकि यह चंचल मन बड़ा ही उपद्रवी, जबर्दस्त और दृढ़ अर्थात् अपनी चंचलता की धुन का पक्का है; उसका निग्रह (एकाग्र) करना, मैं वायु को रोकने की तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ। तात्पर्य यह कि इस चंचल मन का समत्व-योग में स्थायी रूप से टिके रहना असंभव-सा है (३३-३४)। श्री भगवान् बोले कि हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन बड़ा ही चंचल है, (और) उसको रोकना बहुत ही कठिन है; परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह रोका जा सकता है; अर्थात् जगत् की परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-नाशवान् भिन्नताओं को धोके की टट्टी समझ कर उनसे ममत्व न रखनेरूपी वैराग्य से, तथा सबके एकत्व-भाव—सत्य, नित्य और सदा एक-सा रहने वाले आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का बार-बार चिन्तन करने के अभ्यास से, मन एकाग्र हो सकता है (३५)। जिसका मन अपने अधिकार में नहीं है उसको समत्व-योग की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है, ऐसा मेरा मत है; परन्तु जिसका मन (उपरोक्त अभ्यास और वैराग्य द्वारा) अपने अधिकार में हो जाता है, उसे प्रयत्नपूर्वक उपाय करने से (समत्व-योग) प्राप्त हो सकता है (३६)। अर्जुन बोला कि हे कृष्ण ! जो मनुष्य (समत्व-योग में) श्रद्धावान् है अर्थात् विश्वास पूर्वक इसके अभ्यास में लगा हुआ है, परन्तु जितेन्द्रिय न हो सकने के कारण इस अभ्यास में जिसका मन स्थिर नहीं रहता, (ऐसा अभ्यासी) समत्व-योग की पूर्णावस्था को न पहुँच कर (फिर) किस गति को जाता है अर्थात् मरने के बाद

उसकी क्या दशा होती है ? हे भगवान् ! (स्वर्गादि सुखों के देने वाले कर्मकाण्डादि में) अप्रतिष्ठित (और मन की चंचलता के कारण) ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में विमूढ (रहने से) क्या वह छिन्न-भिन्न (बिखरे हुए) बादल की तरह दोनों तरफ से भ्रष्ट होकर नष्ट नहीं हो जाता ? तात्पर्य यह कि समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को एकाग्र करने के अभ्यास में लगे रहने के कारण वह समत्व-योग का अभ्यासी दूसरे लोगों की तरह कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठान, बलि-वैश्वदेव, जप-तप, व्रत-उपवास, देव-पूजन आदि पारलौकिक सुखों के देने वाले शास्त्रीय साधन सम्पादन कर नहीं सका, और उक्त योगाभ्यास की पूर्णता न होने के कारण उसे आत्मानुभव हुआ नहीं—ऐसी दशा में क्या वह उक्त साधारण लोगों से अलग रह कर उसी तरह नष्ट नहीं हो जाता, जिस तरह एक बादल का टुकड़ा दूसरे बादलों से अलग होकर नष्ट हो जाता है (३७-३८) ? हे कृष्ण ! आप मेरे इस संशय को पूर्णतया काटने योग्य हो, आपके सिवाय इस संशय का काटने वाला दूसरा कोई नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह कि जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ होता है, और जो स्वयं भय, स्वार्थ, पक्षपात, भ्रम, दुराग्रह और संशय से रहित, तत्त्वदर्शी एवं दयालु होता है, वही इस लोक तथा परलोक से सम्बन्ध रखने वाली उक्त शंका का ठीक-ठीक समाधान कर सकता है; और आपमें ये सभी गुण मौजूद हैं, इसलिए केवल आप ही में इस विषय का निश्चित निर्णय देने की योग्यता है, अतः आप मेरे इस संशय को कृपा करके काटिए (३९)। श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ ! इस लोक और परलोक (दोनों) में उसका (कभी) विनाश नहीं होता; क्योंकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म (इस समत्व-योग के अभ्यास) में लगे रहने वाले किसी भी मनुष्य की दुर्गति नहीं होती (४०)। पुण्य कर्म करने वाले पुरुषों को मिलने वाले (उच्च) लोकों को प्राप्त होकर तथा वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके फिर वह योग-भ्रष्ट पुरुष अर्थात् पूर्वोक्त समत्व-योग का अधूरा अभ्यासी, पवित्र श्रीमानों (सम्पत्तिशाली लोगों) के घर में जन्म लेता है (४१)। अथवा बुद्धिमान् समत्वयोगियों के कुल में ही जन्म लेता है; इस प्रकार का जन्म इस लोक में बड़ा ही दुर्लभ है (४२)। वहाँ (उसे) उस पूर्वजन्म की बुद्धि का संयोग प्राप्त होता है; अर्थात् इस जन्म में जो समत्व-योग के संस्कार उसकी बुद्धि में जम जाते हैं उनका वहाँ उदय होता है, और हे कुरुनन्दन ! (वहाँ भी) फिर वह उससे आगे समत्व-योग की पूर्ण सिद्धि के लिए यत्न करता है (४३)। पूर्वजन्म के उसी अभ्यास से वह स्वतः ही (उस समत्व-योग की तरफ़) खींचा जाता है; समत्व-योग का जिज्ञासु भी शब्द--ब्रह्म अर्थात् कर्मकाण्डात्मक वेदों का उल्लंघन कर जाता है। तात्पर्य यह कि समत्व-योग के जिज्ञासु के लिए भी शास्त्रों में कहे

हुए धार्मिक कर्मकाण्ड आदि कृत्य कोई महत्त्व नहीं रखते, वह उनसे ऊपर उठ जाता है (४४)। और प्रयत्न पूर्वक उपाय करने वाला योगी अर्थात् समत्व-योग का अभ्यासी कई जन्मों में (उत्तरोत्तर) उन्नति करता हुआ (द्वैत-भाव-रूपी) मैल से शुद्ध होकर अन्त में परम गति को पा जाता है (४५)। तपस्वियों से (समत्व-योग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है; ज्ञानियों से भी (वह) श्रेष्ठ माना गया है; और कर्मियों अर्थात् कर्मकाण्डियों से भी (समत्व-योग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो, अर्थात् समत्व-योग में लग (४६)। (उक्त समत्व-योग के अभ्यास में लगे हुए) सारे योगियों में जो अपने अन्तःकरण को मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) में लगा कर श्रद्धा सहित मुझको भजता है, वह मेरे मत में सर्व-श्रेष्ठ योगी है। तात्पर्य यह कि जो समत्व-योग के अभ्यास में लगने वाला साधक सबके आत्मा = परमात्मा के एकत्व-भाव में मन लगा कर एक परमात्मा के सर्वत्र व्यापक होने के निश्चय से सबके साथ प्रेम करने रूपी ईश्वर-भक्ति करता है, वह सब अभ्यास करने वालों में श्रेष्ठ है; क्योंकि इस दुहरे (डबल) अभ्यास के कारण उसे बहुत जल्दी सफलता प्राप्त होती है (४७)।

स्पष्टीकरण—पूर्ववर्णित अर्जुन की शंकाओं के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि यह बात सच है कि समत्व-योग में मन की पूर्णतया स्थिति होना बहुत ही कठिन और दीर्घ काल के अभ्यास का काम है, अर्थात् एक तरफ़ जगत् की भिन्नता के बनावों में ममत्व की आसक्ति कम करने और दूसरी तरफ़ सबकी एकता के भाव में मन को लगाने का अभ्यास निरंतर दीर्घ काल तक करते-करते मनुष्य कई जन्मों में जाकर पूर्णावस्था को पहुँचता है; परन्तु इससे घबड़ाने अथवा हताश होने की कोई बात नहीं है, क्योंकि किसी भी देहधारी की हस्ती इसी जन्म में समाप्त नहीं हो जाती। यह बात दूसरे अध्याय में कह आये हैं कि मरना-जन्मना तो कपड़े बदलने की तरह है। जीवात्मा का वासनामय सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है तो पूर्व-जन्मों में किये हुए शारीरिक एवं मानसिक व्यवहारों और विचारों के संस्कारों को साथ रखता है। यह सिद्धान्त निश्चित है कि यह सब जगत् मन के संकल्पों की रचना है, अतः मनुष्य अपने मन में जो-जो संकल्प करता है उनके संस्कार जमा होते रहते हैं और उनके अनुसार ही वह अपना भविष्य बना लेता है। यदि अच्छे संस्कार होते हैं तो एक देह छोड़ने के बाद फिर वह मनुष्य आदि की उन्नत देह धारण करता है, और यदि बुरे संस्कार होते हैं तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता अथवा प्रेत आदि की हीन देह धारण करता है। जो समत्व-योग के अभ्यास में लग जाता है, उसे हीन योनि कभी प्राप्त नहीं होती,

क्योंकि समत्व-योग का अभ्यास व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद बुद्धि से किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्यों की तरह नहीं है कि जिनसे अन्तःकरण में भेद-भावरूपी मलिनता बढ़ती रहती है और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों से द्वेष करने अथवा दूसरों को कष्ट देने के बुरे संस्कार उत्पन्न होते हैं, और जिनसे थोड़े समय के लिए नाशवान् अतः मिथ्या सुख प्रतीत होकर फिर उसका दुष्परिणाम होता है और तब हीन योनियों में जाना पड़ता है, जहाँ उन्नति करने की कोई योग्यता ही नहीं होती। समत्व-योग के अभ्यास में सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को लगाना होता है, जिससे व्यक्तित्व का भाव कम होकर अन्तःकरण का द्वैत-भाव रूपी मैल साफ होता है; तथा इसमें किसी का अहित करने या किसी को क्लेश देने का भाव नहीं होता, इसलिए इसके अभ्यास करने वाले के मन में बुरे संस्कारों का संचय नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों में शरीर को बहुत क्लेश तथा परिश्रम उठाना पड़ता है; वे कृत्य यदि सांगोपांग पूरे न हो जायँ तो उनका कोई फल नहीं होता; यदि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो उल्टा अनिष्ट होता है; और यदि वे विधिपूर्वक पार पड़ भी जायँ तो उनका अदृष्ट फल कालान्तर में होता है। परन्तु समत्व-योग के अभ्यास में न तो शरीर को क्लेश अथवा परिश्रम होता है, न इसमें त्रुटि रहने से कोई अनिष्ट ही होता है। इसका थोड़ा भी आचरण कभी निष्फल नहीं जाता, न इसके फल के लिए कालान्तर अथवा लोकान्तर अथवा देशान्तर अथवा पूर्णता ही की अपेक्षा रहती है; किन्तु जितना ही समत्व-योग का आचरण होता है उतना ही आत्मबल एवं उतनी ही सुख-शान्ति, इसी जन्म में ही नहीं किन्तु इसका आचरण करते हुए ही प्राप्त होती जाती है, और ज्यों-ज्यों इसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, उसी के अनुसार आत्मबल और सुख-शान्ति बढ़ती जाती है। उन्नति करते-करते जब पूर्ण-रूप से सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति हो जाती है, तब पूर्ण-ब्रह्म परमात्म-भाव की प्राप्ति हो जाती है। इस जन्म में इसके थोड़े से अभ्यास के बाद ही यदि किसी अभ्यासी का शरीर छूट जाय और विषय-सुख भोगने की वासना बनी रहे तो मरने के बाद उक्त अभ्यास के बल से वह उन वासनाओं के अनुरूप सुख भोगने के लिए दिव्य (सूक्ष्म) भोग भोगने के उपयुक्त–दिव्य (सूक्ष्म) लोकों में रह कर भोग भोगता है, अर्थात् मन में जैसी वासना अथवा संस्कार होते हैं उसी के अनुसार वह अपने लिए सुख के साधन रच कर सुख भोगता है; परन्तु उक्त सुख भोगते हुए भी पूर्व-जन्म वाले समत्व-योग के संस्कार जमा पड़े रहते हैं, अतः जब बहुत समय तक भोग भोग लेता है, तब उक्त संस्कारों के प्रसाद से फिर मनुष्य लोक में श्रेष्ठाचारी धनी पुरुषों के घर में जन्म लेता है, जहाँ भौतिक सुखों की सामग्री और आध्यात्मिक

उन्नति अर्थात् समत्व-योग की उन्नति के साधन, दोनों मौजूद रहते हैं। और यदि इस जन्म में सुख-भोगों की वासना नहीं रहती है तो मरने के बाद दूसरा जन्म आत्मज्ञानी समत्वयोगियों के घर में होता है, जहाँ समत्व-योग के अभ्यास में उन्नति करने के सब साधन उपस्थित रहते हैं। समत्व-योग के अभ्यास के बिना मरने के बाद प्रथम तो मनुष्य देह मिलना ही कठिन है, और मनुष्य देह में भी उपरोक्त अच्छे आचरणों वाले श्रीमानों अथवा ज्ञानवान् समत्वयोगियों का संयोग होना तो अत्यन्त ही दुर्लभ होता है।

समत्व-योग के अभ्यासी का दूसरा जन्म चाहे उपरोक्त श्रेष्ठाचारी धनियों के घर में हो अथवा ज्ञानी समत्वयोगियों के कुल में, वहाँ भी अपने पूर्वजन्म के अभ्यास के संस्कारों की प्रबलता के कारण, वह समत्व-योग के अभ्यास ही में प्रयत्न-शील रहता हुआ उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है। इस तरह क्रम से उन्नति करता हुआ वह समय पाकर पूर्ण पद को पहुँच जाता है। सारांश यह कि समत्व-योग के अभ्यास में एक बार लग जाने पर मनुष्य का, इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी कभी पतन अथवा अवनति नहीं होती, किन्तु उत्तरोत्तर उन्नति ही होती है। इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से सांसारिक व्यवहार करने के समत्व-योग के साथ व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्य अथवा कर्मकाण्ड की कोई तुलना नहीं है। समत्व-योग का सच्चा जिज्ञासु अर्थात् जिसके चित्त में इस विषय का बोध प्राप्त करने की सच्ची लगन लग जाती है, अथवा जो इस विषय के अध्ययन और अनुसंधान में लग जाता है, उसका हृदय भी इतना उदार हो जाता है कि वेदादि-शास्त्रों में विधान किये हुए लौकिक फल देने वाले कर्मकाण्डों की उसे कोई इच्छा नहीं रहती और न उसे उनकी आवश्यकता ही रहती है। भेद-भाव को बढ़ाने और दृढ़ करने वाले उन कर्मकाण्डात्मक शास्त्रों में वर्णित रोचक वचन (पुष्पिता वाणी, गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४) उसके मन को नहीं लुभाते, क्योंकि वह उन प्रलोभनों से ऊपर उठ जाता है; और जो इस समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के विविध आचरण करने के अभ्यास में लग जाता है, वह तो तपस्वियों, कर्मकाण्डियों और ज्ञानियों आदि सबसे श्रेष्ठ हो जाता है, अर्थात् जो राजसी और तामसी प्रकृति के लोग व्रत, उपवास आदि से शरीर को कृश करने वाले तथा सरदी-गरमी आदि से शारीरिक कष्ट सहने के अनेक प्रकार के तप करते हैं, और जो लोग यज्ञ, हवन, पूजा, पाठ आदि कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं, एवं जो लोग अध्यात्म-ज्ञानविषयक कोरे शास्त्रार्थ और वाद-विवाद में लगे रहते हैं, उन तपस्वियों, कर्मकाण्डियों और शुष्क

ज्ञानियों से समत्व-योग के आचरण का अभ्यास करने वाला योगी श्रेष्ठ होता है। समत्व-योग का अभ्यास करने वालों में भी जो सबके आत्मा = परमात्मा में मन लगा कर श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है, वह सबसे उत्तम है। इसका यह कारण है कि परमात्मा की सर्वव्यापकता के विश्वास पूर्वक उसकी उपासना करने से मन शीघ्र एकाग्र हो सकता है, क्योंकि मन जहाँ जावे, वहाँ ही परमात्मा का दर्शन करने से उसका भटकना बन्द होने में बहुत सुगमता होती है, और इस तरह अभ्यास के साथ-साथ परमात्मा की उपासना करते रहने के दुहरे साधन से समत्व-योग की सिद्धि बहुत जल्दी और सुगमता से होती है। इसलिए इस भक्ति और योग का दुहरा अभ्यास करने वाला सबसे उत्तम अभ्यासी होता है।

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

सातवाँ अध्याय

छठे अध्याय में भगवान् ने समत्व-योग में मन को ठहराने के लिए राजयोग के अभ्यास का साधन कहा; जिस पर अर्जुन ने शंका की कि मन अत्यन्त चंचल है, इस कारण उसका उक्त अभ्यास में टिकना अशक्य प्रतीत होता है। उस शंका का समाधान करते हुए भगवान् ने उक्त अध्याय के अन्त में अपनी यानी सबके आत्मा= परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना सहित योगाभ्यास करने वाले साधक को सबसे उत्तम साधक बता कर, भक्ति अथवा उपासना सहित योगाभ्यास करने से मन के सुगमता से एकाग्र हो सकने का संकेत किया था। अब उक्त भक्ति अथवा उपासना का विस्तृत रूप से प्रतिपादन आगे किया जायगा।

उपासना करने के लिए पहले यह निश्चय होना चाहिए कि जिसकी उपासना की जाय, उसका क्या स्वरूप है; यानी परमात्मा के किस रूप अथवा किस भाव की उपासना करनी चाहिए। इसलिए भगवान् ने पहले अपनी सर्वरूपता के विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण करके फिर उस सर्वरूप अथवा विश्वरूप की उपासना करने का विधान किया है।

उपासना के विधान में उपास्य और उपासक की पृथक्ता की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है, क्योंकि भक्ति अथवा उपासना अपने से भिन्न किसी महान् शक्ति की कल्पना किये बिना बन नहीं सकती। मन को लगाने के लिए अपने से भिन्न कोई न कोई दूसरा अवलम्बन अवश्य चाहिए, क्योंकि अपने-आपमें मन की स्थिरता होनी अत्यन्त कठिन होती है। यही कारण है कि भगवान् ने अपने और अर्जुन के बीच उपास्य-उपासक का भेद कल्पित करके उपासना का विधान किया है। इससे यद्यपि यह भान होता कि यहाँ जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु यह भिन्नता केवल चंचल मन को ठहराने के लिए—उसे आसरा अथवा अवलम्बन देने के उद्देश्य से—कल्पित की गई है। वास्तव में इस भेद-कल्पना का अभिप्राय द्वैत-सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का नहीं है, क्योंकि उपास्य और उपासक दोनों, वस्तुतः सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही हैं—सबके अपने-आप=आत्मा से भिन्न न उपास्य है न उपासक। अपने-आपको

व्यष्टि मानने से अल्पज्ञ एवं अल्प-शक्तिमान् जीव-भाव होता है; और समष्टि मानने से सर्वज्ञ एवं सर्व-शक्तिमान् ईश्वर अथवा परमात्म-भाव होता है। पृथक्ता के व्यष्टि-भाव की आसक्ति छुड़ा कर समष्टि अथवा एकत्व-भाव में स्थिति कराने के लिए ही उपास्य-उपासक के भेद की कल्पना की गई है। परन्तु उपासना के इस विधान में भगवान् ने सर्वत्र अपने सर्वात्म-भाव, अर्थात् देश-परिच्छेद, काल-परिच्छेद और वस्तु-परिच्छेद से रहित—सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में एक समान व्यापक—अपने अनादि और अनन्त सर्वरूप की अनन्य-भाव से उपासना करने को बार-बार कहा है; किसी लोक-विशेष, देश-विशेष अथवा स्थान-विशेष में बैठे हुए, अथवा किसी काल-विशेष में उत्पन्न अथवा प्रकट होने वाले किसी व्यक्ति-विशेष के रूप की भेद-भाव से उपासना करने को नहीं कहा है। इससे स्पष्ट है कि उपास्य-उपासक की भिन्नता की कल्पना भेद मिटाने के लिए की गई है, न कि भेद दृढ़ करने के लिए। वास्तव में गीता में सबकी एकता का अद्वैत-सिद्धान्त ही माना गया है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ ! मुझमें मन लगा कर, मेरे आश्रय से, अर्थात् मेरी उपासना के अवलम्बनपूर्वक, (पूर्वकथित) योगाभ्यास करने से तू निस्संदेह, समग्र अर्थात् सबमें परिपूर्ण, मुझको जैसा जानेगा सो सुन । तात्पर्य यह कि मन किसी न किसी विषय में अवश्य ही लगा रहता है, यह

उसका स्वभाव है। उसे कोई न कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। यदि उसे एक, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, सबके आत्मा = परमात्मा के चिन्तन में लगाने का प्रयत्न न किया जाय तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले जगत् के परिवर्तनशील, अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाले नानात्व के भावों में आसक्त रहने के कारण एकाग्र नहीं हो सकता; इसलिए उसको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सबके आत्मा = परमात्मा की उपासना में लगाना चाहिए, अर्थात् यह चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिए कि जगत् सब परमात्मा का स्वरूप है और वह परमात्मा सारे जगत् में एक समान व्यापक है। इस तरह परमात्मा की उपासना के अवलम्बन से मन समत्व-योग के अभ्यास में सहज ही स्थित हो जायगा और उस अभ्यास से यह निश्चित एवं दृढ़ ज्ञान हो जायगा कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं, वास्तव में जो कुछ है वह सब परमात्मा ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है (१)। यह विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर होने वाले स्थूल और सूक्ष्म जगत् के निरन्तर बदलने वाले भिन्नता के भावों में एक, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील आत्मतत्त्व एक समान भरा हुआ है—यह तत्त्वज्ञान, मैं तुझे बताता हूँ जिसे जान लेने पर फिर यहाँ (संसार) में कुछ भी जानने के लिए बाकी नहीं रहता। तात्पर्य यह कि यह विश्व सबके आत्मा = परमात्मा ही के सगुण और निर्गुण, अथवा साकार और निराकार, अथवा जड़ और चेतन, अथवा प्रकृति और पुरुष-रूप द्वन्द्वों अथवा जोड़ों का बनाव है, जिसने इस रहस्य को अच्छी तरह जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया; फिर उसके लिए जगत् में वस्तुतः जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता, क्योंकि जगत् में जो भी कुछ है वह सब परमात्मा के इन युगल भावों का ही विस्तार है (२)। हजारों मनुष्यों में कोई विरला ही सिद्धि के लिए, अर्थात् सर्वात्मा = परमात्मा को यथार्थतया जानने-रूपी उक्त विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करता है; और उन यत्न करने वाले सिद्धों अर्थात् साधकों में कोई विरला ही मुझ परमात्मा को तत्त्वतः यानी यथार्थरूप से जानता है। तात्पर्य यह कि संसार में अधिकांश मनुष्य तो खाने, पीने, सोने, संतान उत्पन्न करने आदि विषयों तथा उन विषयों के साधनों की प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करने ही में लगे रहते हैं, इनके सिवाय और कुछ भी विचार करने का उनके मन में संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। यदि उनमें से कोई कुछ विचार करते हैं तो वे भी अधिकतर आधिभौतिक* और आधिदैविक* विचारों तक ही रह जाते हैं, आध्यात्मिक* विचारों की

---

* आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विचारों का खुलासा "व्यावहारिक वेदान्त" प्रकरण में देखिए।

तरफ़ कोई विरले ही लगते हैं। जो लोग आध्यात्मिक विचार करने में लगते हैं, उनमें भी अधिकांश लोग आत्मा को जगत् से भिन्न मानते हैं और जगत् का तिरस्कार करके आत्मज्ञान की खोज में लगे रहते हैं। "एक में अनेक और अनेकों में एक" के विज्ञान सहित ज्ञान, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों भावों की एकता के तत्त्वज्ञान की पूर्णता को कोई विरला ही पहुँचता है (३)। पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु (हवा), आकाश (अवकाश अथवा पोल), मन, बुद्धि और अहङ्कार—इस प्रकार यह आठ भेदों वाली मेरी प्रकृति अलग है। यह (मेरी) अपरा प्रकृति है; और इससे दूसरी जीव-भाववाली मेरी परा प्रकृति जान, जिससे हे महाबाहो! यह जगत् धारण किया जाता है। ऐसा समझ कि इन (दोनों) प्रकृतियों से ही सब भूत-प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अतः अखिल विश्व का प्रभव और प्रलय, अर्थात् आदि और अन्त मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि एक तरफ़ सबके आत्मा = परमात्मा की अपरा अथवा जड़ प्रकृति, सूक्ष्म और स्थूल पंच तत्त्व और उनके विस्तार—इन्द्रियाँ और उनके विषय आदि—एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार-रूप से व्यक्त होती है, जिनसे पिण्ड (व्यष्टि शरीर) और ब्रह्माण्ड (समष्टि जगत्) के प्रतिक्षण परिवर्तनशील बनाव बनते हैं; और दूसरी तरफ़ सबके आत्मा = परमात्मा की परा अथवा चेतन प्रकृति पूर्वोक्त अपरा प्रकृति के सब सूक्ष्म और स्थूल भावों के अनन्त प्रकार के प्रतीत होने वाले बनावों के अन्दर उनके जीवनरूप से स्थित होकर सबको एकता के सूत्र में पिरोये हुए धारण करती है। इस तरह सबका आत्मा = परमात्मा ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का वास्तविक आधार है। दूसरे शब्दों में यह विश्व सबके आत्मा = परमात्मा ही की कल्पना का खेल है (४-६)। हे धनञ्जय! मुझसे परे अर्थात् मुझसे वस्तुतः भिन्न कुछ भी नहीं है; सूत में पिरोये हुए मणियों की तरह यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। तात्पर्य यह कि जिस तरह सूत के मणियों की माला गूंथी जाय तो माला का रूप और नाम बनने के पहले सब सूत होता है, और माला के बन जाने के बाद भी सूत के सिवाय और कुछ नहीं होता, और माला को फिर से उधेड़ी जाय तो भी सूत ही रहता है। मणिये अथवा माला किसी भी अवस्था में सूत के सिवाय और कुछ भी नहीं होते। यदि मणिये लकड़ी, पत्थर अथवा धातु के होते हैं, तो भी वे पृथ्वीतत्त्व के ही होते हैं और सूत भी पृथ्वी तत्त्व ही होता है। इसलिए तत्त्वतः वे सब एक ही वस्तु के अनेक रूप होते हैं। इसी तरह, भगवान् कहते हैं कि जगत् का जो भी कुछ बनाव है, वह वस्तुतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है; जो कुछ भी है, वह सब मेरे ही अनेक रूप हैं (७)। हे कौन्तेय! जल में रस मैं हूँ; सूर्य और चन्द्रमा में ज्योति (मैं) हूँ; सब वेदों में ओंकार मैं हूँ; आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ।

पृथ्वी में विकार रहित गंध और अग्नि में तेज मैं हूँ; सब भूत-प्राणियों में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूँ। हे पार्थ ? सब भूतों का सनातन बीज (सदा बना रहने वाला कारण) मुझे जान; बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ। काम और राग के विकारों से रहित बलवानों का बल मैं हूँ; और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणीमात्र में धर्मानुकूल काम अर्थात् स्वाभाविक इच्छा मैं हूँ। तात्पर्य यह कि परमात्मा संसार के यावन्मात्र पदार्थों के अन्दर उनके आधार-भूत—सूक्ष्म कारण-रूप से अथवा उनके सार यानी सत्त्व-रूप से अथवा उनके आपस के साधर्म्य-रूप से ओत-प्रोत भरा हुआ है। उदाहरणार्थ:—अनेक भेदों वाले जल का सूक्ष्म कारण एवं उसका सत्त्व—रस है; मधुरता अर्थात् स्वाद, द्रवता अर्थात् पिघलाहट और शीतलता अर्थात् तरी जो जल के धर्म हैं, वे रस ही से हैं; दूसरे शब्दों में रस ही जल का अस्तित्व है; अतः जल में परमात्मा रस रूप से ओत-प्रोत भरा हुआ अथवा पिरोया हुआ है। इसी तरह सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों में प्रकाश-रूप से, वेदों में ओंकार-रूप से, आकाश में शब्द-रूप से, पुरुषों में पौरुष-रूप से, पृथ्वी में गन्ध-रूप से, अग्नि में तेज-रूप से, भूत-प्राणियों में जीवन-रूप से, तपस्वियों में तप-रूप से, सारी सृष्टि में उसके अनादि एवं अनन्त बीज-रूप से, बुद्धिमानों में बुद्धि-रूप से, तेजस्वियों में तेज-रूप से, बलवानों में बल-रूप से—इस तरह नाना प्रकार के पदार्थों में उन सबके आधार एवं सूक्ष्म कारण रूप से, सबके सार-रूप से, तथा सबके परस्पर के साधर्म्य-रूप से परमात्मा सबमें ओत-प्रोत भरा हुआ तथा सबको एकता के सूत्र में पिरोये हुए है। कार्य से कारण और धर्मी से धर्म वस्तुतः पृथक् नहीं होते, तथा आधार के बिना आधेय की स्थिति नहीं होती, एवं प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसके सार अथवा सत्त्व पर निर्भर रहता है। अस्तु, आत्मा अथवा परमात्मा सबका आधार, सबका कारण, सबका सार अथवा सत्त्व है, इसलिए जगत् सब परमात्मामय है; दूसरे शब्दों में जो कुछ है सब परमात्मा ही है। जगत् की रचना और विस्तार समष्टि इच्छा अथवा काम पर निर्भर है अर्थात् सब भूत-प्राणियों की स्वाभाविक इच्छा ही से जगत् प्रवर्तित हो रहा है, अतः भगवान् ने अन्त में यह कह कर अपनी सर्वरूपता को अधिक स्पष्ट कर दिया है कि भूत-प्राणियों में जो उनके स्वाभाविक धर्मानुसार काम अथवा इच्छा होती है, वह भी मैं ही हूँ। यहाँ "धर्मानुकूल काम" कहने का प्रयोजन यह है कि सृष्टि-विस्तार की इच्छा या काम सब प्राणियों में स्वाभाविक होता है, और यह काम लोक-संग्रह का हेतु है। इस सात्विक काम से सबके एकत्व-भाव में कोई बाधा नहीं आती यानी किसी की कोई हानि नहीं होती, किन्तु जगत् की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है, इसलिए यह धर्मानुकूल है; परन्तु दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की

जो कामनाएँ की जाती हैं, चाहे वे शारीरिक- विषय-भोग आदि की हों या पारमार्थिक कल्याण की, उनमें पृथक्ता का भाव भरा हुआ होता है और उनसे दूसरों की हानि होती है. इसलिए यह राजस काम स्वाभाविक धर्म के विरुद्ध है (८-११)। और जो सात्विक और जो राजस तथा तामस भाव हैं, वे मुझ से ही हैं ऐसा जान; और यद्यपि वे मुझ में हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् में जिन सत्व, रज और तम गुणों के तारतम्य से उत्पन्न अनन्त प्रकार की भिन्नताओं की प्रतीति होती है, वे तीनों गुण सबके आत्मा = परमात्मा ही की कल्पना हैं अर्थात् परमात्मा ही के संकल्प के खेल हैं। इसलिए परमात्मा ही उनका आधार और अवलम्ब है; परन्तु उनका आधार और अवलम्ब होता हुआ भी परमात्मा उनमें रुका हुआ एवं उन पर अवलम्बित नहीं है; क्योंकि यद्यपि कल्पना, कल्पना करने वाले पर अवलम्बित रहती है, परन्तु कल्पना करने वाला, अपनी कल्पना पर अवलम्बित नहीं रहता। इसलिए परमात्मा इन तीन गुणों के आधीन और इन पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु इनसे परे है और इनकी कमी-बेशी से उत्पन्न विकारों का उस पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। अपनी कल्पना से इनको सत्ता एवं स्फूर्ति-युक्त करता हुआ भी वह इनसे अलिप्त निर्विकार एवं सदा एक-सा रहता है (१२)। इन तीन गुणों के (तारतम्य अर्थात् कमी-बेशी के) भावों से यह सब जगत् मोहित हो रहा है, इसलिए इनसे परे मुझ निर्विकार को नहीं जानता; यह मेरी दैवी अर्थात् अलौकिक त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष मुझे ही भजते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं। तात्पर्य यह कि साधारण लोग सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प-रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा योग-माया के नाना नामों और नाना रूपों के बनाव में ही उलझे हुए रहते हैं, इसलिए इस बनाव के मूल आधार, इसके रचयिता सबके आत्मा = परमात्मा को नहीं जान सकते। जो माया के स्वामी महेश्वर यानी सबके आत्मा = परमात्मा की उपासना करते हैं, उनकी इस त्रिगुणात्मक माया और इसके फैलाव में आसक्ति नहीं रहती, अतः वे इससे ऊपर उठ जाते हैं; क्योंकि जो जिसकी दृढ़ता पूर्वक उपासना करता है, वह उसीको पाता है, अतः जो लोग माया और उसके कार्य की उपासना करते हैं, वे माया तक ही रहते हैं; और जो माया के परे, उसके स्वामी मायावी परमात्मा की उपासना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। जो किसी बाज़ीगर के अद्भुत खेल ही में मोहित रहते हैं, वे बाज़ीगर को नहीं जान सकते, परन्तु जो उस खेल को किसी बाजीगर अथवा खिलाड़ी की करामात होने का अनुमान करके उस खिलाड़ी को जानने का प्रयत्न करते हैं, वे उस खेल में आसक्ति न रख कर खिलाड़ी के पास पहुँच जाते हैं; फिर वह खेल उनको मोहित नही कर सकता (१३-१४)। जिनकी विचार-शक्ति माया से नष्ट हो गई है, ऐसे

विवेक-शून्य एवं बुरे कर्मों में प्रवृत्त रहने वाले अधम पुरुष आसुरी भावों में आसक्त होकर मेरी शरण में नहीं आते। तात्पर्य यह कि जिनकी बुद्धि जगत् की मायिक भिन्नताओं में ही उलझी रहती है, उनको सत्, असत्, धर्म, अधर्म, अथवा अच्छे, बुरे का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता और उनकी प्रकृति आसुरी हो जाती है, अतः वे लोग स्वधर्मानुसार अपने कर्तव्य-कर्म करना छोड़ कर विरुद्धाचरण द्वारा लोगों का अनिष्ट करने तथा दूसरों को कष्ट देने में प्रवृत्त रहते हैं; उन पाप-कर्म करने वाले नीच पुरुषों का मन सबके आत्मा = परमात्मा की सच्ची उपासना में कभी नहीं लगता (१५)। हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! सुकृत अर्थात् पुण्य कर्म करने वाले चार प्रकार के मनुष्य मुझ को भजते हैं :—(१) आर्त अर्थात् दुःख से पीड़ित अथवा विपद्ग्रस्त, (२) जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा वाला, (३) अर्थार्थी अर्थात् (परमार्थ के निमित्त) द्रव्योपार्जन की कामना वाला, और (४) ज्ञानी अर्थात् मुझ परमात्मा को सबका आत्मा जानने वाला (१६)। इनमें से ज्ञानी सदा अनन्य-भाव से मेरी निष्काम-भक्ति में लगा रहता है, अर्थात् अपने सहित सब में मुझ परमात्मा को समान भाव से व्यापक जानते हुए, व्यक्तित्व के भाव से रहित होकर तथा किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की कामना बिना, सबके साथ प्रेम के भाव में जुड़ने रूप मेरी उपासना करता है; इसलिए उसकी विशेषता है अर्थात् वह सबसे उत्तम भक्त है। निश्चय ही ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्यारा हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्यारा है, अर्थात् ज्ञानी सर्वत्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करता हुआ सबके साथ एकत्व-भाव का प्रेम करता है, किसी के साथ राग-द्वेष नहीं रखता, और इसीलिए वह भी सबका प्यारा होता है (१७)। (यद्यपि) ये सब ही (भक्त) उदार हैं, परन्तु ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ, क्योंकि वह अपने अन्तःकरण को मुझ परमात्मा ही में लगाकर सबकी एकता के सर्वोत्तम भाव में स्थित रहता है (१८)। श्लोक १६ से १८ तक का तात्पर्य यह है कि स्वधर्मानुसार अपने कर्तव्य-कर्मों का आचरण करने वाले तथा परोपकारी अर्थात् लोक-हितकर कार्यों में लगे रहने वाले पुण्यात्मा पुरुष बुरे कर्म करने वाले मनुष्यों की तरह माया के बनाव में ही डूबे नहीं रहते, किन्तु अपने पुण्य-कर्मों के प्रभाव से माया के स्वामी महेश्वर अर्थात् परमात्मा की भक्ति में प्रवृत्त रहते हैं। उन परमात्मा के पुण्यवान् भक्तों की चार श्रेणियाँ हैं :—एक वे हैं जो कष्ट अथवा विपत्ति में परमात्मा को याद करते हैं, अथवा जगत् को दुःख रूप समझ कर उससे निस्तार पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं; दूसरे वे हैं जो ज्ञान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिए परमात्मा की उपासना करते हैं; तीसरे वे हैं जो परोपकार अथवा लोक-सेवा के निमित्त द्रव्य-प्राप्ति के लिए परमात्मा का भजन करते हैं; और चौथे वे हैं जिनको यह ज्ञान

होता है कि जो कुछ है सो सब परमात्मा ही है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है— इस निश्चय से सबके साथ निःस्वार्थ भाव से प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति करते हैं। यद्यपि पूर्वकथित कुकर्मों में लगे रहने वाले आसुरी प्रकृति के देहाभिमानी एवं स्वार्थी लोगों की अपेक्षा ये चारों प्रकार के भक्त उदार अथवा उत्तम हैं, क्योंकि ये अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरों की हानि नहीं करते, किन्तु दूसरों का उपकार करते हैं; और इनकी सबके आत्मा = परमात्मा में श्रद्धा होने के कारण ये उसकी उपासना करते हैं जिससे इनका देहाभिमान कम होता है और देह से संबंध रखने वाले पदार्थों में ममत्व का त्याग भी यथायोग्य अवश्य ही होता है; परन्तु इन चारों में ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका अन्तःकरण निरन्तर सबके एकत्व-भाव परमात्मा में ही लगा रहता है और उसको सर्वत्र परमात्मा ही दृष्टिगोचर होता है अर्थात् वह सबको परमात्मा ही का स्वरूप अनुभव करता है, अतः उसका द्वैत-भाव निवृत्त हो जाता है; फलतः उसको सब अपने आत्मीय जनों की तरह अत्यन्त प्यारे लगते हैं, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वह भी सबको प्यारा लगता है और उसकी स्थिति परमात्मा में हो जाती है (१६–१८)। बहुत जन्मों के अनन्तर ज्ञानवान् पुरुष, इस अनुभव के दृढ़ हो जाने पर कि "सब कुछ वासुदेव ही है", मुझमें मिल जाता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् ऐसे महान् आत्मा विरले ही होते हैं। तात्पर्य यह कि अनेक जन्मों में अभ्यास करते-करते ज्ञानवान् भक्त को जब पूरी तरह यह अनुभव हो जाता है कि "जो कुछ है सब परमात्मा ही है" तो उसे परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं भासता और तब वह स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। परन्तु इस तरह सबकी एकता के परमात्म-भाव में स्थित होने वाला ज्ञानी भक्त कोई विरला ही होता है (१९)। (नाना प्रकार की) कामनाओं से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग, (उपासना के) जिस-जिस नियम में उनकी प्रकृति उन्हें प्रेरित करती है, उस-उस का अनुसरण करके, (मुझ से) भिन्न देवताओं की उपासना करते हैं। जो-जो (देव-भक्त) जिस-जिस रूप की श्रद्धा-पूर्वक आराधना करना चाहता है, उस-उस (देव-भक्त) की श्रद्धा "मैं" उस (देवता) ही में दृढ़ कर देता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त वह (देव-भक्त) उस (देवता) की आराधना करता है और उससे उसकी वे कामनाएँ मेरे ही निर्दिष्ट किये हुए विधानानुसार पूर्ण होती हैं। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा तो एक ही है, परन्तु जिन लोगों की बुद्धि धन, पुत्र, कुटुम्ब, मान, मर्यादा आदि इहलौकिक पदार्थों, विषय-भोगों और स्वर्गादि पारलौकिक सुखों की अनेक प्रकार की कामनाओं से विक्षिप्त रहती है, वे उन कामनाओं की पूर्ति, परमात्मा से भिन्न, किन्हीं अदृष्ट शक्तियों यानी देवताओं से होने के भ्रम में पड़े हुए परमात्मा से भिन्न उन देवताओं की कल्पना करके अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि

के अनुसार, उनके पूजन-अर्चन के नियम-उपनियम बना कर उनकी उपासना करते हैं; अर्थात् जिनकी जैसी प्रकृति होती है, उसी के अनुसार वे अपने अनुकूल गुणों की प्रधानता वाले देवता कल्पित कर लेते हैं, और जिस-तरह के आचरण अपने को अच्छे लगते हैं, तथा जो-जो खान-पान, रहन-सहन आदि नाना प्रकार के विषय अपने को प्यारे लगते हैं, वही आचरण और विषय उन देवताओं को अच्छे और प्यारे लगने का विश्वास करके उन आचरणों तथा विषयों की सामग्रियों द्वारा उन कल्पित देवताओं का अर्चन-पूजन करते हैं। जो जिस देवता की श्रद्धायुक्त उपासना करने लगता है, उसी में उसकी श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, क्योंकि श्रद्धा मन से होती है और मन जिस विषय में लग जाता है, उसमें उसकी दृढ़ आसक्ति हो जाती है। उस अटल श्रद्धा के प्रसाद से ही उसकी कामनाओं की सिद्धि होती है। अपना-आप = आत्मा ही व्यक्तित्व के भाव से अनेक प्रकार की कामनाएँ करता है, आप ही मन रूप से देवताओं की कल्पना करके उनमें दृढ़ श्रद्धा करता है और आप ही अपनी श्रद्धा के प्रतिफल-स्वरूप उनका फल उत्पन्न कर लेता है। सारांश यह कि यद्यपि सब-कुछ करने-कराने वाला अपना-आप—आत्मा ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई कुछ भी करने-कराने वाला नहीं है, परन्तु व्यक्तित्व के भाव में आसक्त अज्ञानी लोग सबके आत्मा = परमात्मा से भिन्न देवताओं को कामनाओं की पूर्ति करने वाला मानते हैं (२०-२२)। परन्तु उन अल्प-बुद्धि लोगों का वह (कामनाओं की पूर्ति-रूप) फल नाशवान् होता है; देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरी भक्ति करने वाले मुझ में आ मिलते हैं। तात्पर्य यह कि यद्यपि उपरोक्त देवताओं की उपासना के निमित्त को लेकर जो फल होता है, वह अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा के प्रसाद से ही होता है परन्तु उन मूर्ख लोगों की देवोपासना नाशवान् सांसारिक पदार्थों की कामनाओं को लेकर होती है, अतः उनका फल नाशवान् एवं दुःख-परिणाम वाले सांसारिक भोगों की प्राप्ति-रूप ही होता है। इसके अतिरिक्त उन देवोपासकों की गति उन देवताओं तक ही होती है, अर्थात् वे उन कल्पित रूपों में ही भ्रमते रहते हैं; क्योंकि जिसका जिस विषय में मन लग जाता है वह उसी के अनुरूप हो जाता है। सबका आत्मा = परमात्मा, जो सब कल्पनाओं तथा सब रचनाओं का आधार और उनका स्वामी है, 'उसकी अनन्य-भाव से उपासना करने वाले परमात्मा में जा मिलते हैं, जिसमें सबका समावेश है (२३)। मूर्ख लोग मेरे अव्यय यानी सदा एक-सा रहने वाले उत्तमोत्तम परम-भाव को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्ति-भावापन्न हुआ मानते हैं। तात्पर्य यह कि मैं (सबका आत्मा = परमात्मा) अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, सब में एक समान तथा सदा एक-सा रहने वाला, देश,

काल एवं वस्तु-परिच्छेद से रहित, निर्विकार हूँ, और सब दृश्य-प्रपंच के अन्दर सद्-रूप से विद्यमान रहता हुआ भी मन, बुद्धि और इन्द्रियों के अगोचर हूँ; परन्तु बेसमझ लोग मुझ (परमात्मा) को उत्पत्ति-नाशवान् एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील एक शरीर-विशेष ही मानते हैं; अथवा किसी लोक-विशेष, देश-विशेष अथवा स्थान-विशेष में बैठा हुआ, किसी काल-विशेष में व्यक्त अथवा प्रकट होकर सीमाबद्ध रहने वाला एक विशेष व्यक्ति मानते हैं। वे मूर्ख लोग मेरे वास्तविक स्वरूप—सब देश, सब काल, सब वस्तुओं और सब भावों में तथा सब व्यक्तियों में एक समान रहने वाले, सच्चिदानन्द-परब्रह्म, परिपूर्ण-भाव को नहीं जानते (२४)। मैं अपनी योग-माया से ढका हुआ, अर्थात् अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा रचे हुए आधिभौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक जगत् के नाना भाँति के नाम-रूपात्मक बनावों से आच्छादित हुआ, सब लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता; (इसलिए) यह मूढ़ जनता, उत्पत्ति और विनाश से रहित मुझ (अनादि-अनन्त) को वस्तुतः नहीं जानती (२५)। हे अर्जुन ! जो पहले हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, उन सब भूत-प्राणियों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी (यथार्थरूप से) नहीं जानता (२६)। हे परंतप ! हे भारत ! संसार में सभी भूत-प्राणी इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न नाना प्रकार के द्वन्द्वों के मोह से मोहित हो रहे हैं (२७)। परन्तु जिन पुण्य-कर्म करने वाले पुरुषों के पापों का अन्त हो जाता है, वे द्वन्द्वों (परस्पर विरोधी भावों के जोड़ों) के मोह को छोड़ कर दृढ़ता पूर्वक मुझे भजते हैं (२८)। जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को तथा सारे अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को भी जान लेते हैं (२९)। और वे अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ सहित मुझको भी जान लेते हैं, तथा शरीर छूटते समय भी वे समाहित-चित्तवाले पुरुष मुझ परमात्मा को (सबके आत्मा-रूप से) जानते हैं (३०)। श्लोक २५ से ३० तक का तात्पर्य यह है कि साधारण लोग इन्द्रियों और मन में ही आसक्त रहते हैं, और इन्द्रियों तथा मन की योग्यता, उत्पत्ति और विनाशवान् तथा सुख-दुःख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों अथवा भिन्नता के भावों से परिपूर्ण जगत् के परिवर्तनशील दृश्य अथवा बनाव ही को विषय करने की होती है, अतः वे इस बनाव की अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करके इन्हीं में उलझे रहते हैं। आत्मा अथवा परमात्मा को विषय करने की योग्यता इन्द्रियों और मन में नहीं होती; क्योंकि आत्मा अथवा परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और इन्द्रियों, मन आदि सबका कारण, सबका आधार, सबका प्रेरक और सबकी सत्ता एवं चेतनता-स्वरूप है, अर्थात् इन्द्रियों, मन आदि में जो सत्ता और चेतनता है, वह सब आत्मा की है और इनको अपने-अपने विषयों का जो ज्ञान होता है,

वह ज्ञानस्वरूप आत्मा की चेतनता से होता है—ये तो केवल ज्ञान के साधन यानी हथियार हैं—वास्तव में ज्ञान-स्वरूप चेतन आत्मा अथवा परमात्मा ही है; अतः ये हथियार सबके ज्ञाता—सबके जानने वाले चेतन आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं जान सकते (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४ मं० १४)। हाथ से हथियार पकड़े जाते हैं परन्तु हथियार हाथ को नहीं पकड़ सकते। सबका अपना-आप = आत्मा अथवा परमात्मा तो अपना अनुभव रूप ही है। अन्य सब पदार्थों को जानने वाला तो सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सारे ज्ञान का संग्रह सबके अपने-आप—सबके आत्मा = परमात्मा में होता है; परन्तु अपने-आप-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा को जानने वाला अपने सिवाय दूसरा कोई नहीं होता; अपने-आप का यथार्थ ज्ञान अपने अनुभव सिवाय दूसरे किसी साधन से नहीं होता। अतः इन्द्रियों और मन के विषयों ही में लगे रहने वाले स्वार्थ-परायण लोग आत्मा अथवा परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते; परन्तु जो लोग लोक-हित के पुण्य-कर्मों में लगे रहते हैं, वे राग, द्वेष आदि द्वन्द्वों के मोह-रूपी पाप से मुक्त हो जाते हैं और वे ही सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य-भाव से भक्ति करने में तत्पर रहते हैं, अर्थात् वे अखिल विश्व के साथ प्रेम करते हैं; और वे जरा (बुढ़ापा) एवं मरण-धर्मवाले परिवर्तनशील शरीर की आसक्ति छोड़ कर सबके आत्मा = परमात्मा के ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं। उन्हीं को परमात्मा के नाना भावों का और उन भावों के आधार परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होता है और वह ज्ञान उनको शरीर छूटने तक भी बना रहता है (२९ से ३०)।

स्पष्टीकरण—मन की एकाग्रता के लिए ईश्वरोपासना के विधान के प्रकरण में भगवान् ने यहां पर अपनी सर्वरूपता या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों भावों युक्त पिण्ड (व्यष्टि) और ब्रह्माण्ड (समष्टि) रूप जगत् की वास्तविक एकता का विज्ञान सहित ज्ञान कहा है।

यह जगत् सबके आत्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म की इच्छा अथवा संकल्प का खेल यानी दृश्य है (छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ६ खण्ड २, बृहदा० उ० अ० १ ब्रा० ४)। प्रकृति, स्वभाव, माया, ब्रह्मा आदि अनेक नाम सबके आत्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म की उस समष्टि इच्छा अथवा संकल्प ही के हैं। जब समष्टि आत्मा = परमात्मा की इच्छा एक से अनेक रूप होकर जगत् का खेल करने की होती है, तब वह इच्छा अपरा और परा दो भावों वाली प्रकृति-रूप होकर जगदाकार होती है। पांच इन्द्रियों और उनके पांच विषयों को आदि लेकर अनन्त प्रकार के फैलाव सहित स्थूल और सूक्ष्म पंच-महाभूत एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि

सूक्ष्म शक्तियाँ, अपरा प्रकृति अर्थात् परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया का क्षर एवं जड़ माना जाने वाला भाव है। इस भाव को क्षेत्र भी कहते हैं (गी० अ० १३ श्लो० ५-६)। यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील, अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाला नामरूपात्मक भाव है। परमात्मा की इस अपरा प्रकृति में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले जगत् के सब स्थूल यानी आधिभौतिक पदार्थों और भावों का, तथा प्रत्येक पदार्थ एवं भाव के अन्दर रहने वाली उनकी सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियों का समावेश है। परमात्मा की दूसरी परा प्रकृति है, जो उसकी इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया का अक्षर एवं चेतन माना जाने वाला अध्यात्म-भाव है। यह परा प्रकृति अथवा चेतन माना जाने वाला अध्यात्म-भाव सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, तथा अपरिवर्तनशील है, अर्थात् अपरा प्रकृति के नाना भावों-रूप जगत् के बदलते रहने पर भी यह परा प्रकृति-रूप चेतन भाव ज्यों का त्यों रहता है। अपरा प्रकृति के नाना भावों में जो नित्यता, सत्यता, चेतनता और सुख-रूपता आदि प्रतीत होती हैं, वे सब परमात्मा की इस परा प्रकृति अर्थात् अध्यात्म-भाव की हैं। यह परा प्रकृति उपरोक्त सब स्थूल यानी आधिभौतिक और सूक्ष्म यानी आधिदैविक जगत् में कारण-रूप से ओत-प्रोत पिरोयी हुई है और यह सारे जगत् का जीवन और सारे जगत् का आधार है। इस परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं (गी० अ० १३ श्लो० १-२)।

जिस तरह समष्टि-आत्मा = परमात्मा अपनी इच्छा से एक से अनेक रूप होता है, वही स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष देखने में आता है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अकेला ही होता है, पर वह जब एक से अनेक होने की इच्छा करता है, तब नर मादा को और मादा नर को प्राप्त होकर दो होते हैं और फिर उनसे अनेक संतानों का फैलाव होता है। जो कोई इस तरह नर-मादा के संयोग का फैलाव नहीं करता, वह भी अनेकों के समूह अथवा समाज में रहना अवश्य चाहता है। एक से अनेक होने की यह इच्छा स्वाभाविक है। इस तरह आत्मा अथवा परमात्मा ही अपनी इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया से अपरा और परा प्रकृति, अथवा क्षर और अक्षर, अथवा जड़ और चेतन, अथवा प्रकृति और पुरुष रूप होकर जगत् का फैलाव करता है। दूसरे शब्दों में सबका आत्मा = परमात्मा आप ही स्थावर और जंगम अथवा चर और अचर सृष्टि के अनन्त प्रकार के रूपों का बनाव करता है और आप ही उन सबमें चेतन रूप से प्रविष्ट होकर सबको सत्ता एवं स्फूर्ति युक्त करता है। जिस तरह माला के मणिये सूत के आधार पर घूमते रहते हैं, अथवा जिस तरह कुए में से पानी निकालने के अरहट में अनेक कलश रस्से में पिरोये हुए घूमते हैं,

उनका आधार रस्सा होता है—रस्सा उनको एकता की श्रृङ्खला में बांधे रखता हुआ उन्हें घुमाता रहता है; उसीतरह जीव-भावापन्न चेतन आत्मा अथवा परमात्मा अपने नाना नामों और नाना रूपों वाले जड़ भावों अथवा पदार्थों में पिरोया हुआ उनके निरन्तर बदलते रहने वाले प्रवाह अथवा श्रृङ्खला को धारण करता हुआ चालू रखता है।

इस विषय का विशेष खुलासा करने के लिए भगवान् कई उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जल के अनेक नाम होते हैं, जैसे—समुद्र-जल, नदी-जल, कूप-जल, तड़ाग-जल आदि, तथा उसके अनेक रूप होते हैं, जैसे—तरल पानी-रूप, ठोस बर्फ-रूप, सूक्ष्म भाप-रूप आदि; परन्तु उन अनेक नामों और अनेक रूपों में जल का सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे रस कहते हैं, वह एक ही रहती है और वह सब दशाओं में विद्यमान रहती है; जल के नामों और रूपों में परिवर्तन होने पर भी रस ज्यों का त्यों रहता है—वास्तव में जल, रस के सिवाय और कुछ नहीं होता; अतः जल में उसके एकत्व-भाव रस रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशमान् पदार्थों का अस्तित्व प्रकाश पर निर्भर है; सूर्य, चन्द्र आदि अनेक नाम और रूप एक प्रकाश ही के हैं; अतः प्रकाशमान् पदार्थों में उनके एकत्व-भाव प्रकाश-रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। वेदों का अस्तित्व, जगत् के स्थूल, सूक्ष्म और कारण भावों की एकता के बोधक "प्रणव" यानी "ओंकार" पर निर्भर है; क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण भाव और उन सबकी एकता का व्याख्यान ही वेदादि-शास्त्रों का विषय है; इसलिए सब वेदों में, उनके एकत्व-भाव "ओंकार" रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। आकाश के भिन्न-भिन्न नामों और रूपों (घटाकाश, मठाकाश, हृदयाकाश, महाकाश आदि) में उसका सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे शब्द कहते हैं, सर्वत्र विद्यमान रहती है; अतः आकाश में उसके एकत्व-भाव शब्द रूप से "मैं" आत्मा अथवा-परमात्मा परिपूर्ण हूँ। पृथ्वी के भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में उसका सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे गन्ध कहते हैं, सर्वत्र विद्यमान रहती है; अतः पृथ्वी में उसके एकत्व-भाव गन्ध-रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। अग्नि के भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में उसका सूक्ष्म तत्त्व, जिसे तेज कहते हैं, सर्वत्र विद्यमान रहता है; अतः अग्नि में उसके एकत्व-भाव तेज रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। भिन्न-भिन्न नामों और रूपों के भूत-प्राणियों का अस्तित्व उनकी जीवन-शक्ति है, अतः सब भूत-प्राणियों में उनके एकत्व-भाव जीवन रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। तपस्वियों का अस्तित्व तप पर निर्भर है अर्थात् तप के

कारण ही वे तपस्वी कहलाते हैं; इसलिए तपस्वियों में उनके एकत्व-भाव तप रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। सारी सृष्टि का सनातन कारण "मैं" हूँ; इसलिए सब भूत-प्राणियों में उनके कारण रूप एकत्व-भाव से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। बुद्धिमानों का अस्तित्व बुद्धि पर निर्भर है, अर्थात् बुद्धि होने से ही वे बुद्धिमान् कहलाते हैं; इसलिए बुद्धिमानों में उनके एकत्व-भाव बुद्धि रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। तेजस्वियों का अस्तित्व तेज पर निर्भर है, अर्थात् तेज के होने से ही वे तेजस्वी कहलाते हैं; अतः तेजस्वियों में उनके एकत्व-भाव तेज रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। बलवानों का अस्तित्व बल पर निर्भर है, अर्थात् बल होने से ही वे बलवान् कहलाते हैं; अतः बलवानों में उनके एकत्व-भाव बल रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। और सब भूत-प्राणियों में सृष्टि के विस्तार की जो स्वाभाविक इच्छा अथवा काम होता है, उन सबकी स्वाभाविक इच्छा अथवा काम रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा सबमें परिपूर्ण हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् के सभी पदार्थों का अस्तित्व सबके एकत्व-भाव पर निर्भर है, और वह एकत्व-भाव सबके अन्दर रहनेवाला "मैं" सबका आत्मा = परमात्मा ही हूँ। नाना नामों और नाना रूपों में विभक्त चराचर जगत् मेरे एकत्व-भाव के आधार पर ही स्थित हो रहा है।

जिन स्थूल पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-रूप पंच-महाभूतों का प्रत्येक स्थूल पिण्ड, अर्थात् स्थावर अथवा जंगम शरीर होता है, वे ही पंच-महाभूत सब शरीरों अथवा पिण्डों के समूह-रूप जगत् में होते हैं, इसलिए भौतिक दृष्टि से सब स्थूल पदार्थों में एकता है; और प्रत्येक स्थूल पिण्ड अथवा शरीर के अन्दर जो पंच-महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्राएँ, इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति रूप से रहती हैं, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं अन्य सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ होती हैं, जिनसे प्रत्येक शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव तथा व्यवहार होते हैं, वे ही सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ (जिनको देवता कहते हैं), सारे जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार की हलचल कर रही हैं, अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आधिदैविक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से सब काम कर रही हैं। इसलिए आधिदैविक दृष्टि से भी सबकी एकता है। स्थूल पंच महाभूत और सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ अथवा देवता लोग परमात्मा की अपरा प्रकृति हैं; और परमात्मा की परा प्रकृति इन सबका जीवन अथवा अध्यात्म-भाव है। इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव सभी एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित भाव और रूप हैं। तात्पर्य यह कि जगत् में सब प्रकार से वस्तुतः एकता है; और जो अनन्त प्रकार के

भेद प्रतीत होते हैं, उनका कारण सबके आत्मा अथवा परमात्मा की उक्त इच्छा, प्रकृति अथवा माया के सत्व, रज और तम गुणों का तारतम्य (कमी-बेशी) यानी गुण-वैचित्र्य है; और जब कि ये तीन गुण भी सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा, कल्पना अथवा माया अथवा प्रकृति के भाव हैं, तो सबका आत्मा = परमात्मा ही वस्तुतः इन सबका आधार है। कल्पना अपने आधार—कल्पना करने वाले के आश्रित रहती है, कल्पना करने वाले से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं होता; परन्तु कल्पना करने वाला कल्पना के आश्रित नहीं होता, न वह किसी कल्पना में रुका हुआ ही रहता है। इसलिए यद्यपि परमात्मा इन त्रिगुणात्मक प्रकृति की कल्पित भिन्नताओं का आधार है, फिर भी वह इनके अन्दर रुका हुआ नहीं है। परमात्मा के किसी अंश में कल्पनाओं के उठने और लय होने के साथ-साथ गुण-वैचित्र्य के नाना प्रकार के बनाव बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु सबका एकत्व-भाव परमात्मा अपने-आपमें ज्यों का त्यों रहता है। उन कल्पित भिन्नता के बनावों के होने, मिटने तथा बदलने से सबके एकत्व-भाव परमात्मा में कोई अन्तर नहीं आता, न कोई विकार होता है। जिस तरह समुद्र में अनन्त लहरें उठती और मिटती रहती हैं, परन्तु सारी लहरों का एकत्व-भाव पानी ज्यों का त्यों रहता है; अथवा आकाश में हवा के अनेक रूप होते और मिटते रहते हैं, परन्तु आकाश सब दशाओं में ज्यों का त्यों रहता है; उसी तरह सबके एकत्व-भाव परमात्मा में त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव होते और मिटते रहते हैं, परन्तु परमात्मा ज्यों का त्यों रहता है।

इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, सब भावों की एकता का विज्ञान सहित ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। आगे तेरहवें अध्याय में इसी विज्ञान सहित ज्ञान को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान रूप से यथार्थ ज्ञान कहा है और यही अवश्य प्राप्त करने योग्य है। इस ज्ञान को अच्छी तरह प्राप्त कर लेने पर फिर वस्तुतः कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, क्योंकि संसार में जो कुछ भी जानने लायक है, उस सबका समावेश इसी में होता है। सम्पूर्ण सांसारिक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के विज्ञान का अन्त इसी में होता है, क्योंकि सबकी अन्तिम गति (Goal) यही सबकी एकता है। सारे आत्मिक विचारों का समावेश इसी में होता है। यही सबकी पराकाष्ठा अथवा 'चरम सीमा है। दूसरे जितने भी विज्ञान (Sciences) हैं और जितने भी ज्ञान अथवा दार्शनिक विचार (Philosophies) हैं, वे सब इस सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की शाखाएँ-प्रशाखाएँ अथवा परिवार हैं, और सब इसी निर्दिष्ट स्थान को ले जाने के साधन हैं। जिसने सबकी एकता के इस रहस्य को यथार्थरूप से पूर्णतया जान लिया, उसके लिए फिर वस्तुतः कुछ भी जानना शेष नहीं रहता (छान्दोग्य-उपनि० प्र० ६ खण्ड १)।

परन्तु यह सबकी एकता का विज्ञान सहित ज्ञान इतना सूक्ष्म और गहन है कि इसका समझ में आना और इसमें मन की स्थिति होना अत्यन्त ही कठिन है। साधारण लोग अपने और अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि में ही इतने निमग्न रहते हैं कि उक्त ज्ञान-विज्ञान के सूक्ष्म विचार के लिए न तो उन्हें अवकाश मिलता है और न उनकी उसमें प्रवृत्ति ही होती है। जिन प्रत्यक्ष-वादी लोगों का देह-अभिमान अत्यन्त बढ़ा हुआ और बहुत दृढ़ होता है, वे इन्द्रियगोचर भौतिक पदार्थों ही में आसक्त रहते हैं और इन्द्रियों से प्रतीत नहीं होने वाली सूक्ष्म वस्तुओं में विश्वास नहीं करते। वे इस बात को सुनना ही पसंद नहीं करते कि इस नाना-भावापन्न स्थूल जगत् के भीतर कोई एक सूक्ष्म एवं सम शक्ति भरी हुई है, जिससे सबका अस्तित्व बना हुआ है। वे तो यही मानते हैं कि जैसा हमको हमारी इन्द्रियों से प्रतीत होता है, वैसा ही वस्तुतः सब अलग-अलग है। इससे परे इस नानात्व को एक करने वाली कोई सूक्ष्म-शक्ति नहीं है। "मैं क्या हूँ", "यह जगत् क्या है", "मरना-जन्मना आदि परिवर्तन क्यों होते हैं", "जगत् और शरीर जैसे दीखते हैं वैसे ही हैं अथवा इनमें और भी कोई अदृष्ट तथ्य है"? इत्यादि विषयों का अनुसंधान करने की जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न ही नहीं होती।

जिन थोड़े से लोगों को इस विषय की जिज्ञासा होती है, उनमें से कई लोग तो भौतिक अनुसंधान से आगे बढ़ना नहीं चाहते, अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थों का भौतिक विश्लेषण करके उनके भौतिक तत्त्वों की खोज करने के भौतिक विज्ञान तक ही रहते हैं; और भौतिक तत्त्वों के अनेक होने के कारण वे इस बात को नहीं मानते कि उनमें वास्तविक एकता हो सकती है। वे लोग स्थूल शरीरों को सुख देने वाली भौतिक उन्नति तो करते हैं, परन्तु सबकी एकता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए वे आध्यात्मिक उन्नति करने में असमर्थ रहते हैं।

जो लोग उपरोक्त आधिभौतिकता से आगे बढ़कर आधिदैविकता में विश्वास करते हैं, उनका देह-अभिमान कुछ कम हो जाता है और वे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनन्त प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों को उत्पत्ति-नाशवान् तथा प्रतिक्षण परिवर्तन-शील होने के कारण सच्चा नहीं मानते, किन्तु वे मनो-विज्ञान को सच्चा मानते हैं और उसी पर निर्भर रहते हैं। भिन्न-भिन्न लोगों के मन के संकल्प और वेदनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और बुद्धि के विचार भी भिन्न-भिन्न होते हैं तथा कर्मों के भोग भी पृथक्-पृथक् होते हैं, इसलिए सबकी एकता का सिद्धान्त उनकी समझ में भी नहीं बैठता। उनका मत है कि जीव वास्तव में अनेक और बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं और जगत् के पदार्थों के स्थूल रूपों के मिथ्या होने पर भी उनमें जो सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, वे ऊपरी स्थूल

रूपों के बदलते रहने पर भी ज्यों की त्यों बनी रहती हैं, अतः वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न, नित्य और सत्य हैं; तथा स्थूल और सूक्ष्म सारे जगत् को रचने और उसका संचालन तथा संहार करने वाली एक शक्ति उन सबसे पृथक् है, जो परमात्मा, ब्रह्म तथा ईश्वर आदि अनेक नामों से पुकारी जाती है। परन्तु उस शक्ति को वे अपने से तथा जगत् से सर्वथा पृथक् मानते हैं। "यह जगत् एक परमात्मा ही का व्यक्त रूप है" यह उनकी समझ में भी नहीं बैठता। इसलिए सबकी एकता के सिद्धान्त तक वे भी नहीं पहुँचते।

इनके अतिरिक्त जो लोग आध्यात्मिक विचारों में लगे रहते हैं, वे आधिभौतिक और आधिदैविक विषयों का सर्वथा तिरस्कार करते हैं और शुष्क अध्यात्म विचारों में ही निमग्न रहते हैं। उनका कहना है कि जगत् सब झूठा है, इसलिए "एक में अनेक और अनेकों में एक" के सिद्धान्त के विचार की आवश्यकता ही नहीं। वे लोग आधिभौतिक और आधिदैविक जगत् से अलग होकर केवल आत्म-चिन्तन द्वारा व्यक्तिगत सुख-शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं; परन्तु स्वयं आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों भावों वाले जगत् के अन्तर्गत होने के कारण न तो वस्तुतः उससे अलग हो सकते हैं और न सुख-शान्ति अथवा मुक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि जब तक पृथक्ता के भाव बने रहते हैं तब तक सुख-शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सारांश यह कि ये लोग भी सबकी एकता के विज्ञानसहित ज्ञान की उपेक्षा करते हैं; इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अर्थात् सबके एकत्व-भाव आत्मा अथवा परमात्मा को यथार्थरूप से नहीं जान सकते।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक = तीनों भाव सबके आत्मा = परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं; और जब तक इन प्रकृतियों के आधार सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा = परमात्मा में मन नहीं लग जाता, तब तक इन भावों की ही उलझन बनी रहती है, और उस उलझन में पड़े हुए लोग परस्पर में द्वेष करके अनेक प्रकार के कुकर्म करने के आसुरी व्यवहारों में प्रवृत्त हो जाते हैं, अतः वे लोग सबके एकत्व-भाव—परमात्मा की तरफ़ कभी लौट ही नहीं सकते।

इस विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति का सबसे उत्तम साधन यह है कि नामरूपात्मक जगत् के भिन्न-भिन्न दृश्य-पदार्थों में मन की जो आसक्ति रहती है, उनसे उसको हटाकर उसे सबके आत्मा = परमात्मा में लगाया जाय। मन कहीं न कहीं

आसक्त तो रहता ही है, यह उसका स्वाभाविक धर्म है; परन्तु भिन्नता के भावों में आसक्ति रखना हानिकर है, क्योंकि वे भिन्नता के भाव कल्पित एवं परिवर्तनशील होने के कारण झूठे यानी मिथ्या हैं और मिथ्या पदार्थों में आसक्ति रखने से धोखा होता है। अस्तु, पृथक्ता के भावों से मन को हटाकर उसे सबके एकत्व-भाव = परमात्मा में लगाना चाहिए; अर्थात् मन में इस बात का विश्वास करना चाहिए कि एक ही परमात्मा सब चराचर जगत् में समान भाव से व्यापक है और यह जगत् एक ही परमात्मा के अनन्त रूप हैं—इस विश्वास से परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता का चिन्तन करते रहना चाहिए। जब एक ही परमात्मा की सर्व-व्यापकता का दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब किसी भी भूत-प्राणी से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के भाव नहीं रहते, क्योंकि सबको एक ही परमात्मा का स्वरूप जानने से परमात्मा के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि हो नहीं सकते, अतः सबके साथ प्रेम* का वर्ताव होने लगता है। यही परमात्मा की सच्ची उपासना है। इस तरह सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना का अभ्यास करते-करते सबकी एकता का ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और अन्त में स्वयं अपने साथ सबका अभेद-ज्ञान होकर सर्वात्म-भाव में स्थिति हो जाती है, अर्थात् इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे अपने आप = आत्मा का अनुभव होकर अखिल विश्व अपना ही स्वरूप प्रतीत होने लगता है। परन्तु जिनका मन सांसारिक पदार्थों और विषय-भोगों अथवा स्वर्ग, वैकुंठ अथवा मुक्ति को प्राप्त करने की नाना प्रकार की कामनाओं ही में उलझा रहता है, वे लोग उन काम-नाओं की पूर्ति के लिए परमात्मा की भेदोपासना करते हैं, यानी परमात्मा को कोई विशेष व्यक्ति मान कर तथा उसके साथ व्यक्तित्व की उपाधियां लगाकर, एवं स्वयं दीन, दास अथवा भिखारी बन कर, गरज़-खुशामद से अथवा पदार्थों द्वारा पूजन-अर्चन से उसे प्रसन्न करके अपनी उक्त कामनाओं की पूर्ति उससे करवाना चाहते हैं‡; अथवा परमात्मा से भिन्न देवताओं की कल्पना करके उनकी उपासना से अपनी उक्त कामनाओं की सिद्धि की आशा करके वे लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार नाना प्रकार की सामग्रियों द्वारा उन देवताओं का अर्चन-पूजन करते हैं। जो जिस कल्पित देवता की उपासना में श्रद्धा रखता है, वह एक प्रकार से उस देवता का पशु हो जाता है, और जिस प्रकार मनुष्य अपने पशु को अपने कब्ज़े से छोड़ना नहीं चाहता, उसी तरह वे कल्पित देवता भी अपने अन्ध-श्रद्धालु उपासक रूपी पशु को छोड़ना नहीं चाहते;

---

* प्रेम के वर्ताव का स्पष्टीकरण आगे बारहवें अध्याय में देखिए।

‡ यथार्थ और अयथार्थ उपासना के भेद का विशेष स्पष्टीकरण नवमें अध्याय में देखिए।

यानी उक्त उपासक का मन अपने माने हुए इष्ट देवता ही में सदा उलझा रहता है। अतः कामनाओं की सिद्धि के लिए उपासना करने वाले इसी तरह गोते खाते रहते हैं। उनके पृथक्ता के भाव और दूसरों के साथ राग-द्वेष आदि कभी नहीं मिटते। सारांश यह कि जो लोग उक्त कामनाओं से रहित होकर परोपकार अथवा लोक-सेवा के काम करते हैं, उन्हीं के मन के पृथक्ता के भाव और राग-द्वेष शनैः-शनैः कम होते रहते हैं और उन्हीं का मन परमात्मा की यथार्थ उपासना में लगता है; जिसके प्रसाद से वे समय पाकर परमात्मा के नाना भावों की एकता का अनुभव करके स्वयं परमात्म-भाव की प्राप्ति कर लेते हैं; और वह अनुभव उनको अन्त समय में भी बना रहता है, जिससे वे फिर परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आते।

॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

आठवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में भगवान् ने भक्ति अथवा उपासना के विधान में अपनी सर्वरूपता का वर्णन किया, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक एकता का विज्ञान सहित ज्ञान कहा; और उसी प्रसंग में अध्याय के अन्त में अपने अनेक भावों अर्थात् ब्रह्म-भाव, अध्यात्म-भाव, कर्म-भाव, अधिभूत-भाव, अधिदेव-भाव और अधियज्ञ-भाव का संक्षेप से उल्लेख करके, फिर मनुष्य के मरने के समय की स्थिति का भी कुछ उल्लेख किया था। अब अर्जुन के पूछने पर इस अध्याय में भगवान्, पहले अपने उन भावों का खुलासा करके, फिर मनुष्य के मरने के बाद उसकी क्या दशा होती है, इस विषय की विस्तृत व्याख्या करते हैं; क्योंकि पारलौकिक विज्ञान के बिना केवल इस लोक के विज्ञान सहित ज्ञान का विवेचन अधूरा ही रह जाता; इसलिए इस विषय का अच्छी तरह खुलासा इस प्रकरण में होना आवश्यक था। इसी प्रसंग में भगवान् जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य भी संक्षेप से कहते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १६ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसे कहते हैं ? (तथा) अधिदेव क्या कहा जाता है (१) ? हे मधुसूदन ! यहाँ इस देह में अधियज्ञ कौन किस प्रकार है ? और समाहित-चित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार से जाने जाते हो, अर्थात् जिनका मन आत्मा अथवा परमात्मा में लग जाता है, वे शरीर छूटते समय आप (परमात्मा) को कैसा जानते हैं (२) ? श्री भगवान् बोले कि (उत्पत्ति, नाश, वृद्धि, ह्रास आदि विकारों से रहित, एवं निरन्तर बदलने वाली प्रकृति से परे, सदा एक-सा रहने वाला) परम अक्षर भाव ब्रह्म है; स्वभाव अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अपने-आप का भाव अथवा हरएक प्राणी के शरीर में "मैं" रूप से रहने वाला व्यष्टि आत्म-भाव अथवा जीव-भाव अध्यात्म कहा जाता है; भूत-भाव के उद्भव करने वाले विसर्ग, अर्थात् स्थावर-जंगम रूप जगत् के अनन्त प्रकार के भावों की उत्पत्ति, पालन और संहार रूप सृष्टि-व्यापार का नाम कर्म है (३)। क्षर अर्थात् उपजने, मिटने, घटने, बढ़ने वाला निरन्तर परिवर्तनशील भाव अधिभूत है; और पुरुष अर्थात् प्रत्येक शरीर और जगत् के व्यापारों को धारण करने वाली, सबके आत्मा = परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियों अथवा विभूतियों के रूप में प्रकट होने वाला देव-भाव अधिदेव है; (और) हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! इस देह में अधियज्ञ (उपास्य) "मैं" ही हूँ; अर्थात् हाड, मांस, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों के पिण्ड-रूप इस देह को पवित्र करने वाला तथा इसका धारण-पोषण करने वाला, "मैं" रूप से प्रत्येक देह में स्थित, सबका परम प्यारा अन्तरात्मा ही परम वंदनीय एवं परम उपास्य अधियज्ञ है (४)। और जो अन्तकाल में केवल मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर

छोड़ कर जाता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है। तात्पर्य यह कि अर्जुन ने पूछा था कि समाहित-चित्त वाला पुरुष अन्त समय में आपको किस प्रकार से जानता है; उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि अन्त समय में जिसका मन विकारवान् शरीरों की आसक्ति से हट कर केवल मेरे चिन्तन में लगा रहता है, वह मुझ सबके आत्मा में मिल कर परमात्मा-स्वरूप ही हो जाता है; अतः उसके लिए मुझे जानने का प्रश्न ही नहीं रहता; जानना वहाँ होता है जहाँ कोई दूसरा होता है; जब अपना ही स्वरूप हो जाय तो कौन किसको जाने (५)? हे कौन्तेय! जो अन्त समय में जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह सदा उस भाव में भावित होने से, उसी को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मन जिन-जिन भावों अथवा पदार्थों में सदा दृढ़ता से लगा रहता है, उन्हीं के संस्कार उसके चित्त पर वासना-रूप से अंकित होते रहते हैं और मरते समय उन्हीं संस्कारों अथवा वासनाओं की स्फूर्ति हो आती है; फिर मरने के अनन्तर उन्हीं संस्कारों अथवा वासनाओं के अनुसार उसकी गति होती है अर्थात् उन्हीं संस्कारों अथवा वासनाओं के अनुसार उसका परलोक बनता है और वहाँ वासनामय शरीर से वह भोग भोगता है; और परमात्मा में मन लगा रहे तो परमात्मा-स्वरूप हो जाता है (६)। इसलिए तू सब काल में मेरा स्मरण करता रह और युद्ध भी कर; मन और बुद्धि को मुझ में लगा देने से तू निःसन्देह मुझ ही को प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि मन और बुद्धि को सबके एकत्व-भाव परमात्मा में लगाये रख कर अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करते रहने से मनुष्य परमात्म-स्वरूप हो जाता है (७)। हे पार्थ! अभ्यास-योग से युक्त होकर, अर्थात् मुझ परमात्मा का सदा स्मरण रखता हुआ सांसारिक व्यवहार करने के अभ्यास में निरन्तर लगा रह कर, तथा चित्त को दूसरी तरफ न जाने देकर, दिव्य परम पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन करते रहने से अर्थात् सब-कुछ परमात्म-स्वरूप समझने से मनुष्य (उसे ही) प्राप्त होता है (८)। जो मनुष्य मृत्यु के समय भक्ति से युक्त होकर, अथवा योगाभ्यास के बल से मन को निश्चल करके, दोनों भौंओं के बीच में प्राण यानी दृष्टि को अच्छी तरह ठहरा कर, कवि अर्थात् सर्वदर्शी-सर्वज्ञ, पुराण अर्थात् सबसे प्राचीन, अनुशासन करने वाले अर्थात् सबके नियंता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारण करने वाले, अचिन्त्य-रूप अर्थात् मन के अगोचर स्वरूप वाले, अन्धकार अथवा अज्ञान से परे, आदित्यवर्ण अर्थात् प्रकाशमान् परमात्मा का चिन्तन करता है, वह उस दिव्य परम-पुरुष (परमात्मा) को पाता है (९-१०)। वेद के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग अर्थात् आसक्ति रहित यति जिसमें प्रवेश करते हैं, (और) जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करते हैं, वह

पद यानी परमात्म-भाव मैं तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ (११)। (इन्द्रियरूपी) सब द्वारों को रोक कर, मनको हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में ठहरा कर, योग-धारणा में स्थित हुआ, (और) "ॐ" इस एकाक्षर ब्रह्म के उच्चारण यानी जाप-पूर्वक मुझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, उसे परमगति प्राप्त होती है (१२-१३)। हे पार्थ! जो निरंतर अनन्य-भाव से मेरा नित्य-प्रति स्मरण करता रहता है, उस नित्य युक्त अर्थात् सदा एकत्व-भाव में जुड़े हुए योगी को मैं सुलभ अर्थात् सहज ही प्राप्त हूँ (१४)। मुझे प्राप्त होकर महात्मा लोग दुःखालय अर्थात् जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोग आदि नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए, (एवं) अशाश्वत अर्थात् क्षण-भंगुर (निरन्तर बदलते रहने वाले) पुनर्जन्म (दूसरे शरीर) को नहीं पाते, यानी फिरसे किसी योनि में नहीं आते; क्योंकि उन्हें परम सिद्धि मिल जाती है अर्थात् वे मुझ परमात्मा में मिल जाते हैं (१५)। हे अर्जुन! ब्रह्म-लोक-पर्यन्त (स्वर्गादि सारे) लोक पुनरावर्तनशील हैं, अर्थात् सबसे ऊँचा जो ब्रह्मलोक है वहाँ गये हुओं को भी कभी न कभी लौट कर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझ (परमात्मा) में मिल जाने से फिर जन्म नहीं होता (१६)। जो अहो-रात्र के ज्ञाता, अर्थात् काल-विज्ञान के जानने वाले पुरुष हैं, वे हजार युग-पर्यन्त ब्रह्मा का जो दिन है और हजार युगों की (ब्रह्मा की) जो रात है उसके रहस्य को जानते हैं; अर्थात् काल-विज्ञान के पण्डित—ज्योतिर्विद् लोगों को विदित है कि ब्रह्मा का दिन हजार युगों का और रात भी हजार युगों की होती है (१७)। (ब्रह्मा के) दिन के आने पर अव्यक्त (कारण-प्रकृति) से, सब व्यक्तियाँ (स्थावर-जंगम सृष्टि) प्रकट होती हैं; और रात के आने पर उसी अव्यक्त संज्ञावाली (कारण-प्रकृति) में सबका प्रलय हो जाता है। इस तरह, हे पार्थ! वही यह भूत-प्राणियों का समुदाय बार-बार हो-होकर रात के आने पर विवशता पूर्वक (नियत रूप से) लय होता है, और दिन होने पर प्रकट होता रहता है। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा का समष्टि-संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति, अव्यक्त-भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था से उठ कर व्यक्त-भाव रूप स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में आती है, यानी कारण-भाव से कार्य-भाव होती है तब उससे नाना भावों वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, मकड़ी के तार अथवा बाइस्कोप के दिखाव की तरह प्रकट हो जाती है; और जब समष्टि-संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति पुनः अव्यक्त भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था में जाती है, तब नाना भावों वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का उस अव्यक्त (कारण-भाव) में फिर लय हो जाता है। ब्रह्मा, प्रकृति, स्वभाव, माया, कारण आदि अनेक नाम सबके आत्मा = परमात्मा के समष्टि-संकल्प ही के हैं। जिस तरह समष्टि जगत् अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और लय

होते हैं, उसी तरह व्यष्टि शरीर अथवा पिण्ड की भी उत्पत्ति और लय होते हैं (१८-१६)। परन्तु उस अव्यक्त (कारण-भाव) से भी परे जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव (आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म) है, वह सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता (२०)। जिस अव्यक्त को "अक्षर" ऐसा कहते हैं उसी को परमगति कहते हैं, जिसे प्राप्त होकर फिर लौटना नहीं पड़ता; वह "मेरा" परम धाम (परमात्म-भाव) है (२१)। हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है, जिसके अन्दर सब भूत स्थित हैं और जिससे यह सब(संसार) व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हो रहा है (२२)। श्लोक २० से २२ तक का तात्पर्य यह है कि सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प-रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक बनाव जो कुछ भी है, वह सब उत्पत्ति और नाश वाला है। प्रत्येक प्राणी के जन्मने के बाद मरने, और मरने के बाद जन्मने का चक्कर चलता ही रहता है। इसी तरह प्रत्येक लोक अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद फिर उत्पत्ति होती रहती है, यह अटल नियम है। किसी की उत्पत्ति और प्रलय थोड़े समय में ही हो जाते हैं और किसी की अधिक समय में; परन्तु उत्पत्ति-प्रलय और जन्मने-मरने का चक्कर निरन्तर चलता ही रहता है। प्रकृति के अन्तर्गत जो भी कुछ है उसका इस चक्कर से छुटकारा नहीं है। पिण्ड की दृष्टि से सबसे ऊँचा स्थान मस्तक है, और हठ-योग की समाधि द्वारा वहाँ (दसवें द्वार में) स्थित होकर भी कभी न कभी नीचा उतरना पड़ता है; और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सबसे ऊँचा ब्रह्म-लोक है और भेदोपासना के फल से वहाँ गये हुए लोग भी कभी न कभी लौटते हैं—वहाँ जाने पर भी मोक्ष नहीं होता; क्योंकि पृथक् व्यक्तित्व के भाव से जहाँ कहीं जाना होता है, वहाँ से आना भी अवश्य ही होता है। ब्रह्मा की आयु पूरी होने पर ब्रह्मलोक का भी प्रलय होना माना जाता है, क्योंकि वह भी प्रकृति के अन्तर्गत ही है और प्रकृति के अन्दर के सभी पदार्थ उत्पत्ति-नाशवान् होते हैं; परन्तु सबका आत्मा = परमात्मा प्रकृति से परे उसका सत् आधार है; उसमें न कोई जाना है न आना, न कोई उत्पत्ति है न नाश; परमात्मा की प्राप्ति होने पर न कहीं जाना पड़ता है, न आना। वह परमात्मा सबका अपना-आप है और अपने वास्तविक आपका आत्मानुभव ही परमात्मा की प्राप्ति, मोक्ष अथवा मुक्ति है। वह आत्मानुभव अथवा परमात्मा की प्राप्ति, अनन्य-भाव की भक्ति करने से, अर्थात् अपने सहित सबको एक ही परमात्मा के अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम करने से होती है (२० से २२)।

स्पष्टीकरण—ईश्वरोपासना के विधान में ईश्वर का अथवा अपना स्वरूप

वर्णन करते हुए भगवान् ने सातवें अध्याय में विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण किया, अर्थात् इस नाना-भावापन्न जगत् को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा अपने-आपके अनेक रूप बताया। उसी विज्ञान सहित ज्ञान का विशेष खुलासा अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में फिर से करते हुए भगवान् (व्यष्टि) शरीर की मृत्यु और पुनर्जन्म के वर्णन के सिलसिले में (समष्टि) जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का विज्ञान भी कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि ब्रह्म-भाव, जीव-भाव, कर्म-भाव, भौतिक जगत्-भाव, सूक्ष्म देव-भाव आदि जितने भाव हैं, वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप "मेरे" अनेक भाव हैं, और परमात्मा-स्वरूप "मैं", जो सबका अपना आप है, वह सब शरीरों में "अहं" अथवा "मैं" रूप से विद्यमान है। वह "अहं" अथवा "मैं" रूप से सब शरीरों में रहने वाला परमात्मा ही सब नाशवान् नाम-रूपात्मक भावों अथवा पदार्थों का अविनाशी आधार, सबका अवलम्ब, सबको सत्ता एवं स्फूर्ति देने-वाला है, अर्थात् उसीसे सबका अस्तित्व और सबकी हलचल होती है—वही सबका अस्तित्व है। जब "मैं" अथवा "अपना-आप" होता है, तब ही दूसरों की स्थिति होती है—"मैं" अथवा "अपने-आप" के बिना अन्य कुछ भी नहीं होता। "मैं" रूप से शरीर में रहने वाला, सबका अन्तरात्मा, सबका "अपना-आप" वस्तुतः परमात्मा है। अतः वह सबका अपना-आप—परम पवित्र परमात्मा ही जानने, पूजने और उपासना करने योग्य है, और वही सबका प्यारा और सबकी अन्तिम गति है। जो व्यक्ति मरण-काल पर्यन्त अपने वास्तविक स्वरूप परमात्म-भाव का इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसका जीव-भाव मिट जाता है और परमात्म-भाव में उसकी दृढ़ स्थिति हो जाती है। यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि इस शरीर के रहते भी मनुष्य की जिस विषय में निरन्तर लगन लगी रहती है, उसी को वह प्राप्त होता है; अतः इस शरीर को छोड़ते समय भी मन जिन विषयों में लगा रहता है और उसमें जो वासनाएँ रहती हैं, उन्हीं के अनुसार मरने के बाद वह उसी तरह का बनाव अपने लिए आगे जुटा लेता है; और उन्हीं के अनुसार वासनामय शरीर रच कर नाना प्रकार के कर्म करता और भोग भोगता है; परन्तु मरते समय मन उन्हीं विषयों में लगा रहता है, जिनका अभ्यास जीवन काल में अधिक रहता है। यदि जीवन काल में मन में अधिकतर बुरी भावनाएँ उठती रहती हैं, बुरी संगति और बुरे आचरण होते रहते हैं, तथा दूसरों की बुराई करने की प्रवृत्ति रहती है तो मरते समय अच्छे संस्कारों और अच्छी वासनाओं का उद्भव नहीं हो सकता, किन्तु बुरे संस्कार और बुरी वासनाएँ ही उत्पन्न होती हैं। यदि जीवन काल में मन में शुभ संकल्प उठते रहते हैं, अच्छी संगति और अच्छे कामों में प्रवृत्ति

रहती है तो मरते समय भी शुभ संस्कार और शुभ वासनाएँ अवश्य उत्पन्न होती हैं। यदि जीवन काल में इन्द्रियों के विषयों तथा सांसारिक पदार्थों एवं संबंधियों में, अथवा किसी विशेष विषय, विशेष पदार्थ अथवा विशेष संबंधी में दृढ़ आसक्ति रहती है तो मरते समय चित्त उन्हीं में लगा हुआ रहता है। यदि जीवन काल में देवताओं, पितरों अथवा भूतों की उपासना में मन लगा रहता है, और उनसे अथवा ईश्वर से भीख मांगने तथा दीनता, दासता एवं परावलम्बन के भाव बने रहते हैं, तो मरते समय भी वही याद आते हैं; और यदि जीवन काल में सबके आत्मा = परमात्मा के अनन्य-भाव के चिन्तन में लौ लगी रहती है, तो मरते समय भी परमात्मा का ही ध्यान रहता है। सारांश यह कि मनुष्य अपनी जीवन-चर्या जैसी रखता है, उसी के संस्कार चित्त पर अंकित होते रहते हैं और मरते समय उन संस्कारों के द्वारा उन भावों की स्मृति हो आती है और उन्हीं के अनुसार उसका परलोक बनता है। अपना भविष्य निर्माण करने की योग्यता इस मनुष्य-देह में ही है। जब मनुष्य देह में यह योग्यता है कि वह जैसा चिन्तन करे वैसा ही हो जाता है, तो फिर सबके एकत्व-भाव परमात्मा का ही चिन्तन क्यों न करे, कि स्वयं परमात्मा-स्वरूप हो जाय, और फिर कोई वस्तु प्राप्त करनी बाकी ही न रहे। इसलिए भगवान् कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह सदा मेरा अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा का निरन्तर चिन्तन किया करे। मरण-प ँत ऐसा करते रहने से मरते समय भी उसे मेरा ही स्मरण रहेगा और तब वह मेरे भाव ही को प्राप्त होगा अर्थात् मुझमें मिल जायगा। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सब काम-काज अर्थात् सांसारिक व्यवहार छोड़ कर तथा ईश्वर को जगत् से भिन्न कोई विशिष्ट व्यक्ति या शक्ति मान कर दीनता और दासता से दिन-रात उसके भजन-स्मरण में लगा रहे और परावलम्बी बन जाय। भगवान् कहते हैं कि मेरे सर्वात्म-भाव का चिन्तन करते हुए अपने-अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के व्यवहारों में अवश्य लगे रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में अपने-अपने व्यवहार सदा यथायोग्य करते हुए भी सबके एकत्व-भाव = परमात्मा का चिन्तन, मन और बुद्धि से करते रहना चाहिए। तात्पर्य यह कि मन एवं बुद्धि में सबकी एकता का निश्चय रखते हुए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म स्वावलम्बन पूर्वक करते रहने के निरन्तर अभ्यास से ही परमात्म-भाव की प्राप्ति निस्संदेह होती है। वह सबका एकत्व-भाव = परमात्मा सर्वज्ञ है, अनादि है, सबका नियन्ता, इन्द्रियों के अगोचर, सबका आधार, चेतन और ज्ञान-स्वरूप है—इन भावों का सदा चिन्तन करते रहना चाहिए; और सबकी एकता के विचार के योग-बल से मन को एकाग्र करके "ओंकार" के जाप द्वारा उक्त भावों वाले परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। अ, उ, म—मात्राओं का समूह "ओंकार" स्थूल,

सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत, अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान काल, अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, अथवा कर्ता कर्म और करण आदि त्रिपुटियों के एकत्व-भाव का वाचक है, इसलिए यह शब्द सच्चिदानन्द परमात्मा का वाचक है। अतः "ओंकार" के इस सर्वभूतात्मैक्य-भाव के अर्थ का चिन्तन करते हुए सदा इसका जाप करते रहने से अन्त समय में भी सबके एकत्व-भाव = परमात्मा ही का चिन्तन अथवा ध्यान बना रहता है, जिससे सब भेद-भाव-जन्य उपाधियाँ मिट कर परम-पद परमात्म-भाव में स्थिति हो जाती है। जो इस तरह सदा अनन्य-भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, अर्थात् निरन्तर अपने सहित सबको परमात्मा-स्वरूप ही चिन्तन किया करते हैं, वे स्वयं परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाते हैं और उस भाव को प्राप्त होने पर फिर उन्हें विवशता पूर्वक दुःख-रूप एवं परिव र्तनशील जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता।

सबके एकत्व-भाव यानी सबके आत्मा = परमात्मा की प्राप्ति के सिवाय भेद-भाव की उपासना, अथवा धार्मिक क्रियाओं, अथवा शुभ कर्मों, अथवा अन्य साधनों से प्राप्त होने वाले ब्रह्म-लोक से लेकर इन्द्र-लोक, वरुण-लोक, सूर्य-लोक, गन्धर्व-लोक, पितृ-लोक आदि जितने भी ऊँचे लोक शास्त्रों में वर्णन किये गये हैं, वे सभी आवा-गमनशील हैं, अर्थात् उन सबमें पृथकता के भाव बने रहते हैं, जिससे वहाँ गये हुओं को भी समय पाकर लौटना पड़ता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य-भाव से ऊँचे माने जाने वाले इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देव-भाव, पितृ-भाव, यक्ष-भाव, गन्धर्व-भाव आदि जितने ऊँचे पद हैं, उनको, वासनामय सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने पर भी मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु विवशता पूर्वक लौट कर इस मनुष्य-देह में आना पड़ता है; क्योंकि उन सब भावों में पृथक् व्यक्तित्व का भेद बना रहता है, और जहाँ व्यक्तित्व का भेद-भाव रहता है, वहाँ आना-जाना, उत्पत्ति-नाश आदि द्वन्द्व भी बने रहते हैं; अतः जब उन उच्च भावों को प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्मों के संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तब उस वासनामय सूक्ष्म शरीर को फिर से मनुष्य-शरीर धारण करना पड़ता है और फिर यहाँ पर जैसे कर्म किये जाते हैं और उनसे जैसे संस्कार बनते हैं, उन्हीं के अनुसार आगे के जन्म प्राप्त होते हैं। यह मनुष्य-देह ही सब तरफ जाने के लिए जंकशन-स्टेशन (Junction-Station) है। सब तरफ जाने वाली गाड़ियाँ इसी स्टेशन पर मिलती हैं। इस मनुष्य-देह में ही जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण कर सकता है और उन्नत अथवा अवनत गति का साधन कर सकता है। जो मनुष्य, इस देह में सबके अपने-आप = आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव कर लेता है, उस

को कहीं जाना-आना नहीं पड़ता, किन्तु वह जीते हुए ही पृथक् व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से तथा सब प्रकार की वासनाओं से रहित होकर सबके एकत्व-भाव = परमात्मा में स्थित हो जाता है; और शरीर छोड़ते समय भी आत्मा और परमात्मा की एकता के अनुभव-रूप परम-पद में उसकी स्थिति रहती है, जिस पद को प्राप्त होने पर न तो कोई आने-जाने वाला व्यक्ति रहता है और न कोई आने-जाने के लिए स्थान ही; क्योंकि सब-कुछ अपना-आप अर्थात् परमात्मा ही हो जाता है। आना-जाना अथवा जन्मना-मरना व्यक्तियों का होता है, अर्थात् जब तक पृथक् व्यक्तित्व का भाव रहता है, तब तक जन्मना-मरना होता है; परन्तु जिनके व्यक्तित्व का भाव मिट कर परमात्म-भाव में स्थिति हो जाती है, उनके लिए जन्म-मृत्यु एवं अखिल विश्व अपना खेल हो जाता है—अपने से भिन्न कुछ भी नहीं रहता; अतः उस स्थिति की प्राप्ति होने पर जन्म और मृत्यु कुछ भी तथ्य नहीं रखते। ऐसे परम-पद-प्राप्त महापुरुष चाहें जिस रूप में रहें, चाहें सो करें अथवा न करें, उनके लिए किसी प्रकार की विवशता नहीं रहती; वे सब प्रकार से स्वतंत्र एवं परिपूर्ण होते हैं।

इस ब्रह्माण्ड के आदि कारण सर्वात्मा = परमात्मा की इच्छा अथवा संकल्प-शक्ति अथवा परा और अपरा भेद वाली प्रकृति है, और वह समष्टि संकल्प अथवा मन-रूप प्रकृति अधिदेव भाव में ब्रह्मा मानी गई है। काल-विज्ञान अथवा ज्योतिष-शास्त्र के जो पूर्ण ज्ञाता हैं, उन्होंने निश्चय किया है कि एक हजार सत-युग, एक हजार त्रेता-युग, एक हजार द्वापर-युग और एक हजार कलि-युग—इस तरह एक हजार चौकड़ी का उक्त समष्टि-मन रूप ब्रह्मा का दिन अर्थात् जाग्रत अवस्था होती है। इसी तरह एक-एक हजार युगों की चौकड़ी की समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा की रात्रि अर्थात् सुषुप्ति अवस्था होती है। जब समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा जाग्रत अवस्था में आकर संकल्प-विकल्प करने लगता है, तब यह नाना भावों युक्त प्रतीत होने वाली सृष्टि, अर्थात् ब्रह्म-लोक से आदि लेकर सारे लोक, अव्यक्त (अदृष्ट) कारण-भाव अथवा मूल प्रकृति से प्रकट होकर कार्य-भाव से (आकाश में बादलों की तरह), अनन्त रूपों में व्यक्त अर्थात् इन्द्रिय-गोचर होते हैं; और जब समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर संकल्प-विकल्प रहित हो जाता है, तब यह अनन्त रूपों वाली व्यक्त सृष्टि फिर से अपने अव्यक्त कारण-भाव—मूल प्रकृति में विलीन हो जाती है। जिस तरह मनुष्य जाग्रत अवस्था-रूप दिन के समय अपने काम-धन्धे-रूप सृष्टि निर्माण करता है, और सुषुप्ति अवस्था-रूप रात के समय सबको समेट लेता है; उसी तरह समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा जाग्रत अवस्था में सृष्टि-निर्माण का व्यापार करता है, और सुषुप्ति अवस्था में उसे समेट लेता है। जो अवस्था पिण्ड की है, वही ब्रह्माण्ड की है। परन्तु सब

कारणों का कारण, सबका आत्मा = परमात्मा यानी सबका वास्तविक अपना-आप, सब व्यक्त पदार्थों के लय अथवा शान्त हो जाने पर भी ज्यों का त्यों बना रहता है। दूसरे शब्दों में वह अविनाशी परमात्म-तत्त्व अथवा पुरुषोत्तम—जो सबका आदि कारण, सबका आधार और सबकी असलियत अथवा सबकी सत्ता है और जिसमें सब सृष्टि उत्पन्न हो-होकर लय होती रहती है—सब अवस्थाओं में ज्यों का त्यों एक-सा विद्यमान रहता है; उसमें न कोई आना है न कोई जाना, न उत्पत्ति है न नाश, न वृद्धि है न ह्रास; वह परम-पद पूर्वोक्त अनन्य भाव की उपासना करते रहने से, अर्थात् अपने सहित सबको परमात्म-स्वरूप चिन्तन करते रहने से प्राप्त होता है।

\+ \+ \+

अब भगवान् ज्ञानियों और कर्मकाण्डियों को प्राप्त होने वाली शुक्ल और कृष्ण गतियों का, अर्थात् मरने के उपरान्त देवयान और पितृयान मार्गों से जाने-आने के जो शास्त्रों में वर्णन हैं, उनका सरसरी तौर से उल्लेख करके अन्त में बतलाते हैं कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव युक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने वाला समत्वयोगी इन दो गतियों के रहस्य को जान कर इन मार्गों की उलझन में नहीं पड़ता, किन्तु वह इनसे ऊपर रहता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

अर्थ—जिस काल में गये हुए (ज्ञानी) योगी लोग फिर नहीं लौटते, और (जिस काल में गये हुए कर्मकाण्डी योगी लोग) लौटते हैं, उस काल को, हे भरतर्षभ! अब कहता हूँ (२३)। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीने, उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म को जानने वाले पुरुष, ब्रह्म को जाते हैं (२४)। धुआँ, रात्रि तथा कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन के छः मास, उनमें गया हुआ (कर्मकाण्डी) योगी, चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् चन्द्र-लोक को प्राप्त होकर फिर लौटता है (२५)। जगत् के शुक्ल और कृष्ण, ये (दो) मार्ग सनातन माने गये हैं; एक से लौटना नहीं होता और दूसरे से लौटना होता है (२६)। हे पार्थ! इन मार्गों को तत्त्व से जानने वाला कोई भी समत्वयोगी मोहित नहीं होता; इसलिए हे अर्जुन! तू सदा-सर्वदा समत्व-योग में युक्त रह। तात्पर्य यह कि जो समत्वयोगी होता है, वह इन मार्गों के असली रहस्य को जानता है, अर्थात् वह जानता है कि ये मार्ग प्रकृति के बनाव अर्थात् खेल हैं, अतः वह इन मार्गों के वर्णनों से विचलित नहीं होता; उसकी सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव में स्थिति होती है, इसलिए उसे किसी भी मार्ग से कहीं जाना-आना नहीं पड़ता, किन्तु वह यहाँ का यहीं स्वात्मानुभव-रूप परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। सारांश यह कि समत्व-योग ही सबसे श्रेष्ठ है, अतः उसीमें लगे रहना चाहिए (२७)। इस (पूर्वोक्त ज्ञान-विज्ञान के रहस्य) को जानने वाला समत्वयोगी वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, तप और दान के जो पुण्य-फल शास्त्रों में कहे हैं, उन सबका अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हें पीछे छोड़ कर सनातन परमात्म-पद को पाता है (२८)।

स्पष्टीकरण—२३ से २६ तक के श्लोकों में शुक्ल और कृष्ण गतियों अथवा मार्गों का संदिग्ध-रूप* से उल्लेख करके फिर श्लोक २७-२८ में समत्वयोगी

---

* इस विषय का यहां पर संदिग्ध-रूप से उल्लेख होना इसलिए पाया जाता है कि श्लोक २३ में आवृत और अनावृत 'काल' कह कर, फिर श्लोक २६-२७ में 'गति' और 'सृति' अर्थात् मार्ग कहा है, अतः यहाँ मरने का 'काल' विवक्षित है अथवा 'गति', यह संदेहात्मक है। इसके सिवाय आत्मज्ञानी पुरुष को ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए किसी विशेष काल में शरीर छोड़ने की अपेक्षा नहीं रहती, न किसी रास्ते से जाने की ही आवश्यकता रहती है; क्योंकि ब्रह्म तो सर्वव्यापक अथवा अपना-आप है, अतः जिस क्षण और जिस स्थिति में यह ज्ञान हुआ कि तत्काल ही वह प्राप्त है। यदि श्लोक २४ का तात्पर्य ब्रह्म-लोक में जाने का लिया जाय तो पहले श्लोक १६ में ब्रह्म-लोक में गये हुए की पुनरावृत्ति होनी कह आये हैं और यहाँ अनावृत्ति कहते हैं, अतः पूर्वापर का विरोध होता है। इसलिए शुक्ल और कृष्ण गति अथवा

की स्थिति उन गतियों अथवा मार्गों से परे होने की व्यवस्था देने से भगवान् का यह अभिप्राय प्रकट होता है कि यद्यपि "जिसकी जैसी मति, उसकी वैसी ही गति" अर्थात् "जिसकी जैसी मान्यता होती है, वह वैसा ही हो जाता है" इस सिद्धान्त के अनुसार जो ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति की इच्छा करके उसकी उपासना करता है, वह मरने के उपरान्त अपने मन के संकल्प से कल्पित उपरोक्त शुक्ल अथवा प्रकाशमय मार्ग से हो कर ब्रह्म को प्राप्त होता है; और जो स्वर्गादि सुखों की कामना से कर्मकाण्डात्मक शास्त्रों की विधि के अनुसार यज्ञादिक धार्मिक कृत्य करता है, वह मरने के उपरान्त अपने मन के संकल्प से कल्पित कृष्ण अथवा अन्धकारमय मार्ग से चन्द्र-लोक में जा कर वहाँ स्वर्गादि भोग भोग कर, फिर पीछा यहाँ लौटता है। यह दो गतियाँ सदा से मानी जाती हैं; अतः उनका संक्षिप्त उल्लेख करके भगवान् कहते हैं कि समत्वयोगी के लिए ये दोनों मार्ग अथवा गतियाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं, क्योंकि उस पर ये लागू नहीं होतीं। वेदादि-शास्त्रों में वर्णित भेदोपासना और धार्मिक कृत्यों के जो फल होते हैं, समत्वयोगी उनसे ऊपर उठ जाता है। उसकी स्थिति सबके एकत्व-भाव परमात्म-पद में हो जाती है, इसलिए भेदोपासना और उक्त धार्मिक कृत्यों से प्राप्त होने योग्य ब्रह्म-लोक, स्वर्ग-लोक आदि जितने भी लोक हैं, वे सब उसे अपनी ही रचना प्रतीत होती है; वह अपने-आप को परमात्मा अथवा ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है, अतः उसे कहीं जाना-आना नहीं पड़ता। सारांश यह कि समत्वयोगी को इन शुक्ल-कृष्ण अथवा देवयान-पितृयान मार्गों से कोई प्रयोजन नहीं है और न इनके वर्णनों से उसे विचलित होने की ही आवश्यकता है।

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥

देवयान और पितृयान मार्गों की जैसी मान्यता पूर्वकाल से चली आती थी, उसी का संदिग्ध-रूप से ही उल्लेख करके, समत्वयोगी की स्थिति इन दोनों मार्गों से ऊँची होने की व्यवस्था दे दी गई है। तात्पर्य समत्व-योग का माहात्म्य पुष्ट करने का है, गति अथवा मार्गों के प्रतिपादन का नहीं है।

नवमाँ अध्याय
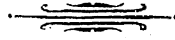
सातवें अध्याय में भगवान् ने जिस विज्ञान-सहित ज्ञान, अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा के नाना भावों-रूप जगत् की एकता के प्रतिपादन का प्रारम्भ किया था, इस नवमें अध्याय में पहले उसी ब्रह्म-विद्या का माहात्म्य कह कर फिर उसका अधिक सूक्ष्म एवं गंभीर विचार-पूर्वक खुलासा करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि दोष-दृष्टि से रहित तेरे लिए, मैं अब यह सबसे अधिक गुह्य विज्ञान-सहित ज्ञान कहूँगा, जिसे जान कर तू अशुभ अर्थात् मोह से छूट जायगा। तात्पर्य यह कि मेरे उपदेशों में तू किसी प्रकार का दोषारोपण न करके उन्हें आदर एवं श्रद्धा-पूर्वक सुनता है, इसलिए मैं तुझे यह विज्ञान-सहित ज्ञान का अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गंभीर रहस्य कहूँगा, जिससे तेरी यह मोहजनित किंकर्तव्य-विमूढ़ता निवृत्त हो जायगी (१)। यह (विज्ञान-सहित ज्ञान) राज-विद्या है, अर्थात् सब विद्याओं की राजा है, अथवा राजाओं की सार्वजनिक विद्या है; तथा राज-गुह्य है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण स्थूल बुद्धि के साधारण लोगों के लिए बहुत ही गुप्त है; (तथा) पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष-परिणामवाली, धर्मस्वरूप, सुखसाध्य और अविनाशी है (२)। हे परन्तप! इस धर्म में अश्रद्धा रखने वाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्यु-रूप संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि जो लोग सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान-रूप इस स्वाभाविक धर्म अथवा ब्रह्म-विद्या का तिरस्कार

करते हैं, वे निरंतर जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमते रहते हैं; अपने वास्तविक स्वरूप = परमात्म-भाव का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते (३)।

स्पष्टीकरण—भगवान् कहते हैं कि यह विज्ञान-सहित ज्ञान, अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म जगत् का बनाव एक ही सत्य, नित्य एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित नाम और रूप हैं—इस "एक में अनेक और अनेकों में एक" के रहस्य के, सबसे अधिक सूक्ष्म एवं सबसे अधिक गहन होने के कारण साधारण लोगों की बुद्धि इसकी गहराई तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए इसकी प्राप्ति के लिए पहले श्रद्धा अथवा विश्वास की आवश्यकता रहती है, अर्थात् जो तत्त्वज्ञानी महा-पुरुष इसके पूर्ण ज्ञाता होते हैं, उनके उपदेशों में तथा इस विषय के शास्त्रों में श्रद्धा करके उनका श्रवण करना चाहिए। फिर उन श्रवण की हुई बातों पर दोष-दृष्टि से कुतर्क न करके, अर्थात् अपने चित्त में पहले के जमे हुए पक्षपातों को छोड़ कर, शान्तिपूर्वक अच्छी तरह से विचार करना चाहिए। इस तरह करते रहने से शनैः-शनैः इस ब्रह्म-विद्या का रहस्य समझ में आने लगता है; फिर श्रद्धा की उतनी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु इसके विचार में मन को आनन्द का अनुभव होने लगता है और फिर उसे छोड़ने की इच्छा नहीं होती। सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का यह सिद्धान्त जब समझ में आने लगे, तब उसको आचरण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, अर्थात् दूसरों के साथ व्यवहार करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, और इस विचार से सबके साथ प्रेम का वर्ताव करना चाहिए। किसी भी सिद्धान्त को व्यवहार में लाये बिना उसका कुछ लाभ नहीं होता। अस्तु, सबकी एकता के सिद्धान्त रूप इस ब्रह्म-विद्या के आचरण से सब प्रकार की उन्नति होती रहती है, और इस अभ्यास में निरंतर लगे रहने से मनुष्य क्रमोन्नति करता हुआ अन्त में पूर्णावस्था को पहुँच कर अपने वास्तविक स्वरूप के अनुभव में स्थित हुआ परमानन्द-परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

यद्यपि यह विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या सबका सार होने के कारण सबसे अधिक सूक्ष्म और गहन है, परन्तु साथ ही साथ यह सब विद्याओं की राजा है, अर्थात् संसार में जितनी विद्याएँ हैं उन सबका यह आश्रय है; दूसरी सब विद्याएँ इसकी शाखाएँ हैं, सब इस पर निर्भर हैं, और सबका समावेश इस में होता है; क्योंकि यह विद्या जगत्-रूप से व्यक्त होने वाले उस आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म का अनुभव-स्वरूप है, जो सबका वास्तविक अपना-आप, सबका मूल तत्त्व, सबका आधार एवं सबका अधिपति है, और जो सब कुछ है,

तथा जिसमें सब कुछ है (बृहदा० उपनि० अ० २ ब्रा० ५ मं० १५)। यह विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या जिस तरह सब विद्याओं की राजा है, उसी-तरह यह राजाओं की भी विद्या है। राजा सारी प्रजा की एकता का केन्द्र होता है, और इस विद्या से सबकी वास्तविक एकता का अनुभव और व्यवहार होता है, इस-लिए राजा का इस विद्या से सुसम्पन्न होना अत्यंत आवश्यक है। इस विद्या से सम्पन्न राजा ही अपनी भिन्न-भिन्न गुणों, भिन्न-भिन्न योग्यताओं, भिन्न-भिन्न स्वभावों, भिन्न-भिन्न पेशों, भिन्न-भिन्न मतों एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में बँटी हुई प्रजा की वास्तविक एकता के अनुभव-युक्त सबके साथ प्रेम पूर्वक साम्य-भाव से निर्दोष राज्य-शासन कर सकता है, और सारी प्रजा में भी इस विद्या का प्रचार करके सबमें पारस्परिक प्रेम और सहयोग का भाव बनाये रख कर सबकी उन्नति और सुख-शान्ति की सुव्यवस्था रख सकता है। इस ब्रह्म-विद्या को राज-विद्या इसलिए भी कहा है कि यह सार्वजनिक विद्या है, अर्थात् जिस तरह एक सच्ची एवं निर्दोष राज्य-व्यवस्था में सबका समान अधिकार होता है और वह सबके लिए एक समान हितकर होती है, उसी तरह इस राज-विद्या में सब लोगों का एक समान अधिकार है और यह सबके लिए एक समान हितकर है। देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भेद, पद-भेद, अवस्था-भेद, आश्रम-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना, प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, नीच हो या ऊँच, धनवान् हो या गरीब, पठित हो या अपठित, सबको इसके अध्ययन और आचरण का एक समान अधिकार है और यह सबके लिए एक समान लाभदायक है। यह विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या सबसे पवित्र है, क्योंकि यह सारे जगत् के एक आत्मा के अनेक रूप होने का निश्चय कराती है, और आत्मा एक होने के कारण परम पवित्र है, उसमें मलिनता नहीं हो सकती; अतः इसके आश्रय से द्वैत-भाव रूपी सारी मलिनता मिट जाती है, जिससे अपवित्र भी पवित्र हो जाते हैं। यह ब्रह्म-विद्या सबसे उत्तम है, क्योंकि इसके अवलम्बन से नीच भी ऊँच हो जाते हैं और अधम भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। यह ब्रह्म-विद्या प्रत्यक्ष बोध-स्वरूप है, क्योंकि इससे सब कुछ आत्म-स्वरूप अथवा अपने-आप ही का स्वरूप अनुभव होता है, और अपना-आप सब के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, न कि परोक्ष ज्ञान का। अथवा इस विज्ञान-सहित ज्ञान से जगत् परमात्मा-मय अथवा परमात्मा का व्यक्त रूप बोध होता है, अतः इससे परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त इस ब्रह्म-विद्या का फल भी प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि जितना ही सबकी एकता का अनुभव होता है, उतने ही द्वैत-भाव-जन्य ईर्षा, द्वेष, भय, दीनता, दासता, परावलम्बन आदि क्लेश उसी समय से कम होते जाते हैं और उतनी ही सुख-शान्ति

तत्काल ही प्राप्त हो जाती है—किसी समय-विशेष, स्थान-विशेष अथवा जन्मान्तर की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए यह नकद धर्म है; ज्यों ही इसका आचरण किया कि शान्ति, पुष्टि और तुष्टि सब उपस्थित होने लग जाती हैं। यह ब्रह्म-विद्या धर्मरूप है, अर्थात् साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों की तरह यह कोई माना हुआ अथवा स्वीकार किया हुआ अथवा पीछे से लगाया हुआ आगन्तुक धर्म नहीं है, किन्तु यह सबका स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि सबका एकत्व-भाव सबके लिए स्वाभाविक है। संसार में जितने भी धर्म भूत काल में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, प्रकारान्तर से सब एक ही ठिकाने के पथिक हैं, यानी सबका अन्तिम साध्य सबकी एकता के भाव की स्थिति है; अतः चाहे कोई किसी भी मत अथवा सम्प्रदाय का अवलम्बन करे, सबकी अन्तिम गति और सबका समावेश इसी में होता है; इसलिए सब धर्मों का मूल-धर्म यह ब्रह्म-विद्या ही है। इस ब्रह्म-विद्या का आचरण सुख-साध्य है, क्योंकि इसके आचरण करने में किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम अथवा कष्ट अथवा मानसिक विक्षेप आदि नहीं होते, न इसमें कोई द्रव्य का व्यय होता है, न किसी सामग्री के जुटाने की अपेक्षा रहती है, और न किसी पर निर्भर रहने अथवा किसी के अवलम्बन की आवश्यकता होती है। यह केवल समझने का विषय है। एक बार श्रद्धा करके इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लेने पर फिर इसका आचरण सुगमता से—सुखपूर्वक हो सकता है। और यह ब्रह्म-विद्या अविनाशी है, क्योंकि इसका वस्तुतः कभी नाश नहीं होता।

यद्यपि यह ब्रह्म-विद्या राज-विद्या है, इस कारण इस पर सबका अधिकार है, यह धर्म-रूप, उत्तम, प्रत्यक्ष लाभ देने वाली और सुख-साध्य है; परन्तु केवल आधिभौतिकता* अथवा केवल आधिदैविकता* अथवा केवल आध्यात्मिकता* में ही आसक्त रहने वाले मनुष्यों को यह ब्रह्म-विद्या प्राप्त नहीं हो सकती; क्योंकि वे लोग अपने-अपने माने हुए भिन्नता के मतों में इतना अन्ध-विश्वास रखते हैं कि उनकी बुद्धि में स्वतन्त्र विचार करने के लिए स्थान ही नहीं रहता; अतः वे स्वयं तो इस गंभीर रहस्य को समझ नहीं सकते, और जिन लोगों को इन विषयों का यथार्थ अनुभव होता है, उन पर वे श्रद्धा नहीं रखते; फलतः वे अपने कुतर्कों से इस स्वाभाविक धर्म-रूप ब्रह्म-विद्या में दोष-दृष्टि करके अर्थात् इसको निस्सार समझ कर इसका तिरस्कार करते हैं। इसलिए उनका मोह अथवा अज्ञान कभी दूर नहीं होता, और पृथक्ता के भाव बने रहने के कारण उनको सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति भी नहीं होती, किन्तु वे जन्म-मरण के चक्कर में

* इस विषय का विशेष खुलासा सातवें अध्याय के स्पष्टीकरण में देखिए।

ही निरंतर घूमते रहते हैं। परन्तु जो लोग उपरोक्त दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक इस सिद्धान्त का श्रवण और मनन करके अपने रात-दिन के व्यवहारों में इस का उपयोग करते हैं, उनका अज्ञान दूर होकर उन्हें उत्तम पद की प्राप्ति अवश्य ही होती है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

अर्थ—मेरे अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर (अध्यात्म) भाव से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है; सब भूत मुझ में स्थित यानी ठहरे हुए हैं, (परन्तु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ, अर्थात् उनमें रुका हुआ, उनमें परिमित अथवा उनके आश्रित नहीं हूँ। और (ये) भूत भी (वस्तुतः) मुझ में स्थित नहीं हैं; मेरा ईश्वरीय (अलौकिक) योग अर्थात् अद्भुत माया-शक्ति का कौशल देख (कि) मेरा आत्मा (सबका अपना-आप) भूतों को उत्पन्न और धारण करता हुआ भी भूतों में स्थित नहीं है, अर्थात् उनमें रुका हुआ अथवा उन पर निर्भर नहीं है। तात्पर्य यह कि जिस तरह लहर, बुद्बुदों और बर्फ के अन्दर सर्वत्र जल व्याप्त है—वस्तुतः सब-कुछ जल ही होता है,

पर उनके बाहरी रूपों के दिखाव तक ही दृष्टि रखने से सबके एकत्व-भाव = जल का ध्यान नहीं रहता; किन्तु लहर, बुद्बुदों और बर्फ की पृथकृता ही प्रतीत होती है; उसी तरह पिण्ड की दृष्टि से यद्यपि आत्मा अथवा जीवात्मा "मैं" रूप से सारे शरीर में व्याप्त एवं परिपूर्ण है—आत्मा ही शरीर का अस्तित्व है—परन्तु, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर ही दृष्टि रखने से सब अंगों के एकत्व-भाव = आत्मा अथवा जीवात्मा की प्रतीति नहीं होती; और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से नाना-भावापन्न जगत् में सबका आत्मा = परमात्मा समष्टि "मैं" रूप से सर्वत्र व्याप्त एवं परिपूर्ण है और वास्तव में सब-कुछ परमात्मा ही है, परन्तु जगत् के भिन्न-भिन्न बनावों पर ही दृष्टि रखने से सारे जगत् के एकत्व-भाव = परमात्मा की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जगत् के पदार्थों की पृथकृता ही सच्ची प्रतीत होती है, और साधारणतया लोगों की दृष्टि शरीर और जगत् की पृथकृता पर ही रहती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि परमात्मा-स्वरूप "मैंने" अव्यक्त अथवा अप्रकट रूप से जगत् को व्याप्त कर रखा है; और यद्यपि जगत् का आधार सबका आत्मा = परमात्मा-स्वरूप "मैं" हूँ, अर्थात् परमात्मा-स्वरूप "मुझ" से ही जगत् का अस्तित्व है, परन्तु "मेरा" अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है, इसलिए जगत् "मेरा" आधार नहीं है। जिस तरह जादू का खेल करने वाला जादूगर किसी खेल-विशेष में ही परिमित नहीं रहता; और यद्यपि खेल का अस्तित्व जादूगर पर निर्भर होता है, परन्तु जादूगर का अस्तित्व खेल पर निर्भर नहीं होता—खेल करने और न करने पर भी जादूगर का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है; उसी तरह सबका आत्मा = परमात्मा जगत् के अनेक प्रकार के खेल करता हुआ भी उनमें परिमित नहीं होता; और यद्यपि जगत् का अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर है, परन्तु परमात्मा का अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है—जगत् के रहने और न रहने पर तथा उसके निरन्तर बदलते रहने पर भी आत्मा अथवा परमात्मा ज्यों का त्यों बना रहता है। और यदि गहरे विचार से देखा जाय तो वस्तुतः परमात्मा में जगत् की स्थिति भी नहीं है, क्योंकि परमात्मा से भिन्न जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है कि जिसकी स्थिति परमात्मा में होवे। जहाँ दो पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है, वहीं आधार-आधेय भाव या व्याप्य-व्यापक भाव अर्थात् एक दूसरे का आधार अथवा एक दूसरे में व्याप्त होना बन सकता है। पर जहाँ एक ही वस्तु के अनेक रूप होते हैं, वहाँ आधार-आधेयादि भाव वास्तव में बन नहीं सकते, किन्तु केवल समझाने के अभिप्राय से कथन मात्र के लिए वे कल्पित किये जाते हैं। जिस तरह जादूगर अपने जादू के खेल में अनेक प्रकार के अद्भुत चमत्कार दिखाता है और उन चमत्कारों की दृष्टि से जादूगर उनका आधार कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वे चमत्कार जादूगर से भिन्न नहीं होते, किन्तु जादूगर के ही रूप

होते हैं; उसी तरह यद्यपि परमात्मा-रूपी जादूगर इस जगत्-रूपी खेल का रचयिता और इसका आधार कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है। यह सबके आत्मा = परमात्मा की अद्भुत माया का चमत्कार है कि वह एक ही अनेक भावों और अनेक रूपों में व्यक्त होता है (४-५)। जिस प्रकार सर्वत्र बहने वाला महान् वायु सर्वदा आकाश में स्थित है, उसी प्रकार सब भूत मुझ में स्थित हैं, ऐसा समझ। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वायु अत्यन्त विस्तृत परिमाण वाला होकर तथा दशों दिशाओं में चलता रह कर भी सदा आकाश में स्थित रहता है, इसलिए वायु का आधार आकाश है और वायु का अस्तित्व आकाश पर निर्भर है, एवं वायु आकाश में परिमित है—आकाश के बिना वायु स्वतन्त्र नहीं रहता; परन्तु आकाश का आधार वायु नहीं है, न आकाश का अस्तित्व वायु पर निर्भर है, और न आकाश वायु में परिमित ही है—जहाँ वायु का अस्तित्व नहीं होता, वहाँ (निर्वात स्थान में) भी आकाश रहता है; उसी तरह यद्यपि सर्वात्मा = परमात्मा ही इस नाना-भावापन्न एवं विस्तृत ब्रह्माण्ड का आधार है, और ब्रह्माण्ड का अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर है; परन्तु ब्रह्माण्ड, परमात्मा का आधार नहीं है, न परमात्मा का अस्तित्व ब्रह्माण्ड पर निर्भर है, और न वह इस ब्रह्माण्ड में परिमित ही है—ब्रह्माण्ड के न रहने पर भी परमात्मा तो सदा-सर्वदा रहता ही है। और जिस तरह वायु कभी तेज होकर आँधी और तूफान का रूप धारण करता है, कभी मन्द-मन्द चलता है, कभी बादल रूप होकर गगन-मण्डल को आच्छादित कर देता है और कभी बादलों को बखेर कर साफ कर देता है—इस तरह वायु के अनेक रूप होने पर भी सर्वव्यापक आकाश में उसके कोई विकार नहीं होते, वह ज्यों का त्यों स्वच्छ एवं निर्विकार बना रहता है; तूफान से वह डावाँडोल नहीं होता, न बादलों से भीगता है; उसी तरह जगत् के अनेक तरह के बनाव होने और बिगड़ने तथा नाना प्रकार के परिवर्तन एवं उथल-पुथल होने आदि विकारों से परमात्मा में कोई विकार नहीं होता। यदि गहरा विचार किया जाय तो वायु आकाश से भिन्न नहीं है, किन्तु आकाश ही का एक बनाव है, अर्थात् आकाश ही वायु-रूप धारण करता है; परन्तु वायु-रूप होता हुआ भी वह अपने सर्वव्यापक आकाश-रूप से शून्य नहीं हो जाता; उसी तरह जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु परमात्मा ही का एक बनाव है, अर्थात् परमात्मा ही जगत् का रूप धारण करता है; परन्तु जगत्-रूप धारण करता हुआ भी वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्द, अनादि, अनन्त, अव्यय परमात्म-भाव से शून्य नहीं हो जाता (६)। हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, और कल्प के आदि में मैं पुनः उन (भूतों) को रचता हूँ (७)। मैं अपनी प्रकृति के द्वारा, प्रकृति के आधीन रहने वाले

इस संपूर्ण भूत-समुदाय को बार-बार रचता हूँ (८)। और हे धनंजय! उन (सृष्टि की रचना, संहार एवं धारण आदि) कर्मों में उदासीन की तरह अनासक्त रहने वाले मुझको वे कर्म नहीं बांधते (६)। हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति स्थावर-जंगम सृष्टि का निर्माण करती है, इस कारण से जगत् विविध प्रकार से प्रवर्तित होता रहता है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र चलता रहता है (१०)। श्लोक ७ से १० तक का तात्पर्य यह है कि यह जगत् सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प का खेल मात्र है। जब सबके आत्मा = परमात्मा का संकल्प अथवा इच्छा होती है तब उस समष्टि इच्छा रूपी योग-माया अथवा प्रकृति के अद्भुत एवं अलौकिक चमत्कार से जगत् के नाना प्रकार के बनाव बनते हैं, जिसे कल्प का आदि कहते हैं; और जब इच्छा अथवा संकल्प नहीं होता, तब वे बनाव मिट जाते हैं, उसे कल्प का क्षय या अन्त कहते हैं। जिस तरह का संकल्प होता है, उसी के अनुसार अनन्त प्रकार के बनाव बनते हैं और मिट जाते हैं। यद्यपि यह सब बनने और मिटने के परिवर्तन सबके आत्मा = परमात्मा की समष्टि इच्छा रूपी अलौकिक माया-शक्ति से ही होते हैं, परन्तु सबका आत्मा = परमात्मा वस्तुतः इन बनावों में नहीं उलझता, न इनके बनने-बिगड़ने से वस्तुतः उसका कुछ बनता-बिगड़ता ही है। इन परिवर्तनों से आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार नहीं होता, क्योंकि यह सब उसकी कल्पना मात्र ही होते हैं—वस्तुतः कुछ बनता-बिगड़ता है नहीं। जिस तरह स्वप्न के अनेक प्रकार के दृश्य स्वप्न-द्रष्टा की कल्पना मात्र होते हैं, स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न स्वप्न वस्तुतः कुछ नहीं होते; उसी तरह जगत्-प्रपंच आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का दृश्य-मात्र है—आत्मा अथवा परमात्मा से पृथक् जगत् कुछ है नहीं; इसलिए वह सबका आधार होता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है (७ से १०)।

स्पष्टीकरण—समत्व-योग के अभ्यास में मन को ठहराने के लिए ईश्वरो-पासना के विधान में ईश्वर अथवा परमात्मा का स्वरूप वर्णन करने के विज्ञान-सहित ज्ञान का सातवें अध्याय से आरंभ करके भगवान् यहाँ उसकी सूक्ष्म एवं गंभीर विचारयुक्त व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सबके अपने-आप का अनुभव-स्वरूप सबका आत्मा = परमात्मा "मैं" रूप से सब शरीरों अथवा शरीरों के समूह-रूप चराचर जगत् में ओतप्रोत भरा हुआ है। यद्यपि "मैं (अहं)" रूप से सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा = परमात्मा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता, यानी वह आँखों से देखा नहीं जाता, कानों से सुना नहीं जाता, नाक से सूँघा नहीं जाता, जीभ से चखा नहीं जाता, त्वचा से स्पर्श नहीं किया जाता, वाणी से कहा नहीं जाता, हाथों से पकड़ा नहीं जाता, यहाँ तक कि उसके स्वरूप की मन से कल्पना

भी नहीं की जा सकती, और न बुद्धि से यह जाना जा सकता है कि वह अमुक गुण, अमुक रूप, अमुक आकार और अमुक नाप-तोल वाला है। इतना होने पर भी यह अनुभव सबको अवश्य होता है कि "मैं" हूँ; मन, बुद्धि, आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों एवं सब अंगों का समूह = शरीर "मेरा" है, सब इन्द्रियों, सब अंगों और इन सबके समूह = शरीर को धारण करने वाला "मैं" हूँ; सब इन्द्रियों और शरीर के सारे व्यवहार "मेरी" सत्ता से होते हैं, और "मैं" ही उनको स्फूर्ति-युक्त करता हूँ, अर्थात् उन सबका प्रेरक और संचालक "मैं" हूँ; इन्द्रियों और शरीरों के भिन्न-भिन्न अंगों के अनेक होने पर भी "मैं" इन सबका प्रेरक और सबका आधार एक ही हूँ; जो "मैं" आँखों से देखने वाला हूँ, वही कानों से सुनने वाला हूँ, वही हाथों से काम करने वाला, वही मन से संकल्प करने वाला और वही बुद्धि से विचार करने वाला हूँ; अतः सबकी एकता "मुझ" में होती है—शरीर के रोम-रोम में "मैं" व्याप रहा हूँ। थोड़ा विचार करने पर यह भी निश्चय होता है कि "मेरे" बिना सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियों, और इन सबके समूह = शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, और यद्यपि इन सबका अस्तित्व "मेरे" बिना सिद्ध नहीं होता—जब "मैं" होता हूँ, तभी ये होते हैं—तथापि "मैं" स्वतःसिद्ध हूँ और इनके बिना भी रहता हूँ; गहरी नींद में मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं शरीर के सभी व्यापार बन्द हो जाते हैं और इनके अस्तित्व की प्रतीति भी नहीं होती, पर "मैं" तो ज्यों का त्यों बना रहता हूँ; और शरीर का अन्त होने पर जब इन सबका नाश हो जाता है तो उनके साथ "मेरा" नाश नहीं होता; इन्द्रियों और शरीरों के परिवर्तन होते रहते हैं—बाल्यावस्था में वे बहुत छोटे होते हैं, जवानी में बड़े हो जाते हैं और बुढ़ापे में क्षीण होकर, मरने पर नष्ट हो जाते हैं, और फिर कोई नया शरीर बनता है तब फिर नये बन जाते हैं; परन्तु "मैं" सब दशाओं में वही बना रहता हूँ। जब "मेरे" बिना इन्द्रियों और शरीर का अस्तित्व ही नहीं है, तब अधिक गहरा विचार करने पर यह स्वतः सिद्ध होता है कि वास्तव में सब-कुछ "मैं" ही हूँ, "मेरे" सिवाय और कुछ भी नहीं है; शरीर के छोटे-बड़े अंगों की जो भिन्नताएँ हैं वे सब "मेरे" ही कल्पित रूप हैं; "मैं" जब कल्पना अथवा इच्छा करता हूँ, तब भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियों तथा भिन्न-भिन्न अंगों के रूप में प्रकट होता हूँ, और जब इच्छा अथवा कल्पना को समेटता हूँ, तब इन सबका अपने में लय कर लेता हूँ। इच्छा अथवा कल्पना से कर्म होते हैं और उन कर्मों के अनुरूप शरीर होते हैं; और जब कि इच्छा अथवा कल्पना "मैं" ही करता हूँ, तो शरीर रूप भी "मैं" ही बनता हूँ; अतः शरीर रूप होने वाला "मेरे" सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता; तात्पर्य यह कि यह सब "मेरे" ही रूप हैं। जिस तरह मिट्टी के अनेक बर्तन और खिलौने वस्तुतः मिट्टी ही होते हैं—मिट्टी के

सिवाय बर्तन और खिलौने कुछ भी नहीं होते, उसी तरह वास्तव में सब-कुछ "मैं" ही हूँ—"मेरे" सिवाय और कुछ नहीं है; और जिस तरह खिलौनों के बनने और बिगड़ने के विकारों से मिट्टी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं—वह ज्यों की त्यों रहती है, उसी तरह इन रूपों के बनने-बिगड़ने तथा इनमें परिवर्तन होने से "मेरा" कुछ भी बनता-बिगड़ता अथवा परिवर्तन नहीं होता; कल्पित बनावों के विकार भी कल्पित होते हैं— वे सत्य वस्तु पर प्रभाव नहीं डाल सकते; "मैं" अपना-आप सदा एक-सा रहने वाला अतः सत्य हूँ, और शरीर के अंग सदा बदलते रहने वाले कल्पित हैं।

उपरोक्त व्याख्या प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा और शरीर के संबंध की है। यदि कोई भी व्यक्ति "मैं" रूप से अनुभव होने वाले अपने वास्तविक आप यानी आत्मा, और मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियों, तथा आँख, नाक, कान आदि स्थूल इन्द्रियों, एवं नाना अंगों के समूह = शरीर के संबंध में गंभीरता पूर्वक विचार करे तो उपरोक्त तथ्य स्वतः ही सिद्ध होते हैं। इसी विचार-धारा को आगे बढ़ाई जाय तो यह निश्चय हो जायगा कि जो व्यवस्था छोटे रूप में प्रत्येक देहधारी जीवात्मा और शरीर के संबंध की ऊपर कही है, वही बृहद्-रूप में समष्टि-आत्मा = परमात्मा और जगत् अथवा ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में हूबहू घटती है। प्रत्येक पिण्ड अथवा शरीर एक छोटा-सा ब्रह्माण्ड ही हैं, अर्थात् पिण्ड का एक छोटा-सा—अणु के मान का—नमूना (model) समझना चाहिए; और जो संबंध शरीर और जीवात्मा का ऊपर बताया गया है, वही सम्बन्ध जगत् और परमात्मा का समझना चाहिए। जिस तरह प्रत्येक शरीर में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-आप = आत्मा "मैं" रूप से अनुभव होता है, उसी "मैं" शब्द से भगवान् श्रीकृष्ण सारे ब्रह्माण्ड अथवा जगत् के समष्टि अपने-आप, सबके आत्मा को जगत् के अन्दर अनुभव कराते हैं, और जो व्यवस्था व्यष्टि शरीर की ऊपर कही गई है, उसी प्रकार की व्यवस्था भगवान् सारे जगत् की बताते हैं। जो आत्मा व्यष्टि शरीर का व्यष्टि-भाव से है, वही आत्मा समष्टि जगत् का समष्टि-भाव से है, और व्यष्टि-भाव से जो पृथक्-पृथक् शरीर हैं, उन्हीं का समुदाय समष्टि-भाव-रूप जगत् है। वास्तव में प्रत्येक शरीर के रोम-रोम में "मैं" रूप से रहने वाला व्यष्टि अपना-आप अथवा व्यष्टि आत्मा, और भगवान् श्रीकृष्ण का "मैं" रूप से कहा हुआ सारे ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्यापक समष्टि आत्मा = परमात्मा एक ही है। इस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए आगे ११ वें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को इसी शरीर में अखिल विश्व का दर्शन करा कर उसका अज्ञान मिटाया है। अतः परमात्मा और जगत्-संबंधी ज्ञान-विज्ञान के रहस्य

को समझने के लिए "मैं" रूप से सर्वत्र अनुभव होने वाले अपने-आप और शरीर के संबंध पर ही विचार करना चाहिए—कहीं बाहर अथवा दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है।

इस विज्ञान-सहित ज्ञान का विशेष विवेचन आगे तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में विस्तार से किया है।

× × ×

ईश्वरोपासना के लिए भगवान् ने अपना, यानी सबके आत्मा = परमात्मा का स्वरूप बताने में सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का सूक्ष्म एवं गंभीर रहस्य कहा। अब भगवान् अयथार्थ अर्थात् झूठी और यथार्थ अर्थात् सच्ची उपासना का भेद बताते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १६ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अर्थ—मूर्ख लोग (सब) भूतों, यानी अखिल विश्व के महान् ईश्वर-स्वरूप मेरे परम (सबसे परे के) भाव को न जानते हुए, (मुझे) मानव-देहधारी (कोई व्यक्ति या शरीर-विशेष) समझ कर मेरी अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं। तात्पर्य यह कि उपरोक्त "एक में अनेक और अनेकों में एक" के विज्ञान-सहित ज्ञान के रहस्य को न जानने वाले मूर्ख लोग, व्यष्टि-रूप से देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, प्राण आदि सबसे परे, सबके आधार और सबके स्वामी—सबमें "मैं" रूप से रहने वाले, अपने वास्तविक आप = आत्मा के, तथा समष्टि-रूप से अखिल विश्व के आधार और स्वामी, सबके आत्मा = परमात्मा के वास्तविक स्वरूप अर्थात् यथार्थ भाव को नहीं जानते। उनकी दृष्टि विशेष करके स्थूल शरीरों पर ही रहती है,

शरीरों से परे, सब शरीरों के भिन्न-भिन्न अंगों और रोम-रोम में व्यापक, एवं इन सब शरीरों को धारण करने वाली एक ही महान् शक्ति के विषय में वे ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकते। इसलिए जिस तरह अज्ञानवश वे अपने को दूसरों से अलग एक तुच्छ व्यक्ति अथवा विकारवान् मनुष्य-देह मानते हैं, उसी तरह सबके आत्मा = परमात्मा को भी जगत् से अलग एक मनुष्य-आकृति वाला कोई विशेष ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति ही मानते हैं। अतः मनुष्य-देह में होने वाले स्वाभाविक गुणों और दोषों, विशेषताओं और त्रुटियों की सबके आत्मा = परमात्मा में कल्पना करके, उस असीम को ससीम, महान् को तुच्छ, एक को अनेक, सम को विषम और अविकारी को विकारी आदि विरुद्ध भावों वाला मान कर उसका तिरस्कार करते हैं (११)।

(वे) झूठी आशाएँ रखने वाले, फिजूल कर्म करने वाले, (तथा) मिथ्या (विपरीत) ज्ञान वाले बेसमझ लोग राक्षसी और आसुरी तामसी प्रकृति का ही आश्रय किये रहते हैं। तात्पर्य यह कि उन तामसी उपासकों के दो भेद हैं—एक तो राक्षसी प्रकृति के हैं, जो शरीर और जगत् के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व नहीं मानते किन्तु स्थूल शरीरों ही को सब-कुछ मानते हैं, अतः वे लोग केवल शरीरों ही के उपासक होते हैं; और दूसरे आसुरी प्रकृति के लोग हैं, जो शरीरों के अतिरिक्त जीवात्माओं को तथा सब जीवात्माओं और सारे जगत् के स्वामी परमात्मा अथवा ईश्वर को मानते तो हैं, पर जैसा मानना चाहिए वैसा यथार्थ रूप से नहीं मानते; किन्तु परमात्मा के सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं सर्वात्म-भाव की उपेक्षा करके, उसे किसी विशेष लोक अथवा विशेष देश में रहने वाला, विशेष काल में होने वाला तथा विशेष गुणों वाले शरीर ही में परिमित अथवा सीमाबद्ध मान कर, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा किसी नाम-विशेष, अथवा किसी रूप-विशेष, अथवा किसी गुण-विशेष, अथवा किसी देश-विशेष, अथवा किसी उपाधि-विशेष की उपासना करने में ही लगे रहते हैं; अथवा उसे शरीर और जगत् सबसे सर्वथा अलग, निर्गुण-निराकार भेद वाला मान कर उस निरा कार की भेद-उपासना करते हैं। इस प्रकार के आस्तिक लोगों की उपासना के अगणित भेद होते हैं, और उनकी अगणित सम्प्रदायें होती हैं। ये लोग परमात्मा की एकता और सर्वव्यापकता की अवहेलना करके, अपने-अपने सम्प्रदायों से भिन्न दूसरे सम्प्रदायों के लोगों का तिरस्कार करते हैं, दूसरों से द्वेष करते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं और दूसरों को दबाते हैं। इस तरह सर्वव्यापक परमात्मा को देश, काल और वस्तु-परिच्छेद वाला एवं नाना विकारों युक्त एक व्यक्ति मानने वाले उपरोक्त मूढ़ उपासक लोग आसुरी प्रकृति के होते हैं। वे राक्षसी और आसुरी प्रकृति के उपासक लोग अपने विपरीत ज्ञान से जो कुछ भी करते हैं, वह किसी न किसी प्रकार की अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की

आशा को लिये हुए ही करते हैं, परन्तु उन झूठी उपासनाओं का फल नाशवान् होता है, अतः उनकी आशाएँ फिजूल ही होती हैं; और उनके कर्मों से वास्तव में किसी का कुछ हित नहीं होता, इसलिए वे भी निरर्थक होते हैं। जो मनुष्य-देह प्राप्त करके अपने-आपके वास्तविक स्वरूप यानी सबके एकत्व-भाव = परमात्मा का ज्ञान प्राप्त न करके, पृथकता के भावों को ही दृढ़ बनाये रखने वाली चेष्टाओं में लगे रहते हैं, और उनसे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आशा रखते हैं, उन मूर्खों की सभी चेष्टाएँ ही नहीं, प्रत्युत उनका मनुष्य-जन्म ही निरर्थक होता है (१२)। परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय करने वाले महात्मा लोग, यानी विवेकी सज्जन पुरुष, मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) को विश्व का आदि और सब विकारों से रहित जान कर अनन्य-भाव से (अभेद) उपासना करते हैं। तात्पर्य यह कि सत्वगुण-प्रधान दैवी प्रकृति के विचारशील महापुरुष ऊपर कहे हुए आसुरी प्रकृतिवाले लोगों की तरह अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी व्यक्ति-विशेष अथवा उपाधि-विशेष की भेद-उपासना नहीं करते, किन्तु अपने सहित सब चराचर सृष्टि में एक आत्मा अथवा परमात्मा को समान-भाव से व्यापक जान कर सबके साथ एकत्व-भाव के प्रेम करने रूपी परमात्मा की अभेद-उपासना करते हैं (१३)। दृढ़-व्रत होकर यत्न करते हुए निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं और भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं; और सबकी एकता के साम्य-भाव में मन लगा कर सदा मेरी उपासना करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष सदा नियमित रूप से सबके आत्मा = परमात्मा के अज, अविनाशी, अविकारी, सर्व-व्यापक, सम, सर्वाधार, सर्वभूत-महेश्वर, सच्चिदानन्द आदि भावों का कीर्तन करते रहते हैं; तथा सब लोगों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप जान कर अत्यन्त प्रेम और विनीत भाव से सबको नमस्कार करते हैं और इस प्रकार समत्व-योग का आचरण करते हुए अनन्य-भाव की उपासना में लगे रहते हैं (१४)। और कई लोग ज्ञान-यज्ञ से अर्थात् तात्त्विक विचारों द्वारा भी मेरा यजन-पूजन करते हुए, (अपने साथ मेरी एकता के) अभेद-भाव से, अथवा (पृथकता के) भेद-भाव से, बहुत प्रकार से मेरे विश्वरूप की उपासना करते हैं। तात्पर्य यह कि जो दार्शनिक लोग तत्त्वज्ञान में लगे हुए हैं, उनमें से कई लोग सर्वत्र एकत्व-भाव के अद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं, और कई पृथकता के द्वैत अथवा भेद सिद्धान्त को मानते हैं, और अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार उपासना करते हैं; परन्तु "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा = परमात्मा ही द्वैत और अद्वैत सबकी सिद्धि करने वाला एवं सबका आधार होने के कारण, वे सब प्रकारान्तर से सर्वात्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरी ही उपासना करते हैं (१५)। क्रतु, अर्थात् श्रौत

यज्ञ "मैं" हूँ; यज्ञ, अर्थात् स्मार्त यज्ञ "मैं" हूँ; स्वधा, अर्थात् पितरों को निमित्त करके दिया जाने वाला अन्न अथवा पिण्डादि "मैं" हूँ; औषध, अर्थात् वनस्पतियाँ "मैं" हूँ; मन्त्र, अर्थात् जिन मन्त्रों का उच्चारण करके हवन-यज्ञादि किये जाते हैं, वे मन्त्र "मैं" हूँ; आज्य, अर्थात् होमे जाने वाले घृतादिक पदार्थ "मैं" ही हूँ; अग्नि "मैं" हूँ, (एवं) हवन "मैं" हूँ (१६)। इस जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह "मैं" हूँ, अर्थात् पुरुषस्वरूप परा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ५) अथवा क्षेत्रज्ञ (गी० अ० १३ श्लो० २), प्रकृतिस्वरूप अपरा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ४) अथवा क्षेत्र (गी० अ० १३ श्लो० १-२), और इन दोनों का आधार अथवा एकत्व-भाव = परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम (गी० अ० १३ श्लो० २२, अ० १५ श्लो० १७-१८) "मैं" ही हूँ; वेद्य, अर्थात् यथार्थतया जानने योग्य, सबका मूलतत्त्व—सबका अपना-आप (गी० अ० १३ श्लो० १२-१७) (मैं हूँ); पवित्र, अर्थात् शुद्ध, निर्मल, निर्विकार एवं सबको पवित्र करने वाला (मैं हूँ); ओंकार, अर्थात् सबकी एकता का बोधक एकाक्षर ब्रह्म "ॐ" (मैं हूँ); ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि को लेकर सब शास्त्र भी (मैं ही) हूँ (१७)। गति, अर्थात् सबकी हलचल (क्रियाशीलता), अथवा सबकी अन्तिम गति (मैं हूँ); भर्ता, अर्थात् सबका भरण-पोषण करने वाला (मैं हूँ); प्रभु, अर्थात् पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इन्द्रिय, प्राण आदि शरीर के सब अंग "मेरे हैं" इस तरह शरीर के स्वामित्व का अनुभव करने वाला, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से अखिल विश्व "मेरा है"—सबका स्वामी "मैं" परमात्मा हूँ, इस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामीभाव का अनुभव करने वाला (मैं हूँ); साक्षी, अर्थात् पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण आदि की सारी चेष्टाओं को जानने वाला जीवात्मा, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सब चराचर सृष्टि की विविध प्रकार की हलचल का द्रष्टा परमात्मा (मैं हूँ); निवास (मैं हूँ), अर्थात् सब भूत-प्राणी "मुझ में" ही रहते हैं; शरण अर्थात् सबका रक्षक (मैं हूँ); सुहृद् अर्थात् सबका स्वाभाविक प्यारा (मैं हूँ); प्रभव (मैं हूँ) अर्थात् सबकी उत्पत्ति मुझ परमात्मा से होती है; प्रलय (मैं हूँ) अर्थात् सबका लय "मुझ में" होता है; स्थान (मैं हूँ) अर्थात सबकी स्थिति "मुझ में" है; निधान (मैं हूँ) अर्थात् सबका समावेश "मुझ में" होता है; और अव्यय बीज अर्थात् सबका अविनाशी एवं अविकारी कारण (मैं हूँ) (१८)। "मैं" तपाता हूँ, "मैं" वर्षा को रोकता और छोड़ता हूँ, अर्थात् "मैं" ही सूर्य रूप से तपाता हुआ जल को खींच कर आकाश में थामे रखता हूँ, और "मैं" ही उसे बरसाता हूँ; और हे अर्जुन! अमृत और मृत्यु भी "मैं" ही हूँ, और सत् एवं असत् भी "मैं ही" हूँ, अर्थात् "मैं" ही त्रिकाल-अबाधित अविनाशी सत्य आत्मतत्त्व हूँ और "मैं" ही निरन्तर परिवर्तनशील एवं कल्पित जगत् का विनाशवान् दृश्य-प्रपंच हूँ (१९)।

श्लोक १६ से १६ तक का तात्पर्य यह है कि जगत् में जो भी कुछ दृष्ट अथवा अदृष्ट वस्तु है, एवं उपासना के लिए जो भी कुछ हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, वेदाध्ययन, पाठ-पूजा, ध्यान, जप आदि किये जाते हैं, तथा जो कुछ कहने-सुनने और विचारने में आ सकता है, वह सब "मैं" रूप से सबको अनुभव होने वाला, सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा ही है। अतः चाहे कोई एकत्व-भाव से उपासना करे या पृथक्ता के भाव से करे—सब परमात्मा ही की उपासना होती है; परन्तु उपासना करने में, करने वाले के अन्तःकरण में जैसा भाव होता है, वैसा ही उपासना का स्वरूप होता है और वैसा ही उसका परिणाम होता है, यह बात आगे के श्लोकों में कहते हैं (१६ से १६)। त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्म करने वाले एवं सोमरस पीने वाले पुरुष यज्ञों द्वारा मेरा पूजन करके (स्वर्ग-प्राप्ति के बाधक जो पाप हैं उन) पापों से शुद्ध होकर स्वर्ग-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे अपने पुण्यों के फल-स्वरूप इन्द्र-लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य (सूक्ष्म) भोगों को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्ग-लोक का उपभोग करके, पुण्य के क्षीण होने पर मृत्यु-लोक में आते हैं। इस तरह वेदत्रयी में विधान किये हुए धार्मिक कर्मकाण्ड करने वाले कामना-परायण लोग (अपनी भावना के फल-स्वरूप) आवागमन के चक्कर में घूमते रहते हैं (२०-२१)। परन्तु जो लोग अनन्य-भाव से मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम-उपासना करते हैं, उन (मेरी अनन्य-भाव की उपासना में) सदा लगे रहने वाले, भक्तों का योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति, और क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थों की रक्षा, मैं (सबका आत्मा = परमात्मा) किया करता हूँ। तात्पर्य यह कि इससे पहले के दो श्लोकों में यह कहा है कि वैदिक हवन-यज्ञ आदि काम्य कर्म करने वालों को उनकी भावना के अनुसार स्वर्गादि लोकों के भोग प्राप्त होते हैं; तब यह आशंका हो सकती है कि उक्त कर्मकाण्ड न करने वाले, परमात्मा के अनन्य-भाव के उपासकों को भोग्य पदार्थ प्राप्त नहीं होते होंगे? इस आशंका का निवारण करने के लिए भगवान् कहते हैं कि जो सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझे ही सब-कुछ मान कर अनन्य-भाव से मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् सारे विश्व को परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप समझ कर सबके साथ एकता के साम्य-भाव का वर्ताव करते हैं, उनकी सब इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति सारे जगत् में व्याप्त "मैं" परमात्मा किया करता हूँ; दूसरे शब्दों में सबके साथ एकता के भाव में जुड़े हुए उन भक्तों के इच्छित पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा में "मेरा" व्यक्त स्वरूप—सारा जगत् सहायक होता है (२२)। जो भक्त लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओं का पूजन करते हैं, वे भी, हे कौन्तेय! मेरा ही पूजन करते

हैं; (परन्तु) वह विधिपूर्वक (यथार्थ पूजन) नहीं होता, अर्थात् मेरे सच्चे पूजन की विधि जैसी ऊपर श्लोक १३-१४ में कही है, उसके अनुसार नहीं होता। क्योंकि (यद्यपि) "मैं" ही सब यज्ञों का भोक्ता हूँ और "मैं" ही सबका मालिक हूँ, परन्तु वे मुझे तत्वतः नहीं जानते, इसलिए उनका पतन हो जाया करता है। तात्पर्य यह कि जब कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले सबके आत्मा = परमात्मा के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो देवताओं की कल्पना करके उनको पूजने वाले भी परोक्ष रूप से सबके आत्मा = परमात्मा ही का पूजन करते हैं; परन्तु उनको सबकी एकता का ज्ञान नहीं होता, किन्तु उनके अन्तःकरण में यह भाव होता है कि देवता, पितर, भूत आदि परमात्मा से पृथक् हैं, और उनकी उपासना करने से ही कामनाओं की सिद्धि होती है, इसलिए वे लोग देवताओं आदि को सबके आत्मा = परमात्मा से भिन्न मान कर उनका पूजन करते हैं, और वह विपरीत भाव का पूजन उनके पतन का कारण होता है (२३-२४)। देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के उपासक पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों की पूजा करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं (२५)।

स्पष्टीकरण—जो अत्यन्त प्रबल तामसी प्रकृति के देहात्मवादी उपासक होते हैं, उनकी राक्षसी प्रकृति कही गई है। राक्षस लोग केवल अपने शरीरों के उपासक होते हैं, और वे खाने, पीने, सोने एवं द्रव्य-संग्रह करके उसके उपयोग से विषयों को भोगने आदि इस शरीर के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों के सिवाय और किसी परोक्ष विषय की तरफ़ ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझते, और तत्त्वज्ञान उनके नजदीक कोई चीज नहीं होता। अपने शारीरिक सुखों के लिए दूसरों को दबाने, दूसरों को पीड़ा देने, दूसरों पर अत्याचार करने तथा दूसरों की हिंसा करने में उन्हें कोई ग्लानि नहीं होती, न उन्हें ईश्वर का भय ही होता है। अस्तु, राक्षसी प्रकृति के उपासक लोग अपने शरीर के सुख और भोगों के लिए तथा उनके निमित्त दूसरों की हानि करने और दूसरों को पीड़ा देने के लिए देवी, देव, भूत, प्रेत, यक्ष, पिशाच आदि की तथा विशेष शक्ति-सम्पन्न अत्याचारी मनुष्यों की उपासना करते हैं*।

जो लोग उनसे कुछ कम तामसी प्रकृति के होते हैं, उनकी आसुरी प्रकृति कही गई है। वे यद्यपि शरीरों के अतिरिक्त उनके अन्दर रहने वाले जीवात्माओं को मानते हैं, और सब जीवात्माओं से पृथक् उन सबके स्वामी ईश्वर को भी मानते हैं, परन्तु

---

* सोलहवें अध्याय में श्लोक ६ से २० तक के अर्थ और स्पष्टीकरण में राक्षसों और असुरों का वर्णन देखिए; और सत्रहवें अध्याय के श्लोक ४ का अर्थ और स्पष्टीकरण देखिए।

सब जीवात्माओं को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहने वाले अत्यन्त तुच्छ प्राणी मान कर आपस में ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि करते हैं; और ईश्वर को सबसे अलग, आसमान में, अथवा समुद्र में, अथवा किसी अन्य स्थान में या किसी लोक-विशेष अथवा देश-विशेष में रहने वाला, अतुल शक्ति एवं अपार वैभव-सम्पन्न, तथा विशेष गुणों से युक्त एक महान् व्यक्ति मानते हैं; और जिस तरह एक सम्राट् अथवा राजा अपनी प्रजा पर शासन करता है, और अपने बनाये हुए कानूनों को मानने वाले पुरुषों की रक्षा करता है, एवं उनका उल्लङ्घन करने वालों को दंड देता है; उसी तरह उनकी समझ में ईश्वर भी सब जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों का हिसाब रख कर उनका यथायोग्य फल देता है; और जिस तरह एक स्वेच्छाचारी राजा को भोग, विलास, खेल, तमाशे, भेंट, पूजा, चापलूसी एवं खुशामद आदि प्यारी लगती हैं, और दूसरों पर अपना आतंक जमाने से उसे प्रसन्नता होती है, अपनी भेंट-पूजा तथा खुशामद करने वालों पर वह कृपा रखता है, उन्हें पुरस्कार देता है और उनके अपराध क्षमा कर देता है, एवं जो उसकी सत्ता नहीं मानते अथवा उसकी खुशामद नहीं करते, उन पर वह क्रुद्ध होता है और उनको दण्ड देता है; उसी तरह उनके मतानुसार उनका ईश्वर भी खेल, तमाशों एवं भोग-विलास आदि की सामग्रियों तथा बलिदान-कुर्बानियों से रीझता है, एवं भेंट-पूजा तथा खुशामद और चापलूसी, करने वालों पर प्रसन्न होता है और उनको धन-सम्पत्ति, अधिकार, बल, वैभव, स्त्री पुत्र, जमीन, जायदाद, मान, प्रतिष्ठा आदि नाना प्रकार के भौतिक सुखों के साधन देता है, और मरने के बाद उन्हें स्वर्ग में भेज देता है, तथा उनके सब पापों को माफ कर देता है; और जो उनके माने हुए ईश्वर को नहीं मानते तथा उन्हीं की तरह उसका भजन-स्मरण, स्तुति आदि नहीं करते, उन पर वह क्रुद्ध होकर उनका सर्वनाश कर देता है। इस तरह सब प्रकार के तुच्छ मानवी भावों का अपने कल्पित ईश्वर में आरोप करके उसको बहुत ओछा, अत्यन्त स्वार्थी और अभिमानी व्यक्ति बना देते हैं, और उसको प्रसन्न करने के अभिप्राय से उसके उन भावों की स्तुति तथा भजन-स्मरण आदि से उसकी खुशामद रूप उपासना करते हैं। सारांश यह कि तमोगुण-प्रधान आसुरी प्रकृति के लोग ईश्वर को एक राजस-तामस गुणों युक्त मनुष्य-स्वभाव वाला व्यक्ति मान कर राजस-तामस भावों से अनन्त प्रकार की उपासनाएँ करते हैं, जिससे अगणित धार्मिक अर्थात् मज़हबी सम्प्रदायें बन जाती हैं; और उन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न कर्मकाण्ड एवं भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज होते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी, अपने-अपने सम्प्रदाय की उपासना की विधि, कर्मकाण्ड और रीति-रिवाज आदि को दूसरे सम्प्रदायों से उत्तम मानते हैं, और दूसरों को अपने से निकृष्ट मान कर उनकी निन्दा करते हैं, और इस तरह परस्पर में द्वेष करके आपस

में लड़ते-झगड़ते और एक-दूसरे पर अत्याचार करते हैं। ईश्वराराधना, देवोपासना एवं धार्मिक रीति-रिवाजों से सम्बन्ध रखने वाली साधारण-से-साधारण बात को लेकर आपस में लड़ मरना और एक-दूसरे की हत्या कर देना, स्वर्ग अथवा बहिश्त को पहुँचा देने वाला धार्मिक कृत्य माना जाता है। अपने माने हुए सम्प्रदाय की उपासना की विधि, कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों को दूसरों से जबर्दस्ती मनवाना परम पुण्य का कार्य माना जाता है, और इसके लिए लोगों पर अनेक प्रकार के दबाव डाले जाते हैं। ईश्वर के नाम पर धार्मिक अथवा मज़हबी झगड़ों से बहुत अशान्ति और क्लेश होते रहते हैं। संसार में जितने अनर्थ इन धार्मिक अथवा मज़हबी विषयों को लेकर ईश्वर के नाम पर होते हैं उतने अन्य किसी भी बात से नहीं होते। इस तरह की आसुरी प्रकृति के लोगों के उपरोक्त मूर्खतापूर्ण अन्ध-विश्वास और हठधर्मी की चेष्टाओं से अपने भयानक पतन और दूसरों को पीड़ा होने के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं होता, न किसी का किसी प्रकार का हित ही होता है।

जो लोग स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति की कामना से शास्त्रों में कही हुई विधि के अनुसार श्रद्धा-पूर्वक यज्ञादिक धार्मिक कृत्य करते हैं, वे यद्यपि अपनी भावना के बल से अपने लिए शास्त्रों में वर्णित देवताओं के-से सूक्ष्म सुख-भोग उत्पन्न करके वासना-त्मक सूक्ष्म शरीर से कुछ काल तक उन्हें भोग लेते हैं, क्योंकि परमात्मा के सर्वत्र व्यापक होने के कारण यज्ञादिक शुभ कर्मों द्वारा जो पूजन होता है, वह उसी का होता है; परन्तु उन लोगों की भावना सबके एकत्व-भाव-रूप परमात्मा की उपासना की नहीं होती, किन्तु अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए देवताओं से सौदा करने की होती है, इसलिए उस सौदे के अनुसार उनको क्षणिक सुखों की प्राप्ति होकर फिर उनका पतन होता है, और वे नाना भाँति की योनियों में जन्म-मरण के चक्कर लगाते रहते हैं। स्वर्गादि का सुख वास्तविक सुख नहीं होता, क्योंकि स्वर्गादि लोक और उनके सुख सब कल्पित होते हैं। अपने मन की कल्पना ही से स्वर्गादि लोक मान लिये जाते हैं, और वैदिक कर्मकाण्ड से उन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति की मानसिक भावना से ही उनकी कल्पित प्राप्ति होकर, उनमें स्वप्न के भोगों की तरह कल्पित भोग भोगे जाते हैं। सारांश यह कि जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही वह हो जाता है, और अपने लिए वैसे ही कल्पित सामान जुटा लेता है। देवताओं की भावना करने वाले अपने लिए देवताओं का बनाव करके उनमें जा मिलते हैं; मरे हुए पितरों की भावना करने वाले पितरों में जा मिलते हैं; जड़ पदार्थों में आसक्ति रखने वाले जड़ हो जाते हैं; और सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना करने वाले परमात्मा-स्वरूप हो जाते हैं।

जो सत्वगुण-प्रधान दैवी प्रकृति के महापुरुष होते हैं, वे सारे जगत् में परमात्मा को समान भाव से परिपूर्ण समझ कर सबके साथ एकता के प्रेमपूर्वक समता* के वर्ताव करने रूपी परमात्मा की उपासना करते हैं। वे संसार के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी निरन्तर सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा का ही चिन्तन करते रहते हैं। सबको परमात्मा का रूप जान कर नमस्कार आदि से विनय का वर्ताव करते हैं; और परमात्मा की सर्वरूपता आदि भावों की चर्चा, कथा, कीर्तन आदि रूप से उनकी उपासना करते रहते हैं। कई विचारवान् सज्जन अद्वैत सिद्धान्त के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के ज्ञान-यज्ञ से परमात्मा की अभेद-उपासना करते हैं; और कई द्वैत सिद्धान्त को मान कर उपास्य-उपासक के भेद-ज्ञानपूर्वक विश्वरूप परमात्मा की विविध प्रकार से उपासना करते हैं। जगत् में जो कुछ है, वह सब परमात्मा ही है। वेदादि शास्त्र और शास्त्रोक्त यज्ञादिक क्रियाएँ; सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य, सूक्ष्म, स्थूल और कारण भाव, तथा उत्पत्ति-विनाश, दृश्य-अदृश्य सभी एक परमात्मा ही के अनेक रूप हैं। इस अनन्य-भाव से अखिल विश्व को परमात्मा का ही स्वरूप समझ कर जो उसकी उपासना करते हैं, अर्थात् परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् के साथ एकता के प्रेम सहित सब व्यवहार करते हैं, वे स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। उनको कोई भी पदार्थ अप्राप्त नहीं होता, किन्तु उनकी सब इच्छाएँ स्वतः पूर्ण होती हैं, क्योंकि परमात्म-स्वरूप में अखिल विश्व का समावेश होता है; इसलिए उनसे भिन्न कुछ शेष ही नहीं रहता।

दैवी और आसुरी सम्पत्ति तथा सात्विक, राजस एवं तामस भावों की विशेष व्याख्या भगवान् ने आगे सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्यायों में की है, उसी के आधार पर इन श्लोकों का स्पष्टीकरण किया गया है—यद्यपि बीज रूप से इन श्लोकों में भी वे ही भाव विद्यमान हैं। यहाँ उपासना के प्रसंग में दैवी और आसुरी प्रकृतियों का संक्षेप से उल्लेख करके यह स्पष्ट किया गया है कि गीता में ईश्वरोपासना से तात्पर्य, परमात्मा के किसी रूप-विशेष के ध्यान अथवा पूजन करने, या किसी नाम-विशेष के जाप करने आदि ही में लगे रहने का नहीं है, किन्तु परमात्मा को सर्वत्र एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का आचरण करने रूपी समत्व-योग का है। वास्तव में गीता में सर्वत्र समत्व-योग ही का प्रतिपादन है। सातवें से बारहवें अध्याय तक उपासना के ढंग से समत्व-योग का प्रतिपादन है, अतः केवल नाम का भेद है, वस्तुतः बात एक ही है।

× × ×

---

* समता के वर्ताव का खुलासा पांचवें अध्याय के श्लोक १८ के स्पष्टीकरण में कर आये हैं।

अब भगवान् उपरोक्त अनन्य-भाव से उपासना करने की सीधी-सादी, सरल एवं सुगम विधि बता कर उस उपासना का माहात्म्य कहते हैं। साथ ही स्पष्ट रूप से यह प्रकट करते हैं कि इस उपासना में मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र को —किसी भी प्रकार के भेद बिना—एक समान अधिकार है, और इससे सबको एक समान लाभ होता है। तात्पर्य यह कि इसमें पूर्ण साम्य-भाव है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल, यानी सबको सहज ही प्राप्त हो सकने वाले पदार्थ भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, (उस) शुद्ध अन्तः

करण वाले (भक्त) की भक्ति सहित समर्पित उस भेंट को मैं स्वीकार करता हूँ। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा की बहुमूल्य और बढ़िया भोग्य पदार्थों में कोई प्रीति नहीं होती. और साधारण वस्तुओं में कोई अप्रीति नहीं होती, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ परमात्मा ही की कल्पना के बनाव हैं; इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए बहुमूल्य पदार्थों की भेंट की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अथवा परमात्मा सबमें एक समान है—इस एकत्व-भाव को भूल कर परस्पर में द्वेष उत्पन्न करके जो लड़ाई-झगड़े और छीना-झपटी आदि किये जाते हैं, उन्हें मिटा कर सबके साथ एकता के प्रेमपूर्वक एक-दूसरे की यथायोग्य सेवा करना ही परमात्मा की सच्ची उपासना है; और वह प्रेम-भाव की सेवा अनायास ही उपलब्ध होने वाले साधारण पदार्थों द्वारा जैसी हो सकती है, वैसी बहुमूल्य बढ़िया पदार्थों द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि बहुमूल्य बढ़िया पदार्थ देने में मन में थोड़ा या बहुत क्लेश होने के अतिरिक्त देने का कुछ अभिमान भी होता है, इसलिए उसमें सच्चा प्रेम कम रहता है। अतः भगवान् कहते हैं कि जो कोई व्यक्ति पत्र, पुष्प, फल अथवा जल आदि सहज ही मिलने वाले पदार्थों द्वारा ही भक्ति अथवा प्रेम पूर्वक अखिल विश्व में व्याप्त परमात्मा-स्वरूप मेरी सेवा करता है, वही सच्ची पूजा अथवा उपासना है। अभिप्राय यह कि स्त्री, पुरुष, पशु, पत्ती आदि जितने भी शरीर हैं, उन सबमें परमात्मा समान भाव से व्यापक है, अतः सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर, भिन्न-भिन्न शरीरों की योग्यता एवं आवश्यकता, तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करता है, उसी प्रेम-भरी सेवा से सबका अन्तरात्मा प्रसन्न होता है। अन्तःकरण की प्रसन्नता का कारण कोई पदार्थ-विशेष नहीं होता, किन्तु सेवा करने वाले का आन्तरिक भाव होता है (२६)। जो तू करता है, जो खाता अथवा भोगता है, जो हवन करता है, जो देता है, (और) जो तप करता है, हे कौन्तेय! वह (सब) मेरे अर्पण कर; अर्थात् यह चिन्तन करता हुआ सब-कुछ कर कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले, सबके एकत्व-भाव यानी सबके आत्मा = परमात्मा के प्रसाद ही से सब-कुछ हो रहा है। इस तरह (मेरे यानी सबके आत्मा = परमात्मा के अर्पण करने रूप) संन्यास-योग में जुड़े हुए अन्तःकरण से तू शुभाशुभ फल रूप कर्म-बन्धनों से छूट जायगा, और मुक्त हो कर मुझ परमात्मा में मिल जायगा। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसमें साधारणतया दूसरों से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व के अहंकार के साथ-साथ, दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना रहती है, और यही बन्धन का हेतु है; क्योंकि वास्तव में कोई भी व्यक्ति दूसरों की सहायता और सहयोग के बिना कुछ भी नहीं कर सकता; इसलिए यह पृथकता का अहंकार झूठा है कि

"अमुक कार्य केवल मेरे ही किये से होता है और इसके फल पर केवल मेरा ही अधिकार है"। यह मिथ्या भाव ही सब अनर्थों का कारण है। भगवान् उपदेश देते हैं कि मनुष्य जो कुछ काम करे, उसमें इस बात का ध्यान रखे कि "मैं जो कुछ कार्य किया करता हूँ, वह अकेले मेरे ही किये से नहीं हो रहा है, किन्तु सबकी एकता अथवा सहयोग-रूप परमात्मा के प्रसाद से ही सम्पादित हो रहा है"। इसलिए प्रत्येक कार्य में तथा उसके फल में सबका साझा समझना चाहिए। यही सबकी एकता का भाव भोजन करने में रखे कि "जो कुछ खाद्य-सामग्री मुझे प्राप्त हुई है, वह सबकी एकता एवं सहयोग-रूप परमात्मा के प्रसाद से ही प्राप्त हुई है, दूसरों से पृथक् होकर मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता"; इसलिए यह समझता हुआ कि मेरे भोजन में सबका साझा है—दूसरों को खिलाता हुआ आप खावे। हवन, यज्ञ* आदि धार्मिक कृत्य करने में भी यही एकता का भाव रखे कि दूसरों के सहयोग बिना कोई धार्मिक कृत्य संपादित नहीं हो सकता। और तप* करने में भी उसी सर्वभूतात्मैक्य-भाव का ध्यान रखे कि दूसरों के सहयोग बिना किसी प्रकार का तप सिद्ध नहीं हो सकता। इस तरह शरीर के प्रत्येक व्यवहार में सबकी एकता-रूप परमात्मा का स्मरण रखना ही उसे परमात्मा के अर्पण करना है; और इस तरह करने से सभी व्यवहार सबके साथ प्रेम-युक्त एवं सबके लिए हितकर होते हैं, और उनके करने में दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार और दूसरों से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव न रहने के कारण, उन व्यवहारों से कोई बन्धन उत्पन्न नहीं होता। यह सर्वभूतात्मैक्य-भाव का आचरण परमात्मा की सच्ची एवं अत्यन्त सुगम उपासना है—इसी से मनुष्य परमात्मा-स्वरूप हो जाता है (२७-२८)। **मैं (सबका आत्मा) सब भूतों में समान भाव से व्यापक हूँ, न मुझे कोई द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न कोई प्रिय; परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें हूँ।** तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा "मैं" रूप से सबमें समान भाव से व्यापक है, अतः सारा जगत् परमात्मा ही के अनेक रूप हैं, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिए उस परमात्मा की किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ में प्रीति नहीं होती—चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा और उच्च कोटि का क्यों न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही बहुमूल्य एवं मनोहर क्यों न हों; न उस परमात्मा का किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ से द्वेष होता है—चाहे वह व्यक्ति कितना ही छोटा और हीन कोटि का क्यों न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही तुच्छ एवं बुरा क्यों न प्रतीत होता हो—वह परमात्मा सबमें एक समान है। प्रीति (राग) और अप्रीति

---

* सत्रहवें अध्याय में यज्ञ और तप का स्पष्टीकरण देखिए।

(द्वेष) मन के विकार हैं, और जिनके अन्तःकरण में भिन्नता के भावों की दृढ़ता होती है, उनमें ये राग-द्वेष के विकार बने रहते हैं, और वे सबके एकत्व-भाव— सबके आत्मा = परमात्मा से विमुख रहते हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि में यह निश्चय हो जाता है कि यह चराचर जगत् सबके आत्मा = परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है, वे सबके साथ एकता का प्रेम करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करते हैं; और वे चाहे बड़े हों या छोटे, ऊँच हों या नीच, स्त्री हों या पुरुष—किसी भी प्रकार के भेद बिना परमात्म-पद को प्राप्त हो जाते हैं, यानी सबकी एकता के परमात्म-भाव में उनकी स्थिति हो जाती है (२९)।

यद्यपि कोई दुराचारी भी हो, और (उपरोक्त) अनन्य-भाव से मेरी (सबके आत्मा = परमात्मा की) उपासना करता हो, (तो) उसको साधु यानी सदाचारी ही समझना चाहिए; क्योंकि उसको (सबके आत्मा = परमात्मा की एकता एवं सर्व-व्यापकता का) सच्चा एवं दृढ़ निश्चय होता है, अतः वह तत्काल ही धर्मात्मा होता है, (और वह) स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है; हे कौन्तेय! यह अच्छी तरह निश्चय रख कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति बाहरी दृष्टि से अथवा ऊपर से देखने में हिंसा आदि पापाचरण अथवा दूसरे निकृष्ट माने जाने वाले कर्म करने के कारण दुराचारी भी प्रतीत होता हो, परन्तु उसके अन्तःकरण में सबके आत्मा = परमात्मा की सर्वव्यापकता यानी सबकी एकता का सच्चा एवं दृढ़ निश्चय हो और वह सबके साथ उपरोक्त प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति अनन्य-भाव से करता हो तो वास्तव में वह सज्जन ही है; क्योंकि कर्म अथवा आचरण जड़ होने के कारण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते—वे चेतन कर्ता पर निर्भर रहते हैं; इसलिए उनमें अपना अच्छापन या बुरापन नहीं होता। आचरणों का अच्छापन या बुरापन कर्ता के अन्तःकरण के भाव पर निर्भर रहता है, इसलिए उनका यथार्थ निर्णय केवल ऊपरी दिखाव से नहीं होता, किन्तु कर्ता के भाव से होता है। जो सबकी एकता के निश्चय से अपने कर्तव्य-कर्म करता है, उसके कर्म चाहे कितने ही नीच अथवा बुरे प्रतीत हों, वास्तव में वे बुरे नहीं होते, प्रत्युत श्रेष्ठ और अच्छे होते हैं; और उनका करने वाला वास्तव में धर्मात्मा ही होता है, एवं उसके अन्तःकरण में सदा शान्ति विराजमान रहती है। इस तरह सबकी एकता के अनन्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी परमात्मा की उपासना करने वाला कोई दुराचारी नहीं होता, न उसकी दुर्गति ही होती है, यह निश्चित तथ्य है (३०-३१)।

हे पार्थ! जो पाप-योनि हैं अर्थात् जो पूर्व के पापों के कारण तामस स्वभाव वाली (चोर, ठग, डाकू आदि जरायम पेशा) जातियों में जन्म लेने वाले

लोग हैं—वे, और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र, अर्थात् जिनमें रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता होती है वे भी, मेरा आश्रय करके अर्थात् उपरोक्त अनन्य-भाव से मेरी उपासना करने से परम गति को पाते हैं, तो फिर पुण्यवान् यानी सदाचारी ब्राह्मणों एवं भक्त यानी सबसे प्रेम करने वाले राज-ऋषियों (क्षत्रियों) का कहना ही क्या ! अर्थात् सत्व-रज की प्रधानता के कारण जो लोग स्वभाव से ही सदाचारी होते हैं, वे उपरोक्त अनन्य-भाव से मेरी उपासना करें तो उनके परम-पद प्राप्त होने में संदेह ही क्या हो सकता है ? तू इस अनित्य अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील और असुख अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि क्लेशों से युक्त, इस लोक यानी मनुष्य-देह को पाकर(सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मेरा (उपरोक्त अनन्य भाव से) भजन कर। तात्पर्य यह कि २८ वें श्लोक में भगवान् ने कहा था कि "मैं" सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा सबमें एक समान हूँ, मुझे कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है, इस विषय का खुलासा श्लोक ३० से ३३ तक में किया गया है। एक एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा "मैं" रूप से ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे, स्त्री-पुरुष आदि सबमें एक समान व्यापक है—उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। भेद केवल भिन्न-भिन्न शरीरों के गुण-वैचित्र्य का होता है, और वह गुण-वैचित्र्य प्रकृति का कार्य है, अतः उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि तक ही रहता है—आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता; आत्मा तो सदा सम ही बना रहता है। जिनके बुद्धि और मन, शारीरिक भिन्नता के भावों से ऊपर उठ कर, सबके एकत्व-भाव = आत्मा अथवा परमात्मा की उपासना में लग जाते हैं, उनके गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न भेद-भाव, आत्मा के एकत्व-भाव में शान्त हो जाते हैं, और वे आत्म-स्वरूप हो जाते हैं। इस आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में सबको एक समान अधिकार है, क्योंकि आत्मा सबमें एक समान विद्यमान है, यानी सब-कुछ आत्मा ही है—चाहे तमोगुण-प्रधान चाण्डाल का शरीर हो या सत्वगुण-प्रधान ब्राह्मण का; चाहे रजोगुण-प्रधान स्त्री का शरीर हो, या रज-सत्व-प्रधान क्षत्रिय का, या रज-तम-प्रधान वैश्य या शूद्र का—सब एक ही आत्मा के अनेक रूप होते हैं। अतः जो भी कोई उपरोक्त अनन्य-भाव की आत्मोपासना में लग जाता है, वही शनैः-शनैः उन्नति करता हुआ परम गति को पहुँच जाता है, अर्थात् उसके पृथक् व्यक्तित्व का अथवा शरीर का तुच्छ अहंकार मिट जाता है, और वह सबके आत्मा = परमात्मा के एकत्व-भाव में स्थित हो जाता है। उपरोक्त ईश्वर-भक्ति अथवा आत्मोपासना के अभ्यास की योग्यता इस मनुष्य-देह में ही है, क्योंकि इसमें बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण आत्मा अथवा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के विज्ञान-सहित ज्ञान के समझने की योग्यता इसी (मनुष्य शरीर)

में ही होती है; परन्तु प्रथम तो मनुष्य शरीर प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है—अनेक योनियों में चक्कर काटने के बाद यह (मनुष्य शरीर) कठिनता से प्राप्त होता है; और प्राप्त होने पर भी यह अनित्य और असुख ही है, क्योंकि संसार के अन्तर्गत होने से इसकी दशा भी क्षण-क्षण में बदलती रहती है; और यह उत्पत्ति-नाशवान् भी है; और अज्ञान दशा में नाना प्रकार के कर्मों के परिणाम-स्वरूप बहुत से झंझट और विक्षेप इसमें लगे हुए रहते हैं, जिनसे आत्मज्ञान की तरफ़ प्रवृत्ति होने में बहुत रुकावटें होती हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि इस दुर्लभ, अनित्य और असुख मनुष्य शरीर को पाकर सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा = परमात्मा की उपरोक्त भक्ति में लग कर नाना प्रकार के दुःखों एवं बन्धनों से छुटकारा पाने का साधन तुरन्त ही कर लेना चाहिए, इस काम में विलम्ब नहीं करना चाहिए; क्योंकि शरीर का एक क्षण का भी भरोसा नहीं है—न मालूम यह कब छूट जाय, और इसके छूटने के बाद फिर मनुष्य शरीर कब प्राप्त हो, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। यह शरीर सबका एक समान अनित्य और असुख है, इसमें भी नीच-ऊँच, स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है, इसलिए अपने उपरोक्त कल्याण का साधन करने में किसी को भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। कहावत भी है कि "काल करे सो आज कर, आज करे सो अब; पल में परलय होयगी, फेर करेगा कब"। इस भूल में कदापि नहीं रहना चाहिए कि "संसार के नाना प्रकार के झंझट और बखेड़े मिटा कर फिर उक्त आत्मज्ञान अथवा समत्व-योग में लगने का प्रयत्न करेंगे", क्योंकि जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक ये झंझट और बखेड़े शरीर के साथ ही बने रहते हैं—चाहे गृहस्थी में रहे या संन्यासी हो जाय, चाहे घर में रहे या वन में चला जाय—आत्मज्ञान के बिना अन्य किसी भी उपाय से ये मिट नहीं सकते। उपरोक्त समत्व-योग के अभ्यास से ही ये शनैः-शनैः आप-ही-आप शान्त हो जाते हैं। इसलिए इन झंझटों और बखेड़ों के रहते ही इस अभ्यास में लग जाना चाहिए (३२-३३)।

मुझमें मन लगा, अर्थात् सब चराचर सृष्टि के एकत्व-भाव—सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझमें चित्त स्थिर कर; मेरा भक्त हो, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझको सर्वव्यापक समझ कर सबके साथ प्रेम कर; मेरा यजन कर, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरे विराट् शरीर-रूप जगत के धारणार्थ—लोक-संग्रह के लिए—स्वधर्मानुसार (गी० अ० ३ श्लो० ३५), अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म कर; मुझे नमस्कार कर, अर्थात् चराचर सृष्टि को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर सबको नमस्कार कर और सबके साथ विनीत भाव का वर्ताव कर। इस प्रकार अपने को सबके साथ एकता के भाव में जोड़ कर

अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ एवं सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरे परायण हुआ तू मुझ परमात्मा में ही मिल जायगा (३४)।

स्पष्टीकरण—सातवें अध्याय से आरम्भ होकर जिस विज्ञान-सहित ज्ञान का वर्णन चल रहा है, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा को अखिल विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता के प्रेम* का व्यवहार करने रूपी ईश्वरोपासना का विधान किया जा रहा है, उसको इस अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान् ने "राज-विद्या, राज-गुह्य, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष-प्राप्त, धर्म-रूप, सुख-साध्य एवं अव्यय" विशेषण दिये थे; उनमें से "राज-गुह्य, उत्तम, प्रत्यक्ष-प्राप्त, धर्म-रूप और अव्यय" विशेषणों की व्याख्या श्लोक ४ से २९ तक हो गई। "राज-विद्या, पवित्र और सुख-साध्य" विशेषणों की व्याख्या इन श्लोकों में है। भगवान् कहते हैं कि मेरी यथार्थ उपासना इतनी सुख-साध्य है कि उसको हर-कोई मनुष्य (स्त्री-पुरुष) किसी भी प्रकार के परिश्रम, कष्ट और बाधा के बिना सहज ही कर सकता है। "मैं" सबका आत्मा = परमात्मा सर्वव्यापक एवं सब कुछ हूँ, इसलिए मेरी उपासना के लिए किसी विशेष देश अथवा विशेष काल की अपेक्षा नहीं रहती, न किसी प्रकार के आडम्बर करने की ही आवश्यकता है। मनुष्य (स्त्री-पुरुष) किसी भी देश अथवा स्थान में, किसी भी काल अथवा अवस्था में, किसी भी प्रकार से मेरा चिन्तन कर सकते हैं, क्योंकि "मैं" सबका अपना-आप हूँ, और आत्म-चिन्तन सर्वत्र, सब दशाओं में हो सकता है। संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब मेरी (सबके आत्मा = परमात्मा की) कल्पना हैं, इसलिए मेरी उपासना के लिए किसी भी सामग्री अथवा द्रव्य के जुटाने या भेंट करने की आवश्यकता नहीं है। पदार्थ तो शरीरों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए होते हैं, अतः जिसके पास जो पदार्थ हों, उन पदार्थों के द्वारा जो प्रीति-पूर्वक भिन्न-भिन्न शरीरों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करता है, वही मेरी पूजा है। "मैं" सबका आत्मा होने के कारण सदा एवं सर्वत्र एक समान उपस्थित रहता हूँ। इसलिए मेरी उपासना के लिए न तो किसी देश-विशेष, क्षेत्र-विशेष अथवा तीर्थ-विशेष में भटकने की आवश्यकता है, और न किसी विशेष लोक अथवा विशेष दिशा में मेरा निवास समझ कर उसे महत्त्व देना ही ठीक है किन्तु घट-घट में मेरा निवास जान कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम करना ही मेरी सच्ची उपासना है। मैं किसी विशेष नाम अथवा विशेष रूप ही में परिमित नहीं हूँ, किन्तु संसार में जितने नाम हैं और जितने रूप हैं, वह सब मेरे हैं, इसलिए किसी विशेष

---

* बारहवें अध्याय में प्रेम के बर्ताव का स्पष्टीकरण देखिए।

नाम और विशेष रूप ही में आसक्ति रख कर उनके अवलम्बन मात्र ही से मेरी उपासना नहीं होती; क्योंकि विशेष नाम और विशेष रूप, चाहे कितने ही उच्च कोटि के माने जायँ, परन्तु उनमें दूसरों से पृथक्ता का भाव होने के कारण वे झूठे होते हैं। इसलिए सब नामों और रूपों को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरा ही खेल समझ कर सबके साथ अपनी एकता के अनुभव-पूर्वक सबसे प्रेम करने से ही मेरी उपासना होती है। मेरी उपासना के लिए न तो किसी सांसारिक पदार्थ को त्यागने की आवश्यकता है, और न यज्ञ, उत्सव, भोग, प्रसाद आदि के समारोह करने से अथवा शरीर को कष्ट देने वाले व्रत, उपवास आदि नाना प्रकार के तप करने से ही मेरी उपासना होती है, किन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जो अपने रात-दिन के स्वाभाविक व्यवहार करते हैं, उन्हीं में सबकी एकता-रूप मेरा स्मरण करते रहना ही मेरा वास्तविक यजन-पूजन है। दूसरे शब्दों में जो शरीर-यात्रा के प्रत्येक व्यवहार में सदा यह स्मरण रखता है कि "सबके एकत्व-भाव = परमात्मा ही के प्रसाद से सब-कुछ हो रहा है, अर्थात् सबकी सहायता और सहयोग से ही प्रत्येक व्यवहार सिद्ध होता है," और जो दूसरों के शारीरिक व्यवहारों में सहायता और सहयोग देता रहता है, वही सच्चा उपासक और भक्त है। सारांश यह कि अखिल विश्व को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरा ही रूप समझ कर सबके साथ अनन्य-भाव के प्रेम-युक्त यथायोग्य समता का व्यवहार करना ही मेरी सच्ची उपासना है। यह उपासना सभी स्त्री, पुरुष, धनी, गरीब, ऊँच, नीच, छोटे, बड़े, सबल, निर्बल, विद्वान्, मूर्ख समान रूप से, स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता-पूर्वक अत्यन्त सुगमता से कर सकते हैं। किसी भी प्रकार के जाति-भेद, कुल-भेद, वर्ग-भेद, धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद, देश-भेद, काल-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, पद-भेद, अवस्था-भेद आदि की बाधा बिना सबको इसका एक समान अधिकार है। दूसरे मज़हबी अथवा धार्मिक कर्मकाण्डों की तरह किसी जाति-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, वर्ण-विशेष, आश्रम-विशेष अथवा पद-विशेष का ठेका (Licence) इसमें नहीं है; क्योंकि सबके साथ प्रेम करने के लिए किसी भी प्रकार की विशेष योग्यता, विशेष शक्ति, विशेष ऐश्वर्य आदि साधनों की अपेक्षा नहीं रहती, और न किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट ही रहती है। जहाँ भेद-भाव और राग-द्वेष होते हैं, वहीं ये अड़चनें और रुकावटें होती हैं। (परमात्मा की सच्ची उपासना अथवा भक्ति का विस्तृत वर्णन आगे बारहवें अध्याय में है; उपरोक्त स्पष्टीकरण उसी वर्णन को लक्ष्य करके किया गया है)।

इस एकत्व-भाव की उपासना से अपवित्र माने जाने वाले पवित्र हो जाते हैं, नीच माने जाने वाले उच्च हो जाते हैं, निर्बल सबल हो जाते हैं, निर्धन संपत्तिशाली

हो जाते हैं, और मूर्ख विद्वान् हो जाते हैं, अर्थात् जिसमें जिस विषय की कमी होती है, वह सब मिट कर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि-रूप परम-पद की प्राप्ति सबको एक समान हो जाती है। इसलिए मनुष्य (स्त्री-पुरुष) का एक मात्र कर्तव्य उपरोक्त अनन्य-भाव की उपासना-रूप से कथन किया हुआ सबके साथ एकता के प्रेम-युक्त साम्य-भाव का व्यवहार ही है।

अत्यंत लज्जा एवं शोक का विषय है कि वर्तमान में अधिकांश भारतवासी महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता जैसे सर्वलोक-हितकर एवं सार्वजनिक—जगन्मान्य उपदेश की अवहेलना करके उसके सर्वथा विरुद्ध आचरण करने ही में अपना गौरव समझते हैं। भगवान् तो कहते हैं कि "मैं परमात्मा किसी व्यक्ति-विशेष में परिमित नहीं हूँ, किन्तु सर्वव्यापक हूँ एवं जगत् सब मेरा ही व्यक्त स्वरूप है; अतः सबके साथ प्रेम करना ही मेरी भक्ति या उपासना है"; परन्तु भारतवासी उसके विपरीत, ईश्वर को सबसे अलग—आसमान में अथवा दूसरे लोकों में बैठा हुआ एक व्यक्ति मान कर उसे दूर से बुलाते हैं, और उससे अपनी नाना प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि करना चाहते हैं तथा उसे किसी स्थान-विशेष में बन्द करके अपने ताले के भीतर रखना चाहते हैं; और जगत् को उससे भिन्न मान कर एक दूसरे से घृणा, तिरस्कार और द्वेष करना धर्म समझते हैं। भगवान् कहते हैं कि "मैं सबका आत्मा सबके अन्दर ही हूँ"; परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध उसे कहीं बर्फ से लदे हुए पहाड़ों की चोटियों पर, अथवा पर्वतों की गुफाओं में, अथवा जंगलों एवं नदी-नालों अथवा समुद्रों में अथवा ग्रामों एवं नगरों की तंग गलियों में तथा मन्दिरों और मठों में ढूंढ़ते फिरते हैं। भगवान् कहते हैं कि "संसार में जितने नाम और रूप हैं और जितने पदार्थ हैं वे सब मेरी कल्पना हैं, और मेरी उपासना के लिए किसी भोग्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है"; परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध विशेष रूपों की मूर्तियाँ बना कर उन्हीं में उसे परिमित मान कर उनके सामने विविध प्रकार के भोग-प्रसाद तथा भोग्य पदार्थों के ढेर के ढेर करके उनका अपव्यय करते हैं, और जिन शरीरों को उन पदार्थों की अत्यन्त आवश्यकता रहती है उन्हें नहीं देते। भगवान् कहते हैं कि "मेरी उपासना में स्त्री, पुरुष, ऊँच, नीच आदि सबको एक समान अधिकार है"; परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध अपने आधे अंग—स्त्रियों को, और समाज की निःस्वार्थ-भाव से सेवा करने वाले कर्तव्य-परायण अपने भाइयों को हीन-वर्ण का मान कर उनको सब अधिकारों से वंचित रखना ही परम धर्म मानते हैं। जो वेद, ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है, अथवा ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना जाता है, और जो श्रीकृष्ण, सर्वव्यापक ईश्वर का अवतार माना जाता है, उसी ईश्वर की स्पष्ट आज्ञा होते हुए भी, उसके विरुद्ध

ये लोग स्त्रियों और शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं मानते। यद्यपि भगवान् कहते हैं कि "मैं सब भूत-प्राणियों में एक समान हूँ, जो भक्ति-पूर्वक मुझे भजता है वह मुझ में है और मैं उसमें हूँ"; परन्तु ईश्वर के नाम पर स्थापित मन्दिरों और देवालयों में उसके सच्चे भक्त हरिजनों (अछूत माने जाने वाले भाइयों) को उपासना के लिए जाने नहीं दिया जाता। यद्यपि कहने के लिए तो ईश्वर अपवित्रों को पवित्र करने वाला कहा जाता है, परन्तु उन अछूत माने जाने वालों के स्पर्श से ईश्वर के भी अपवित्र हो जाने का मिथ्या भ्रम किया जाता है। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन अछूत माने जाने वाले हरिजनों के पूर्वज कबीर, रैदास प्रभृति अनेक आत्मज्ञानियों ने अपने अतुलनीय अध्यात्म-ज्ञान से भारतवर्ष को ही नहीं, किन्तु सारे जगत् को चकित कर दिया था, और जिनने निडर होकर इन मज़हबी और साम्प्रदायिक अन्ध-विश्वासों की जोरदार शब्दों में निन्दा की थी, उन्हींके अनुवर्ती—वर्तमान के हरिजन लोग—साम्प्रदायिक अन्ध-विश्वासों के इतने पीछे पड़े हुए हैं कि जिन मन्दिरों और देवालयों में ईश्वरोपासना की इतनी विडम्बना हो रही है, उन्हीं में जाने से वे अपना कल्याण समझते हैं, और एक सम्प्रदाय के हठधर्मी लोगों के अत्याचारों से पीड़ित तथा तिरस्कृत होकर, दूसरे किसी सम्प्रदाय के हठधर्मियों के चंगुल में फंसना अपने लिए हितकर समझते हैं। मज़हब, धर्म अथवा सम्प्रदाय, ऊपर से देखने में चाहे कितने ही सुहावने और लाभकारी क्यों न प्रतीत हों, वास्तव में वे एक-दूसरे से अधिक बन्धनों में बान्धने वाले, अन्ध-विश्वासों में जकड़ने वाले, बलात् दुराचारों में प्रवृत्त कराने वाले, आत्म-सम्मान और स्वावलंबन के विरोधी एवं आत्मिक पतन के प्रधान कारण होते हैं। कोई भी मज़हब और सम्प्रदाय मनुष्य का मनुष्यत्व नहीं रहने देता। एक बार किसी मज़हब के घेरे में फँसने के बाद उससे निकलना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है, और मज़हबी घेरे से निकले बिना मनुष्य को किसी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। यह दर्शन-शास्त्रों ही की महिमा है कि वे मनुष्य की साम्प्रदायिक अथवा मज़हबी बेड़ियां तोड़ कर स्वतंत्र विचार करने का अवसर देते हैं; और यह वेदान्त दर्शन का ही अनुपम साहस है कि वह खुले आम कहता है कि "ईश्वर, परमात्मा अथवा आत्मा जो कुछ है, वह "तू" ही है। जो "तू" एक शरीर में है, वही "तू" सब शरीरों में है—"तेरे" सिवाय और कुछ नहीं है (छान्दोग्य-उप० प्रपा० ६)। यह जगत् सब "तेरा" ही खेल है। "तू" अपने वास्तविक आपको छोड़ कर और किसकी तलाश करता है? यदि सुख की तलाश करता है तो सुख-स्वरूप "तू" है। यदि ज्ञान की तलाश करता है तो ज्ञान-स्वरूप "तू" है। यदि धन चाहता है तो अक्रूर संम्पत्ति-रूप "तू" है और यदि बल-वैभव की तलाश करता है तो बल-वैभव-रूप स्वयं "तू" है। अपने-आप, अपनी असलियत,

अपने वास्तविक स्वरूप को समझ, और निर्भय, स्वतंत्र अथवा मुक्त हो"। यही विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या अथवा समत्व-योग भगवान् ने गीता में सबके लिए समान भाव से कहा है। अन्य किसी भी धर्म, मज़हब अथवा सम्प्रदाय वालों को इस प्रकार के सर्व-श्रेष्ठ एवं अटल सुख-शान्तिदायक साम्य-भाव का राज-ढिंढोरा पीटने की हिम्मत नहीं।

कितने खेद का विषय है कि पूर्ण सुख-शान्ति के देने वाले सच्चे एवं निर्दोष साम्य-भाव की व्यवस्थाओं के अनुपम भण्डार श्रीमद्भगवद्गीता के विद्यमान रहते हुए भी भारतवासी उसकी उपेक्षा करके अथवा उसके रहस्य को न समझ कर, उसके विपरीत परस्पर में अत्यन्त विषमता का विरुद्धाचरण कर रहे हैं; जिसका भयावह परिणाम अथवा प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष रूप से सामने उपस्थित है, कि अनेक दोषों से परिपूर्ण एवं अत्यन्त दुःख-परिणाम वाला भौतिक साम्य-वाद दूर देशों से आकर यहाँ के लोगों के उपरोक्त विरुद्धाचरणों का दुष्परिणाम भुगताने की तैयारी कर रहा है। यदि भारतवासी सामने आती हुई इस महान् विपत्ति को देखते हुए भी समय रहते चेत कर अपने विषम व्यवहार ठीक न करेंगे, और श्रीमद्भगवद्गीता में कहे हुए साम्य-भाव अथवा समत्व-योग के उपदेशों की उपेक्षा करते हुए, वर्तमान में सुखकर प्रतीत होने वाली विषमताओं* से भरी हुई दूषित सामाजिक व्यवस्थाओं के नशे में पड़े रह कर विरुद्धाचरणों में लगे रहेंगे, तो वह समय अब अधिक दूर नहीं है जब कि भौतिक साम्य-वाद के प्रचार से सर्व-विध्वंसकारी प्रलय उमड़ कर इस देश को तहस-नहस कर डाले—फिर सिवाय रोने और अपनी करनी पर पछताने के और कुछ भी न बन पड़ेगा, और तब इन विषयों पर गंभीरता से विचार करने का अवकाश भी न मिलेगा।

॥ नवमाँ अध्याय समाप्त ॥

---

* गीता अ० ५ श्लोक १८ का स्पष्टीकरण देखिए।

दसवाँ अध्याय
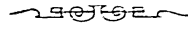
इस दसवें अध्याय में भगवान् अपनी पूर्वकथित सर्वरूपता के विज्ञान-सहित ज्ञान का सिलसिला चालू रखते हुए अर्जुन के प्रार्थना करने पर अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियों, यानी आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष रूप से अभिव्यक्ति के स्थलों का संक्षिप्त वर्णन करके, आत्मा अथवा परमात्मा के प्रत्यक्ष अस्तित्व और उसकी सर्व-व्यापकता की पुष्टि करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे महाबाहो ! (मेरे उपदेशों में) तेरी प्रीति होने के कारण, मैं तेरे हित के लिए, फिर भी जो परम रहस्य की बात कहता हूँ सो सुन । तात्पर्य यह कि जो किसी उपदेश में प्रेम रखता है, उसी को हितकार उपदेश बार-बार दिया जा सकता है (१) । मेरे प्रभव अर्थात् उत्पत्ति, अथवा प्रभा

यानी महिमा को न तो देवता लोग जानते हैं और न महर्षि गण ही, क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का भी सब प्रकार से आदि (कारण) हूँ। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से प्रत्येक शरीर में रहने वाली देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद लेने, स्पर्श करने, संकल्प करने एवं विचारने आदि की सूक्ष्म शक्तियाँ, और आँख, नाक, कान, जीभ आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से इन सबके समष्टि-भाव—जिनकी क्रमशः देवता और महर्षि संज्ञा है, वे सब आदि वाले हैं, अर्थात् वे सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरे संकल्प से उत्पन्न होते हैं, अतः वे आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप मेरी उत्पत्ति और महिमा को नहीं जान सकते (२)। जो मुझ (आत्मा अथवा परमात्मा) को अज अर्थात् जन्म से रहित, अनादि अर्थात् आरम्भ से रहित और सब लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्य मोह से रहित (होकर) सब पापों से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से आत्मा को अजन्मा, अनादि और देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि सारे संघात का स्वामी, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से परमात्मा को अजन्मा, अनादि और सब लोकों का महान् ईश्वर जानने से अज्ञान-जन्य सब पापों से छुटकारा अवश्य हो जाता है (३)। बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति, ज्ञान अर्थात् सत्-असत् का विवेक, असंमोह अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य के विषय में विमूढ़ न होना, क्षमा अर्थात् सहनशीलता, सत्य अर्थात् सचाई, दम अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह, शम अर्थात् मन का संयम, सुख अर्थात् अनुकूल वेदना, दुःख अर्थात् प्रतिकूल वेदना, भव अर्थात् होना और अभाव अर्थात् न होना, भय अर्थात् डर और अभय अर्थात् निडरता, अहिंसा अर्थात् किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना, समता अथात् अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में एक समान रहना, तुष्टि अर्थात् तृप्ति, तप अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित तीन प्रकार का शिष्टाचार, दान अर्थात् द्रव्य का देना, यश अर्थात् कीर्ति, अयश अर्थात् निन्दा इत्यादि, प्राणियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव मुझ आत्मा अथवा परमात्मा से ही होते हैं। तात्पर्य यह कि प्राणियों के अन्तःकरण के जो बीस प्रकार के भाव इन दो श्लोकों में गिनाये हैं, और इनके अतिरिक्त काम, क्रोध, हर्ष, शोक, राग, द्वेष, भूख, प्यास आदि और भी अनेक प्रकार के जो भाव होते हैं, वे सब आत्मा अथवा परमात्मा की चेतन-शक्ति से होते हैं—जहाँ आत्मा की विशेष चेतना यानी विशेष अभिव्यक्ति होती है वहीं ये भाव होते हैं (४-५)। पूर्व के सात महर्षि और चार मनु, मेरे संकल्प से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, जिनसे जगत् में यह प्रजा हुई है। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से व्यष्टि आत्मा के संकल्प से, पहले-पहल दो कान, दो आँख, दो नाक और एक जिह्वा—इन सात ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म भाव, और मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के समूह अन्तःकरण-चतुष्टय उत्पन्न होते हैं, फिर इनसे शरीर के सब अवयव होते हैं;

और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प से उपरोक्त सात ज्ञानेन्द्रियों के समष्टि-भाव = सप्त महर्षि (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० २ मं० ३-४), और अन्तःकरण-चतुष्टय के समष्टि-भाव चार मनु, सृष्टि के आदि में पहले-पहल उत्पन्न होते हैं; और फिर इनसे सारी सृष्टि होती है। व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था पिण्ड की है, समष्टि रूप से उसी तरह की व्यवस्था ब्रह्माण्ड की है (६)। मेरी इस विभूति और योग के रहस्य को, अर्थात् एक से अनेक भाव होने के अद्भुत कौशल को जो तत्त्व से जानता है, वह अविचल समत्व-योग से युक्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा-स्वरूप "मैं" जिस तरह एक से अनेक भावों में व्यक्त होता हूँ, उस "एक में अनेक और अनेकों में एक" के रहस्य को जो तात्त्विक विचारपूर्वक अच्छी तरह समझ लेता है, वही पक्का समत्वयोगी होता है (७)। बुद्धिमान् लोग यह मान कर कि "मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मेरे से ही सबकी प्रवृत्ति होती है" प्रेमभाव से मेरी उपासना करते हैं (८)। (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें मन लगा कर (और) प्राणों को मुझमें जोड़ कर अर्थात् श्वासोच्छ्वास में मेरा स्मरण करते हुए, (तथा) परस्पर में बोध कराते हुए एवं मेरे विषय में चर्चा करते हुए सदा उसी में तृप्त यानी मस्त रहते हैं, और उसी में रमण करते हैं अर्थात् आनन्दित होते हैं (९)। निरन्तर मुझमें मन लगाये हुए उन प्रीतिपूर्वक (मेरा) भजन करने वालों को मैं वह (तत्त्वज्ञान-रूप) बुद्धि-योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझमें आ मिलते हैं (१०)। उन पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ, देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश करता हूँ (११)। श्लोक ८ से ११ तक का तात्पर्य यह है कि जो लोग उपरोक्त वर्णन के अनुसार सबके आत्मा = परमात्मा को सबका कारण, सबका आधार एवं सबका प्रवर्तक मान कर निरन्तर उसके स्मरण में लगे रहते हैं, और सदा इसी विषय की चर्चा और कथा-कीर्तन आदि के अभ्यास में प्रसन्नता और शान्ति पाते हैं, सबके आत्मा = परमात्मा के अनुग्रह से उनके अन्तःकरण में आत्मज्ञान का प्रकाश होकर भेद-भाव रूप अज्ञान मिट जाता है, अर्थात् उनकी बुद्धि सबकी एकता के तत्त्वज्ञान अथवा समत्व-योग से परिपूर्ण हो जाती है; जिससे आत्मा और परमात्मा का अभेद-ज्ञान होकर उन्हें स्वयं यह अनुभव हो जाता है कि "मैं" ही सबका आदि कारण, सबका आधार एवं सबका प्रवर्तक हूँ, यानी सब-कुछ "मैं" ही हूँ—"मेरे" सिवाय और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में वे स्वयं पर-मात्म-स्वरूप हो जाते हैं (८ से ११)। अर्जुन ने प्रार्थना की कि आप परम ब्रह्म हो, परम धाम हो, परम पवित्र हो; सब ऋषि लोग, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आपको पुरुष अर्थात् परमात्मा, शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाला, दिव्य अर्थात् स्वतः

प्रकाशमान्, आदिदेव अर्थात् सब देवों का आदि कारण, अज अर्थात् जन्म से रहित और विभु अर्थात् सर्वव्यापक कहते हैं, और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हो। हे केशव ! आप मुझे जो (कुछ) कहते हो, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आपकी व्यक्ति अर्थात् आपके व्यक्त होने के रहस्य को अथवा आपके निर्दिष्ट व्यक्तित्व को न देव जानते हैं और न दानव ही। हे पुरुषोत्तम ! हे भूतों के उत्पन्न करने वाले ! हे भूतों के स्वामी ! हे देवों के देव ! हे जगत्पते ! आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हो। तात्पर्य यह कि दूसरे श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा था कि मेरे प्रभाव को देवता और महर्षि कोई भी नहीं जानते, अर्जुन उसी भाव को दुहरा कर कहता है कि जो आप कहते हो वह बिलकुल ठीक है; ब्रह्माण्ड की दृष्टि से देवता और दैत्य आदि कोई भी आपकी महिमा को नहीं जानते — आप परमात्मा ही अपने-आपको जानते हो; और पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ, आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकतीं–आत्मा केवल अपने-आपके अनुभव ही का विषय है; "मैं हूँ" यह अनुभव मन के संकल्प से, बुद्धि के विचार से तथा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से नहीं होता, किन्तु अपने-आप ही होता है। सुषुप्ति अवस्था में जब मन, बुद्धि और इन्द्रियों के सारे व्यापार बन्द होते हैं, तब भी "मैं हूँ" यह अनुभव बना रहता है। अतः आत्मा केवल अपने अनुभव का विषय है अर्थात् स्वयं संवेद्य है (१२-१५)। आप ही कृपा करके अपनी सारी दिव्य विभूतियों अर्थात् चमत्कारिक विशेष भावों का वर्णन करिए, जिन विभूतियों से आप इन लोकों में व्याप्त हो कर स्थित हो। हे योगिन् ! मैं सदा किस प्रकार से चिन्तन करता हुआ आपको जानूं ? हे भगवान् ! मैं आपका किन-किन भावों (अथवा पदार्थों) में चिन्तन करूँ ? हे जनार्दन ! आप अपने योग और विभूति को, अर्थात् एक से अनेक चमत्कारिक भाव होने के अद्भुत कौशल को फिर से विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि इस अमृत (रूप भाषण) को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती (१६-१८)।

स्पष्टीकरण—उपासना के प्रकरण में भगवान् ने अपनी सर्वरूपता का वर्णन करते हुए अनेक स्थलों पर यह कहा कि "मैं सूक्ष्म एवं अव्यक्त भाव से सर्वत्र व्याप रहा हूँ, पर मुझे तत्त्वतः जानना अत्यंत कठिन है"; और इस अध्याय के आरंभ में भी कहा है कि "मेरे प्रभाव को महर्षि और देवता गण भी नहीं जानते"। इस पर अर्जुन ने भगवान् की स्तुति करके निवेदन किया कि जब कि आपके अव्यक्त भाव को और अव्यक्त से व्यक्त होने के रहस्य को जानना इतना कठिन है कि स्वयं आपके सिवाय दूसरा कोई जान ही नहीं सकता तो आप (सबके आत्मा = परमात्मा) के अस्तित्व का निश्चय ही कैसे हो ? आप कहते हो कि मैं सब इन्द्रियगोचर पदार्थों

तथा मानसिक भावों में समान भाव से व्याप रहा हूँ, परन्तु उन व्यक्त पदार्थों और भावों में रहने वाले आपके अव्यक्त एवं सम भाव को पहिचान कर आप (आत्मा अथवा परमात्मा) के अस्तित्व का पता ही कैसे लगाया जाय ? प्रत्येक व्यक्ति अथवा पदार्थ के अस्तित्व का निश्चय उसकी विशेषता से होता है, परन्तु आपने तो अपने उपरोक्त वर्णन में सर्वत्र अपनी समता का ही पाठ पढ़ाया है, कोई विशेषता नहीं बताई। अतः "(सबके आत्मास्वरूप) आप अव्यक्त भाव से सारे विश्व में व्याप रहे हो, और यह जगत् आप ही का व्यक्त स्वरूप है"—इस उपदेश को मन पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सकता। आप बार-बार कहते हो कि जो श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है वह मुझे जान सकता है, सो श्रद्धा भी वहाँ होती है, जहाँ कोई विशेष चमत्कार अथवा असाधारण एवं अद्भुत बनाव देखने में आता है; जहाँ कोई विशेषता नहीं होती—सर्वत्र समानता होती है—वहाँ श्रद्धा भी नहीं होती। इसलिए आप कृपा करके अपनी विशेषताओं को बताइए, अर्थात् अपने उन अद्भुत एवं चित्त को चौंकाने वाले विशेष चमत्कारिक भावों और रूपों का वर्णन कीजिए, जिनमें सबके आत्मा-स्वरूप आपकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती हो, और जिनके चिन्तन से आप (आत्मा अथवा परमात्मा) का अस्तित्व चित्त पर विशेष रूप से अंकित हो सके। यद्यपि सातवें अध्याय के ८ से ११ तक के तीन श्लोकों में जल आदि स्थूल पदार्थों में उनके सूक्ष्म सार रूप से आप (आत्मा) का अस्तित्व आपने बताया है, और नवमें अध्याय के १६ वें से १९ वें तक के श्लोकों में "मैं क्रतु हूँ", "मैं यज्ञ हूँ" आदि वर्णनों से आपने सब पदार्थों में अपना सर्वात्म-भाव कहा है, और इस अध्याय में "बुद्धि, ज्ञान आदि सूक्ष्म भाव मुझसे ही होते हैं" कह कर सूक्ष्म रूप से अपना (आत्मा अथवा परमात्मा का) अस्तित्व प्रतिपादन किया है; परन्तु यह सब, आपके अत्यन्त सूक्ष्म इन्द्रियातीत एवं सामान्य भाव का वर्णन होने के कारण आपकी सर्वत्र अवस्थिति अर्थात् सब जगह आपके अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान और दृढ़ निश्चय कराने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए आप अपने उन चमत्कारिक एवं आश्चर्य-जनक विशेष भावों का वर्णन करने की कृपा कीजिए, जिनमें आपका अस्तित्व विशेष रूप से अभिव्यक्त अथवा विकसित हुआ प्रतीत होता हो, और जिनके अवलम्बन से आपका चिन्तन करके आपको जानना सुगम हो जाय। अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् विशेष आत्म-विकास वाली मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन आगे करते हैं। परन्तु उन विभूतियों के वर्णन के साथ ही यह बात स्पष्ट कर देते हैं कि आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप "मैं" किसी विभूति में परिमित नहीं हूँ, किन्तु सर्वत्र एक समान हूँ, तथा सबसे परे भी हूँ; और इन विभूतियों में मेरे एक अंश मात्र का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक समान होता है, परन्तु

काच आदि चमकदार पदार्थों में प्रतिबिम्बित होकर उसकी विशेष चमक प्रतीत होती है; उसी तरह "मैं" सबका आत्मा सर्वत्र एक समान हूँ, परन्तु विशेष विभूतियों में विशेष रूप से प्रदर्शित होता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।

पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि बहुत अच्छा, हे कुरुश्रेष्ठ ! मैं तुझे अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य अर्थात् चमत्कारिक विभूतियाँ कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों का कोई पार नहीं है। हे गुडाकेश ! मैं आत्मा सब भूत-प्राणियों के हृदय (अन्तःकरण) में रहता हूँ; मैं ही भूत-प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ। तात्पर्य यह कि यद्यपि भूत-प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि सब-कुछ "मुझ"=आत्मा ही से हैं, यानी "मैं" आत्मा ही सब-कुछ हूँ, परन्तु आत्मा-स्वरूप "मेरी" विशेष रूप से अभिव्यक्ति सबके हृदय में होती है। हृदय ही सब प्राणियों की जीवन-शक्ति का केन्द्र होता है (१६-२०)। आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, प्रकाशवानों में किरणों वाला सूर्य, मरुतों में मरीचि हूँ, (और) नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ (२१)। वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूत-प्राणियों में चेतना हूँ (२२)। रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष-राक्षसों में कुबेर हूँ, वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवालों (पर्वतों) में सुमेरु मैं हूँ (२३)। हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे जान, सेनापतियों में स्कंद (स्वामी कार्तिकेय) मैं हूँ, जलाशयों में समुद्र हूँ (२४)। महर्षियों में भृगु मैं हूँ, वाणी अर्थात् शब्दों में एक-अक्षर (ओंकार) हूँ, यज्ञों में जप यज्ञ हूँ, स्थावरों (स्थिर रहने वालों) में हिमालय हूँ (२५)। सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि हूँ (२६)। घोड़ों में अमृत-मन्थन के समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा, गजेन्द्र—हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मुझे जान (२७)। अस्त्र-शस्त्रों में वज्र मैं हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ, और प्रजा उत्पन्न करने वाला काम हूँ, एवं सर्पों में वासुकि हूँ (२८)। नागों में शेषनाग हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा हूँ और नियमन करने वालों में यम मैं हूँ (२९)। दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालों में काल (समय) मैं हूँ, पशुओं में सिंह मैं हूँ और पक्षियों में गरुड़ हूँ (३०)। वेगवानों में वायु हूँ, शस्त्रधारियों में रामचन्द्र मैं हूँ, मत्स्यों में मगर हूँ और नदी-नालों में गंगा हूँ (३१)। हे अर्जुन ! सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ, विद्याओं में अध्यात्म-विद्या, और वाद करने वालों का वाद मैं हूँ (३२)। अक्षरों में अकार हूँ, और समास-समूह में द्वन्द्व (समास) हूँ; मैं ही अक्षय काल हूँ, और सर्वतोमुख धाता अर्थात् सारे विश्व को धारण करने वाला मैं हूँ (३३)। सबका संहार करने वाली मृत्यु भी मैं हूँ, और भविष्य में होने वालों का उत्पत्ति-स्थान हूँ, स्त्रियों में कीर्ति (प्रख्याति), श्री (शोभा), वाक् (वाणी), स्मृति (स्मरण-शक्ति), मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा (सहनशीलता) हूँ (३४)। सामवेद के मन्त्रों

में बृहत्साम, और छन्दों में गायत्री मैं हूँ, महीनों में मगसिर, ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ, (३५)। छल करने वालों में जुआ हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ; जय हूँ, व्यवसाय हूँ (और) सत्त्ववानों का सत्त्व मैं हूँ (३६)। वृष्णियों में वासुदेव (कृष्ण) हूँ, पाण्डवों में धनंजय (अर्जुन) हूँ, मुनियों में व्यास भी मैं हूँ और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ (३७)। दमन करने वालों का दण्ड हूँ, जय की इच्छा करने वालों की नीति हूँ, और गुप्त रखने वालों में मौन और ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ (३८)। और हे अर्जुन! सब भूतों का जो बीज है, वह भी मैं ही हूँ; ऐसा कोई चर-अचर भूत-प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो, अर्थात् में ही जगत्‌रूप होकर स्थित हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है (३९)। हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का (कोई) अन्त नहीं है; यह विभूतियों का वर्णन तो मैंने नाम मात्र के लिए (नमूने के तौर पर) कहा है (४०)। जो-जो सत्त्व अर्थात् जो-जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा वस्तु, विशेष विभूति-सम्पन्न अर्थात् विशेष गुण, अथवा विशेष कला, अथवा विशेष योग्यता से सम्पन्न हो अथवा सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, कान्ति, सुन्दरता, शोभा एवं शुभ लक्षणों से युक्त—विशेष रूप से चित्ताकर्षक हो; अथवा विशेष शक्ति, तेज, ओज, प्रतिभा, प्रभाव, साहस, महानता, उच्चता, उदारता, गंभीरता आदि से युक्त—विशेष सम्माननीय एवं प्रख्याति-प्राप्त हो, उस-उसको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझ, अर्थात् उसमें आत्मा की विशेष रूप से विकास जान (४१)। और हे अर्जुन! तुझे इस बहुत से (विस्तार) को जान कर क्या करना है? (तू यही समझ कि) मैं इस संपूर्ण जगत् को (अपने) एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ, अर्थात् मुझमें जो अनन्त ब्रह्माण्डों का दृश्य बनता और लय होता रहता है, उस सबमें से यह भी एक छोटा-सा जगत् है (४२) ३८ वें श्लोक तक भगवान् ने थोड़ी-सी विभूतियों का वर्णन करके उसके उपसंहार में ३९ वें से ४२ वें श्लोक तक विशेष रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि विभूतियों के अधिक वर्णन से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि समुद्र की लहरों की तरह नाम-रूपात्मक इन विभूतियों का कोई अन्त नहीं आता। विभूतियाँ अनन्त संख्या में उपजती और मिटती रहती हैं। मनुष्य यदि इन्हीं को पूर्णतया जानने और इनका अन्त लेने का प्रयत्न करे, अथवा इनकी उपासना और इनके स्मरण में ही लगा रहे तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—इनसे उसका कल्याण नहीं होता, अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति नहीं होती (छान्दोग्य-उप० प्रपा० ७)। वास्तव में जो इन विभूतियों का मूल कारण, इनका आधार एवं इनकी सत्ता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्डों के बनाव हो-होकर लय होते रहते हैं, और जिसके किसी एक अंश में इस जगत् का अस्तित्व प्रतीत हो रहा है, उसीको जानना चाहिए—जिस एक को जानने से सब-कुछ जाना जाता है (छान्दोग्य-

उपनि० प्रपा० ६ खण्ड १ मन्त्र ३ से ६)। यदि उसे नहीं जाना तो विभूतियों का जानना निष्फल है। अस्तु; यह समझना चाहिए कि जगत् के इस बनाव में जो-जो विशेष चमत्कारी एवं प्रभावोत्पादक भाव दृष्टिगोचर होते रहते हैं, उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है, अर्थात् वे भाव उसके अस्तित्व के विशेष रूप से द्योतक हैं—विभूति-वर्णन का असली तात्पर्य यही है (३६ से ४२)।

स्पष्टीकरण—सबका आत्मा = परमात्मा सकल जगत् में परिपूर्ण है, अथवा अखिल विश्व आत्मा अथवा परमात्मा-मय है, अथवा परमात्मा ही विश्वरूप होकर स्थित है, अथवा परमात्मा सर्वत्र एक समान व्याप्त है –इत्यादि सामान्य वाक्यों पर यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म और गंभीर विचार करने से आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व का बोध हो सकता है, परन्तु साधारणतया इस तरह के सूक्ष्म विषयों में मन का ठहरना अत्यन्त ही कठिन होता है। नाना भावों, नाना रूपों एवं नाना नामों का साधारण प्रवाह-रूप जगत्, जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर हो रहा है, उसी को मन की वृत्ति विषय करती है। उस इन्द्रिय-गोचर साधारण प्रवाह के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा के सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने के रहस्य को मन की वृत्ति तब तक ग्रहण नहीं कर सकती, जब तक कि उस पर किसी ऐसी विशेषता का प्रभाव न पड़े कि जिसका कोई दृष्ट कारण समझ में न आ सके। यदि श्रद्धा-विश्वास करके आत्मा अथवा परमात्मा को मानने का प्रयत्न किया जाय तो भी वह निश्चय चिरस्थायी नहीं रह सकता। श्रद्धापूर्वक प्राप्त की हुई यह भावना, कि "जगत् के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा सर्वत्र समान रूप से स्थित है," थोड़ी देर तक ठहर कर फिर लुप्त हो जाती है, और मन जगत् के इन्द्रिय-गोचर स्थूल प्रवाह ही में लगा रहता है—आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व का निरंतर ध्यान नहीं रहता। जिन लोगों के अन्तःकरण में श्रद्धा नहीं होती, उनके मन पर तो आत्मा अथवा परमात्मा के समान रूप से सर्वव्यापक होने के व्याख्यानों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। जब तक समानता के अन्दर किसी प्रकार की विशेषता का प्रभाव मन पर अंकित नहीं हो जाता—जिस विशेषता का कोई दृष्ट कारण समझ में न आ सके, तब तक वह किसी अदृष्ट अथवा अचिन्त्य शक्ति के मानने को तैयार नहीं होता। जगत् का साधारण प्रवाह तो सदा स्वाभाविक रूप से चल ही रहा है, इसमें आत्मा अथवा परमात्मा के अदृष्ट अस्तित्व का प्रभाव मन पर जमने के लिए कोई विशेष कारण होना चाहिए। संसार में अगणित व्यक्ति और अगणित पदार्थ होते हैं; परन्तु जब तक किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की किसी प्रकार की विशेषता मन पर अंकित नहीं होती, तब तक उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपना प्रभाव जमाने के लिए किसी न किसी प्रकार की विशेषता प्रदर्शित करने के आवश्यकता सबको रहती है। मन का यह स्वभाव है

कि वह विशेषता की ओर अधिक आकर्षित होता है और उसी से प्रभावित होता है; और किसी व्यक्ति या पदार्थ में कोई विशेष चमत्कार अथवा आश्चर्य देखने पर, अथवा कोई ऐसी चमत्कारी अथवा आश्चर्य-जनक एवं अद्भुत घटना होने पर कि जिसके कारण का पता लगाने में वह असमर्थ होता है, उस विषय में उसकी श्रद्धा भी हो जाती है। सामान्यता से न श्रद्धा उत्पन्न होती है और न उसका कोई प्रभाव ही पड़ता है।

इसी आशय की अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने यहाँ पर अपनी यानी सबके आत्मा = परमात्मा की विशेष चमत्कारों युक्त आश्चर्य-जनक विभूतियों का वर्णन करके यह बताया है कि जगत् के साधारण (सामान्य) प्रवाह में जो असाधारण विशेषताएँ हैं, उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है; क्योंकि चेतन आत्मा के बिना जड़ जगत् के स्वाभाविक प्रवाह में ये विशेषताएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं, किन्तु जिस तरह टकसाल की मशीन में से एक-सा सिक्कों का प्रवाह निकलता है, उसी तरह सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रवाह एक-सा चलता रहता। अस्तु; ये विशेषताएँ आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व की पुष्टि करती हैं। इस वर्णन के आरंभ में सबसे पहले भगवान् ने यह कहा है कि "मैं सबका आत्मा, प्राणी मात्र के अन्तःकरण अथवा हृदय में स्थित हूँ।" यद्यपि आत्मा प्रत्येक देहधारी के अंग-प्रत्यंग अथवा रोम-रोम में व्यापक है, परन्तु हृदय में उसका विशेष चमत्कार व्यक्त होता है। हृदय ही सब प्रेरणाओं, चेष्टाओं, वेदनाओं एवं शक्तियों अर्थात् जीवन का केन्द्र है। वर्तमान के बिजली-घरों की तरह यह हृदय सारे शरीर का बिजली-घर (Power-House) है। शरीर का चाहे कोई अंग चेतनाशून्य हो जाय, परन्तु जब तक हृदय में चेतना रहती है, तब तक शरीर का जीवन बना रहता है। इन विशेषताओं के कारण सबसे पहले प्राणी मात्र के हृदय से ही विभूतियों के वर्णन का आरंभ किया गया है; और इस विभूति-वर्णन को केवल उत्तम, श्रेष्ठ अथवा पवित्र माने जाने वाले व्यक्तियों और पदार्थों तक ही परिमित नहीं रखा है, किन्तु जिस-जिस व्यक्ति अथवा पदार्थ में कोई विशेष गुण, विशेष चमत्कार अथवा अन्य किसी प्रकार की विशेषता हो, वह सब आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष विभूति बताई गई हैं। देवताओं के साथ ही दैत्यों में, मनुष्यों के साथ ही पशुओं में, चेतन पदार्थों के साथ ही जड़ पदार्थों में, पुरुषों के साथ ही स्त्रियों में एवं सात्विक पदार्थों के साथ ही राजस-तामस पदार्थों में भी आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति-रूप विभूति गिनाई है। यहाँ तक कि जुए जैसे अत्यन्त निकृष्ट छल-कौशल को, सर्प, सिंह एवं मगर आदि क्रूर जन्तुओं को, पीड़ा

देने वाले दण्ड को, और सबका संहार करने वाली मृत्यु को भी भगवान् ने अपनी विशेष विभूतियों में गिनाया है। अभिप्राय यह कि आत्मा अथवा परमात्मा तो सबमें एक समान व्यापक है, किन्तु जिस वस्तु में जिस विषय की प्रभावोत्पादक विशेषता हो, उसी में आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष रूप से अभिव्यक्ति बताई है। आत्मा अथवा परमात्मा सात्विक, राजस और तामस भेद वाले सब गुणों में, तथा सब पदार्थों में एक समान व्यापक है; वास्तव में उसमें उत्कृष्टता और निकृष्टता का भेद है नहीं। अतः जिस पदार्थ में जिस गुण का विशेष उत्कर्ष होता है, वही आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति का द्योतक होता है।

विभूति-वर्णन के पहले और उसके अन्त में भी भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "ये विभूतियाँ तो थोड़ी-सी नमूने के तौर पर कही हैं, वास्तव में मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं आता। विश्व में अनन्त विभूतियाँ भूतकाल में हो गई हैं, अनन्त वर्तमान में हैं और अनन्त ही भविष्य में होती रहेंगी। जिस-जिस व्यक्ति, जिस-जिस पदार्थ, जिस-जिस घटना अथवा जिस-जिस बनाव में जिस-जिस प्रकार की विशेषता अथवा चमत्कार प्रतीत हो, उस-उसमें आत्मा अथवा परमात्मा ही की विशेष अभिव्यक्ति अर्थात् विशेष विकास समझना चाहिए।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि विभूतियों का वर्णन इस समय किया जाता तो संभवतः वर्तमान में जो-जो व्यक्ति अथवा पदार्थ अथवा घटनाएँ संसार में विशेष प्रभावोत्पादक एवं चमत्कारी मानी जाती हैं, उनकी गणना भी परमात्मा की विभूतियों में की जाती; अर्थात् जो-जो असाधारण प्रतिभाशाली बुद्धिमान, विद्वान् एवं तत्ववेत्ता महापुरुष, प्रतापी शासक, धुरन्धर राजनीतिज्ञ, महाबली शूरवीर, प्रसिद्ध वैज्ञानिक, मनोहर ललित कलाओं के प्रख्यात विशेषज्ञ, जगद्विख्यात कवि, अतुल सम्पत्तिशाली धन-कुबेर हैं, इसी तरह अन्य गुणों एवं कलाओं में असाधारण विशेषता रखने वाले व्यक्ति हैं; तथा संसार को चकित करने वाले जो-जो वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं, एवं अद्भुत घटनाएँ घटती हैं—वे सब परमात्मा की विभूतियों के वर्णन में सम्मिलित किये जाते। तात्पर्य यह कि पृथ्वी पर समय-समय पर विशेष गुण, कला, योग्यता, शक्ति, तेज, वैभव आदि से सम्पन्न अद्भुत चमत्कारिक व्यक्ति और पदार्थ हो गये हैं, होते रहते हैं और भविष्य में होते रहेंगे, जिनका कोई अन्त नहीं है; उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व और प्रभाव विशेष रूप से प्रकट होता है; परन्तु आत्मा अथवा परमात्मा इन विभूतियों में ही परिमित नहीं होता, न इनमें रुका हुआ रहता है। इन अनन्त विभूतियों से भरा हुआ यह विश्व, आत्मा अथवा परमात्मा के किसी एक अंश में प्रकट हो-हो कर लय होता रहता है। जिस

तरह आकाश के किसी विशेष भाग में बादल, बिजली आदि हो-हो कर मिटते रहते हैं, परन्तु सारा आकाश बादलों से घिरा हुआ नहीं रहता, न आकाश बादलों में रुका हुआ ही रहता है; उसी तरह आत्मा अथवा परमात्मा के किसी अंश में ये नाना प्रकार की विभूतियाँ उत्पन्न होती और फिर उसीमें लय होती रहती हैं, परन्तु आत्मा उन सबसे स्वतन्त्र और अलिप्त रहता है।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, यह विभूतियों का वर्णन आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व एवं प्रभाव को विशेष रूप से चित्त पर अंकित करने के अभिप्राय से किया गया है, न कि इन विभूतियों की उपासना करने के विधान के उद्देश्य से; क्योंकि ये विभूतियाँ ही आत्मा अथवा परमात्मा नहीं हैं, किन्तु ये सब आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का परिवर्तनशील एवं उत्पत्ति-नाशवान् बनाव मात्र हैं, आत्मा अथवा परमात्मा इन सबका सत्व एवं आधार है। अतः परिवर्तनशील एवं उत्पत्ति-नाशवान् विभूतियों की अलग-अलग उपासना करने से उत्पत्ति, नाश एवं परिवर्तन के चक्कर में ही घूमते रहना पड़ता है (जैसा कि अध्याय ७ श्लोक २३ में और अध्याय ६ श्लोक २० से २५ तक में कहा गया है); और सबके आत्मा = परमात्मा की उपासना से परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है। जिस तरह अग्नि की अगणित चिनगारियाँ होती हैं, यदि कोई मूर्ख अग्नि को छोड़ कर चिनगारियों के पीछे दौड़ता है, तो उसे न उष्णता प्राप्त होती है न प्रकाश ही, और न चिनगारियों से और कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है, किन्तु चिनगारी एक क्षण में बुझ जाती है, और पीछे दौड़ने वाला धोखा खाता है; उसी तरह आत्मा अथवा परमात्मा-रूपी अग्नि से विभूतियाँ-रूपी अनन्त चिनगारियों का दृश्य होता रहता है; जो मनुष्य आत्मा अथवा परमात्मा को भूल कर नाशवान् विभूतियों की उपासना करता है, वह धोखा खाता है।

॥ दसवाँ अध्याय समाप्त ॥

ग्यारहवाँ अध्याय
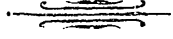
सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान के सिलसिले में दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन करके सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप अपने-आपके अस्तित्व एवं अपनी सर्वव्यापकता का विशेष रूप से खुलासा किया। अब इस ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन के प्रार्थना करने पर, भगवान् अपने शरीर ही में अखिल विश्व को दिखा कर सबकी एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कराते हैं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि मुझ पर अनुग्रह करके आपने जो परम गुह्य अध्यात्म-ज्ञान का उपदेश दिया, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया, अर्थात् स्वजन-बान्धवों को मारने के पाप का भय तथा उनके मरने का शोक, और धर्म-अधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में किंकर्तव्य-विमूढ़ता निवृत्त हो गई (१)। और हे कमल-नयन ! भूत-प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य, तथा (आपका) अक्षय माहात्म्य भी मैंने आपसे विस्तारपूर्वक सुना। हे परमेश्वर ! हे पुरुषोत्तम ! आपने अपना जैसा यह वर्णन किया है, मैं उसी ईश्वरीय रूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। हे प्रभु ! यदि आप यह समझते हो कि मेरे से आपका वह रूप देखा जा सकता है, तो हे योगेश्वर ! आप अपना वह अव्यय रूप दिखलाइए। तात्पर्य यह कि अध्याय ७ से १० तक अर्जुन ने भगवान् से उनके सर्वरूप का जो वर्णन सुना, उस सर्वरूप को आँखों से प्रत्यक्ष देखने की उसकी इच्छा हुई। इसलिए उसने भगवान् से प्रार्थना की कि यदि आप मुझे इस योग्य समझें कि मैं आपका वह विश्वरूप प्रत्यक्ष देख

सकता हूँ, तो कृपा करके उसे अवश्य दिखलाइए (२-४)। श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ ! मेरे नाना भाँति के, नाना वर्णों तथा नाना आकृतियों वाले सैंकड़ों और हजारों तरह के दिव्य, अर्थात् स्थूलता से रहित केवल मानसिक दिव्य-दृष्टि से देखने योग्य सूक्ष्म रूपों को देख (५)। आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारों तथा मरुद्गणों को देख; और हे भारत ! बहुत से आश्चर्यों यानी अद्भुत बनावों को देख, जो पहले कभी न देखे होंगे (६)। हे गुडाकेश ! आज यहीं पर मेरे शरीर में एकत्व-भाव से स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत् को, तथा और जो कुछ देखना चाहे वह (सब) देख ले (७)। परन्तु अपने इन्हीं नेत्रों (चर्म-चक्षुओं※) से तू मुझे (मेरे विश्वरूप को) नहीं देख सकेगा; इसलिए मैं तुझे दिव्य (मानसिक※) नेत्र देता हूँ, (जिससे तू) मेरे ईश्वरीय योग अर्थात् "एक में अनेक और अनेकों में एक" के अलौकिक कौशल को देख (८)। संजय बोला कि हे राजन् ! ऐसा कह कर फिर महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (अपना) परम ईश्वरीय रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया (९)। अनेक मुखों ‡, (और अनेक) नेत्रों‡ वाले, अनेक अद्भुत दृश्यों सहित, अनेक दिव्य आभूषणों‡ युक्त, अनेक दिव्य शस्त्रों‡ से सुसज्जित, दिव्य मालाओं‡ और वस्त्रों‡ को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध‡ (केसर-चन्दन आदि) का अनुलेपन किये हुए, सब आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विश्वतोमुख देव अर्थात् अपने विश्वरूप को (अर्जुन के प्रति) दिखाया (१०-११)। यदि आकाश में हजार सूर्यों की ज्योति एक साथ उदय हो तो वह शायद उस महात्मा के तेज के समान हो सके (१२)। अनेक प्रकार के

※ दृष्टि तीन प्रकार की होती है :—(१) भौतिक स्थूल पदार्थों को स्थूल नेत्र-इन्द्रिय से देखना, स्थूल-दृष्टि अथवा चर्म-दृष्टि है; (२) स्थूल नेत्रों अथवा चर्म-चक्षु से न दीख सकने वाले सूक्ष्म पदार्थों को मन के ध्यान से देखना, सूक्ष्म-दृष्टि अथवा दिव्य-दृष्टि है, और (३) बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार से निश्चय करके सबकी एकता का अनुभव करना, ज्ञान-दृष्टि अथवा सम-दृष्टि है (गी० अ० ५ श्लो० १८, अ०६ श्लो० २९, अ० १३ श्लो० २७ से ३०, अ० १५ श्लो० १०)।

‡ संसार में अनन्त प्रकार की आकृतियों एवं रूपों वाले देवता, दैत्य, असुर, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी एवं जीव-जन्तु होते हैं, जिनके अनन्त मुख, अनन्त नेत्र, अनन्त हाथ, अनन्त पैर, अनन्त पेट आदि अंग होते हैं; और वे अनन्त प्रकार के श्रृङ्गारों से सजे हुए, अनन्त प्रकार के वस्त्राभूषणों से युक्त एवं अनन्त प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को लिये हुए होते हैं; वे सब भगवान् के विश्व-रूप के अन्तर्गत होने के कारण भगवान् ही के अनन्त अङ्गों, अनन्त प्रकार के श्रृङ्गारों एवं अनन्त प्रकार के बनावों के दृश्य अर्जुन को मानसिक दिव्य-दृष्टि से दीखने लगे।

भिन्नता के भावों में विभक्त सम्पूर्ण जगत् को उस समय अर्जुन ने वहाँ देवों के देव (भगवान् श्रीकृष्ण) के शरीर में एकत्र देखा (१३)। तब वह धनंजय आश्चर्यान्वित हुआ हर्ष से रोमांचित होकर, (उस) देव को, यानी विश्वरूप-धारी भगवान् श्रीकृष्ण को सिर झुका कर हाथ जोड़ कर प्रणाम करके बोला (१४)।

स्पष्टीकरण—दसवें अध्याय तक भगवान् ने सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का जो निरूपण विस्तारपूर्वक किया, उससे अर्जुन को जो अपने कर्तव्य-कर्म के विषय में मोह हुआ था, वह तो दूर हो गया; परन्तु उक्त ज्ञान की दृढ़ता के लिए अर्जुन की यह इच्छा हुई कि भगवान् ने जिस सर्वभूतात्मैक्य-भाव का वर्णन किया है, अर्थात् अखिल विश्व को अपना ही व्यक्त स्वरूप बताया है, वह विश्वरूप भगवान् प्रत्यक्ष दिखा दें तो सबकी एकता का साक्षात् अनुभव हो जाने पर वह ज्ञान चिरस्थायी हो जाय, क्योंकि कानों से सुनी हुई बातों का चित्त पर उतना गहरा प्रभाव नहीं जमता, जितना कि आँखों से देखी हुई घटनाओं का जमता है। अर्जुन की उक्त आशय की प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की; परन्तु अखिल विश्व का विराट् दृश्य इन स्थूल आँखों की अत्यन्त परिमित एवं संकुचित दृष्टि से दीखना सम्भव नहीं—उसके लिए मनो-योग की दिव्य-दृष्टि होनी चाहिए। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को मनो-योग की दिव्य-दृष्टि देकर अपने शरीर में ही अखिल विश्व का दर्शन कराया।

"दिव्य-दृष्टि" क्या होती है? इसका रहस्य एकबारगी समझने में कुछ कठिनता अवश्य प्रतीत होती है, क्योंकि, यद्यपि स्वप्नावस्था में जब चर्म-चक्षु बन्द रहते हैं, तब मानसिक दृष्टि से भाँति-भाँति के विस्तृत दृश्य दीखने का अनुभव सबको है, परन्तु जाग्रत अवस्था में इस तरह की दिव्य-दृष्टि का अनुभव लोगों को आम तौर से नहीं होता। तो भी यदि पक्षपात रहित होकर अच्छी तरह विचार किया जाय तो दिव्य-दृष्टि का रहस्य समझने में कठिनाई न रहे। जिन लोगों ने योग की सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, वे अपने योगबल से दूसरों के मन पर अपने संकल्पों और अनुभवों का प्रभाव डाल कर इच्छानुसार दृश्य दिखा सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण महा-योगेश्वर थे, उनका योग-सामर्थ्य अनन्त प्रतिभाशाली था; अतः उनके लिए अर्जुन के मन पर अपने योगबल का प्रभाव डाल कर, उसे अखिल विश्व का दर्शन अपने शरीर में कराना एक साधारण बात थी। वर्तमान समय में जादू अथवा नज़रबन्दी (Mesmerism) अथवा हथफेरी (Tricks) के जो अद्भुत दृश्य इन कलाओं के जानने वाले लोग दिखाते हैं, वह भी मनो-योग का एक छोटा-सा नमूना है।

उपरोक्त योगबल अथवा नज़रबन्दी के सिवाय यदि आधिभौतिक विचार से देखा जाय तो जिसतरह रेडियो-शक्ति से विस्तृत दृश्यों का अँक्स बहुत छोटा-सा

करके यन्त्रों में बन्द कर लिया जाता है, और फिर उसी अँक्स को बृहदाकार-रूप में दिखाया जाता है, तथा अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं एवं जन्तुओं को सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों (Magnifying Glasses), यानी छोटी वस्तु को बड़ी दिखलाने वाले शीशों द्वारा बहुत बड़े रूप में दिखाया जाता है; उसी तरह शरीर में विश्व दिखाया जा सकता है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ दृश्य महान्—विस्तृत रूप से है, उसी प्रकार का दृश्य पिण्ड अथवा शरीर में छोटे—अणु रूप में है। अतः मनोयोग की दिव्य-दृष्टि के अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा इस शरीर ही में ब्रह्माण्ड का देख सकना असम्भव नहीं है।

× × ×

अब अर्जुन ने जिस तरह भगवान् के शरीर में सूक्ष्म (आधिदैविक) और स्थूल (आधिभौतिक) सृष्टि का विस्तार देखा, उसका कुछ वर्णन आगे के श्लोकों में किया गया है।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म ।
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आख्याहि को भवानुग्ररूपो ।
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे देव ! आपके शरीर में सब देवताओं तथा (पंच महाभूतों के सम्मिश्रण के विशेष बनाव-रूप नाना प्रकार के स्थावर-जंगम) भूत-प्राणियों के विशेष समुदायों को, कमलासन पर स्थित प्रजापति ब्रह्मा को, और सब ऋषियों को, तथा सब दिव्य नागों को मैं देखता हूँ (१५)। अनेक भुजा, (अनेक) उदर, (अनेक) मुख और (अनेक) नेत्रों से युक्त सर्वत्र आपके अनन्त रूप* देखता हूँ ; हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! आपका न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही मैं देखता हूँ (१६)। मुकुट, गदा तथा चक्र धारण किये हुए, और सब प्रकार से देदीप्यमान तेजःपुञ्ज-स्वरूप, प्रज्वलित अग्नि एवं सूर्य के समान कान्ति-युक्त एवं चकाचौंध करने वाले, सर्वत्र आपके अनुपम रूप को मैं देखता हूँ (१७)। आप परम अक्षर अर्थात् पूर्ण सत्य हैं, आप ही जानने योग्य हैं, आप ही इस विश्व के अन्तिम आश्रय हैं, आप अविनाशी हैं और आप ही सदा से धर्म के रक्षक हैं, एवं आप ही

* इस अध्याय के श्लोक १०-११ का फुटनोट देखिए।

को मैं सनातन पुरुष मानता हूँ (१८)। मैं देखता हूँ कि आप आदि, मध्य एवं अन्त से रहित हैं, अनन्त शक्ति (और) अनन्त भुजाओं वाले हैं, चन्द्र-सूर्य (आपके) नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि (आपका) मुख है, और अपने तेज से आप इस अखिल विश्व को तपा रहे हैं अर्थात् प्रकाशित कर रहे हैं (१६)। आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अन्तर में तथा सब दिशाओं में एक मात्र आप ही व्याप्त हो रहे हैं; हे महात्मन्! आपके इस अद्भुत एवं उग्र रूप को देख कर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं, अर्थात् जगत के अनन्त प्रकार के आश्चर्य-जनक बनावों को देख कर लोगों की अक़ल चकराती है (२०)। यह देखो, देवताओं के समूह आप ही में प्रवेश कर रहे हैं, यानी समा रहे हैं; कई भयभीत हुए हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं; महर्षि और सिद्धों के समूह "स्वस्ति" ऐसा कहते हुए बहुतसी स्तुतियों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं (२१)। रुद्र, आदित्य, वसु और जो साध्य-गण, विश्वदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय सब चकित हुए आपको देख रहे हैं। तात्पर्य यह कि सृष्टि की अनन्त प्रकार की रचनाओं को देख-देख कर कोई भयानक बनावों से डरते हैं, तो कोई आश्चर्य-जनक बनावों से विस्मित हुए, अपनी-अपनी भावना के अनुसार उन सब बनावों के आधार, सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप आपका चिन्तन करते हैं, और चकित हुए आपकी स्तुति करते हैं (२२)। हे महाबाहो! आपके बहुतसे मुखों, (बहुतसे) नेत्रों, बहुतसी भुजाओं, (बहुतसी) जंघाओं, (बहुतसे) पैरों, बहुतसे उदरों एवं बहुतसे बड़े-बड़े दाँतों वाले, विकराल और महान् रूप को देख कर सब लोगों को और मुझे भी घबड़ाहट हो रही है, अर्थात् सब व्याकुल हो रहे हैं (२३)। अनेक प्रकाशमान् वर्णों से युक्त, गगनस्पर्शी खुले हुए मुख वाले, एवं देदीप्यमान विशाल नेत्रों वाले आपको देख कर हे विष्णु! मेरा अन्तःकरण डावाँडोल हो रहा है और मुझे धैर्य एवं शान्ति नहीं होती है(२४)। आपके बड़े-बड़े विकराल दाँतों को और कालाग्नि के समान मुखों को देख कर मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं और न चैन ही पड़ता है। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइए (२५)। और यह देखो, समस्त राजाओं के समुदाय सहित सब धृतराष्ट्र के पुत्र, तथा भीष्म, द्रोण और यह कर्ण, और हमारी तरफ़ के मुख्य-मुख्य योद्धा भी आपके विकराल दाँतों वाले भयानक मुखों में धड़ाधड़ प्रविष्ट हो रहे हैं, और कइयों के मस्तक चकनाचूर होकर आपके दाँतों के बीच की सन्धियों में फंसे हुए दीख रहे हैं (२६-२७)। जिस प्रकार नदियों के बहुतसे जल के प्रवाह समुद्र ही की तरफ़ वेग से बहते जाते हैं, उसी तरह मनुष्य समाजके ये शूरवीर लोग सब तरफ़ से आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं (२८)। जिस तरह पतंग (अपने) नाश के लिए जलती हुई अग्नि में बड़े वेग से गिरते हैं, उसी तरह (ये) लोग भी (अपने) नाश के

लिए आपके मुखों में बहुत वेग से जा रहे हैं (२९)। प्रज्वलित मुखों से सब लोगों को सब तरफ़ से ग्रसित करते हुए आप चाट-चाट कर स्वाद ले रहे हैं; हे विष्णु! आपकी उग्र प्रभाएँ सारे जगत् को (अपने) तेज से व्याप्त करके प्रकाशित कर रही हैं (३०)। मुझे बतलाइए कि ऐसे उग्ररूप को धारण करने वाले आप कौन हैं? हे देववर! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइए। आप आदि पुरुष को मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी चेष्टाओं को मैं कुछ भी नहीं समझता, अर्थात् आप क्या करने को प्रस्तुत हुए हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता (३१)। श्री भगवान् बोले कि मैं लोगों का क्षयकारी (उनके दुष्कर्मों से) बढ़ा हुआ काल हूँ, लोगों का नाश करने के लिए यहाँ पर प्रवृत्त हूँ। ये जो सामने योद्धा लोग उपस्थित हैं, वे सब तेरे (लड़े) बिना भी (बचे) नहीं रहेंगे (३२)। इसलिए तू उठ खड़ा हो, (और) यश प्राप्त कर; शत्रुओं को जीत कर निष्कण्टक राज्य भोग। हे सव्यसाची! ये मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र हो जा (३३)। मेरे द्वारा मारे हुए द्रोणाचार्य, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण, तथा दूसरे भी वीर योद्धाओं को तू मार, मत घबड़ा, युद्ध कर; तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा। तात्पर्य यह कि अर्जुन इस चिन्ता से बहुत घबड़ा रहा था कि "लड़ाई में मुझे भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों एवं स्वजन-बान्धवों को मारना पड़ेगा" और इसीलिए वह युद्ध करना नहीं चाहता था। अर्जुन की इस चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान् दिखाते हैं कि लोगों का मरना-जीना अपने-अपने कर्मों पर निर्भर रहता है। जिनके जैसे कर्म होते हैं, उनके लिए वैसे ही आयोजन (अपने-अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप) जगत् की समष्टि-शक्ति-स्वरूप मेरे द्वारा बन जाते हैं। इस कर्म-विपाक के अटल नियमानुसार ये भीष्म, द्रोण आदि शूरवीर लोग अपनी दुष्कृतियों से आप ही अपनी मृत्यु के निकट पहुँच चुके हैं, और उन दुष्कृत्यों के परिणाम-स्वरूप "मैं" सबका आत्मा=परमात्मा काल-रूप होकर अर्थात् समष्टि-संहारक शक्ति से इनका संहार करने को स्वयं यहाँ उपस्थित हूँ। यद्यपि उपरोक्त कर्म-विपाक के अटल नियम के अनुसार इन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है, और शरीरों का चोला* बदलने-रूप इनका मरना निश्चित है; परन्तु इन लोगों के अत्याचारों का मुख्य शिकार तू है, इसलिए उसकी प्रतिक्रिया-स्वरुप इनको मारने का निमित्त मात्र बन कर इनके अत्याचारों से लोगों को मुक्त करके, नीति और धर्मपूर्वक राज्य-शासन करना, और साथ ही अपने अधिकारानुसार राज्य-लक्ष्मी भोगना तेरे लिए उचित है। यदि अज्ञान और मोहवश तू ऐसा नहीं करेगा तो भी ये लोग तो अपनी दुष्कृतियों के परिणाम-स्वरूप मरेंगे ही, यानी शरीरों का चोला

---

* दूसरे अध्याय के श्लोक २२ का स्पष्टीकरण देखिए।

बदलेंगे ही; परन्तु तू अपने कर्तव्य से विमुख होगा और धर्मानुसार प्राप्त होने वाले राज्य-सुख से भी वंचित रहेगा (३४)।

स्पष्टीकरण—सबकी एकता का निश्चय दृढ़ होने के लिए अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने उसे मनो-योग की दिव्य-दृष्टि द्वारा अपना विश्वरूप दिखाया; और त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न सूक्ष्म और स्थूल, स्थावर और जंगम अथवा जड़ और चेतन के भेद से जगत् के अनन्त प्रकार के बनाव—जो कुछ स्थूल दृष्टि से पहले देखे हुए अथवा सुने हुए थे, अथवा कल्पना में आ सकते थे—वे सब, अर्जुन ने भगवान् के शरीर में ही देखे। दूसरे शब्दों में अखिल विश्व को भगवान् का ही रूप देखा। श्रीकृष्ण के शरीर में भाँति-भाँति के दिव्य श्रृङ्गारों से सजे हुए विलासी देवताओं और गन्धर्वों को, शान्त और सौम्यभावों युक्त सिद्धों और महर्षियों को, क्रूर स्वभाव वाले असुरों और राक्षसों को, सुन्दर आकृतिवाले नर-नारियों को, भय उत्पन्न करने वाले सर्प आदि विषैले जन्तुओं को, विकराल दाँतों एवं भयानक मुखों वाले सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जानवरों को, तरह-तरह के मनोहर रंगों और मधुर स्वर आलापने वाले सुन्दर पक्षियों को, नाना प्रकार की अद्भुत आकृतियों वाले मगर-मच्छ आदि जलचर प्राणियों को, तथा कृमि-कीड़े आदि मैले-कुचैले जन्तुओं को भी एकत्र देखा। इस प्रकार विविध भाँति की सृष्टि को देख कर उसके मन में हर्ष, आश्चर्य एवं भय आदि भावों का संघर्ष होने के कारण वह एकदम घबड़ा गया। विशेष करके जब उसने उस समय के महायुद्ध के अत्यन्त घोर जन-संहार का दृश्य देखा, जिसमें दोनों पक्षों के वीर योद्धा लोग भगवान् के काल-रूप मुख के ग्रास होकर चबाये जा रहे थे, तब तो वह बहुत ही व्याकुल हो उठा, और इस बात को भूल गया कि "मेरी ही प्रार्थना पर भगवान् कृपा करके मुझे अपना विश्वरूप दिखा रहे हैं"; अतः वह घबराया हुआ भगवान् से कहने लगा कि आप यह अत्यन्त घोर और बीभत्स काण्ड क्या कर रहे हैं? मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता। इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि तुझे जो यह चिन्ता हो रही है कि "यदि मैं युद्ध करूंगा तो ये मेरे स्वजन-बांधव मारे जायेंगे, जिनकी हत्या का पाप मुझे लगेगा और मैं कुल-क्षय का अपराधी होऊँगा, फिर इनके बिना मैं अकेला जीकर क्या करूँगा; और यदि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो ये सब जीते रहेंगे और मैं पाप से बच जाऊँगा"—यह सब तेरा भ्रम है। जीना-मरना अपने-अपने कर्मों के आधीन है। इन लोगों के दुष्कर्म इतने बढ़ गये हैं कि इनका मारा जाना समाज की सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य है, तू तो केवल निमित्त मात्र होता है। जिस तरह एक व्यक्ति

के सड़े हुए अथवा दुःखदायक अंग को काट देना आवश्यक होने पर डॉक्टर उसे काट देता है, तो डॉक्टर को कोई दोष नहीं लगता; वास्तव में वह अंग तो काटे जाने वाला ही था, डॉक्टर उसके काटने में निमित्त मात्र होता है, उसे काटना डॉक्टर का कर्तव्य होता है, और अपना कर्तव्य करने में उसे कुछ लाभ भी होता है; परन्तु यदि वह मोह से या मानसिक दुर्बलता के वश होकर उसे नहीं काटता है, तो अपने कर्तव्य से विमुख होता है, लाभ से वंचित रहता है और फिर डॉक्टरी करने के योग्य नहीं रहता, जिससे उसका जीवन बिगड़ जाता है; और साथ ही उक्त अंग के न काटने से जो हानि होती है, उसके दोष का भागी भी वह होता है। इसी तरह इन अत्याचारियों को मारने में निमित्त होना कोई पाप नहीं है, किन्तु वीर क्षत्रिय के लिए, इनको मार कर राज्य-शासन करना अवश्य-कर्तव्य है। अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए निर्दोष प्राणियों को मारने से जितना पाप होता है, उतना ही सार्वजनिक हित की उपेक्षा करके अत्याचारियों पर मोहवश अथवा व्यक्तिगत पुण्य-संचय की कामना से दया अथवा क्षमा करना पाप है। मैं सब लोगों का आत्मा, सबका एकत्व-भाव इन लोगों के दुष्कर्मों के परिणाम-स्वरूप कालरूप होकर तेरे निमित्त से इनका संहार करने को उद्यत हूँ, यह प्रत्यक्ष निश्चय कर, और इन लोगों को मारने में निमित्त होकर धर्मपूर्वक राज्य का सुख भोग। यदि तू ऐसा नहीं करेगा, तो भी ये तो किसी न किसी प्रकार से मारे ही जायँगे, किन्तु तू अपने कर्तव्य-रूप धर्म से विमुख होगा, जिससे तेरा भारी पतन होकर विनाश होगा।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव: ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

अर्थ—संजय बोला कि श्रीकृष्ण के यह वचन सुन कर अर्जुन भयभीत होकर एवं कांपता हुआ हाथ जोड़ कर नमस्कार करके अत्यन्त विनीत भाव-युक्त गद्‌गद वाणी से फिर कृष्ण को इस तरह कहने लगा (३५)। अर्जुन बोला कि हे हृषीकेश! यह उचित ही है कि सांसारिक लोग आपकी महिमा का कीर्तन करके हर्षित होते हैं और उसमें अनुराग रखते हैं, तथा राक्षस लोग भयभीत होकर दशों दिशाओं में भागते फिरते हैं, और सब सिद्धों के समुदाय (आपको) नमस्कार करते हैं। तात्पर्य यह कि जो सदाचारी लोग हैं वे प्रसन्नता एवं प्रेमपूर्वक सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप आपकी अद्भुत महिमा का कीर्तन किया करते हैं, तथा आपको नमस्कार करते हैं; और दुराचारी लोग अप दुष्कर्मों के फल-स्वरूप डर के मारे इधर-उधर भागते

फिरते हैं, यह बिलकुल ठीक है (३६)। हे महात्मन्! आपको वे नमस्कार क्यों नहीं करेंगे? आप ब्रह्मा से भी महान् और उसके आदि कारण हो। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत् और असत्, एवं उन दोनों से परे अक्षर (ब्रह्म) आप ही हो; अर्थात् जो कुछ व्यक्त (इन्द्रियगोचर) और अव्यक्त (इन्द्रियातीत) है, अथवा प्रकृति और पुरुष, अथवा सगुण और निर्गुण आदि द्वन्द्व हैं वे और उन द्वन्द्वों का समावेश एवं उनका एकत्व-भाव परम अक्षर—पर-ब्रह्म आप ही हो (३७)। आप आदि-देव अर्थात् देवताओं के आदि कारण हो, आप पुरातन पुरुष हो, आप ही इस विश्व के अन्तिम लय-स्थान हो; जानने वाले—ज्ञाता आप हो, जानने योग्य—ज्ञेय आप हो और परमपद आप हो; हे अनन्तरूप! आपसे विश्व व्याप्त हो रहा है (३८)। वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा, तथा प्रपितामह अर्थात् ब्रह्मा के भी कारण, आप ही हो; आपको नमस्कार है, हजार बार नमस्कार करके फिर भी आपको बारंबार नमस्कार है (३९)। हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सब ओर से नमस्कार है; हे अनन्तवीर्य! आपका विक्रम अपार है, आप सबमें परिपूर्ण हैं, इसलिए आप सर्व हैं (४०)। आपकी इस महिमा को न जानते हुए (आपको) मित्र मान कर स्नेह अथवा प्रमादवश मेरे से आपके लिए हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा—इस तरह के बराबरी के संबोधनों का जो उपयोग हुआ, और घूमते-फिरते, सोते, बैठते और भोजन करते समय, एकान्त में अथवा दूसरों के सामने हास्य-विनोद के निमित्त जो आपका अपमान हुआ हो, उसके लिए, हे अच्युत! हे अप्रमेय! मैं आप से क्षमा चाहता हूँ (४१-४२)। आप इस चराचर विश्व के पिता हो, पूज्य हो और बड़े-से-बड़े गुरु हो; हे अप्रतिम-प्रभाव! तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक कोई कैसे होवे (४३)? इसलिए सबके स्वामी और पूज्य आपको मैं साष्टांग नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न होइए। जिस तरह पिता पुत्र का, मित्र मित्र का, पति पत्नी का (अपराध क्षमा कर देता है), उसी तरह आप मेरे अपराध क्षमा करें। तात्पर्य यह कि जिस तरह कहीं पर किसी साधारण व्यक्ति का और किसी राजा-महाराजा का साथ हो जाय, और वह साधारण व्यक्ति उस राजा-महाराजा के राज-ऐश्वर्य का पूरा प्रभाव देखे बिना उसको अपना एक मित्र समझ कर उसके साथ बातचीत में तथा खाने-पीने, सोने-बैठने, घूमने-फिरने, हँसने-खेलने आदि में बराबरी का वर्ताव करता रहा हो, फिर वह जब उस राजा-महाराजा के राज-ऐश्वर्य को आँखों से देख लेता है, तब वह चकित एवं भयभीत होता है, और पश्चात्ताप करता है कि "मैंने बड़ा अनर्थ किया कि इतने बड़े आदमी का यथोचित सम्मान न करके उसके साथ बराबरी का वर्ताव किया", तब वह डरता हुआ गिड़गिड़ा कर उस राजा-महाराजा से क्षमा-याचना करता है; उसी तरह यद्यपि अर्जुन श्रीकृष्ण को ईश्वर

मानता था, परन्तु जब तक उसने उनके सर्वात्म-भाव अथवा विश्व-रूप को प्रत्यक्ष न देखा था, तब तक उनके अलौकिक ऐश्वर्य का उतना प्रभाव उसके चित्त पर नहीं पड़ा था, जितना कि विश्वरूप देखने के बाद पड़ा। इस कारण विश्वरूप देखने पर वह चौंक कर घबराया कि अनुपम प्रतिभावाले भगवान् श्रीकृष्ण को व्यक्ति-भाव से अपना मित्र समझ कर बराबरी का वर्ताव करके मैंने बड़ा अनर्थ किया। इसलिए वह भगवान् की स्तुति द्वारा, उन्हें प्रसन्न करके अपने अपराध क्षमा कराने के लिए उनकी प्रार्थना करने लगा (४४)। पहले कभी न देखे हुए (आपके रूप) को देख कर मुझे हर्ष हुआ है, और भय से मेरा मन व्यथित भी हुआ है; इसलिए हे देव! मुझे (अपना) वह रूप दिखाइए; हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइए। मैं आपको मुकुट धारण किये हुए एवं हाथों में गदा और चक्र लिये हुए उसी तरह देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ति! उसी चतुर्भुज-रूप से प्रकट होइए। तात्पर्य यह कि भगवान् का विश्वरूप देख कर यद्यपि अर्जुन को इस बात का हर्ष हुआ था कि जो पहले कभी नहीं देखा था, उस दुर्लभ रूप को देखने का आज मुझे सौभाग्य प्राप्त हो गया परन्तु साथ ही जगत् के अनेक करुणा-जनक, अद्भुत, भीषण, रौद्र एवं बीभत्स काण्ड एक साथ देख कर वह अत्यन्त ही भयभीत एवं व्याकुल हो उठा; अतः भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि अपनी इस अद्भुत माया को समेट कर मुकुट, शंख, चक्र, गदा और पद्म को धारण किये हुए अपने चतुर्भुज रूप को दिखाइए; क्योंकि जगत् के भिन्न-भिन्न प्रकार के विषम भावों वाले बनावों में उलझने से घबराहट के सिवाय शान्ति कहीं भी नहीं मिलती। सबकी एकता के अनुभव-रूप मुकुट धारण किये हुए तथा विद्या-रूप शंख, कौशल-रूप चक्र, बल-रूप गदा और अनासक्ति-रूप पद्म से युक्त आप (परमात्मा) के चतुर्भुज-रूप की उपासना ही से सब प्रकार की शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है (४५-४६)। श्री भगवान् बोले कि मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपने योगबल से तुझे यह तेजोमय, अनन्त और अनादि परम विश्वरूप दिखलाया, जिसको तेरे से पहले किसी ने नहीं देखा। तात्पर्य यह कि अर्जुन ने भगवान् से प्रसन्न होने की जो प्रार्थना की, उस पर भगवान् कहते हैं कि "मैंने तेरे प्रेमभाव रूप श्रेष्ठ आचरण से प्रसन्न होकर ही यह विश्वरूप दिखाया है, जो रूप दूसरों को दीखना अत्यन्त दुर्लभ है। मेरे (कृष्ण के) इस शरीर के साथ तेरे सखाभाव के वर्ताव से मेरे अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि मेरे लिए छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं है—मैं सबमें एक समान हूँ, जो मुझे जैसा भजते हैं, उन्हें मैं वैसा ही प्रतीत होता हूँ, यह पहले कह आया हूँ" (४७)। हे कुरुओं में श्रेष्ठ वीर! न वेदों और यज्ञों से, न पठन-पाठन से, न दान से, न कर्मकाण्डों से और न उग्र तपों से मनुष्य-लोक में तेरे सिवाय कोई और मुझे इस रूप में देख सकता है। तात्पर्य यह

कि कर्मकाण्डात्मक वेदों के अध्ययन तथा यज्ञादिक अन्य क्रियाओं में पृथक्ता का भाव बना रहने के कारण मनो-योग नहीं होता, और पूर्ण मनो-योग के बिना विश्वरूप देखने की दिव्य-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती (४८)। मेरे इस घोर रूप को देख कर व्यथित मत हो और मूढ़ भी मत हो। भय छोड़ कर प्रसन्न चित्त से फिर तू मेरे उसी रूप को यह देख (४९)। संजय बोला कि उस समय वासुदेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार कह कर अपना (चतुर्भुज) रूप दिखाया, और उसके बाद उस महात्मा ने फिर से सौम्य (मनुष्य रूप) होकर, उस भयभीत (अर्जुन) को आश्वासन यानी दिलासा दी (५०)। अर्जुन बोला कि हे जनार्दन! आपका यह सौम्य मनुष्य रूप देख कर अब मेरा चित्त ठिकाने आया है, और पहले की तरह मैं स्वस्थ हो गया हूँ (५१)। श्री भगवान् बोले कि मेरे जिस रूप को तूने देखा है उसका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है, देवता लोग भी इस रूप को देखने की सदा इच्छा करते रहते हैं (५२)। न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से, मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ, जैसा कि मुझे तूने देखा है (५३)। हे अर्जुन! हे परन्तप! केवल अनन्य-भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्त्वतः जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ। तात्पर्य यह कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, यह प्रत्यक्ष बोध होना अत्यन्त ही कठिन है; न तो व्यष्टि और न समष्टि ज्ञानेन्द्रिय रूप देवताओं को यह प्रत्यक्ष बोध होता है, न वेदों के पाठ करते रहने से, अथवा तप करने से, अथवा दान देने से, अथवा यज्ञानुष्ठान से ही यह प्रत्यक्ष बोध हो सकता है। जो परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक होने के दृढ़-निश्चय-पूर्वक सबके साथ प्रेम* करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करता है, उसे ही इस विषय का प्रत्यक्ष बोध होता है, और वही सबके आत्मा = परमात्मा में तन्मय हो जाता है (५४)।

स्पष्टीकरण—सबके एकत्व-भाव, सबके आत्मा = परमात्मा को भूल कर जगत् के नाना भाँति क बनावों ही के पीछे पड़े रहने से, अथवा केवल उन्हीं की खोज में लगे रहने से विक्षेप ही होता है, क्योंकि जगत् के बनाव एक-से-एक अधिक एवं एक-से-एक विलक्षण निकलते चले आते हैं, उनका कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। उनको देखते-देखते अक़ल चकरा जाती है। जहाँ अनुकूल बनाव दृष्टिगोचर होते हैं, वहीं प्रतिकूलता प्रतीत होने लगती है। प्रकृति की त्रिगुणात्मक रचना में सात्त्विक बनावों के साथ ही साथ राजस और तामस बनाव भी दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

---

* प्रेम का खुलासा १२ वें अध्याय के १३ वें श्लोक के स्पष्टीकरण में देखिए।

जहाँ सज्जन पुरुष अपने सत्कर्मों में संलग्न दीखते हैं, तो साथ ही वहाँ दुष्ट लोग भी अपने दुराचारों में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। एक तरफ हर्ष एवं मंगल के उत्सव मनाये जा रहे हैं, तो दूसरी तरफ़ शोक का करुण-क्रन्दन हो रहा है। एक तरफ़ सुख-सम्पत्ति के ठाट लगे हुए हैं, तो दूसरी तरफ़ दरिद्रता नंगा नृत्य कर रही है। एक तरफ़ जन्म और विवाह के बाजे बज रहे हैं, तो दूसरी तरफ़ मृत्यु का हाहाकार हो रहा है। एक तरफ़ ऐशो-आराम के साधनों के नित-नये आविष्कार हो रहे हैं, तो दूसरी तरफ़ दैवी दुर्घटनाओं का तांता बंध रहा है। एक तरफ़ शक्ति-सम्पन्न लोग अपनी शक्ति के मद से मतवाले हो रहे हैं, तो दूसरी तरफ़ उनके अत्याचारों से पीड़ित निर्बल जनता अपने भाग्य को कोस रही है एक तरफ पर्वतों, वनों महलों और बाग-बगीचों की छटाएँ मन को मोहित कर रही हैं, तो दूसरी तरफ़ कूड़े-कर्कट, गटर-नालियों, श्मशान और कब्रिस्तानों के गन्दे एवं बीभत्स दृश्यों से अन्तःकरण ग्लानि से व्याकुल हो उठता है। परन्तु मनुष्य के मन पर अनुकूल अथवा सुखदायक बनावों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कि प्रतिकूल अथवा दुःखदायक बनावों का पड़ता है; क्योंकि अनुकूलता की प्राप्ति मनुष्य अपने ही प्रयत्न का फल समझता है, इसलिए अनुकूलता अथवा सुख में उसे अपने शरीर और शरीर से संबंध रखने वाले व्यक्तियों अथवा पदार्थों के सिवाय अन्य किसी अदृश्य विषय पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; परन्तु प्रतिकूलता की प्राप्ति का कारण वह अपने को नहीं मानता। इसलिए जब कोई दुःख अथवा विपत्ति आती है—विशेषकर अपने तथा अपने आत्मीय जनों पर भयानक रोगादिक अथवा युद्धादिक के संकट आते हैं, जो अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं मिटते और मृत्यु निकट दीखने लगती है, तब घबराहट बहुत बढ़ जाती है, और उस समय किसी अदृश्य शक्ति का ध्यान आता है। उस अदृश्य शक्ति को लोग प्रकृति (Nature), दैव (Providence), भाग्य (Luck) अथवा ईश्वर (God) आदि नाम, अपनी-अपनी भावना के अनुसार दे देते हैं, और अपने अज्ञान तथा प्रमादवश देहाभिमान से किये हुए पापों का पश्चात्ताप करके उनके लिए उस अदृश्य शक्ति से क्षमा-याचना करते हैं। परन्तु ऐसा करने पर भी मन की व्याकुलता नहीं मिटती, क्योंकि उस अदृश्य शक्ति को मान लेने पर भी प्रतिकूलता-रूप संकट की निवृत्ति नहीं हो जाती। चित्त की विक्षिप्तता तभी मिटती है, जब कि जगत् के अनन्त प्रकार के बनावों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा यानी सबके अपने-आपके अनेक रूप होने का दृढ़ निश्चय हो जाता है, और अनुकूलता, प्रतिकूलता आदि द्वन्द्वों से परिपूर्ण जगत् का, आत्मा अथवा परमात्मा यानी सबके अपने-आपमें समावेश हो जाता है।

यही भाव इस ग्यारहवें अध्याय में दिखाया गया है। अर्जुन की प्रार्थना पर

भगवान् ने जब अपना विश्व-रूप दिखाया तो उसमें अनन्त प्रकार के बनावों, खास करके विकराल एवं अत्यन्त भयानक रूपों को देख कर उसके होश उड़ गये, और उसे इस बात का स्मरण ही न रहा कि "मैं भगवान् का विश्व-रूप देख रहा हूँ"; और जब उसने अपने स्वजन-बांधवों को काल-रूपी भगवान् के मुख में चबाये जाते हुए देखा, तब तो वह अत्यन्त ही घबड़ा उठा, और कहने लगा कि "मैं यह क्या भयानक दृश्य देख रहा हूँ ?" तब भगवान् ने उसे समझाया कि "तूने अज्ञान-वश जो यह अभिमान किया था कि "मैं नहीं लड़ूंगा तो ये लोग जीते बच जायेंगे", उसको दूर करने के लिए तुझे यह दृश्य दिखाया गया है, कि ये लोग अपनी-अपनी करणी के फल-स्वरूप मृत्यु के निकट पहुँच चुके हैं, तेरा अभिमान मिथ्या है। समष्टि-हित के लिए इन लोगों का मारा जाना अनिवार्य है। समष्टि-हित की उपेक्षा करके व्यक्ति स्वार्थों की रक्षा हो नहीं सकती, और समष्टि के विरुद्ध कोई व्यक्ति अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए विश्व की एकता का समष्टि-भाव, जो तू मेरे शरीर में देख रहा है, उसको स्मरण रखता हुआ अपने व्यक्तित्व को मेरे विश्व-रूप के समर्पित करके खेद रहित होकर सबके हित की दृष्टि से अपने कर्तव्य पर आरूढ़ हो जा।"

भगवान् के इस तरह समझाने पर अर्जुन को कुछ होश हुआ, और दीन होकर अज्ञान-जन्य अपने मोह पर पश्चात्ताप करता हुआ वह भगवान् की महिमा की स्तुति करने लगा और अपने अपराध क्षमा करवाने लगा। साथ ही भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि आपके विश्व-रूप के नाना प्रकार के आश्चर्य-जनक और विकराल बनावों को देख कर मेरा मन डावाँडोल हो गया है, अब आप कृपा करके अपनी इस माया को समेट कर मुझे अपना मुकुट-धारी चतुर्भुज स्वरूप दिखाइए, अर्थात् मस्तक पर मुकुट तथा चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हों—ऐसा रूप दिखाइए। मस्तक पर मुकुट और हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए भगवान् के मनुष्याकृति रूप में अर्जुन की विशेष भक्ति होने का अभिप्राय यह था कि, यद्यपि विश्व में जितने रूप हैं, वे सब परमात्मा ही के हैं, परन्तु उन सबमें मनुष्य-देह की योग्यता विशेष है, अतः वह सर्व-श्रेष्ठ है; और जिस मनुष्य-देह में सब की एकता का अनुभव-स्वरूप मुकुट धारण किया हुआ मस्तक हो, सब प्रकार की विद्याओं को संग्रह-रूप शंख, सब प्रकार की कलाओं में कुशलता एवं कर्म-शीलता-रूप चक्र, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति की प्रचुरता-रूप गदा, एवं सब सांसारिक पदार्थों एवं व्यवहारों में अनासक्ति-रूप कमल, इन चार भावों रूप चार भुजाएँ हों—वही परमात्मा अथवा ईश्वर का सर्वोत्तम स्वरूप है। इन्हीं गुणों से जगत् अथवा समाज का धारण होता है। इसलिए जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज

में इन गुणों की जितनी अधिकता होती है, उतना ही अधिक वह व्यक्ति अथवा समाज सब प्रकार की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति में बढ़ा हुआ होता है, और उस व्यक्ति अथवा समाज को उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है; और जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज में इन गुणों की जितनी ही कमी होती है, उतना ही वह व्यक्ति या समाज सब प्रकार से पिछड़ा हुआ होता है, और उस व्यक्ति या समाज को उतनी ही कम शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है; और जो महापुरुष इन गुणों से पूर्ण होता है, वह जगत् का स्वामी, जगत् का नियन्त्रण करनेवाला ईश्वर होता है। जो सबके आत्मा=परमात्मा के इस रूप की, यानी इन भावों की उपासना करता है, उसमें उत्तरोत्तर इन गुणों की वृद्धि होती जाती है, और वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ अन्त में परमात्म-पद को पहुँच जाता है; क्योंकि मनुष्य, मन की एकाग्रता एवं दृढ़ता से जैसी उपासना करता है, वैसा ही वह हो जाता है। इस रूप में मस्तक पर मुकुट सबकी एकता के अनुभव का चिन्ह है, क्योंकि मुकुट उन्हीं राजा-महाराजाओं अथवा महान् पुरुषों के सिर पर शोभा देता है, जो बहुतसे लोगों की एकता के केन्द्र होते हैं, और जिन पर बहुतसे लोगों के हित की एकत्रित जिम्मेवारी होती है। शंख सब प्रकार की विद्याओं का चिन्ह है, क्योंकि शंख शब्दात्मक है और सब विद्याएँ भी शब्द-रूप हैं। गदा शारीरिक और मानसिक बल का चिन्ह है, क्योंकि जिस व्यक्ति में शारीरिक और मानसिक बल की विशेषता होती है वही गदा जैसे प्रचण्ड शस्त्र को धारण कर सकता है। चक्र कार्य-कौशल अथवा कर्म-शीलता का चिन्ह है, क्योंकि जगत् का प्रवाह गोलाकार चक्र-रूप है, और इसकी गति अथवा चाल भी गोलाकार चक्र-रूप है, तथा यह सब लोगों की भिन्न-भिन्न योग्यता के कर्मों के चक्र पर निर्भर है; अर्थात् जिस तरह किसी कारखाने की मशीनों के चक्के एक दूसरे से शृङ्खलाबद्ध—जुड़े हुए चक्कर काटते रहते हैं, तभी वह कारखाना चलता है, उसी तरह सब लोग अपनी-अपनी योग्यता के कर्म अच्छी तरह कुशलता से करते हुए आपस में शृङ्खलाबद्ध एवं एक दूसरे के सहायक होते हैं, तभी संसार-चक्र* चलता है। इसके अतिरिक्त जगत् के नाना प्रकार के छोटे और बड़े उद्यम, किसी न किसी प्रकार के चक्र की सहायता से ही सिद्ध होते हैं – चाहे वह चक्र काल-चक्र के रूप में अथवा घटना-चक्र के रूप में हो, अथवा पहियों, चक्कों, चरखों आदि के भ्रमण-चक्र के रूप में हो। पद्म अथवा कमल अनासक्ति का चिन्ह

---

* तीसरे अध्याय में इसको यज्ञ-चक्र के रूप से कहा है। उस अध्याय के श्लोक १० वें से १६ वें तक का स्पष्टीकरण देखिए।

है, क्योंकि कमल सदा पानी में रहता हुआ भी उससे भीगता नहीं; इसी तरह महान् पुरुष संसार के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए और भोग भोगते हुए भी सदा अनासक्त रहते हैं, अर्थात् किसी भी व्यक्ति, किसी भी पदार्थ अथवा किसी भी कार्य में मोहित नहीं होते।

इसलिए अर्जुन को भगवान् का यही भावनामय रूप विशेष प्रिय था, और भगवान् ने उसकी प्रार्थना पर उसी दिव्य-दृष्टि से उसे उस रूप का दर्शन कराया। फिर जब उस दिव्य-दृष्टि का संवरण कर लिया तब, जिस तरह कोई मनुष्य स्वप्न से जागता है, और जागने पर स्वप्न के सब दृश्य मिट कर पहले की तरह जाग्रत संसार सामने आ जाता है, उसी तरह अर्जुन के मनोयोग की दिव्य-दृष्टि हट जाने पर चर्म-चक्षुओं की भौतिक दृष्टि से पहले की तरह, श्रीकृष्ण रथ के सारथी की स्थिति में दिखाई देने लगे, और वह अपनी पूर्व की स्थिति यानी प्राकृत अवस्था में आ गया। भगवान् ने उसे आश्वासन देकर समझाया कि मेरे इस घोर रूप को देख कर घबड़ाने का कोई कारण नहीं हैं, प्रत्युत इससे तो प्रसन्नता होनी चाहिए, क्योंकि यह रूप देखना बड़ा ही दुर्लभ है। यह तेरा परम सौभाग्य है कि इस समय अखिल विश्व तुझे एक साथ दीख पड़ा है। यह "एक में अनेक और अनेकों में एक" का प्रत्यक्ष अनुभव न तो विशेष विभूति-सम्पन्न देवताओं को ही होता है, न भेद-प्रतिपादक वेदादि-शास्त्रों के पठन-पाठन करने से, न हवन-यज्ञ आदि कर्मकाण्डों से, न दान-पुण्य तथा अन्य धार्मिक कृत्यों से, न शरीर को कृश करनेवाली तपस्या से ही होता है; क्योंकि इन सब कृत्यों में पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार और कर्ता, कर्म, करण आदि त्रिपुटियों के भेद का दृढ़ निश्चय बना रहता है, जो एकता के बोध का बाधक है। यह सबकी एकता का दृश्य उसी को दीखता है, जो अनन्य-भाव से सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरी उपासना करता है, अर्थात् जो मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ प्रेम का वर्ताव करता है; और उसे ही यह बोध होता है कि यह अखिल विश्व एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं। उस बोध की दृढ़ता से उसे सर्वत्र परमात्मा ही दृष्टिगोचर होता है, जिससे वह समय पाकर अपने-आप को भी परमात्म-स्वरूप अनुभव करने लगता है।

\+ \+ \+

उक्त अनन्य-भाव की उपासना की व्याख्या आगे की जाती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे पाण्डव ! जो मेरे लिए कर्म करता है, अर्थात् सारे जगत् में मुझ सर्वात्मा = परमात्मा को व्यापक समझ कर जो सबके हित के लिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सारे व्यवहार करता है; जो मेरे परायण है, अर्थात् जिसने सारे जगत् को मेरा ही रूप समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ दिया है; जो मेरा भक्त है, अर्थात् आगे बारहवें अध्याय के विधानानुसार जो मेरी भक्ति करता है; जो संग रहित है, अर्थात् जो पृथक्ता के भावों में ममत्व की आसक्ति नहीं रखता; और जो सब भूत-प्राणियों से वैर नहीं रखता, अर्थात् सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर किसी से द्वेष नहीं करता, वह मुझे प्राप्त होता है (५५)।

॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

बारहवाँ अध्याय

ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाकर सबकी एकता का प्रत्यक्ष बोध कराया, और अन्त में यह कहा कि मेरी अनन्य भक्ति करने से ही इस प्रकार मेरे सर्वभूतात्मैक्य-भाव का प्रत्यक्ष बोध हो सकता है; और उस अध्याय के अन्तिम श्लोक में उस अनन्य भक्ति का स्वरूप सूत्र-रूप से कहा। अब अर्जुन की प्रार्थना पर उसी की व्याख्या इस बारहवें अध्याय में करते हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि जो भक्त इस प्रकार सदा युक्त होकर अर्थात् आपके उक्त सर्वरूप में मन लगाकर आपकी उपासना करते हैं, और जो अक्षर और अव्यक्त भाव की उपासना करते हैं, उनमें समत्व-योग के श्रेष्ठ ज्ञाता कौन हैं ? तात्पर्य यह कि जो लोग ग्यारहवें अध्याय के वर्णनानुसार अखिल विश्व को आप ही का विराट रूप समझ कर सबके साथ प्रेम करने रूपी आपकी उपासना करने में निरन्तर लगे रहते हैं, और जो लोग नाम-रूपात्मक दृश्य-प्रपंच को मिथ्या समझ कर इन्द्रियों के अगोचर, अविनाशी, निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करते रहते हैं, उनमें समत्व-योग के उत्तम साधक कौन हैं (१) ? श्री भगवान् बोले कि जो मुझ (विश्वरूपधारी परमात्मा) में मन लगाकर सदा (सबके साथ प्रेम-भाव में) जुड़े हुए परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं समत्व-योग के उत्तम साधक मानता हूँ (२)। और जो सब इन्द्रियों के समूह का निग्रह करके, अक्षर अर्थात् अविनाशी, अनिर्देश्य अर्थात् वर्णनातीत, सर्वत्रग अर्थात् सर्वव्यापक, अचिन्त्य अर्थात् मन की पहुँच से परे, कूटस्थ अर्थात् सबके आधार, अचल अर्थात् सदा एक-सा रहने वाले, ध्रुव अर्थात् अटल और अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से प्रतीत न होने वाले—निर्गुण भाव की उपासना करते हैं, वे, सर्वत्र समत्व-बुद्धि से सब भूतों के हित में लगे रहने वाले (लोग) मुझको ही प्राप्त होते हैं (३-४)। उन अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि देहाभिमानियों के लिए अव्यक्त में गति होना बहुत ही दुःख-साध्य है (५)। श्लोक २ से ५ तक का तात्पर्य यह है कि परमात्म-भाव अथवा परमानन्द की प्राप्ति—जो कि सबका परम

ध्येय है, वह तो सब भूत-प्राणियों में एकता एवं समता के ज्ञानपूर्वक सबके हित में लगे रहने रूपी समत्व-योग से होती है—चाहे अखिल विश्व को परमात्मा के अनेक परिवर्तनशील रूप समझ कर, अर्थात् "सब-कुछ परमात्मा ही है" ऐसा निश्चय करके, सबकी एकता एवं समता के चिन्तन-रूप, परमात्मा की विधि-मुख यानी सगुण उपासना द्वारा मन को साम्य-भाव में स्थित करके ऐसा किया जाय; या "नाम-रूपात्मक दृश्य-प्रपंच मिथ्या है, अतः वह परमात्मा नहीं है", इस तरह "नेति-नेति" के सिद्धान्त से सबका निषेध करके, मन और इन्द्रियों के अगोचर, इन सबके परे, सबके आधार, सर्वव्यापक, सबकी सत्ता-स्वरूप, एक, सत्य, नित्य आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने-रूपी निर्गुण उपासना द्वारा ऐसा किया जाय। परन्तु उपासना अथवा चिन्तन मन से होता है, और मन के टिकने के लिए कोई न कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। "अस्ति" अर्थात् किसी भी पदार्थ के अस्तित्व में, यानी "वह ऐसा है", इस भाव में तो मन लग सकता है; परन्तु "नेति-नेति", अर्थात् "ऐसा नहीं है—ऐसा नहीं है", इस भाव में मन नहीं ठहर सकता। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय-गोचर पदार्थों में तो मन सहज ही लग सकता है। परन्तु इन्द्रियातीत निर्गुण वस्तु में मन की स्थिति होना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए आत्मा अथवा परमात्मा के अव्यक्त अथवा निर्गुण भाव में मन को ठहराने के प्रयत्न में प्रायः असफलता होती है; परन्तु परमात्मा के व्यक्त अथवा इन्द्रिय-गोचर सगुण-स्वरूप—अखिल विश्व को परमात्मा ही का परिवर्तनशील स्वरूप समझ कर अटल श्रद्धा से उसमें परमात्मा का चिन्तन करना बहुत ही सुगम है, अतः उसमें मन सहज ही टिक सकता है। इसलिए परमात्मा के विश्व-रूप की उपरोक्त उपासना से समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति होनी सहज है (२ से ४)। परन्तु जो सब कर्मों का (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें संन्यास करके, मेरे परायण हुए, (सर्वत्र एकता के) अनन्य-भाव में मन लगा कर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ ! मुझमें पूर्णतया चित्त लगा देने वाले उन (भक्तों) को मैं मृत्यु-रूप संसार-समुद्र से तुरन्त पार करता हूँ। तात्पर्य यह कि जो सबमें मुझ परमात्मा को एक समान व्यापक जानते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़ कर, सबके हित के लिए कर्म करने-रूपी मेरी उपासना करते हैं, उन सर्वत्र मेरा ही चिन्तन करने वाले भक्तों का मैं सबका आत्मा = परमात्मा फौरन उद्धार करता हूँ, यानी दसवें अध्याय के श्लोक १० वें तथा ११ वें के अनुसार उनके अन्तःकरण में आत्म-ज्ञान का प्रकाश करके मैं उनके अज्ञानान्धकार का नाश कर देता हूँ (६-७)। (अतएव) मुझमें ही मन लगा, एवं मुझ में बुद्धि स्थित कर; इस तरह करने से तू उन्नत होकर निःसन्देह मुझ में ही निवास करेगा। तात्पर्य यह कि मन से सर्वत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही

का चिन्तन कर, और बुद्धि से सर्वत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही के व्यापक होने का विचार कर; ऐसा करने से तू सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शरीर-भाव अथवा जीव-भाव से ऊपर उठ कर मेरे परमात्म-भाव को प्राप्त हो जायगा; क्योंकि मनुष्य जैसा चिन्तन और विचार करता है, वैसा ही वह हो जाता है (८)। अब यदि तू मुझ में भली-भाँति चित्त स्थिर न कर सकता हो, तो हे धनंजय! अभ्यास-योग से मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर, यानी बार-बार मेरी प्राप्ति के चिन्तन का अभ्यास कर (९)। यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर रह; मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा। तात्पर्य यह कि यदि मेरी प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास में मन न लगे, तो नवमें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक के अनुसार सर्व-व्यापक परमात्मा के लिए, यानी लोक-सेवा के कर्म करने में लगा रह। लोक-सेवा के कर्म करते रहने से भी शनैः-शनैः व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति मिट कर सबके आत्मा = परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है (१०)। और यदि तू मेरे लिए उपरोक्त कर्म करने में भी असमर्थ हो तो प्रयत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर। तात्पर्य यह कि यदि लोक-सेवा अथवा परोपकार के कार्य भी न बन सकें, तो नवमें अध्याय के सताइसवें श्लोक में कहे अनुसार खाने-पीने आदि के सभी शारीरिक व्यवहार करने में सबके एकत्व-भाव = परमात्मा के चिन्तनपूर्वक अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ के व्यष्टि-भाव को समष्टि में जोड़ देने का प्रयत्न कर (११)। अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान की विशेषता है, ध्यान से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि कोरे अभ्यास की अपेक्षा परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि परमात्मा के ज्ञान के बिना केवल अभ्यास करते रहने से कुछ भी सिद्धि नहीं होती; ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि "परमात्मा सर्वव्यापक है", यह जान लेने पर भी यदि उस पर सदा ध्यान न रखा जाय तो वह जानना निरर्थक होता है; और ध्यान से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि परमात्मा के सर्वव्यापक होने का ध्यान रखते हुए उसी के अनुसार आचरण होता है, अर्थात् अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव में आसक्ति न रख कर सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से होते हैं, तभी ध्यान सार्थक होता है। यदि परमात्मा की सर्वव्यापकता का ध्यान होते हुए भी व्यवहार उसके अनुसार न हों, अर्थात् आचरणों में व्यक्तित्व का अहङ्कार एवं व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति बनी रहे तो ज्ञान और ध्यान, दोनों निरर्थक होते हैं। अभ्यास, ज्ञान एवं ध्यान आदि सब, सांसारिक व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से करने के साधन मात्र हैं;

अर्थात् समत्व-योग की सिद्धि के सहायक हैं। शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तो सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त आचरण करने से अर्थात् समत्व-योग से ही प्राप्त होती है, और उस समत्व-योग की स्थिति के लिए अभ्यास, ज्ञान और ध्यान उत्तरोत्तर सहायक हैं (१२)।

स्पष्टीकरण—गीता के प्रतिपाद्य विषय—सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने-रूप समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करने का उपाय, छठे अध्याय में राज-योग का अभ्यास बताया; फिर उक्त अभ्यास की कठिनता की शंका होने पर सातवें अध्याय से आरंभ करके परमात्मा की उपासना-रूप सुगम उपाय का निरूपण किया, जिसमें सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप भगवान् ने अपने-आपको सबमें और सबको अपने में बता कर, ग्यारहवें अध्याय में अपनी उक्त सर्वरूपता का प्रत्यक्ष बोध कराया, और उस सर्वरूप की उपासना करने, अर्थात् अखिल विश्व को परमात्मा का व्यक्त रूप समझ कर सबके साथ प्रेम का व्यवहार करने-रूप ईश्वरोपासना करने का उपदेश अर्जुन को निमित्त बनाकर सबको दिया। इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करवाने के लिए अर्जुन ने पूछा कि जो इस तरह सबके साथ प्रेम करने-रूप आपके परिवर्तनशील व्यक्त स्वरूप की सगुण उपासना करते हैं, और जो आपके अपरिवर्तनशील अव्यक्त भाव की निर्गुण उपासना करते हैं उनमें से समत्व-योग के उत्तम साधक कौन होते हैं, अर्थात् इन दो प्रकार की उपासनाओं में से समत्व-योग में स्थित होने के लिए श्रेष्ठ साधन कौन सा है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि समत्व-योग के उत्तम साधक वह होते हैं, जो कि व्यक्त और अव्यक्त, अथवा क्षर और अक्षर, अथवा परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील, जो भी कुछ है, उस सबको मेरे अर्थात् परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकत्व-भाव के प्रेम का आचरण करते हुए सबके हित में लगे रहते हैं। जो लोग मेरे परिवर्तनशील व्यक्त स्वरूप—इस जगत् के बनाव से परे मेरे अपरिवर्तनशील अव्यक्त भाव की उपासना करते हैं, वे भी यदि समत्व-बुद्धि से सबके हित में लगे रहते हैं तो मुझे ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि परमात्म-भाव की प्राप्ति तो मन और बुद्धि को सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करने से होती है—चाहे वह स्थिति व्यक्त उपासना द्वारा प्राप्त की जाय अथवा अव्यक्त उपासना द्वारा; परन्तु अव्यक्त भाव की उपासना में मन नहीं लग सकता, क्योंकि मन को ठहराने के लिए कोई न कोई व्यक्त अवलम्बन अवश्य चाहिए। उपासना मन और इन्द्रियों द्वारा होती है, और सब व्यक्त वस्तुओं

का निषेध हो जाने पर मन और इन्द्रियाँ आदि कुछ भी शेष नहीं रहते, फिर किसके द्वारा, कौन किसकी उपासना करे ?

अव्यक्त भाव केवल बुद्धि के विचार का विषय है, मन से उपासना करने का विषय नहीं; और वह विचार अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण साधारण लोगों की पहुँच से परे है; इसलिए सर्व-साधारण के हित के लिए उपासना के सरल साधन का विधान किया गया है। अतः अखिल विश्व को परमात्मा ही का व्यक्त एवं परिवर्तनशील रूप समझ कर अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर, अपने-अपने शरीरों की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार सबके हित अर्थात् लोक-संग्रह की दृष्टि से करना चाहिए। इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमपद = परमात्म-भाव को प्राप्त होता है। सबके एकत्व-भाव = परमात्मा में मन को स्थिर करने के लिए जिसकी जैसी योग्यता और जैसी रुचि हो, उसी के अनुसार साधनों का आश्रय लिया जा सकता है। यदि परमात्मा की प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास की योग्यता हो तो वैसा करे; यदि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक परमात्मा को सर्वव्यापक मान कर लोक-सेवा अथवा परोपकार के कार्य करने की योग्यता हो तो वैसा करे; और यदि अपने सभी व्यष्टि व्यवहारों को समष्टि व्यवहारों के साथ जोड़ देने की योग्यता हो तो वैसा करे। अन्तिम साध्य अथवा परम गति, अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर पूर्ण एकता एवं समता के अनुभव में दृढ़ स्थिति हो जाना है। अभ्यास, ज्ञान और ध्यान आदि सभी इसी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति के साधन हैं।

× × ×

अब आगे तेरहवें से बीसवें श्लोक तक आठ श्लोकों में भगवान् सच्चे भक्त अथवा उपासक के लक्षण कहते हैं। यहाँ पर पाठकों का ध्यान इस बात पर विशेष रूप से आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन आठ श्लोकों में भगवान् उसी को अपना प्यारा भक्त बताते हैं जो पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों के व्यष्टि भावों को समष्टि में जोड़ कर सबके साथ एकता के प्रेम का व्यवहार करता है, और जिसका अन्तःकरण अनुकूलता-प्रतिकूलता के नाना भांति के द्वन्द्वों में एक समान रहता है—विचलित नहीं होता। अपने प्यारे और सच्चे भक्त के लक्षण आगे के आठ श्लोकों में निरूपण करने में, तथा श्लोक २ से १२ तक उपासना का जो यथार्थ स्वरूप कह आये हैं, उनमें भी भगवान् ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि मेरे अमुक नामों का इतना जप करने वाले, या इतनी मालाएँ फेरने वाले, या अमुक स्तोत्रों का पाठ करने वाले, या मेरे किन्हीं विशेष रूपों के ध्यान में लगे रहने वाले, अथवा प्रतिदिन इतनी बार

मन्दिरों या उपासना-स्थानों में पहुँच कर आराधना करने वाले, अथवा पंचोपचार या षोडशोपचार आदि विधि से अर्चन-पूजन करने वाले, अथवा इतना भोग-प्रसाद चढ़ाने वाले, अथवा इतनी बार संध्या-वन्दन, पूजा-पाठ आदि करने वाले, एवं स्वयं दीन और दास बन कर सर्वथा मुझ पर निर्भर रहने वाले परावलंबी भक्त मुझे प्यारे होते हैं; न यह कहा है कि अमुक प्रकार से यज्ञानुष्ठान करने वाले, अथवा आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि हठ-योग के साधनों में लगे रहने वाले, अथवा व्रत-उपवास करके भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि से शरीर को कष्ट देकर तप करने वाले, अथवा तीर्थ-यात्रा के निमित्त भ्रमण करने वाले, और नदी, नालों, तालावों और समुद्रों आदि में नहाने वाले, अथवा देव-कर्म, पितृ-कर्म आदि कर्म-काण्डों में लगे रहने वाले भक्त मुझे प्यारे होते हैं; न यही कहा है कि शरीरों पर अमुक प्रकार के चिन्ह लगाने वाले, या अमुक प्रकार की वेष-भूषा रखने वाले, अथवा अमुक स्थान में निवास करने वाले, अथवा अमुक शास्त्रों के मानने और उनके अध्ययन में लगे रहने वाले, अथवा शरीरों की बाहरी पवित्रता के आचार-विचार को प्रधानता देने वाले, अथवा अमुक जाति, अमुक वर्ण, अमुक आश्रम के लोग, अथवा अमुक धर्म, पन्थ, मज़हब अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी ही मेरे प्यारे भक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि गीता में परमात्मा के किसी नाम-विशेष, रूप-विशेष अथवा उपाधि-विशेष की किसी विशेष विधि से आराधना अथवा पूजन-अर्चन का विधान नहीं है; न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड अथवा साम्प्रदायिक रीति-रिवाज का प्रतिपादन ही है। दूसरे शब्दों में गीता में धार्मिक कट्टरता, अथवा मज़हबी दीवानापन, अथवा साम्प्र-दायिक अन्ध-विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। गीता में तो सबकी एकता की समत्व-बुद्धियुक्त प्रेम-भाव से सबके साथ यथायोग्य समता का आचरण करने का विधान है, जिसमें सभी धर्मों, सभी मज़हबों एवं सभी सम्प्रदायों का समावेश हो सकता है; क्योंकि सच्चा धर्म तो वही हो सकता है, कि जिसका मूल उद्देश्य पारस्प-रिक प्रेम का आचरण करना हो—चाहे उस उद्देश्य का प्रचार किसी भी भाषा अथवा किसी भी भाव में, किसी भी व्यक्ति द्वारा, किसी भी समय और किसी भी देश में किया गया हो।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

अर्थ—जो निर्मम अर्थात् किसी व्यक्ति, पदार्थ, विषय अथवा व्यवहार में मोह की आसक्ति न रख कर, निरहंकार अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार के बिना, मैत्री, करुणा आदि से युक्त हुआ, सब भूत-प्राणियों के प्रति अद्वेष अर्थात् प्रेम रखता है; सुख और दुःख में समान रहता है; क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट, संयम से रहने वाला एवं दृढ़ निश्चय युक्त है; तथा मन और बुद्धि को जिसने मुझ (सर्वात्मा = परमात्मा) में लगा दिया है; वह मेरा समत्वयोगी भक्त मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि जो किसी भी व्यक्ति-विशेष, पदार्थ-विशेष, व्यवहार-विशेष अथवा विषय-विशेष आदि में मोह की आसक्ति से तथा अपने व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर सब भूत-प्राणियों के साथ मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि प्रेम* के नाना भावों युक्त यथायोग्य वर्ताव करता है और इस तरह सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करने में जो सुख और दुःख प्राप्त हों, उनको एक समान आगमापायी यानी अनित्य समझ कर जो उनसे विक्षिप्त नहीं होता; किसी से भूल से अथवा अज्ञान से अर्थात् मूर्खता से कोई अपराध अथवा हानि हो जाय तो उसे सहन करके क्षमा करता है; तथा इस तरह सबके साथ प्रेम के वर्ताव-पूर्वक अपने कर्तव्य-कर्म करने से जो धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा

* प्रेम के वर्ताव की व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

आदि प्राप्त हों, उन्हीं में सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् जिसके अन्तःकरण में लोभ से विकार उत्पन्न नहीं होते; इन्द्रियों के विषयों में जो संयम रखता है; और जिसके मन और बुद्धि में आत्मा अथवा परमात्मा के एकत्व-भाव का दृढ़ निश्चय है, वह समत्वयोगी सबके आत्मा = परमात्मा का सच्चा एवं प्यारा भक्त होता है (१३-१४)। जिससे लोगों को उद्वेग अर्थात् त्रास नहीं होता, और जिसको लोगों से उद्वेग अर्थात् त्रास नहीं होता, (और) जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगों से मुक्त है, वह मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि जो ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार, पीड़ा, अत्याचार आदि के आचरणों से लोगों में अशान्ति उत्पन्न करता है, वह स्वयं अपने चित्त की शान्ति भंग होने के कारण उत्पन्न करता है; क्योंकि जो दूसरों की सुख-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि को सहन न करके उनसे ईर्षा करता है, वह दूसरों को जलाने के साथ स्वयं भी जलता रहता है; जो दूसरों से द्वेष करता है, वह दूसरों को उद्विग्न करने के साथ-साथ स्वयं भी उद्विग्न होता है; जो अपने को कुलीन एवं उच्च-वंशीय मान कर दूसरों से घृणा करता है, उसके अन्तःकरण में सदा ग्लानि बनी रहती है; जो अपने को बड़ा मान कर दूसरों का तिरस्कार करता है, उसे सदा अपने बड़प्पन में त्रुटि आने तथा उसके नाश होने की आशंका बनी रहती है; जो दूसरों को पीड़ा देता है, उसका अन्तःकरण सदा सशंकित रहता है; और जो दूसरों पर अत्याचार करता है, वह सदा भयभीत रहता है; इस तरह अपने तथा दूसरों के अन्तःकरण में उद्वेग उत्पन्न करने वाले लोगों से सबका आत्मा = परमात्मा कभी प्रसन्न नहीं होता। परन्तु जो दूसरों को उद्विग्न करने वाले कोई व्यवहार नहीं करता, और जो स्वयं दूसरों के ऐसे आचरणों से उद्विग्न नहीं होता; इसी तरह जो धन, ऐश्वर्य, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलता की प्राप्ति के हर्षोत्पादक अवसरों पर स्वयं हर्ष से उन्मत्त नहीं हो जाता, और उस हर्ष के मद में ऐसे आचरण नहीं करता कि जिससे दूसरों को विक्षेप हो; तथा किसी अनिष्ट अथवा प्रतिकूलता की प्राप्ति के अवसर पर ऐसा क्रोध नहीं करता कि जिससे अपने अन्तःकरण में जलन उत्पन्न होने के साथ-साथ दूसरों को भी क्षोभ हो; और जो ऐसे कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होता कि जिनसे स्वयं भयभीत हो और दूसरे भी भयत्रस्त होवें—वह समत्वयोगी सबके आत्मा = परमात्मा का प्यारा होता है (१५)। अनपेक्ष अर्थात् स्वावलम्बी, शुचि अर्थात् पवित्र, दक्ष अर्थात् कुशल, उदासीन अर्थात् अनासक्त, गतव्यथ अर्थात् चिन्ता, भय, पीड़ा आदि व्यथाओं से न घबराने वाला, तथा सब समारंभों से अलग रहने वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा होता है। जो न हर्षित होता है और न द्वेष करता है, न शोक करता है और न आकांक्षा अर्थात् चाह रखता है, और जो शुभ एवं अशुभ भावों का सर्वथा त्याग करने वाला भक्तिमान् (व्यक्ति) है, वह मुझे प्यारा है।

तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा का सच्चा भक्त वह समत्वयोगी है, जो कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सब प्रकार की उन्नति के लिए, तथा अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सर्वथा दूसरों पर ही निर्भर न रह कर स्वयं उत्साह और धैर्यपूर्वक उद्यमशील रहता है और आत्म-विश्वासपूर्वक सात्विक भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करता रहता है; जो अपने अन्तःकरण को द्वैतभाव-जन्य मोह, अहंकार, लोभ, ईर्षा, द्वेष, छल-छिद्र, क्रूर आदि राजस-तामस मलिन विकारों से शुद्ध रखता है, और शरीर को साफ़ एवं सुथरा रखता है; जो अपने कार्यों में अच्छी तरह कुशल यानी प्रवीण होता है; जो किसी विशेष कार्य अथवा विशेष उद्योग ही में इतना लवलीन नहीं हो जाता तथा कर्मों के परिणाम के विषय में इतनी आसक्ति नहीं रखता कि दिन-रात उसी की चिन्ता में निमग्न रहे, किन्तु समय और आवश्यकता के अनुसार अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, एवं उनकी सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहता है, तथा अपने-आप (आत्मा) को निरपेक्ष अर्थात् अकर्ता ही समझता है; जिसका अन्तःकरण शोक, भय आदि मानसिक विकारों से इतना सन्तप्त नहीं होता और शारीरिक पीड़ा आदि से जो इतना व्याकुल नहीं होता कि जिनसे अपने कर्तव्य-कर्मों में त्रुटि आवे; और जो ऐसे राजसी एवं तामसी आडम्बरों और व्यक्तित्व का अहंकार बढ़ाने वाले समारम्भों से सर्वथा अलग रहता है, जिनके सम्पादन करने की अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य न हो, अथवा जिनमें विशेष शक्ति एवं समय का व्यय होता हो—जिससे अपने वास्तविक कर्तव्य-कर्मों में बाधा आवे अथवा दूसरों को क्लेश हो (गी० अ० १८ श्लो० २४-२५); उपरोक्त रीति से अपने कर्तव्य-कर्म करने से यदि धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि अनुकूलता की प्राप्ति हो तो उससे जो विशेष हर्षित नहीं होता, और हानि, अपमान, अकीर्ति आदि प्रतिकूलता की प्राप्ति हो तो उसके लिए किसी से द्वेष नहीं करता; प्राप्त पदार्थों का वियोग होने पर जो शोक नहीं करता, और अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा नहीं रखता; और जिसने शुभ और अशुभ के भेदों का प्रभाव चित्त से हटा दिया है, अर्थात् जो यह समझता है कि कोई भी कर्म अथवा व्यक्ति अथवा पदार्थ वस्तुतः न शुभ है न अशुभ, न श्रेष्ठ है न निकृष्ट, किन्तु अपने-अपने स्थान में सभी सार्थक एवं उपयोगी हैं, संसार में निरर्थक कुछ भी नहीं है, शुभ और अशुभ का भेद अपनी-अपनी भावना पर निर्भर रहता है, जो जिसको जैसा मानता है, उसे वह वैसा ही प्रतीत होता है, वास्तव में सब-कुछ एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं—इस प्रकार जो राजस-तामस भावों से ऊपर उठ कर सात्विक भाव से सबके साथ प्रेम का आचरण करता है, वही परमात्मा का प्यारा भक्त होता है (१६-१७)। जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी एवं सुख

और दुःख में सम रहना है; संग अर्थात् आसक्ति से रहित है; निन्दा और स्तुति जिसे बराबर है; जो मितभाषी है, तथा जैसी परिस्थिति हो उसमें सन्तुष्ट रहता है; जिसकी किसी स्थान-विशेष में आसक्ति नहीं होती, और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि शत्रुता और मित्रता के भाव मन के माने हुए होते हैं—शरीरों के साथ स्वाभाविक नहीं होते, न ये सदा एक-से रहते हैं। जो व्यक्ति किसी विशेष समय अथवा विशेष परिस्थिति में शत्रु होता है, वही दूसरे समय अथवा दूसरी परिस्थिति में मित्र हो सकता है, और जो व्यक्ति किसी विशेष समय अथवा विशेष परिस्थिति में मित्र होता है, वही दूसरे समय अथवा दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो सकता है। वास्तव में शत्रु और मित्र, सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, शत्रुता और मित्रता के भाव विशेष कारणों से मन में उत्पन्न होते और मिटते रहते हैं, इस निश्चय से जो मित्रता के भाव से किसी के साथ ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, और शत्रुता के भाव से द्वेष के वशीभूत नहीं होता, किन्तु जिसकी जैसी भावना होती है, उसके साथ उसी के अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्तःकरण में समता बनी रहती है; लोक-संग्रह के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करने में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो उससे जो प्रफुल्लित नहीं होता, और अपमान हो तो उससे जिसका चित्त व्यथित नहीं होता; अपने कर्तव्य कर्म करने में सर्दी और गर्मी आदि की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता से होने वाले सुख-दुःख से जो व्यथित नहीं होता, किन्तु उनको सहन करता हुआ सम बना रहता है; निन्दा और स्तुति को एक समान झूठी समझ कर जो उनसे विचलित नहीं होता; जो बहुत वाचाल नहीं होता, अर्थात् निरर्थक बकवाद नहीं करता; उन्नति के लिए सुचारु रूप से उद्यम करते रहने से जैसी स्थिति प्राप्त होवे, उसी में जो मस्त रहता है; जो किसी देश-विशेष अथवा किसी स्थान-विशेष में अथवा घर में अथवा जंगल में—कहीं भी ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, किन्तु अपने कर्तव्य और व्यवसाय के लिए किसी भी देश या स्थान में जाकर रह सकता है; और जिसकी बुद्धि में सबके आत्मा = परमात्मा की एकता एवं समता का अटल निश्चय होता है, वह समत्वयोगी सबके आत्मा = परमात्मा का प्यारा भक्त होता है (१८-१९)। जो श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हुए इस अमृत-तुल्य धर्म का, जैसे (ऊपर) कहा है, उसी के अनुसार आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त ही प्यारे हैं। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा में अन्तःकरण जोड़ कर ऊपर कहे हुए धर्म में पूर्ण विश्वास रखते हुए जो उसका आचरण—जैसा ऊपर कहा है, उसी तरह करते हैं, वे सबके आत्मा = परमात्मा के अत्यन्त ही प्यारे होते हैं (२०)।

स्पष्टीकरण—श्लोक १३ वें से १९ वें तक भगवान् ने जो अपने प्यारे भक्तों के लक्षण कहे हैं, वे उन परमोत्तम भक्तों के स्वाभाविक आचरण हैं, जो उपासना के अभ्यास की पूर्णता को पहुँच चुके हैं। भक्ति अथवा उपासना के अभ्यास की पूर्णता होने पर फिर उपास्य-उपासक का भी भेद नहीं रहता, अर्थात् उनको अपने सहित सारा जगत् एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने, यानी सबकी एकता का अटल एवं अचल अनुभव हो जाता है; और उनसे जो आचरण होते हैं, वे सबकी एकता के प्रेम-भाव से सबके हित के लिए होते हैं; अतः उपासना के अभ्यास की पूर्णता को पहुँचे हुए उपरोक्त भक्त पूरे समत्वयोगी होते हैं, और इन श्लोकों में वर्णित सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव के आचरण उनसे अनायास ही होते रहते हैं। परन्तु जो भक्त परमात्मा की उपरोक्त उपासना की पूर्णता को नहीं पहुँचे हैं, किन्तु इसके अभ्यास में लगे हुए हैं, अर्थात् जो साधक अवस्था में हैं, उनके लिए प्रयत्नपूर्वक इन आचरणों के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर इनका अभ्यास करना आवश्यक है।

सच्चे भक्त के स्वाभाविक आचरणों के विवरण के अन्त में—१९ वें श्लोक में "स्थिरमतिः" कह कर भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन आचरणों का मूल आधार, सबकी एकता के अटल निश्चय की साम्य-बुद्धि है। यहाँ उपासना का प्रकरण है, इसलिए भक्ति-प्रधान भाषा में यों कहना चाहिए कि "परमात्मा सबमें एक समान व्यापक है" यह एकता का विश्वास अन्तःकरण में रखने से ही ये आचरण ठीक ठीक हो सकते हैं। यदि दूसरों को परमात्मा से अलग समझ कर उनके हिताहित की उपेक्षा करके, केवल अपने व्यक्तित्व के अहंकार से एवं व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से ये आचरण किये जायँ तो इनका विपर्यास होकर ये दुराचार में परिणत हो जाते हैं, जिससे उलटा अनर्थ होता है। इसलिए इन आचरणों के वर्णन के आरंभ ही में भगवान् ने इन सबके मूल-मन्त्र "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" के साथ "निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी" आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, और साथ ही "मय्यर्पितमनोबुद्धिः" कह कर स्पष्ट कर दिया है कि विशेष व्यक्तियों में ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर, तथा सुख-दुःख आदि को समान समझ कर, मन और बुद्धि को सबके एकत्व-भाव—मुझ (परमात्मा) में लगाये हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया का अच्छापन अथवा बुरापन कर्ता के भाव और उसके उपयोग पर निर्भर रहता है। कोई भी आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया, सबकी एकता की साम्य-बुद्धि से, सबके हित के उद्देश्य से किये जाने पर श्रेष्ठ अथवा

शुभ होती हैं, अतः यह उनका सदुपयोग होता है; और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से, दूसरों के स्वार्थों की उपेक्षा करके, केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्तियों ही की स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाने पर अशुभ अथवा बुरी होती हैं, अतः यह उनका दुरुपयोग होता है। इसलिए इन श्लोकों में वर्णित प्रत्येक आचरण के सदुपयोग अर्थात् सच्चे स्वरूप का, तथा उसके दुरुपयोग अर्थात् विकृत स्वरूप (विपर्यास) का खुलासा आगे विस्तार-पूर्वक किया जाता है।

प्रेम (अद्वेष)

सब भूत-प्राणी एक ही सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक नाम और अनेक रूप हैं, इस सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से सबके साथ साधारण प्रेम का वर्ताव करना, अपनी तरफ़ से किसी से भी द्वेष नहीं रखना, सभी सुखी हों, सभी सन्मार्ग पर चलें, सभी उन्नति करें—इस तरह सबके प्रति सद्भावना रखना, और यथाशक्य सबका हित करने का प्रयत्न करना, अपनी तरफ़ से अहित किसी का भी नहीं करना—यह प्रेम का सदुपयोग अथवा सच्चा स्वरूप है। परन्तु किसी व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेष अथवा समूह-विशेष अथवा समाज-विशेष अथवा देश-विशेष ही में प्रेम को सीमाबद्ध करके, उनके प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनके साथ यथायोग्य व्यवहार भी न करना अथवा अपने कर्तव्यों में त्रुटि करना, अथवा उन व्यक्तियों से यथायोग्य काम न लेना, अर्थात् उनसे काम लेने से उन्हें शारीरिक परिश्रम या कष्ट होगा—इस विचार से उनसे अपने-अपने कर्तव्य पालन करवाने की उपेक्षा करना, अथवा उनको पहले थोड़ा-सा कष्ट होने से उसके परिणाम में उनका अथवा दूसरों का हित होता हो तो भी प्रेम-वश उनका वह थोड़ा-सा कष्ट सहन न कर सकना, अथवा उनके सुखों के लिए दूसरों पर अत्याचार करना या दूसरों के कष्टों की परवाह न करना—यह सच्चा प्रेम नहीं किन्तु प्रेम का विपर्यास अर्थात् मोह है। विशेष व्यक्तियों तथा पदार्थों में प्रेम की आसक्ति मोह में परिणत होकर उनके साथ राग और दूसरों के साथ द्वेष उत्पन्न कर देती है, जिससे बड़े अनर्थ होते हैं। अर्जुन को भी विशेष व्यक्तियों के साथ प्रेम की आसक्ति होकर मोह उत्पन्न हो गया था, जिससे वह बहुत ही व्याकुल एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया था, और उसी के लिए भगवान् ने उसे यह उपदेश देकर उसका मोह दूर किया था। सच्चे प्रेम का खुलासा करने ही के लिए १३ वें श्लोक में भगवान् ने "निर्मम, निरहंकार" आदि विशेषणों का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि विशेष व्यक्तियों में ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के

अहंकार से रहित होकर तथा सुख-दु:ख को समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का वर्ताव करना चाहिए।

\+ \+ \+

आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के जगत्-रूपी इस खेल में नाना प्रकार के लोग होते हैं, और उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता और भिन्न-भिन्न प्रकार के परस्पर के संबंध होते हैं; अतः प्रेम का वर्ताव भी पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार और परस्पर के संबंध के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जिस तरह विशेष विभूति-सम्पन्न सुखी लोगों से मित्रता, दुखियों के प्रति दया, सज्जनों के साथ मुदिता, दुष्टों के साथ उपेक्षा, बड़ों के प्रति भक्ति, स्त्री का पुरुष के प्रति पातिव्रत, पुरुष का स्त्री के प्रति पत्नीव्रत, छोटों के प्रति वात्सल्य, बराबरी वालों से स्नेह और अपने से हीन स्थिति वालों के साथ अनुग्रह के रूप में प्रेम का वर्ताव होता है। उन सबका अलग-अलग स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

मित्रता

जो लोग सुखी हों, धनवान्, बुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, सत्तावान्, सामर्थ्यवान्—इत्यादि विशेष योग्यता-सम्पन्न हों, उनके प्रति मित्रता का भाव रखना, अर्थात् उनको अपना मित्र समझ कर प्रसन्न होना, उनसे ईर्षा, द्वेष आदि न करना; उनके साथ मधुरता और शिष्टाचार का वर्ताव करना, और आवश्यकता होने पर उनको सहयोग देना—यह सच्ची मैत्री है। परन्तु यदि उक्त सुखी, धनी, बुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, सत्तावान् अथवा सामर्थ्यवान् लोग दुष्ट और दुराचारी हों, जिनसे दूसरों का अहित होता हो या दूसरों को कष्ट पहुँचता हो, तो उनसे मित्रता रखना अथवा उनको सहयोग देना सच्ची मैत्री नहीं, किन्तु मैत्री का दुरुपयोग अथवा विपर्यास है; क्योंकि विशेष योग्यता-सम्पन्न लोग यदि साधारण लोगों पर अन्याय अथवा अत्याचार करते हैं, तो उससे सारे समाज में बड़ी विश्रृङ्खलता उत्पन्न होती है, और उनसे सबको कष्ट होता है, तथा वे स्वयं सबके एकत्व-भाव = परमात्मा से विमुख होते हैं, अतः उनसे सहयोग करना स्वयं उनसे तथा दूसरों से से शत्रुता करना है।

करुणा—दया

जो प्राणी दु:खी हों, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक आदि किसी भी प्रकार की विपत्ति से ग्रस्त हों, अत्याचार-पीड़ित हों, अनाथ हों,

असहाय हों, दीन हों अथवा असमर्थ हों, उनके प्रति दया का भाव रखना; यदि अपने में सामर्थ्य हो तो यथाशक्य उनके दुःखों में सहायक होना और उनकी दुःख-निवृत्ति का यत्न—तन, मन, वचन एवं धन से—करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो मन में दया का भाव रखके उनकी दुःख-निवृत्ति की कामना अवश्य करना—निष्ठुरता कदापि न करना—यह सच्ची करुणा अथवा दया है। परन्तु करुणा के वश होकर पात्रापात्र के विचार बिना, धूर्तों, पाखण्डियों, दुराचारियों, आलसियों, खुशामदियों, मुफ़्तखोरों एवं ठगों आदि कुपात्रों पर दया करके उनको सहायता देकर उनके दुर्गुणों को बढ़ाना; भले आदमियों तथा गरीबों पर अत्याचार करने वाले दुष्टों और दुराचारियों पर दया करके उनके अपराधों तथा कुकर्मों का उन्हें दण्ड न देना; जीव-दया के भाव से इतना प्रभावित हो जाना कि अपने कर्तव्य-कर्म अर्थात् लोक-संग्रह के व्यवहार करने में, किसी प्राणी के कष्ट होने की संभावना से त्रुटि करना; हीन कोटि के प्राणियों पर दया करने के लिए उच्च कोटि के प्राणियों को कष्ट अथवा हानि होने की अवहेलना करना; किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समाज-विशेष के दुःखों से आर्द्र होकर निरन्तर उसी की चिन्ता करते रहना, और उसके मोह में उलझ कर कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भूल जाना, और लोक-हित के व्यवहारों की अवहेलना करना—यह दया नहीं है, किन्तु दया का दुरुपयोग एवं मानसिक दुर्बलता है।

मुदिता

जो लोग शुभ काम करते हों, श्रेष्ठ आचरण वाले हों, ज्ञानी, दानी, भक्त अथवा परोपकारी हों, जिनसे उनकी कीर्ति होती हो, और जिनसे लोगों में वे माननीय एवं प्रतिष्ठित समझे जाते हों, ऐसे सज्जनों की उक्त कीर्ति, मान और प्रतिष्ठा से मन में मोद करना, अर्थात् जिस तरह अपने तथा अपने आत्मीय जनों के सत्कार्यों की प्रशंसा सुन कर मन में मोद होता है, उसी तरह प्रसन्न होना; अन्य लोगों के सत्कर्मों की प्रशंसा सुन कर मन में न कुढ़ना, और उनकी कीर्ति अथवा प्रशंसा को क्षति पहुँचाने की चेष्टा न करना—यह मुदिता है। परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अभिमानी एवं कीर्ति-लोलुप धनाढ्यों के धर्म के नाम से किये जाने वाले राजसी-तामसी आडम्बरों और कपट से किये हुए ऊपरी दिखावे-मात्र के सत्कार्यों से प्रसन्न होकर उनकी तारीफ के ढोल पीटना—यह मुदिता नहीं किन्तु चापलूसी है।

उपेक्षा

मूर्ख, दुराचारी, आततायी, धूर्त, ठग, दंभी, पाखंडी आदि दुष्ट प्रकृति के

लोग, जिनकी करतूतों से जनता में एकता के विरुद्ध अनेकता और फूट के भाव बढ़ते हों, और जिनसे लोगों को पीड़ा होती हो एवं समाज का अहित होता हो, उनसे सहयोग और सहानुभूति न रखना; यदि अपनी योग्यता और सामर्थ्य हो तो उनकी मूर्खता, दुष्टता, धोखेबाजी, दम्भ, पाखण्ड आदि छुड़ाने का यत्न करना; यदि समझाने और शिक्षा देने से उनकी मूर्खता, दुष्टता, धोखेबाजी, दम्भ, पाखण्ड आदि न छूटें तो उनको डराना, धमकाना एवं यथायोग्य दण्ड देना; और ऐसा करने से भी यदि उनके अत्याचार कम न हों तो अत्यन्त आवश्यकता होने पर स्वयं उनके तथा सबके हित के लिए उनको प्राण-दण्ड तक दे देना—इस तरह करने में उनके शारीरिक और मानसिक कष्ट अथवा शरीर-नाश की परवाह न करना यानी उपेक्षा करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो उनसे उदासीन रहना अर्थात् उनका संग न करना—यह सच्ची उपेक्षा है। ऐसे दुष्ट लोगों की दुष्टता छुड़ाने के लिए द्वेष-भाव के बिना उन्हें दण्ड देना अथवा दिलाना, वास्तव में उनके साथ तथा सबके साथ प्रेम करना ही होता है, क्योंकि दुष्टों की दुष्टता छुड़ाने से स्वयं उनका तथा सबका हित होता है। परन्तु दुष्टों की दुष्टता छुड़ाने की योग्यता और सामर्थ्य होते हुए भी इस विचार से उदासीन रह कर उपेक्षा करना कि "इनकी दुष्टता से हमें क्या प्रयोजन? अपनी करणी का फल ये आप ही भोगेंगे; यदि हम इनको दण्ड देंगे या दिलावेंगे तो हमको पाप लगेगा, अथवा हमारा अन्तःकरण कलुषित होगा"—यह उपेक्षा का दुरुपयोग है, तथा दुष्टों के कुकर्मों और कुचेष्टाओं में सहायक होना ही नहीं, किन्तु उन्हें सहयोग देकर उनकी दुष्टता बढ़ाना है, और साधारण जनता के साथ अन्याय करना है।

राज्य-भक्ति

राज्य-व्यवस्था का एकमात्र प्रयोजन जन-समाज को परस्पर में प्रेम-सहित एकता के सूत्र में पिरोये हुए सुव्यवस्थित रख कर उसकी सब प्रकार की उन्नति में सहायक होना तथा उसका वास्तविक हित करना है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जो राज्य-सत्ता जिस समय आरूढ़ हो—चाहे वह वंश-परम्परागत हो या प्रजा द्वारा निर्वाचित, एक व्यक्ति की हो या अनेकों के सम्मिलित भाव की, उसमें श्रद्धा-विश्वास रखना; उसके साथ प्रेमयुक्त सहानुभूति रखना तथा उसे सहयोग देना; उसके बनाये हुए नियमों (कानूनों) के अनुसार आचरण करना; सबके हित के लिए उसको सुव्यवस्थित-रूप से चलाने में सहायक होना; उसकी त्रुटियों, भूलों, असावधानियों तथा दुर्गुणों को उचित रीति से प्रकट करना और सुधरवाना; और अपनी-अपनी योग्यतानुसार उचित सम्मति देना; यदि किसी समय की प्रचलित राज्य-व्यवस्था उस समय के लोगों की परिस्थिति के अनुकूल न हो, तथा उसमें

इतने दुर्गुण आगये हों कि उससे लोगों की भलाई न होकर उलटी हानि होती हो, और प्रयत्न करने पर भी वह सुधर न सकती हो, तो किसी प्रकार के द्वेषभाव के बिना सबके हित के लिए उसको बदल कर, उसके स्थान में उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त लोक-हितकारी दूसरी राज्य-सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करना—यह सच्ची राज्य-भक्ति है। परन्तु यदि किसी राज्य-सत्ता के कानून लोगों को कष्ट पहुँचाने वाले, अहितकर, आपस में अनैक्य एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले हों, तो भी उनका विरोध न करना; अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए राज्य के अनुचित कार्यों में भी सम्मति दे देना तथा उनसे सहानुभूति रख कर सहयोग देना; उसके अत्याचारों का प्रतिवाद किये बिना उन्हें चुपचाप सहन किये जाना; हानिकर नियमों को बदलवाने का प्रयत्न न करना; राज्य-संचालन के विषय में सर्वथा उदासीन एवं अनजान रहना; तथा अन्ध-विश्वास से अत्याचारी राजा और राज्य-सत्ताधारियों ही को ईश्वर की विभूति मान कर जो कुछ वे करते रहें, उसीको अच्छा मानना, और उसके प्रतीकार का प्रयत्न न करना; अथवा बिना समुचित कारण के किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अथवा ईर्षा-द्वेष से किसी राज्य-सत्ता का विरोध करना तथा उसको बदलने का प्रयत्न करना, अथवा उसकी अवहेलना करना, यह सब राज्य-भक्ति नहीं किन्तु राज्य-द्रोह है।

मातृ-पितृ-भक्ति

समाज को सुव्यवस्थित रखने और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तित्व के अहंकार की आसक्ति कम करने के लिए, माता-पिता की भक्ति आवश्यक है; क्योंकि, जिस तरह माता-पिता अपनी सन्तानों का गर्भ से लेकर बड़े होने तक पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा निस्स्वार्थ-भाव से—करते हैं, तभी सन्तान संसार के व्यवहार करने योग्य होते हैं; उसी तरह वृद्धावस्था में माता-पिता के शरीरों के शिथिल हो जाने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा, पालन-पोषण आदि एकता के प्रेम तथा निस्स्वार्थ-भाव से सन्तान करे, तभी वे लोग शान्ति-पूर्वक अपना जीवन-यापन कर सकते हैं, और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और दूसरों के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता है। अतः माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा एवं आदर-सत्कार तथा वृद्धावस्था में उनका पालन-पोषण निस्स्वार्थ-भाव से अपना कर्तव्य समझ कर करना; अपने सात्विक व्यवहारों से उनको सुख देना; राजसी-तामसी व्यवहार करके तथा विषय-भोगों के लिए उन्हें कभी कष्ट न देना, तथा कभी उनका अपमान न करना; उनकी उचित आज्ञाओं का पालन करना एवं उनकी आत्मिक उन्नति के व्यवहारों में सहायक

होना—यह सच्ची मातृ-पितृ-भक्ति है। परन्तु माता-पिता की जिन आज्ञाओं से सात्विक आचरणों में बाधा पहुँचती हो, अथवा जिनसे आत्मिक पतन होता हो, तथा जो आत्मिक उन्नति के विरुद्ध हों, उनको अन्ध-श्रद्धा से, केवल इसलिए मानना कि माता-पिता की आज्ञा पालन करना प्रत्येक दशा में उचित ही है; माता-पिता के अप्रसन्न होने के भय से उन्हें उचित सम्मति न देना; उनकी रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन करने वाले व्यवहार करना; उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फंसे रह कर उनके सच्चे आत्मिक सुख के विषय में उपेक्षा करना; अथवा उनके जीवन-काल में उनकी उपेक्षा एवं अपमान करते रह कर मरने के बाद रोना-चिल्लाना, शोक करना तथा क्रिया-कर्म, मृत-भोज की जीमणवारें, श्राद्ध आदि लोक-दिखावे के राजसी-तामसी आडम्बर करके स्वयं क्लेश उठाना और उन प्रेतात्माओं को भी क्लेश पहुँचाना—यह मातृ-पितृ-भक्ति का दुरुपयोग अथवा मातृ-पितृ-द्रोह है।

गुरु-भक्ति (आचार्योपासना)

सद्विद्या पढ़ा कर संसार-यात्रा के लिए सन्मार्ग दिखाने वाले तथा अध्यात्म-ज्ञान का सच्चा उपदेश देने वाले, श्रेष्ठ आचरणों युक्त सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार, भरण-पोषण आदि, भक्ति और आदर सहित करना; उससे प्राप्त की हुई विद्या तथा ज्ञान के द्वारा अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति करने में तत्पर रहना, तथा उससे दूसरों को भी लाभ पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील रहना—यह सच्ची गुरु-भक्ति है। परन्तु ऐसे सद्गुरु के उपदेशानुसार आचरण न करके उसके शरीर ही को ईश्वर-स्वरूप मान कर उसका अर्चन-पूजन और चरण-स्पर्शादि करने तथा भेंट चढ़ाने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य समझना; मूर्ख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एवं धूर्त—वंशपरम्परागत अथवा साम्प्रदायिक—गुरुओं से, केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बंधवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अन्ध-विश्वास से उनकी आज्ञाओं का पालन करना; अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर उनके मुख से निकले हुए बचन ही प्रमाण मानना और उनके घेरे के पशु बन जाना; ऐसे कुपात्र गुरुओं का आदर-सत्कार तथा भेंट-पूजा करके उनका गौरव बढ़ाना; तथा तन, मन, धन आदि सब-कुछ उनको देकर उनके दुराचारों में सहायक होना—यह गुरु-भक्ति का दुरुपयोग है।

सद्गुरु, अपने शिष्यों को निस्स्वार्थ प्रेम-भाव से उनकी सब प्रकार की उन्नति के लिए सत्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, अतः वे शरीर के अर्चन-पूजन आदि से तथा

आर्थिक भेंट-पूजा और भोग्य-सामग्रियों से संतुष्ट नहीं होते; किन्तु उनके उपदेशों को धारण करने द्वारा अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करने के साथ-साथ दूसरों का हित करने से ही वे संतुष्ट रहते हैं।

पति-भक्ति अथवा पातिव्रत

इस संसार की रचना नर और मादा के जोड़े के रूप में है। जगत् का आधा अङ्ग नर और आधा मादा है, अतः नर-मादा का जोड़ा प्राकृतिक है। नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर है, जिसके कारण नर में कई प्रकार की विशेषताएँ और कई प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं, और मादा में दूसरे प्रकार की विशेषताएँ और दूसरे प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं; अतः दोनों का परस्पर में मेल अथवा योग होने से दोनों पूर्ण होते हैं। इसलिए नर और मादा का सहयोग एवं सहवास प्राकृतिक एवं साधारणतया आवश्यक है। जिन प्राणियों में बुद्धि का विकास नहीं होता अथवा बहुत कम होता है, उनमें नर-मादा के सहयोग और सहवास की कोई नियमित व्यवस्था नहीं होती—चाहे जो नर, चाहे जिस मादा के साथ सहवास करता है। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण, उसने अपने जीवन को इस प्रकार सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है, कि जिससे वह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति-रूप परमपद को पहुँच जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने समाज-व्यवस्था बनाई, और उस समाज-व्यवस्था की प्रधान भित्ति, एक नर (पुरुष) का एक मादा (स्त्री) के साथ सहवास करने के नियम हैं, जिनके अवलम्बन से दोनों अपने-अपने प्राकृतिक वेगों को मर्यादित-रूप से शान्त करते हुए तथा एक-दूसरे के सहयोग और सहायता से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने द्वारा एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए संसार-चक्र को चलाने में सहायक हों, और साथ ही अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। इसलिए प्रत्येक समाज में अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल, एक पुरुष का एक स्त्री के साथ सहवास के नियम बनाये जाते हैं, और उन नियमों के अनुसार स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध जोड़े जाते हैं—जिनको विवाह कहते हैं।

ऊपर कह आये हैं कि नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर होता है, और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषताएँ और न्यूनताएँ होती हैं। स्त्री का स्वभाव साधारणतया पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल, चंचल, भावुक, भीरु तथा लज्जाशील होता है, और अपने जोड़े के पुरुष की अपेक्षा उसमें बल और साहस कम होते हैं, सेवा-भाव की अधिकता होती है, और शरीर कुछ छोटा, सुकुमार (नाज़ुक)

एवं सुन्दर होता है; गर्भ धारण करने और सन्तानों का पालन-पोषण करने की उसकी स्वाभाविक योग्यता होती है। स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक बलवान्, साहसी, दीर्घ और दृढ़-काय, कठोर-हृदय एवं विचारशील होता है। इसलिए पुरुष जगत् अथवा समाज का ज्येष्ठ अथवा दक्षिण अङ्ग माना गया है और स्त्री कनिष्ठ अथवा वाम अङ्ग मानी गई है। अतः स्त्री के लिए पुरुष के संरक्षण और शिक्षण में रहना, उसके अनुकूल होने वाले आचरण करना और उसे प्रसन्न रखना आवश्यक है; और पुरुष के लिए स्त्री के प्रति आदर और प्रेम रखते हुए उसे सदुपदेश तथा सत्परामर्श देकर सन्मार्ग पर चलाना, उसको सुरक्षित रखना, उसकी उचित आवश्यकताओं की यथाशक्य पूर्ति के लिए प्रयत्न करना और सद्व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रखना आवश्यक है। स्त्री का मुख्य कर्तव्य घर-गृहस्थी के सब कार्य संभालना और करना, तथा बाल-बच्चों को पालना एवं उनकी रक्षा-शिक्षा का प्रबन्ध करना है; और पुरुष का मुख्य कर्तव्य द्रव्योपार्जन करके अपने स्त्री-बच्चों आदि कुटुम्ब का भरण-पोषण करना है। दोनों अपने-अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करके एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करें तथा परस्पर में सहायक होवें, तभी संसार के व्यवहार ठीक-ठीक चल सकते हैं। अस्तु, स्त्री के लिए पति-भक्ति अथवा पातिव्रत का पालन करना आवश्यक है; अर्थात् माता-पिता द्वारा अथवा उनकी अनुपस्थिति में जो अन्य संरक्षक हों उनके द्वारा, केवल वर-कन्या के हित के उद्देश्य से तथा उनकी पूर्ण सम्मति लेकर सद्भावना से नियत किये हुए, एवं अपने समाज की पद्धति के अनुसार विवाहित सुयोग्य पति के साथ अनन्य-प्रेम रखना, अर्थात् उसके सिवाय दूसरे किसी पुरुष से स्त्री-पुरुष के सहवास-सम्बन्धी प्रीति न रखना, अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़ देना; तन, मन और वचन से उसका कोई अहित न करना; उसके व्यवसाय में सहायक होना; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि को अपना ही समझना; घर-गृहस्थी के कामों से उसे निश्चिन्त रखना; शुद्ध एवं सात्विक भोजन तथा सेवा-शुश्रूषा आदि से उसके स्वास्थ की रक्षा करना; मीठे वचनों से तथा नम्र एवं सत्य व्यवहार से उसको प्रसन्न रखना; उससे कभी छल-कपट और असत्य का व्यवहार न करना; वस्त्राभूषण, विषय-भोग, आमोद-प्रमोद, धर्म-पुण्य, तीर्थ-व्रत आदि के लिए उसकी सामर्थ्य से अधिक खर्च करने के लिए उसे तंग न करना, तथा उसकी प्रसन्नता के बिना इस तरह का कोई कार्य भी न करना; तथा उसके सात्विक व्यवहारों और आत्मोन्नति के साधनों में सहयोग देना,—यह सच्ची पति-भक्ति अथवा पातिव्रत है। परन्तु मूर्ख, स्वार्थी, निर्दयी एवं कर्तव्य-विमुख माता-पिता अथवा अन्य संरक्षकों आदि द्वारा नियत किये हुए, क्रूर प्रकृति के दुष्ट, दुराचारी, गुणहीन, अयोग्य, प्रमादी, कर्तव्यच्युत अथवा बेजोड़ पति के अत्याचारों को

चुपचाप सहते रहना; उसकी अनुचित आज्ञाओं का भी अपने अन्तःकरण के विरुद्ध पालन करते रहना; हृदय में प्रेम हुए बिना ही ऊपर से ज़बर्दस्ती प्रेम दिखा कर अपनी आत्मा का पतन करना; ऐसे दुष्ट पति को प्रसन्न करने के लिए दिन-रात परिश्रम करते रहना; इस अन्ध-विश्वास से कि "मेरे भाग्य में यही लिखा था" इस तरह के नृशंस पति के साथ जन्मभर बंधे रह कर, इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का वास्तविक लाभ न उठाकर, इसे शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों में ही बिता देना; पति के मरने पर सदा रोते-चिल्लाते एवं जन्मभर शोक करते रहना, तथा हठ-पूर्वक भूखे-प्यासे रहने, सर्दी-गर्मी सहने आदि शरीर को कृश करने वाले तप करके, शरीर को सुखाकर अपनी आत्मा को तथा मृत पति की आत्मा को भी क्लेश देना; और हठ-पूर्वक बलात् वैधव्य रख कर अस्वाभाविक पति-भक्ति की अन्ध-श्रद्धा से इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को शोक और दुःख ही में पूरा कर देना, तथा शरीर के प्राकृतिक वेगों को सहन न कर सकने पर दूसरा विवाह न करके व्यभिचार में प्रवृत्त होना और गर्भपात आदि के पाप करना—यह पति-भक्ति नहीं, किन्तु आत्म-हनन है।

पति-पत्नी-भाव का विशेष सम्बन्ध केवल शरीरों का होता है, और जैसा कि ऊपर कह आये हैं वह सम्बन्ध समाज की सुव्यवस्था और स्त्री-पुरुष दोनों के सुख-शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने के लिए यहाँ ही अर्थात् इन शरीरों में ही जोड़ा जाता है। इस विवाह-सम्बन्ध का अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यह भी है कि दोनों का व्यक्तित्व विवाह से एक हो जाता है, और पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों अथवा अधिकारों की खींचातानी कुछ भी नहीं रहती; अतः अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर सबसे एकता का अनुभव करने, अर्थात् सर्वात्म-भाव के अभ्यास में यह सम्बन्ध सबसे बड़ा सहायक है। परन्तु यह प्रयोजन तब ही सिद्ध हो सकता है, जब कि पति और पत्नी दोनों इस रहस्य को अच्छी तरह समझ कर अपने कर्तव्य पूर्ण रूप से पालते रहें, और विवाह के नियम इस उद्देश्य की सिद्धि के लक्ष्य से ही बनाये गये हों—इक-तरफ़े स्वार्थ के न हों, जैसे कि वर्तमान में हैं।

पत्नी-व्रत

अपने-अपने समाज की विवाह-पद्धति के अनुसार विवाहित सुयोग्य पत्नी के साथ अनन्य-भाव का प्रेम रखना, अर्थात् उसके सिवाय अन्य किसी स्त्री के साथ पति-पत्नी के सम्बन्ध का प्रेम न रखना; आदर और सम्मानपूर्वक उसके साथ सद्व्यवहार करना; सब प्रकार की आपत्तियों से यथाशक्य उसकी रक्षा करना; सुशिक्षा और सदुपदेशों द्वारा उसकी शारीरिक और आत्मिक उन्नति में सहायक होना; द्रव्योपार्जन करके उसके भरण-पोषण का पर्याप्त प्रबन्ध रखना; अपनी स्थिति के

अनुसार उसके लिये वस्त्र-आभूषण आदि शृङ्गार तथा अन्य मनो-विनोद एवं चित्त की प्रसन्नता के साधनों द्वारा उसे प्रसन्न रखना; उसके सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि को अपनी ही समझना; अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़ कर एकता कर देना; और इस बात का सदा ध्यान रखना कि अपनी तरफ़ से उसको किसी प्रकार का शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न होने पावे—यह सच्चा पत्नी-प्रेम अथवा पत्नी-व्रत है। परन्तु पत्नी के रूप और यौवन में आसक्त होकर दिन-रात उसी की उपासना में लगे रहना और अपने कर्तव्य को भूल जाना; उसकी मूर्खतापूर्ण आज्ञाओं का पालन करके उसे निरंकुश बना देना; उसके अप्रसन्न होने अथवा रूठने की आशंका से उसको सुशिक्षा अथवा सदुपदेश न देना; उसकी अनुचित एवं अनावश्यक मांगों की पूर्ति करने के लिए अपनी शक्ति से अधिक व्यय करके तंग होना; कलहकारिणी और दुराचारिणी पत्नी के साथ प्रेम न होते हुए, तथा उससे दाम्पत्य-सुख न होते हुए भी, दूसरा विवाह न करके परस्त्री-गमन आदि दुराचारों में प्रवृत्त होना; और एक स्त्री के मरने पर उसके मोह और शोक में रोते रहना, एवं एक-पत्नी-व्रत पालन करने के हठ अथवा अभिमान में दूसरा विवाह न करना, और काम का वेग सहन न हो सकने पर वेश्या-गमन आदि पापाचार में प्रवृत्त होना—यह पत्नीव्रत का दुरुपयोग है।

स्वामी-भक्ति

संसार के व्यवहार सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए नौकर का मालिक के प्रति पिता का भाव, और मालिक का नौकर के प्रति पुत्र का भाव रहना आवश्यक है; और अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों के साथ जोड़ कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस सम्बन्ध से भी बढ़ता है। अतः शरीर और उसके सम्बन्धियों के पालन-पोषण आदि के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे, तब तक उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेम पूर्वक आदर और श्रद्धा के भाव रखना; जो सेवा स्वीकार की हो उसको दत्तचित होकर सचाई, प्रसन्नता, उत्साह और तत्परता के साथ अच्छी तरह पूरी करना; जो काम अपने जिम्मे हो उसमें त्रुटि न आने देना, तथा जो वस्तु अपने सुपुर्द हो उसकी हानि न होने देना; स्वामी का कभी अहित-चिन्तन न करना; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति आदि अपनी ही समझना; उससे कभी छल-कपट आदि का मिथ्या व्यवहार न करना; उसको हानि या कष्ट पहुँचे ऐसा कोई काम न करना; सदा उसे उचित सम्मति देना, एवं हानिकारक अथवा अनुचित कामों में प्रवृत्त होने से रोकना—यह सच्ची स्वामि-भक्ति है। परन्तु दुष्ट, दुराचारी, आततायी एवं मूर्ख स्वामी

की अनुचित आज्ञाओं का अन्ध-विश्वास से पालन करते रहना; उसके अनुचित व्यवहारों में "हाँ-में-हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना, अथवा उसे उचित सम्मति न देना; और उसकी भक्ति के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करने में उसको सहायता देना, तथा आत्मिक पतन करने वाले कार्य करना—यह स्वामी-भक्ति नहीं किन्तु स्वामी-द्रोह है।

वात्सल्य

अपनी सन्तान, प्रजा, सेवक, शिष्य एवं अपने संरक्षण में आये हुए लोगों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ-भाव से प्रेमपूर्वक उनके पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि की सुव्यवस्था करना; उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी सर्वाङ्गीण उन्नति करने के लिए सद्भावना-युक्त प्रयत्न करते रहना; उनके सुख-दुःखों को अपने ही समान समझना; सदुपदेशों द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्मार्ग पर चलाना; उनसे अपने-अपने कर्तव्य पालन करवाना, और उनको बुरी संगति, खोटे व्यवहारों, कुव्यसनों तथा विलासिता से बचाना—यह सच्चा वात्सल्य है। परन्तु छोटे सम्बन्धियों के शरीरों के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन आदि सद्गुणों में प्रवृत्त न करना एवं सुशिक्षा न दिलाना; उनको कुमार्गी होने तथा अनर्थ करने से न रोकना; राजस-तामस आहार-विहार की उनकी आदत डालना; प्रत्यक्ष में उनको थोड़ा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम के बहुत सुख की उपेक्षा करना; उनसे उनके कर्तव्य पालन करवाने में असावधानी करना; और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं किन्तु निष्ठुरता है।

स्नेह

अपने बराबर के स्नेहियों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ-भाव से प्रेम पूर्वक उनके साथ सद्व्यवहार करना; उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कष्ट-निवारण में सहायक होना; अनिष्ट से बचाकर उनके सच्चे सुख तथा वास्तविक हित-साधन के लिए यत्न करना तथा उनके हित की सम्मति देना; और उनके सुख-दुःख, मान-अपमान, कीर्ति आदि को अपने समान ही समझना—यह सच्चा स्नेह है। परन्तु स्नेहियों के व्यक्तित्व के स्नेह में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अप्रसन्नता के भय से उन्हें उचित सम्मति आदि भी न देना; उनके अनुचित एवं हानिकर व्यवहारों में साथ देना; अथवा उनके स्नेहवश स्वयं अनुचित कार्य करना—यह स्नेह का दुरुपयोग है।

अनुग्रह

अपने से हीन स्थिति वाले स्नेहियों के साथ अपनी एकता के अनुभव से उनके प्रति कृपा अथवा अनुग्रह के रूप में निस्स्वार्थ-भाव से प्रेम रखना; यथाशक्ति उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरी करने का यत्न करना; उनके दुःखों में सहायक होना, और उनके वास्तविक सुखों के लिए यथासाध्य उपाय करना—यह सच्चा अनुग्रह है। परन्तु कृपा के वश होकर उनके अवगुणों के सुधारने की उपेक्षा करना, अथवा उनको निरुद्यमी, प्रमादी, उद्दण्ड एवं अत्याचारी बनाकर संसार के प्रति उन्हें अपने कर्तव्य-पालन से विमुख करना—यह अनुग्रह का दुरुपयोग है।

निर्ममत्व अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता

सबके साथ प्रेम का उपरोक्त यथायोग्य वर्ताव करते हुए भी किसी विशेष व्यक्ति, विशेष शरीर, विशेष समाज, विशेष देश, विशेष कार्य, विशेष व्यवहार अथवा विशेष पदार्थ ही में इतना आसक्त न हो जाना कि जिससे दूसरों के साथ यथायोग्य प्रेम का वर्ताव करने में बाधा लगे, अथवा अपना कर्तव्य पालन करने में त्रुटि आवे; अपनी योग्यता के सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करते हुए और इन्द्रियों के विषयों को नियमित-रूप से भोगते हुए तथा धन-संपत्ति, घर-गृहस्थी आदि रखते हुए एवं स्त्री-बच्चों में रहते हुए भी उनमें इतनी प्रीति नहीं रखना कि उनके न होने पर मन व्याकुल हो जाय—यह सच्ची निर्ममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निर्मम, अनासक्त अथवा उदासीन रहता है। परन्तु निर्ममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता का यह तात्पर्य नहीं है कि घर-गृहस्थी, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति तथा सब काम-धन्धों एवं ज़िम्मेवारियों को छोड़ दिया जाय, अथवा बेपरवाही करके इनको रुला दिया जाय; तथा अपने कर्तव्य-कर्मों में मन न लगाकर असावधानी से उन्हें बिगड़ने दिया जाय, अथवा उनके सुधरने-बिगड़ने की परवाह न की जाय; और इन्द्रियों के विषयों तथा व्यापारों की तरफ़ से इतना उदासीन हो जाय कि उनके अच्छेपन-बुरेपन अथवा औचित्य-अनौचित्य का ध्यान ही न रहे—अथवा उन्हें सर्वथा छोड़ दिया जाय—यह निर्ममता, अनासक्ति अथवा उदासीनता का दुरुपयोग अथवा विपर्यास है।

निरहङ्कार

अमुक कार्य "मैं करता हूँ, मेरे ही किये से होता है, यदि मैं न करूँ तो नहीं हो सकता", अथवा "मैंने कर्मों का त्याग कर दिया अथवा कर दूँगा", इस तरह कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार न करना; तथा मेरा वर्ण अथवा आश्रम ऊँचा है,

मैं बड़ा हूँ, मैं कुलीन हूँ, मैं पवित्र हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं रूपवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ, मै कुटुम्बवान् हूँ" इत्यादि शारीरिक उपाधियों के झूठे अभिमान से मतवाला न होना; सदा इस बात का ध्यान रखना कि "शरीर और उसकी उपाधियाँ अनित्य अर्थात् आने-जाने वाली तथा सदा बदलते रहने वाली हैं, और जगत् सब, एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप हैं, इसलिए इसके सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते हैं, दूसरे व्यक्तियों अथवा शक्तियों के बिना मैं अकेला कुछ भी नहीं कर सकता", इस तरह अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार का सबके एकत्व-भाव में समावेश कर देना—यह सच्चा निरहंकार है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निरहंकारी होता है। परन्तु अपने वास्तविक आप—आत्मा के अस्तित्व की और प्रकृति के स्वामित्व की सुध न रखना; अपने कर्तव्य-कर्म करने में अपने अस्तित्व तथा दायित्व को सर्वथा भूल जाना; अपने को एक अत्यन्त क्षुद्र, दीन, हीन, नगण्य व्यक्ति मान कर, दूसरे किसी प्रयत्त या अप्रत्यत्त व्यक्ति अथवा शक्ति, अथवा प्रकृति पर ही निर्भर हो जाना, एवं स्वावलंबन के बदले परावलम्बी बन जाना—यह निरहंकार नहीं, किन्तु प्रकृति के स्वामी—चेतन आत्मा को जड़ बना देना है।

क्षमा

किसी से भूल अथवा मूर्खता से अथवा अज्ञानवश, अथवा जान कर भी कोई अपराध अथवा हानि हो जाय, और उसके लिए उसके मन में पश्चात्ताप अथवा ग्लानि हो तो उस अपराध को सहन कर लेना, उस अपराधी से बदला लेने का भाव न रखना तथा उसे दण्ड न देना; और यदि उसके मन में पश्चात्ताप या ग्लानि न हो तो भी एक-दो बार उसके अपराधों को क्षमा करके उसे संभलने का अवसर देना—यह क्षमा है; समत्वयोगी भक्त इस तरह पूर्ण क्षमाशील होता है। परन्तु यदि कोई दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति मना करने पर भी अपराध करता ही रहे, जिससे अपने को तथा दूसरे लोगों को पीड़ा अथवा हानि होती हो, और उस दुष्ट को दण्ड देने की शक्ति एवं योग्यता अपने में हो, फिर भी उसके अत्याचारों को बार-बार सहन करते रहना—उसे दण्ड देकर अत्याचारों से निवृत्त न करना—यह क्षमा का दुरुपयोग अथवा विपर्यास है; इससे दुष्टों का साहस बढ़ता है, और वे लोगों पर अधिक अत्याचार करते हैं।

सन्तोष

अपने कर्तव्य-कर्म पूर्णतया शक्ति और युक्ति के साथ, उत्साह और धैर्यपूर्वक

अच्छी तरह करते रहने से जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान आदि प्राप्त हो जायँ, उनमें सन्तुष्ट रहना अर्थात् चित्त को शान्त रखना; उद्यम करने पर भी इच्छित फल की प्राप्ति न हो तो उसके लिये धैर्य न त्यागना; और भौतिक सुखों के साधनों की कामनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ाकर व्याकुल न होना—यह सच्चा सन्तोष है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार सन्तोषी होता है। परन्तु प्रारब्ध, दैव, ईश्वर अथवा भवितव्यता के भरोसे पर बैठे रह कर कुछ उद्यम ही न करना; अपनी तथा दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति, तथा इहलौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक कल्याण के लिए प्रयत्न न करना, दूसरे शब्दों में प्रगतिहीन होकर जैसी स्थिति हो, उसी चुपचाप पड़े रहना—यह संतोष नहीं, किन्तु आलस्य एवं प्रमाद है।

शम अर्थात् मन का संयम

मन को बुद्धि के आधीन रखते हुए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार अर्थात् कर्तव्य-कर्म करने में उसे लगाये रखना; उसके द्वारा इन्द्रियों के विषयों को भोगते हुए भी उसे इन्द्रियों के आधीन न होने देना; जगत् की भिन्नता के बनावों में भटकने से रोक कर उसे सबकी एकता-स्वरूप आत्मा में जोड़ना—यह सच्चा शम है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार मन को अपने आधीन रखता है। परन्तु मन को अपने स्वाभाविक धर्म—संकल्प करने—से रहित कर देने अथवा सांसारिक व्यवहारों से सर्वथा हटाकर चेष्टा-शून्य बना देने का अप्राकृतिक प्रयत्न करना—यह सच्चा शम नहीं किन्तु मिथ्याचार है; क्योंकि यह शरीर और संसार मन का खेल है, अतः जब तक शरीर और संसार है, तब तक मन का नाश नहीं हो सकता; इसलिए उसे सात्विक बुद्धि के आधीन रख कर सांसारिक व्यवहार यथायोग्य विधि-पूर्वक करने में लगाये रखना ही उसका वास्तविक संयम है।

दृढ-निश्चय

यह विश्व एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इस निश्चय से कभी न डिगना; इस एकता के निश्चयपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्म करने से विचलित न होना; जिस बात का अच्छी तरह विचार एवं अनुसंधान-पूर्वक निश्चय कर लिया हो, उसे जब तक उसके विपरीत पर्याप्त प्रमाण न मिलें तब तक न बदलना तथा उसमें संशय न रखना—यह दृढ-निश्चय है; समत्वयोगी भक्त इस तरह दृढनिश्चयी होता है। परन्तु सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा से विमुख करने वाले व्यवहारों में अन्ध-विश्वास रख कर उसमें ही लगे रहना; किसी विषय पर दुराग्रह या ज़िद रखना; किसी कार्य में हानि या दुःख हो तो भी उसे न छोड़ना; देश,

काल आदि की परिस्थिति की आवश्यकतानुसार अपने विचारों तथा व्यवहारों में परिवर्तन न करना; बिना विचार किसी निश्चय को पकड़ कर बैठ जाना—उसे छोड़ना ही नहीं; किसी अदृष्ट शक्ति या व्यक्ति के भरोसे रह कर, निरुद्यमी होकर आलस्य में पड़े रहना; राग, द्वेष, भय, शोक, विषाद और मद के भावों में आसक्त होकर उन्हें न छोड़ना—यह दृढ-निश्चय नहीं, किन्तु दुराग्रह है।

अनुद्वेग

जनता को क्षुब्ध करने के उद्देश्य से शरीर, मन और वाणी से ऐसी चेष्टाएँ न करना कि जिनसे लोगों के मन में चिन्ता, भय, क्रोध, शोक अथवा ग्लानि आदि विक्षेप के भाव उत्पन्न हों; और इसी तरह मूर्ख लोगों की इस प्रकार की चेष्टाओं से अपने मन में उपरोक्त भाव उत्पन्न करके उद्विग्न यानी खेद-युक्त न होना, किन्तु शान्त बने रहना—यह अनुद्वेग का सदुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार न दूसरों को उद्विग्न करता है और न स्वयं उद्विग्न होता है। परन्तु अनुद्वेग का यह तात्पर्य नहीं है कि अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करने से, अथवा लोक-हित के लिए जनता में उत्क्रान्ति अथवा प्रगति के विचारों का प्रचार करने से, बेसमझ लोगों के उद्विग्न होने की संभावना के कारण, अपने उपरोक्त कर्तव्य-कर्म और लोक-हित के व्यवहार छोड़ दिये जायँ। इसी तरह अनुद्वेग का यह भी तात्पर्य नहीं है कि समझदार लोगों द्वारा तिरस्कृत एवं लाँछित होने की कुछ भी चिन्ता न रख कर, दुराचार एवं कुकर्म करने में निस्संकोच अर्थात् ढीठ हो जाय, अथवा ऐसा संज्ञाहीन हो जाय कि लोगों के लाँछन अथवा तिरस्कार का मन पर कुछ असर ही न हो—यह अनुद्वेग का दुरुपयोग है।

हर्ष

अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा अनुकूलता की प्राप्ति होने पर हर्ष होना मन का स्वाभाविक धर्म है; अतः "संसार सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं", इस विचार से सर्वत्र अनुकूलता का अनुभव करते हुए शोक, चिन्ता एवं उदासी से रहित, सर्वदा प्रफुल्ल-चित्त रहना—यह हर्ष का सदुपयोग है; समत्व-योगी भक्त इस प्रकार के हर्ष से सदा प्रसन्न-चित्त रहता है। परन्तु आत्मा अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता को भूल कर, इच्छित सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति होने पर अथवा अपने मनोरथों की सफलता होने पर, हर्ष से इतना मतवाला हो जाना कि कर्तव्याकर्तव्य अथवा उचित-अनुचित का कुछ ध्यान ही न रहे; अथवा उस हर्ष के आवेश में ऐसी चेष्टाएँ करना कि जिनसे दूसरों को कष्ट अथवा विक्षेप हो; तथा

इस बात को भूल कर कि "जिसका संयोग होता है उसका वियोग होना अवश्यं-भावी है"— हर्ष में अत्यन्त आसक्त हो जाना, एवं अपने आमोद-प्रमोद के लिए दूसरों को हानि पहुँचाकर अथवा कष्ट देकर अथवा दूसरों की हानि एवं कष्ट देख कर हर्षित होना—इस प्रकार का हर्ष सर्वथा त्याज्य है। वास्तव में यह हर्ष नहीं किन्तु निष्ठुरता है और हर्ष का दुरुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हर्ष के आवेश में आकर निष्ठुर नहीं हो जाता।

क्रोध

अपने को किसी से हानि या दुःख पहुँचने से, या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा लगने से, या किसी से अपना अपमान या तिरस्कार आदि होने के अनुमान से. अथवा अपने मन के अनुकूल कोई कार्य न होने से क्रोधित होकर चित्त को क्षुब्ध करना, और उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले से बदला लेने के लिए, उसको दुःख देने या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध अनर्थ का हेतु है, अतः सर्वथा त्याज्य है; सच्चा समत्वयोगी भक्त ऐसा क्रोध नहीं करता। परन्तु क्रोध भी मन का एक विकार है, और जब तक शरीर एवं मन है, तब तक वह सर्वथा मिट नहीं सकता, तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में उसकी भी आवश्यकता रहती है; इसलिए आवश्यकता होने पर सात्विक बुद्धि से निर्णय करके उससे काम लेना, अर्थात् मूर्ख, अज्ञानियों तथा दुराचारियों को सुधारने और अपने आधीन व्यक्तियों को कर्तव्य-विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका प्रयोग करना; अज्ञानी तथा बालक, किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करें, तो उनको क्रोध दिखाकर डाँट देना; और किसी अत्याचारी का अत्याचार छुड़ाने के लिए क्रोध करके उसको धमकी देना, और अधिक आवश्यकता होने पर क्रोधपूर्वक उसे दण्ड देना—यह क्रोध का सदुपयोग होता है। ऐसे अवसरों पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु क्रोध करना आवश्यक और लोक-हितकर होता है—उसके न करने से उलटा अनर्थ और लोगों का अहित होता है; क्योंकि रजोगुणी-तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते हैं; अतः उनके तथा दूसरों के हित के लिए परिस्थिति के उपयुक्त उन पर क्रोध करना आवश्यक होता है। वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु आन्तरिक प्रेम-मूलक होता है। जिस तरह अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से जो क्रोध किया जाता है, वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु प्रेम-मूलक होता है। उसी तरह दूसरों को सुधारने के लिए प्रेम-भाव से उनको क्रोध दिखा कर ताड़ना देना उचित होता है; परन्तु इस प्रकार का क्रोध भी विशेष अवसरों पर एवं विशेष

आवश्यकता होने पर ही करना चाहिए, और पानी पर लकीर खींचने की तरह इस ढंग से करना चाहिए कि अपने अन्तःकरण में उसकी कोई ताप अथवा जलन न रहे और क्रोध करने की आदत न पड़े।

भय

अपनी विद्या, बुद्धि, बल, तप, धन सत्ता अथवा सामर्थ्य का भय दिखा कर लोगों को दबाना तथा दुःख देना; मिथ्या बातों का भय बताकर लोगों को भ्रम में डालना, डराना, ठगना तथा अपने आधीन रखना; अपने कर्तव्य पालन करने में, लोक-सेवा में तथा सात्विक व्यवहारों और कल्याण के प्रयत्न में रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृति के पुरुषों की निन्दा आदि का भय करना; तथा देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि की कल्पना करके उनसे स्वयं डरना या दूसरों को डराना—यह भय अनर्थकारी एवं त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त ऐसे भय से सर्वथा मुक्त रहता है। जो दूसरों को भयभीत करते हैं वे स्वयं भो भयभीत होते हैं, क्योंकि आत्मा तो सबमें एक है; परन्तु बुरे कर्मों के करने में सबके आत्मा = परमात्मा का अथवा परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् का भय करना, तथा दूसरों को भी बुरे कर्मों से रोकने के लिए भय दिखाना; अपने से अधिक विद्वान्, बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् आदि विशेष योग्यता-संपन्न लोगों से सशंकित रह कर उनकी प्रतिद्वंद्विता न करना; तथा क्रूर प्रकृति के मनुष्य, जानवर अथवा हिंसक जन्तु, जिनका सामना करने से शरीर और मन को क्लेश अथवा हानि होने की संभावना हो, उनका भय करके उनसे बचे रहना—यह भय का सदुपयोग है; ऐसी अवस्थाओं में भय भी आवश्यक एवं उचित होता है।

अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन

अपने कर्तव्य-कर्म तथा लोक-सेवा के व्यवहार करने में और सब प्रकार की उन्नति के प्रयत्न में आत्म-विश्वास रख कर उद्यमशील रहना; अपने-आपको सर्वथा नालायक मान कर तथा दूसरों पर निर्भर रह कर निरुद्यमी और निराशावादी न हो जाना, किन्तु सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपनी सामर्थ्य पर भरोसा रख कर दूसरों की सहायता और सहयोग प्राप्त करने के निश्चयपूर्वक साहस के साथ आगे बढ़ते जाना—यह सच्ची अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अनपेक्ष अर्थात् स्वावलम्बी होता है। जिस मनुष्य में आत्म-विश्वास होता है, अर्थात् जिसको सबके साथ अपनी एकता का भरोसा होता है, उसे सभी सहयोग देते हैं एवं उसके सहायक होते हैं, और जिसमें आत्म-विश्वास नहीं होता,

वह दूसरों की सहायता और सहयोग भी प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु स्वावलंबन का यह तात्पर्य नहीं है कि अपने व्यक्तित्व के घमण्ड में दूसरों को तुच्छ समझा जाय और दूसरों का तिरस्कार किया जाय, अथवा दूसरों के सहयोग की सर्वथा अवहेलना की जाय—यह अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन का दुरुपयोग है। संसार के सभी व्यवहार एक-दूसरे की सहायता और सहयोग से ही सिद्ध होते हैं; इसलिए आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास रखते हुए दूसरों के सहयोग का भी यथोचित आदर करना चाहिए।

शौच—पवित्रता

अन्तःकरण को राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, कपट, घृणा आदि भिन्नता के मलिन भावों से रहित अर्थात् शुद्ध रखना, इन्द्रियों के व्यवहार शुद्ध रखना, अर्थात् आँखों से ऐसे दृश्य न देखना, कानों से ऐसे शब्द न सुनना, जिह्वा से ऐसे पदार्थ नहीं चखना, नाक से ऐसे पदार्थ नहीं सूँघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओं का स्पर्श नहीं करना, जिनसे चित्त की चंचलता बढ़े, और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारों में प्रवृत्ति हो; इसी तरह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार भी शुद्ध रखना, और शरीर को स्नान, मज्जन एवं स्वच्छ वस्त्र आदि से साफ-शुद्ध रखना—यह सच्चा शौच अथवा पवित्रता है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार पवित्र रहता है। परन्तु अन्तःकरण के तथा इन्द्रियों के व्यवहारों की शुद्धि पर यथोचित ध्यान न देकर, केवल स्थूल शरीर की छूआछूत आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना, और स्पर्शास्पर्श के सङ्कुचित भावों से दूसरों का तिरस्कार तथा दूसरों से घृणा करके लोगों को उद्विग्न करना—यह शौच (पवित्रता) नहीं, किन्तु मिथ्या घमण्ड एवं अति मलिनता है। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलों का खजाना ही है, केवल ऊपरी छूआछूत से यह शुद्ध नहीं हो सकता; चेतन जीवात्मा के संयोग से ही यह पवित्र रहता है; जिस क्षण इससे उसका विछोह होता है, उसी क्षण से यह छूने योग्य भी नहीं रहता। अतः सबकी एकता के आत्मज्ञान से और उस ज्ञान-युक्त सबके साथ प्रेम के आचरणों से ही यह पवित्र होता है। छूआछूत अथवा स्पर्शास्पर्श के मिथ्या अभिमान से भिन्नता के भावों की आसक्ति बढ़ती है, जिससे अन्तःकरण की मलिनता दृढ होती है और चित्त सदा विक्षिप्त रहता है; फलतः सुख-शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती।

दक्षता अर्थात् कार्य-कुशलता

जो अपने कर्तव्य-कर्म अथवा पेशे हों, उनके ज्ञान-विज्ञान एवं क्रिया की पूरी जानकारी रखना, अर्थात् उनमें पूर्ण रूप से प्रवीण होना—यह सच्ची दक्षता या कार्य-कुशलता है; समत्वयोगी भक्त अपने कर्तव्य-कर्मों में इस प्रकार कुशल होता है।

परन्तु प्रमाद के विषयों एवं निरर्थक चेष्टाओं में—जिनसे अपने कर्तव्यों में हानि पहुँचती हो—कुशलता रखना, तथा अपने कर्तव्यों पर ध्यान न देकर, जिन कामों की अपने में योग्यता न हो, उनमें कौशल प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहना—यह दक्षता या कार्य-कुशलता नहीं, किन्तु चपलता है।

शोक-चिन्ता-पश्चात्ताप

गये हुए तथा अप्राप्त धनादि पदार्थों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा विषय-सुखों का चिन्तन करके उनके लिए रोना अथवा शोक करना; उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनके विषय में चिन्ता ही करते रहना, तथा उनके बिछुड़ने पर या उनकी हानि होने पर अपनी मूर्खता, असावधानी आदि कारणों के लिए पश्चात्ताप करते रहना, और उस शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि में डूब कर अपने कर्तव्य-कर्मों को भूल जाना अथवा उनमें त्रुटि करना—इस तरह के शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि सर्वथा त्याज्य हैं; समत्वयोगी भक्त इनसे विमुक्त रहता है। परन्तु अपने कर्तव्य-कर्मों से विमुख रहने से तथा कुकर्म करने से, शोक और चिन्ता अवश्य उत्पन्न होती है, इस प्रकार, शोक और चिन्ता का स्मरण करते हुए, अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर उनको पूरा करने का प्रयत्न करते रहना, और कुकर्मों से बचे रहना; अपने भीतर, आत्म-विमुख करने वाले रजोगुणी-तमोगुणी भावों से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके, उन रजोगुणी-तमोगुणी भावों के सुधारने में यत्नशील रहना; तथा अपने किये हुए अनर्थों, असावधानियों एवं त्रुटियों का पश्चात्ताप करके, पुनः उनको न करने के लिए सावधान रहना—इस तरह शोक-चिन्ता-पश्चात्ताप करना हितकर एवं आवश्यक है, और यह उनका सदुपयोग है।

त्याग

ऐसे राजसी-तामसी आडम्बरों एवं समारम्भों से अलग रहना, कि जिनसे व्यक्तित्व का अहंकार बढ़े, और जिनसे अपने वास्तविक कर्तव्य-कर्म करने में बाधा लगे; अपने कर्तव्य-कर्म करने में केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के ही भाव न रखना, किन्तु सबके हित के साथ अपना हित साधन करने के उद्देश्य से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना; तथा ऐसा करने में "मैं करता हूँ, मेरे काम हैं, मेरे ही करने से ये काम होते हैं; यदि मैं न करूँ तो नहीं हो सकते, इस कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा"—इस तरह के अहङ्कार और सङ्ग से रहित होना; गृहस्थी में रहते हुए, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि रखते

हुए, शारीरिक एवं कौटुम्बिक सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करते हुए तथा नियमित भोग भोगते हुए भी उनमें आसक्ति नहीं रखना अर्थात् उनमें उलझे न रहना, किन्तु उन सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक परिवर्तनशील रूप समझ कर उनमें अपने पृथक् व्यक्तित्व की प्रीति नहीं रखना; धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि के प्राप्त होने एवं रहने में हर्ष नहीं करना और उनके जाने में शोक नहीं करना, किन्तु निर्विकार रहना; तथा लोक-संग्रह के लिए ही धनादि पदार्थों का संग्रह और लोक-संग्रह के लिए ही उनका त्याग करना—यह समत्वयोगी भक्तों का त्याग या वैराग्य है। परन्तु सांसारिक व्यवहार करने में मन को विक्षेप और शरीर को कष्ट होने के भय से उन्हें छोड़ देना; अथवा आलस्य और प्रमाद से अपने कर्तव्य-कर्म न करना; अथवा इस तामसी अहङ्कार से अपने कर्तव्य-कर्म, घर-गृहस्थी, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि त्याग देना कि "मैं त्यागी हूँ, वैरागी हूँ, मैंने घर-गृहस्थी आदि सब त्याग दिये, मेरी किसी में प्रीति नहीं है, मैं बड़ा विरक्त हूँ", इत्यादि; और त्यागी अथवा संन्यासी का स्वांग धारण करके जगह-जगह घूमते-फिरते रहना अथवा जंगलों में निवास करना; तथा हठपूर्वक पदार्थों का त्याग करके मन से उनका चिन्तन करते रहना—यह त्याग नहीं किन्तु राग एवं पाखण्ड है। जब तक ग्रहण और त्याग की पृथक्ता का भाव और व्यक्तित्व का अहङ्कार बना रहता है, तब तक सच्चा त्याग नहीं होता।

राग-प्रीति-आसक्ति

जगत् के भिन्नता के बनावों अर्थात् सांसारिक पदार्थों और विषयों में इतना प्रेम रखना कि मन निरन्तर उन्हीं में उलझा रहे और उनके वियोग होने पर विक्षेप हो, और घर-गृहस्थी, धन-सम्पत्ति, वेष-भूषा आदि के मोह में इतना आसक्त हो जाना कि जिससे अपने कर्तव्य-कर्म करने में बाधा पड़े अथवा उनमें त्रुटि आवे, तथा जिसके कारण अपने असली कर्तव्य—सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अवकाश ही न मिले—इस प्रकार का राग, प्रीति अथवा आसक्ति त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के राग में नहीं उलझते, क्योंकि भेद-बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होना स्वाभाविक है, और राग तथा द्वेष ही बन्धन के हेतु होते हैं। परन्तु सबकी एकता के आत्म-ज्ञान में तथा उसके साधन-रूप सात्विक व्यवहारों में राग, और सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति में प्रीति अथवा आसक्ति रखना वांछनीय और हितकर होता है; यह राग, प्रीति अथवा आसक्ति का सदुपयोग है।

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल प्रतीत होने वाले पदार्थों से, तथा अपने प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियों के साथ, अथवा बिना कारण ही किन्हीं को अपने विरोधी मान कर, उनसे द्वेष करना, और उनके प्रतिकूल आचरण करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व उनको गिराने के भाव रखना—यह द्वेष निन्दनीय एवं त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार का द्वेष नहीं करता। परन्तु जिन कारणों से दूसरों के साथ द्वेष उत्पन्न होता हो, अथवा भेद बढ़ता हो, तथा जो लोग दूसरों से भेद कराने या द्वेष बढ़ाने वाले हों, उन द्वेष कराने और भेद बढ़ाने वाले लोगों और ऐसे कारणों से द्वेष करना अर्थात् द्वेष का द्वेष करना—वस्तुतः द्वेष करना नहीं, किन्तु द्वेष मिटाना है, अतः यह द्वेष का सदुपयोग होता है।

काम (इच्छा)

दूसरों के हित अथवा स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उनमें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि ही की इच्छा रखना, अर्थात् केवल अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की अभिलाषाओं ही में दिन-रात निमग्न रह कर दूसरों के हिताहित की कुछ भी चिन्ता न रखना; अपने शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के लिए ही आधिभौतिक और आधिदैविक सुखों तथा मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि की निरन्तर कामनाएँ करते रहना, और विषय-सुखों के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना; एवं कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही लगे रहना—इस तरह का काम त्याज्य है। इस तरह दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से भिन्नता के द्वैत-भाव की दृढ़ता होती है, और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की प्राप्ति होने में यह राजस काम ही सबसे अधिक बाधक है। सब सुखों का भण्डार तो स्वयं अपना-आप अर्थात् आत्मा है, इसी के प्रतिबिम्ब से विषयों में सुखों का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अतः सुख को आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र मान कर, उसकी कामना करते रहने से पतन होता है; समत्व-योगी भक्त इस प्रकार के काम के आधीन नहीं रहता। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों और विषय-भोगों की अभिलाषाओं से ऊँचे उठने की सदिच्छा रखना; सर्वात्म-साम्य-भाव में स्थित होने की कामना रखना; समष्टि-आत्मा=परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त करने की लालसा रखना; तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाये बिना, किसी का वास्तविक अधिकार छीने बिना तथा किसी का अहित किये बिना, जो कामोपभोग सहज ही प्राप्त हों, लोक-संग्रह के लिए मर्यादानुसार

चित्त की शान्ति भङ्ग किये बिना भोगना—यह सात्विक काम है, अर्थात् यह काम का सदुपयोग है। जगत् का व्यवहार यथावत् चलाने के लिए इस प्रकार के काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

समता

अपने कर्तव्य-कर्म करने में सर्दी, गर्मी आदि अनेक कारणों से कभी सुख और कभी दुःख की प्राप्ति हो, अथवा प्रतिकूल प्रकृति के लोग शत्रुता का और अनुकूल प्रकृति के लोग मित्रता का भाव रखें, और प्रेम रखने वाले लोग मान करें, तथा द्वेष रखने वाले अपमान करें, एवं कोई निन्दा करें, और कोई स्तुति करें, तो इन द्वन्द्वों अथवा जोड़ों को परिवर्तनशील एवं अस्थायी समझ कर इनसे अविचलित रहना; इन जोड़ों को एक ही वस्तु के दो परस्पर विरोधी, अन्योन्याश्रित एवं परिवर्तनशील भाव समझना; सुख के साथ दुःख, शत्रुता के साथ मित्रता, मान के साथ अपमान और निन्दा के साथ स्तुति का अस्तित्व बना रहता है, अर्थात् जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी होता है, जहाँ शत्रु हैं वहाँ मित्र भी होते हैं, जहाँ मान है वहाँ अपमान भी होता है और जहाँ निन्दा है वहाँ स्तुति भी होती है—प्रत्येक भाव के अस्तित्व के लिए उसके जोड़े के विरोधी भाव का होना अनिवार्य है, ये परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए वास्तव में एक ही वस्तु के अनेक कल्पित रूप हैं—इस तथ्य को अच्छी तरह समझ कर इनमें से किसी की भी प्राप्ति होने पर अपने चित्त की समता अथवा शान्ति भंग न करना; जो एक परिस्थिति में सुख का कारण होता है, वही दूसरी परिस्थिति में दुःख का कारण हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में दुःख का कारण होता है वही दूसरी परिस्थिति में सुख का कारण हो जाता है; जो एक परिस्थिति में शत्रु होता है वही दूसरी परिस्थिति में मित्र हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में मित्र होता है वही दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो जाता है; जो लोग एक परिस्थिति में अपमान अथवा निन्दा करते हैं, वही लोग दूसरी परिस्थिति में मान और स्तुति करने लग जाते हैं, और जो लोग एक परिस्थिति में मान और स्तुति करते हैं, वही दूसरी परिस्थिति में अपमान और निन्दा करने लग जाते हैं; इसलिए इन विरोधी भावों को तथ्यहीन समझ कर, अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्वक साम्य-भाव से करने में इन द्वन्द्वों से विचलित न होकर अन्तःकरण की समता बनाये रखना—यह वास्तविक समता है; और परमात्मा का सच्चा भक्त—समत्वयोगी इस प्रकार इन द्वन्द्वों में सम बना रहता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परमात्मा के भक्त अर्थात् समत्वयोगी को सुख-दुःख, मान-अपमान आदि की वेदनाएँ प्रतीत ही नहीं होतीं, अथवा उसे सुख

की अनुकूलता और दुःख की प्रतिकूलता का कुछ अनुभव ही नहीं होता, अथवा वह सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए कोई यत्न ही नहीं करता—शरीर को सदा कष्ट ही में रखता है; तथा वह शत्रु और मित्र के साथ एक-सा वर्ताव करता है, और मान एवं स्तुति तथा अपमान एवं निन्दा को एक-सा समझ कर ऐसे आचरण करता है कि जिनसे अपमान और निन्दा भले ही होवे—वह उनकी परवाह नहीं करता; ऐसा करना समता का भाव नहीं है, किन्तु बड़ी भारी विषमता का भाव है। सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्व शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतः इनकी वेदना जितनी साधारण लोगों के शरीरों को होती है, उतनी ही परमात्मा के भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी के शरीर को भी होती है, क्योंकि शरीर सबका उन्हीं पंच तत्त्वों का बना हुआ होता है; परन्तु परमात्मा का भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी तात्त्विक विचार से इन द्वन्द्वों अथवा विरोधी भावों के जोड़ों की असलियत का ज्ञान रखता है इसलिए वह इनसे प्रभावित होकर अपने कर्तव्यों से विचलित नहीं होता, और न उसके अन्तःकरण में अशान्ति ही उत्पन्न होती है; उसे सदा यह ध्यान रहता है कि यह सब संसार द्वन्द्वों अर्थात् परस्पर विरोधी भावों के जोड़ों का बनाव है, इसलिए जिस समय जो भाव उपस्थित हो, उसी के अनुरूप शारीरिक व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी उसके अन्तःकरण में सब की एकता का साम्य-भाव बना रहता है। सुख की प्राप्ति होने पर उसका यथायोग्य उपभोग करते हुए भी वह उसमें तल्लीन नहीं होता; दुःख की प्राप्ति होने पर उसे सहन करते हुए भी उसके अन्तःकरण में व्याकुलता नहीं होती, शत्रु के साथ उसके आचरणों के अनुसार शासन अथवा उपेक्षा का वर्ताव करते हुए भी वह अन्तःकरण से उसके साथ कोई द्वेष नहीं रखता; मित्र के साथ मित्रता का वर्ताव करते हुए भी वह उसके साथ व्यक्तिगत प्रेम के मोह में आसक्त नहीं होता; मान और स्तुति का आदर करते हुए भी उनसे फूल कर कुप्पा नहीं हो जाता, अपमान और निन्दा को हेय समझते हुए भी उनसे उसके अन्तःकरण में उद्वेग नहीं होता—यही सच्ची समता है।

मौन

थोड़ा बोलना, अर्थात् जिस अवसर और जिस परिस्थिति में जितना बोलने की आवश्यकता हो उतना ही बोलना, निरर्थक बकवास न करना; यथाशक्य थोड़े शब्दों ही में अधिक भाव प्रकट कर देना; मूर्ख, दुराग्रही और अधिक वाचाल व्यक्तियों का सामना हो जाय तो चुप रहना—यह सच्चा मौन है; समत्वयोगी भक्त इसी प्रकार का मौन रखता है। परन्तु वाणी को सर्वथा बन्द करके चुपचाप बैठे

रहना; हठ से मौन-व्रत रख कर मन के भाव लिख कर अथवा सैनों और संकेतों द्वारा दूसरों पर प्रकट करना—यह मौन नहीं किन्तु दम्भ है; और कपटभरी मिथ्या बातों एवं आक्षेपों का, तथा अन्यायपूर्ण एवं अनुचित वचनों का प्रतिवाद न करके, उन्हें चुपचाप सहते रहना भीरुता है।

अनिकेत

किसी स्थान-विशेष अथवा देश-विशेष ही में ममत्व की आसक्ति न रखना, किन्तु अपनी उन्नति और कर्तव्य-कर्म करने तथा लोक-सेवा के लिए जहाँ रहने की आवश्यकता हो वहीं प्रसन्न-चित्त से रहना; विद्या, ज्ञान और धन की प्राप्ति के लिए देशाटन करना; किसी विशेष देश या विशेष स्थान ही में रहने के लिए लालायित न होना— यह सच्चा अनिकेत है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अनिकेत रहते हैं। परन्तु समुचित कारण के विना ही किसी एक स्थान में न टिक कर जगह-जगह भटकते रहना, यह अनिकेत नहीं किन्तु भटकना है।

॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

तेरहवाँ अध्याय
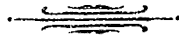
गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय—अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबकी एकता के निश्चय-युक्त साम्य-भाव से करने रूप समत्व-योग की सिद्धि के लिए, सबसे प्रथम सबकी एकता का (सर्वभूतात्मैक्य) ज्ञान प्राप्त करके उसमें मन को ठहराने की आवश्यकता होती है; और उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भगवान् ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक सबके आत्मा = परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना के सुगम साधन का विधान किया, जिसमें अखिल विश्व को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप अपना ही व्यक्त भाव बताकर (परमात्मा-स्वरूप) अपने में सबकी एकता दिखाई, और परमात्मा की एकता में श्रद्धा अथवा विश्वास करके उसकी उपासना करने द्वारा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में मन को स्थित करने का उपदेश दिया। परन्तु जैसा कि पहले कह आये हैं गीता में विवेक-शून्य अन्ध-श्रद्धा को स्थान नहीं है, किन्तु इसमें उन्हीं विषयों पर श्रद्धा रखने का उपदेश दिया गया है जो कि तात्त्विक विचार द्वारा सिद्ध हो सकते हों। इसलिए अब आगे के तीन अध्यायों में भगवान्, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर और जीवात्मा, प्रकृति और पुरुष एवं जगत् और जगदीश्वर-संबंधी दार्शनिक विवेचन करके फिर सबका समावेश सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा में करने द्वारा सबकी एकता के सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान का निरूपण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ६ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे कौंतेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं, और इसको जो जानता है, अर्थात् जिसे यह अनुभव होता है कि "यह शरीर अथवा क्षेत्र है" उसे, इस विषय के जानकार अर्थात् तत्त्ववेत्ता लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं (१)। और हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमात्मा का) ज्ञान माना गया है। तात्पर्य यह कि यह शरीर, और सब शरीरों में रहने वाला जीवात्मा तथा परमात्मा सब-कुछ "मैं (सबका आत्मा)" ही हूँ (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६); अतः शरीर और जीवात्मा के विषय का जो यथार्थ ज्ञान है, वही परमात्मा-स्वरूप मेरा ज्ञान है (२)। वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जिन विकारों वाला है और जिससे जो होता है; तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो कुछ है एवं जिस प्रभाव वाला है, सो संक्षेप में मुझ से सुन। तात्पर्य यह कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा के विषय का अलग-अलग विवेचन आगे के श्लोकों में किया जाता है (३)। ऋषियों द्वारा वेदों और उपनिषदों के विविध मन्त्रों में (यह विषय) बहुत प्रकार से अलग-अलग रूप से कथन किया गया है; और ब्रह्म-सूत्र-पदों के द्वारा सुनिश्चित-रूप से इसका युक्ति-युक्त वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा-सम्बन्धी विज्ञान-सहित ज्ञान का निरूपण अनेक ऋषियों ने वेदों के मंत्र-भाग में तथा उपनिषदों में नाना प्रकार से किया है; और वेदान्त-सूत्रों में कार्य-कारण-रूप हेतु दिखाकर युक्ति-युक्त प्रमाणों से उन पृथक्-पृथक् निरूपणों की एक-वाक्यता करके पूर्णतया निश्चित सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया है (४)। महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश; अहंकार अर्थात् "मैं हूँ" यह व्यक्तित्व का भाव; बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति; अव्यक्त अर्थात् कारण प्रकृति; ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा के भेद से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ के भेद से पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एवं ग्यारहवाँ मन; तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, (इन चौबीस तत्त्वों का समूह); और इच्छा अर्थात् अनुकूलता की प्राप्ति की चाहना; द्वेष अर्थात् प्रतिकूलता के तिरस्कार का भाव; सुख अर्थात् अनुकूल वेदना; दुःख अर्थात् प्रतिकूल वेदना; संघात अर्थात् इन सबका योग; चेतना अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं प्राण आदि के व्यापारों से प्रतीत होने वाली शरीर की चेतन अथवा जीवित

अवस्था; धृति अर्थात् धारणा-शक्ति—इन विकारों सहित, संक्षिप्त रूप से क्षेत्र कहा गया है (५-६)। अमानित्व अर्थात् शरीर के बड़प्पन, उच्चता, कुलीनता, पवित्रता, विद्या, बुद्धि, रूप, यौवन, बल, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना (बारहवें अध्याय में "निरहंकार" का स्पष्टीकरण देखिए); अदम्भित्व अर्थात् दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए, अपने मिथ्या बड़प्पन आदि के ऊपरी दिखाव न करना, तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा आमोद-प्रमोद आदि के लिए दूसरों को ठगने, धोखा देने अथवा भुलावा देने की नीयत से किसी से छल-कपट न करना (आगे सोलहवें अध्याय में "दंभ" का स्पष्टीकरण देखिए); अहिंसा अर्थात अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी को तन से, मन से अथवा वचन से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना और किसी की हानि न करना तथा किसी की न्याय-युक्त आजीविका में बाधा न देना (आगे सोलहवें अध्याय में "अहिंसा" का स्पष्टीकरण देखिए); क्षमा अर्थात् दूसरों के अपराध सहन करना (बारहवें अध्याय में "क्षमा" का स्पष्टीकरण देखिए); आर्जव अर्थात् अपनी तरफ़ से सबसे सरलता यानी सीधाई का वर्ताव करना—समुचित कारण के बिना किसी को दुःख देने अथवा उद्विग्न करने की नीयत से कुटिलता अथवा टेढ़ेपन का वर्ताव न करना (आगे सोलहवें अध्याय में "सरलता" का स्पष्टीकरण देखिए); आचार्योपासना अर्थात् गुरु-भक्ति (बारहवें अध्याय में "गुरु-भक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए); शौच अर्थात् पवित्रता (बारहवें अध्याय में "पवित्रता" का स्पष्टीकरण देखिए); स्थैर्य अर्थात् दृढ-निश्चय (बारहवें अध्याय में "दृढ-निश्चय" का स्पष्टीकरण देखिए); आत्म-निग्रह अर्थात् मन का संयम (बारहवें अध्याय में "शम" का स्पष्टीकरण देखिए); इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य (अ० २ श्लो० ५५ से ५८, तथा अ० ५ श्लो० ८-६ का स्पष्टीकरण देखिए); अनहंकार अर्थात् दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व का अहंकार न रखना (बारहवें अध्याय में "निरहंकार" का स्पष्टीकरण देखिए); जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग आदि व्याधियों के दुःखों और दोषों को सदा याद रखना, अर्थात् इस बात का सदा ध्यान रखना कि जन्मना, मरना, बुढ़ापा और रोग शरीर के साथ लगे हुए हैं और वे बहुत ही दुःखदायक होते हैं, उनकी प्राप्ति और स्थिति का कोई ठिकाना नहीं है—न मालूम कब आ जायँ और कब तक रहें, गर्भ से लेकर बाल्य-अवस्था तक तथा शरीर जीर्ण हो जाने पर तथा रोगादि व्याधियों से ग्रस्त होने से, और मर जाने पर कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती, इसलिए अपने कर्तव्य-कर्म अथवा सब प्रकार की उन्नति के साधन सम्पादन करने में आलस्य अथवा प्रमाद न करना, जो कुछ करना हो, युवावस्था में और शरीर की स्वस्थ दशा में ही कर लेना— इस अमूल्य समय को व्यर्थ न गँवाना; पुत्र, स्त्री और घर आदि में आसक्ति और संग

न रखना, अर्थात् स्त्री, बाल-बच्चों, कुटुम्ब-परिवार आदि गृहस्थी में रहते हुए और उनके प्रति अपना कर्तव्य यथायोग्य पालन करते हुए, तथा घर, सम्पत्ति आदि को रखते हुए भी उन सबको इस अनित्य एवं परिवर्तनशील शरीर ही के सम्बन्धी समझ कर, उनमें इतना उलझे न रहना कि उनके सिवाय और किसी विषय का ध्यान ही न रहे, और उनके ममत्व यानी मोह का इतना प्रभाव मन पर न रखना कि उनके सुख-दुःख तथा संयोग-वियोग आदि द्वन्द्वों से अन्तःकरण व्याकुल होता रहे (बारहवें अध्याय में "अनासक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए); इष्ट अर्थात् अनुकूल और अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति होने पर, दोनों दशाओं में चित्त की समता बनाये रखना (बारहवें अध्याय में "समता" का स्पष्टीकरण देखिए); मुझमें अनन्य-योग से अटल भक्ति रखना, अर्थात् सब-कुछ परमात्मा ही है, इस एकत्व-भाव के दृढ-निश्चयपूर्वक पहले के अध्यायों में वर्णित परमात्मा की भक्ति में सदा लगे रहना; निरुपाधिक एवं शुद्ध देश में रहना (बारहवें अध्याय में "अनिकेत" का स्पष्टीकरण देखिए); किसी विशेष जन-समुदाय में अथवा अज्ञानी लोगों के समाज में प्रीति अथवा मोह न रखना; अध्यात्म-ज्ञान की नित्यता के निश्चयपूर्वक उसके विचार में लगे रहना, अर्थात् अपने सहित सबको वस्तुतः आत्म-स्वरूप समझना; और तत्त्वज्ञान के अर्थ को देखते रहना, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की असलियत के तात्त्विक विवेचन पर सदा दृष्टि रखना—यह ज्ञान कहा गया है, अर्थात् इस प्रकार आचरण करने वाला व्यक्ति सच्चा ज्ञानी होता है, और ये आचरण ज्ञान-प्राप्ति के साधन भी हैं; इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है, अर्थात् इसके विरुद्ध आचरण करने वाले अज्ञानी हैं, उनको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। (७ वें से ११ वें श्लोक तक का) तात्पर्य यह है कि इस अध्याय के दूसरे श्लोक में क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के जिस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा है, उसी ज्ञान का स्वरूप इन श्लोकों में बतलाया गया है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि ज्ञान के उपरोक्त वर्णन में सबके अपने-आप=आत्मा में सबकी एकता जान लेने मात्र ही को ज्ञान नहीं कहा है, किन्तु उस ज्ञान के साथ-साथ, सबके साथ अपनी एकता के प्रेम-भाव से समता के आचरण करने को ज्ञान कहा है। जिस पुरुष को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अथवा शरीर और आत्मा, अथवा जगत् और जगदीश्वर की एकता का यथार्थ एवं दृढ ज्ञान हो जाता है, उसके ये स्वाभाविक आचरण होते हैं; और जिसको सबकी एकता के उपरोक्त ज्ञान प्राप्त करने और उसमें स्थित होने की सच्ची जिज्ञासा अथवा चाह हो, उसके लिए ज्ञान के उक्त आचरण साधन रूप से प्रयत्न-पूर्वक करना आवश्यक है; क्योंकि जब तक ज्ञान का उपरोक्त आचरण न किया जाय, तब तक केवल आत्मज्ञान की बातें

बनाते रहने अथवा पुस्तकें देखते रहने अथवा पद-पदार्थ याद करके शास्त्रार्थ करते रहने मात्र से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति नहीं होती; इसलिए इन आचरणों ही को भगवान् ने वास्तविक ज्ञान कहा है। यहाँ साध्य और साधन की भी वस्तुतः एकता दिखाई है। इन आचरणों में दृढ स्थिति होना ही यथार्थ ज्ञान की स्थिति है—जब तक इनके विपरीत अभिमान, पाखण्ड, छल-कपट एवं दूसरों को पीड़ा देने आदि अनेकता और विषमता के आचरण किये जाते हैं, तब तक ज्ञान की स्थिति नहीं होती, किन्तु अज्ञान-अवस्था ही बनी रहती है (७-११)। (अब) जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है वह कहता हूँ, जिसे जान कर अमृत की प्राप्ति होती है, अर्थात् सब प्रकार के कल्पित बंधनों से छुटकारा होकर अक्षय-आनन्द की प्राप्ति होती है; (वह जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय वस्तु=आत्मा) अनादि पर-ब्रह्म है, न वह सत् कहा जाता है, न असत् (१२)। उस (ज्ञेय तत्त्व अर्थात् आत्मा) के सर्वत्र हाथ-पैर, सर्वत्र आँखें, सिर और मुख, एवं सर्वत्र कान हैं, और जगत् में वह सबको व्याप्त करके स्थित है (१३)। सब इन्द्रियों के गुणों का आभास (वही) है, अर्थात् सब इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा व्यापार उसी से भासते हैं; (और वह) सब इन्द्रियों से रहित है, अर्थात् इन्द्रियों के बिना भी वह होता है; असक्त होता हुआ अर्थात् वस्तुतः सब सम्बन्धों से रहित होकर भी (वह) सबका धारण-पोषण करता है, और निर्गुण होकर भी गुणों का भोक्ता है; अर्थात् सब-कुछ वही होने के कारण वही सबका धारण-पोषण करने वाला है, और वही निर्गुण तथा वही सगुण है (१४)। वह सब भूतों के बाहर और भीतर भी है; चर और अचर अर्थात् जङ्गम और स्थावर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह (मन और इन्द्रियों से) जाना नहीं जा सकता; और वह दूर भी है तथा पास भी है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है (१५)। वह विभाग-रहित होता हुआ भी भूतों में विभाजित हुआ-सा स्थित है, अर्थात् एक ही अनेक रूपों में प्रतीत होता है; और वह ज्ञेय (आत्मा) भूतों का धारण, पोषण, संहार और उत्पत्ति करने वाला है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, सब उसी में होते हैं (१६)। वह ज्योतिवालों की ज्योति अर्थात् तेज का तेज, अज्ञानान्धकार से परे कहा जाता है; तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से अनुभव होने वाला, सबके हृदय में रहता है (१७)। इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहे हैं; मेरा भक्त इन्हें जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता है (१८)। श्लोक १२ वें से १८ वें तक का तात्पर्य यह है कि इस अध्याय के पहले और दूसरे श्लोकों में, सब शरीरों में "मैं" रूप से रहने वाले सबके आत्मा=परमात्मा का क्षेत्रज्ञ शब्द से जो कथन किया गया है, उसी क्षेत्रज्ञ का विस्तृत वर्णन भगवान् इन श्लोकों में ज्ञेय रूप से करते हैं। वह सबका आत्मा=

क्षेत्रज्ञ अथवा ज्ञेय अनादि है, अर्थात् वह सदा रहने वाला है, इसलिए उसकी उत्पत्ति का कोई काल अथवा कारण नहीं है; भूत, भविष्य और वर्तमान सभी काल और सभी वस्तुएँ उसी से सिद्ध होती हैं, अतः वह किसी काल अथवा किसी वस्तु में परिमित नहीं है; "मैं हूँ" यह भाव अर्थात् अपने होने का भाव सबको सब काल में बना रहता है—शरीरों के उत्पन्न होने के साथ वह उत्पन्न नहीं होता। वह सबका अपना-आप = आत्मा पर-ब्रह्म है, अर्थात् वह कारण प्रकृति से भी परे है और सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में सर्वत्र परिपूर्ण है; ऐसा देश, ऐसा काल और ऐसी वस्तु कोई नहीं है, जो अपने-आप बिना हो—अपने-आप ही से सब देश, सब काल और सब वस्तुओं की सिद्धि होती है। सबका अपना-आप = आत्मा ही सब-कुछ है, अतः वह किसी विशेष भाव अथवा किसी विशेष गुण में परिमित अथवा सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता; इसलिए न वह सत् कहा जा सकता है और न असत्; क्योंकि सत् कहने से असत् अलग रह जाता है और असत् कहने से सत् अलग रह जाता है, वास्तव में उससे अलग कुछ है नहीं—भेद के लिए कोई अवकाश नहीं है; यदि इन्द्रियों, मन और बुद्धि से ज्ञात होने वाला भाव सत् कहा जाय और उनसे ज्ञात न होने वाला भाव असत् कहा जाय, तो दोनों भाव अपने-आप = आत्मा ही में कल्पित हैं, अपना-आप = आत्मा इन दोनों भावों का आधार, दोनों का प्रकाशक, दोनों का द्रष्टा एवं दोनों की सत्ता है; दोनों भावों की सिद्धि अपने-आप = आत्मा से होती है, और दोनों का समावेश भी आत्मा ही में होता है; इसलिए आत्मा दोनों भावों में से किसी एक भाव वाला नहीं कहा जा सकता। विश्व में जितने शरीर हैं, वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इस कारण प्राणीमात्र के शरीरों की ज्ञानेन्द्रियाँ एवं हाथ, पैर आदि सभी अंग-प्रत्यंग, उसी सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा के हैं; परन्तु यद्यपि सब इन्द्रियाँ एवं अंग-प्रत्यंग उसी के हैं, तथा सब इन्द्रियाँ एवं अंग-प्रत्यंग उसी से चेतना-युक्त होकर, उसी से अपने-अपने विषयों तथा व्यापारों में वर्तने की शक्ति प्राप्त करते हैं, फिर भी वह आत्मा उन इन्द्रियों एवं अंग-प्रत्यंगों में ही परिमित अथवा रुका हुआ नहीं है, किन्तु उनके बिना भी वह रहता है और उनके न होने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है; और सब इन्द्रियों के भोग भोगते हुए भी वास्तव में वह कुछ भी नहीं भोगता, क्योंकि भोक्ता और भोग्य सब वही है—एक तरफ़ इन्द्रिय रूप से वही भोगने वाला है और दूसरी तरफ़ पदार्थ रूप से वही भोगा जाता है, इसलिए वास्तव में न कोई भोक्ता है और न कुछ भोगा जाता है। स्थावर और जंगम, अथवा जड़ और चेतन सृष्टि सब कुछ आत्मा अथवा परमात्मा रूप ही है, इस कारण भूत-प्राणियों के अन्दर, बाहर और

बीच में वही ओत-प्रोत भरा हुआ है, जब तक सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता, तब तक वह (स्थूल इन्द्रियों से) नहीं जाना जाता, क्योंकि स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल बनावों की कल्पित भिन्नता ही को विषय करती हैं, इन बनावों में जो सच्चा एकत्व-भाव है, उसको वे विषय नहीं करतीं, इसलिए उनको वह सर्वव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा सदा दूर ही प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में दूर भी वही है, और नज़दीक, पास अथवा समीप भी वही है—दूरी और समीपता का प्रकाश अथवा ज्ञान अपने-आप ही से होता है। भूत-प्राणियों के जो अलग-अलग शरीर और अलग-अलग बनाव प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं, किन्तु समुद्र की तरंगों की तरह एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने-आपके अनेक रूप और अनेक नाम हैं; जिस तरह समुद्र में तरंगें उठने से उसके टुकड़े नहीं हो जाते, उसी तरह जगत् के नाना प्रकार के बनावों से सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा के टुकड़े नहीं होते, किन्तु वह सदा अखण्ड बना रहता है। वही कभी जगत् के नाना बनाव-रूप बनता है और कभी उन बनावों को अपने में समेट लेता है; परन्तु नाना बनावों के बनने से वस्तुतः वह टूट कर अनेक नहीं हो जाता और बनावों के समेट लेने पर वह पीछा जुड़ नहीं जाता, किन्तु वह अपने अखण्ड भाव में ज्यों का त्यों बना रहता है—अपने-आप का भाव सबमें सदा एक समान बना रहता है। "मैं" रूप से सबके अन्तःकरण में रहने वाला सबका अपना-आप = आत्मा अथवा परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है; और वह सब-कुछ है, इसलिए ज्ञेय अर्थात जानने की वस्तु भी वही है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, वह उसी आत्मा का ज्ञान है; और सबका प्रकाशक अथवा बोध कराने वाला भी वही है, क्योंकि अपने-आपके प्रकाश से ही सबका प्रकाश होता है; सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान् पदार्थ हैं, वे सब जड़ हैं, वे चेतन आत्मा की सत्ता ही से प्रकाशित होते हैं; परन्तु आत्मा स्व -प्रकाश है; स्वप्न-अवस्था की सूक्ष्म सृष्टि में जाग्रत के स्थूल प्रकाशवान् पदार्थ नहीं होते, वहां भी अपना-आप = आत्मा स्वयं स्वप्न-सृष्टि को प्रकाशित करता है; इससे स्पष्ट है कि सबका प्रकाशक आत्मा ही है; और वह आत्मा सबके अपने अन्दर, सबके अपने पास है। उस अपने-आप = आत्मा को इस प्रकार जानना अथवा अनुभव करना चाहिए; और वह अनुभव श्लोक ७ से ११ तक के वर्णानुसार ज्ञान के आचरण करते रहने से होता है। जो ईश्वर-भक्त इस प्रकार ज्ञान के आचरण से इस रहस्य को समझ कर अपने वास्तविक आपका उपरोक्त यथार्थ अनुभव कर लेता है, वह परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाता है (१२ से १८)।

स्पष्टीकरण—सातवें अध्याय में भक्ति अथवा उपासना के प्रकरण में विज्ञान-सहित ज्ञान की व्याख्या करते हुए भगवान् ने अपनी परा और अपरा प्रकृति का वर्णन

उपासना की शैली में किया था, अब उसी विषय को यहाँ अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर दार्शनिक शैली में कहते हैं। शरीर और जगत्, तथा आत्मा और परमात्मा (सब) की एकता का अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त—जिसका अनेक ऋषियों ने वेदों और उपनिषदों में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है, और उन सब वर्णनों की एकवाक्यता महर्षि बादरायण व्यास जी ने पूर्णतया निश्चित रूप से अकाट्य युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा वेदान्त-सूत्रों में अच्छी तरह कर दी है, वही अद्वैत-सिद्धान्त—भगवान् को मान्य है, और उसी के अनुसार यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूप से शरीर अथवा पिण्ड तथा जगत् अथवा ब्रह्माण्ड, और आत्मा अथवा परमात्मा के सम्बन्ध का अलग-अलग विवेचन करने के साथ ही साथ इन सबकी एकता का संक्षिप्त प्रतिपादन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि सब शरीरों में "मैं" रूप से विद्यमान सबका अपना-आप, सबका आत्मा ही परमात्मा है, और वह आत्मा अथवा परमात्मा ही चौबीस तत्त्वों के समूह तथा नाना विकारों से युक्त क्षेत्र संज्ञा वाला शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) रूप से कल्पित दृश्य होता है, तथा वही उक्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप क्षेत्र अथवा कल्पित दृश्य को बुद्धि द्वारा जानने वाला अथवा उसका अनुभव करने वाला क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। जिस तरह मनुष्य को जब स्वप्न आता है, तब वह आप ही स्वप्न के सब प्रपंच अथवा दिखाव-रूप होता है, और आप ही स्वप्न का देखने वाला अर्थात् स्वप्न का ज्ञाता होता है; उसी तरह "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला, सबका अपना-आप = आत्मा ही जाग्रत जगत् का दृश्य अथवा दिखाव-रूप होता है, और आप ही द्रष्टा होता है—जो व्यवस्था स्वप्न-सृष्टि की है, वही जाग्रत सृष्टि की है। जगत् के नानात्व का बनाव यद्यपि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर होने के कारण सत् प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह प्रतिक्षण परिवर्तन-शील एवं नाशवान् होने के कारण सत् नहीं है; और जीवात्मा इन्द्रिय-गोचर न होने के कारण असत् प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह सबकी सत्ता-स्वरूप होने के कारण असत् नहीं है; और सबका अपना-आप = आत्मा दोनों भावों का सच्चा आधार एवं दोनों का एकत्व-भाव है, इसलिए उसे न सत् कह सकते हैं, न असत्; क्योंकि सत् कहने से असत् उससे भिन्न रह जाता है, और असत् कहने से सत् उससे भिन्न रह जाता है; और भिन्नता वस्तुतः है नहीं; सत् और असत् सब-कुछ अपने-आप = आत्मा ही से सिद्ध होते हैं। आत्मा ही सेन्द्रिय (चेतन-सृष्टिरूप) और आत्मा ही निरिन्द्रिय (जड़-सृष्टिरूप) होता है, और आत्मा सब दृश्य-प्रपंचरूप रचनाओं से अलग अथवा परे भी रहता है। सेन्द्रिय सृष्टि-रूप होने के कारण इन्द्रियवान् प्राणियों के जितने हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, सिर, मुख आदि अङ्ग हैं, वे सब आत्मा ही के हैं, और सब अङ्ग तथा इन्द्रियों से रहित जड़ अर्थात् निरिन्द्रिय सृष्टि भी वही है।

इन्द्रियगोचर सब पदार्थों की प्रतीति अपने-आप = आत्मा ही से होती है; आत्मा ही मन रूप से इन्द्रियों के सब विषयों का अनुभव करता है; मन ही आँखों के द्वारा रूप देखता है, मन ही कानों के द्वारा शब्द सुनता है, मन ही नाक के द्वारा गन्ध लेता है, मन ही जीभ के द्वारा स्वाद लेता है और मन ही त्वचा के द्वारा स्पर्श करता है। यदि मन का इन्द्रियों से संयोग न हो अर्थात् मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की कुछ भी प्रतीति नहीं होती; परन्तु इस तरह मन रूप से इन्द्रियों के विषयों का प्रकाश करके भी अपना वास्तविक आप = आत्मा इन्द्रियों में ही रुका हुआ अथवा परिमित नहीं है; क्योंकि निरिन्द्रिय अर्थात् जड़ सृष्टि भी वही है, और स्वप्न अवस्था में जिस समय स्थूल इन्द्रियाँ चेष्टा-शून्य होती हैं, उस समय भी आत्मा इन्द्रियों के बिना ही सब प्रकार के विषयों का अनुभव करता है, और सुषुप्ति अवस्था में सब विषयों का अभाव होते हुए भी अपना-आप = आत्मा ज्यों का त्यों रहता है; जाग्रत और स्वप्न अवस्था में सब गुणों और विषयों में वर्तता हुआ भी आत्मा, किसी भी गुण और किसी भी विषय में बन्धा हुआ नहीं रहता; सुषुप्ति अवस्था और मन की एकाग्रता एवं बुद्धि की साम्यावस्था में वह सब गुणों और सब विषयों से रहित होता है, उन अवस्थाओं में जाग्रत और स्वप्न में किये हुए अनुभवों का कोई प्रभाव नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि सबका अपना-आप = आत्मा जाग्रत और स्वप्न में, गुणों और विषयों में वर्तता हुआ भी वास्तव में उन सबसे अलिप्त रहता है। जिस तरह आकाश सब स्थानों में रहता हुआ भी, और उसमें सब प्रकार के व्यवहार होते हुए भी वह निर्विकार रहता है, उसी तरह आत्मा सब गुणों में वर्तता हुआ और सब-कुछ करता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है।

आत्मा ही सब-कुछ होने के कारण जगत् के अन्दर और बाहर वही ओत-प्रोत भरा हुआ है; वही चेतन-रूप से चलता-फिरता है, और वही अचेतन-रूप से अचल — ठहरा हुआ है; सूक्ष्म विचार के बिना वह दूर से भी दूर प्रतीत होता है, यानी अखिल विश्व को ढूंढ डालने पर भी उसका पता नहीं लगता, और सूक्ष्म विचार करने पर वह सबके पास ही है, क्योंकि वह सबका अपना-आप है। वह एक ही अनेकों की तरह प्रतीत होता है। जिस तरह समुद्र की लहरों की उत्पत्ति, स्थिति और लय समुद्र में ही होते हैं, उसी तरह अखिल विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय भी आत्मा ही में होते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान् पदार्थ हैं, वे सब अपने-आप = आत्मा ही से प्रकाशित होते हैं; अपने-आपका प्रकाश अर्थात् ज्ञान होता है, तभी दूसरे पदार्थों के प्रकाश का ज्ञान होता है; स्वप्न अवस्था में जब बाहरी प्रकाश कोई भी नहीं होते, तब भी वहाँ उजेला रहता है, अतः आत्मा स्वयं ही

प्रकाश-स्वरूप है। आप ही जानने योग्य है और आप ही सबके हृदय में स्थित जानने वाला अथवा ज्ञाता है। उस "मैं" रूप से सबके शरीर में रहने वाले सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा को इसी तरह जानना अथवा अनुभव करना चाहिए। वह अनुभव, श्लोक ७ से ११ तक "अमानित्व" से लेकर "तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शन" तक जो ज्ञान के आचरणों का वर्णन किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण उक्त श्लोकों के अर्थ और उनके तात्पर्य में अच्छी तरह कर दिया गया है, उसके अनुसार आचरण करने से होता है, न कि कोरे आत्मज्ञान की बातें बना लेने मात्र ही से। गीता में अव्यावहारिक ज्ञान को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है, क्योंकि अव्यावहारिक ज्ञान न तो वास्तविक ज्ञान है और न उससे आत्मानुभव में स्थिति ही होती है। सच्चे ज्ञान अथवा आत्मानुभव का यही लक्षण है कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त यथायोग्य आचरण उपरोक्त श्लोकों के वर्णनानुसार स्वाभाविक रूप से होते रहें। साधन अवस्था में ये ही आचरण प्रयत्नपूर्वक करते रहने से शनैः-शनैः उन्नति होते-होते अन्त में यथार्थ आत्मानुभव की स्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु इस तथ्य पर ध्यान न देकर, केवल आत्मज्ञान की चर्चा करने में तथा अव्यावहारिक ज्ञान के अभ्यास में लगे रहने और आचरण अनेकता एवं विषमता के करने से उलटी दुर्दशा होती है। ऐसा करने से यथार्थ ज्ञान कभी नहीं होता। इसीलिए भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि इसके विरुद्ध आचरण करना अज्ञान है।

जो लोग परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनके लिए भी भगवान् ने १८ वें श्लोक में साफ़ कह दिया है कि ज्ञान के इन आचरणों द्वारा मेरे भक्त, जो सबके एकत्व-भाव ज्ञेय-स्वरूप आत्मा का ज्ञान, अर्थात् अनुभव प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मेरे भाव को प्राप्त होते हैं। यद्यपि बारहवें अध्याय में श्लोक १३ वें से १९ वें तक, भक्तों के लिए यही आचरण करने का विस्तृत वर्णन कर आये हैं, फिर भी यहाँ पर ज्ञान के प्रकरण में उसे दुहराकर इस बात की पुष्टि की है कि सच्चा ज्ञानी अथवा भक्त वही होता है, जिसके आचरण सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त हों। न तो अव्यावहारिक ज्ञान से और न अव्यावहारिक भक्ति से ही सच्चे आत्मानुभव की प्राप्ति और उसमें स्थिति होती है।

+ + +

यहाँ तक भगवान् ने अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्तानुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विवेचन द्वारा सबकी एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अब सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार, उसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार सांख्य की परिभाषा में, प्रकृति और

पुरुष रूप से करते हैं। सांख्य वाले प्रकृति और पुरुष दोनों को वस्तुतः स्वतन्त्र एवं भिन्न-भिन्न मानते हैं, तथा दोनों के एकत्व-भाव = ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं मानते; परन्तु वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनों एक ही आत्मा अथवा परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव हैं:—एक परिवर्तनशील असत् जड़-भाव है, और दूसरा अपरिवर्तनशील सत् चेतन भाव है। इस अन्तर को छोड़ कर इन दोनों भावों, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध के, तथा प्रकृति के विस्तार के विषय के जो विचार सांख्य-दर्शन के हैं, वे वेदान्त को भी ग्राह्य हैं। इसलिए सांख्य की परिभाषा में प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी विचारों का आगे के श्लोकों में वर्णन किया गया है, और साथ ही वेदान्त के अद्वैत-सिद्धान्त को भी ज्यों का त्यों कायम रखा है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष दोनों ही को अनादि जान, और विकार एवं गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुए जान। तात्पर्य यह कि सांख्य-मतानुसार प्रकृति और पुरुष दोनों स्वतन्त्र रूप से अनादि हैं; और वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनों सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव हैं, इसलिए इनका कोई आदि नहीं कहा जा सकता; इस प्रकार ये दोनों ही अनादि हैं; और राग-द्वेष, सुख-दुःख, उपजना-मिटना, घटना-बढ़ना एवं पलटना आदि विकार तथा तीन गुणों का फैलाव प्रकृति से होता है (१९)। कार्य और कारण के कर्तापन में हेतु प्रकृति कही जाती है, और पुरुष सुख-दुःख के भोक्तापन का हेतु कहा जाता है। तात्पर्य यह कि कार्य-कारण की परम्परा का आरम्भ

प्रकृति से होता है, और प्रकृति तक ही वह रहता है; अथवा कार्य-रूप शरीर और कारण-रूप पंच महाभूत तथा तीन गुण (सब) प्रकृति के बनाव हैं; और सुख-दुःख की वेदनाओं की प्रतीति का कारण पुरुष की चेतनता है (२०)। प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है, इसलिए गुणसंग अर्थात् प्रकृति के गुणों का यह सम्बन्ध ही पुरुष के अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। तात्पर्य यह कि पांच तत्त्व और तीन गुणों वाली प्रकृति के बनाव-रूप शरीरों में अहंभाव करके, यानी अपने को शरीर मान कर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है, और जिस गुण में विशेष आसक्ति करता है, उसीके अनुसार शरीर धारण करता है (२१)। उपद्रष्टा अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि की चेष्टाओं का अनुभव करने वाला—ज्ञाता अथवा साक्षी; अनुमन्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि को उनके व्यवहारों में अनुमति देने वाला—उनका प्रेरक अथवा सहायक; भर्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियों आदि के संघात-रूप शरीर को सत्ता एवं चेतना युक्त करने वाला; भोक्ता अर्थात् मन-रूप होकर इन्द्रियादिकों के द्वारा विषयों को भोगने वाला; महेश्वर अर्थात् व्यष्टि-भाव से शरीर का और समष्टि-भाव से सारे विश्व का स्वामी एवं शासक—इस शरीर में रहने वाला पुरुष, (प्रकृति से) परे और परमात्मा भी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस शरीर में जो चेतन पुरुष अर्थात् व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा रहता है, वह जड़ प्रकृति से परे है; क्योंकि प्रकृति निरन्तर बदलती रहती है, इसलिए वह असत् है परन्तु पुरुष सदा एक-सा बना रहने के कारण सत् है, इसलिए उसे पर-पुरुष कहते हैं। वह पर-पुरुष व्यष्टि-भाव से शरीर के अन्दर रहता हुआ, शरीर की पृथक्-पृथक् चेष्टाओं का ज्ञान अर्थात् अनुभव रखता हुआ, तथा सब चेष्टाएँ करवाता हुआ और सब प्रकार के भोग भोगता हुआ, एवं इन्द्रियों पर शासन करता हुआ भी वास्तव में समष्टि-आत्मा = परमात्मा-स्वरूप ही है, अर्थात् प्रत्येक देह में स्थित पुरुष अथवा जीवात्मा, और सबके आत्मा = परमात्मा में कोई भेद नहीं है—वस्तुतः वे एक ही हैं (२२)। जो इस तरह पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ अर्थात् जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि जो पुरुष ऊपर कहे अनुसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का, और जीवात्मा-परमात्मा की यानी सबकी एकता का यथार्थ ज्ञान रखता हुआ सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता है, वह पूर्ण रूप से मुक्त होता है, और उसको विवशता पूर्वक आवागमन के चक्कर में आना नहीं पड़ता (२३)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—कई लोग ध्यान से अर्थात् राज-योग के द्वारा, दूसरे सांख्य-योग से अर्थात् तत्त्व-विचार के द्वारा, और दूसरे लोग कर्म-योग से अर्थात् अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए करने द्वारा, आत्मा को आप ही अपने में देखते हैं। परन्तु दूसरे लोग, जो इस प्रकार से (अपने-आप ही में) आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते, वे औरों से सुन कर उपासना करते हैं; वे श्रुति-परायण लोग, अर्थात् सबकी एकता के आत्मज्ञान के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनने वाले लोग भी

अवश्य ही मृत्यु को जीत लेते हैं। तात्पर्य यह कि सबकी एकता का आत्मानुभव प्राप्त करने के मार्ग, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न हैं। कई लोग पातञ्जल राज-योग के अवलम्बन से ध्यान में स्थित होकर अपने-आप ही में आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करते हैं; कई लोग सूक्ष्म विचार से सत्यासत्य का अन्वेषण करके तत्त्वज्ञान द्वारा सबके एकत्व-भाव = आत्मा का अनुभव प्राप्त करते हैं; और कई लोग सबके साथ प्रेम रखते हुए अपने-अपने शरीरों की योग्यता के सांसारिक-व्यवहार निःस्वार्थभाव से लोक-संग्रह के लिए करने द्वारा सबकी एकता के आत्मानुभव में स्थित हो जाते हैं; परन्तु जिनकी उपरोक्त प्रकार से आत्मानुभव प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती, वे लोग आत्मानुभवी महापुरुषों के वचनों में श्रद्धा-विश्वास करके, बारहवें अध्याय में किये हुए विधान के अनुसार सबके आत्मा-परमात्मा की उपासना करने द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं (२४-२५)। हे भरत-श्रेष्ठ! जो कुछ स्थावर और जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होते हैं, ऐसा जान। तात्पर्य यह कि स्थावर-जंगम अथवा जड़-चेतन-रूप जगत् के जितने बनाव बनते हैं, वे सब क्षेत्र अर्थात् प्रकृति और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष के संयोग से बनते हैं (२६)। **जो सब नाशवान् भूतों में यानी जगत् में (सदा एक समान रहने वाले) सम (Same) अविनाशी परमेश्वर अर्थात् आत्मा को स्थित देखता है, वही देखता है।** तात्पर्य यह कि जिसको जगत् के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तनशील और विषम बनावों में एक, अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान है, दूसरे शब्दों में जो इस नानाभावापन्न जगत् को एक, सत्य, नित्य एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा के परिवर्तनशील मायिक भावों का बनाव समझता है, वही सच्चा ज्ञानी है (२७)। **सम अर्थात् एक समान स्थित, ईश्वर अर्थात् आत्मा को सर्वत्र उसी सम-भाव ही में देखने वाला (पुरुष) अपने-आप (आत्मा) की हत्या नहीं करता, (और) इससे (वह) परम गति को प्राप्त होता है** तात्पर्य यह कि जो एक (One) और सम (Same) आत्मा अथवा परमात्मा की सबमें एक समान स्थिति होने के निश्चय-पूर्वक सर्वत्र एकता (Oneness) और समता (Sameness) का ज्ञान रखता है, वह समदर्शी महापुरुष अपनी सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमात्म-भाव में स्थित होता है; परन्तु जो इसके विपरीत भिन्नता और विषमता के भावों को सच्चा मान कर एक, अखण्ड, निर्विकार एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा को अनेक विभागों वाला, तथा विकारवान् एवं विषम भावों वाला मानता है; वह सबमें रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप अपने वास्तविक आपका तिरस्कार करने की आत्म-

हत्या करके अधोगति को प्राप्त होता है (२८)। कर्म सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये हुए होते हैं, और आत्मा अकर्ता है, जो इस प्रकार देखता है वही देखता है। तात्पर्य यह कि आत्मा के एक एवं सम होने के कारण उसमें कार्य-कारण का कोई भेद नहीं होता—ये भेद सब प्रकृति के कल्पित बनाव मात्र हैं; इसलिए कर्मों का कर्तापन अर्थात् कार्य-कारण-भाव प्रकृति तक ही रहता है, आत्मा सदा अकर्ता ही रहता है; जो इस रहस्य को ठीक-ठीक जान लेता है, वही यथार्थ-दर्शी अर्थात सच्चा ज्ञानी होता है (२९)। जब भूतों के पृथक्ता के भावों को एकत्व-भाव में स्थित देखता है, और उस एकत्व-भाव ही से (जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता का) विस्तार देखता है, तब ब्रह्म-स्वरूप होता है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य को जगत् की कल्पित पृथक्ता के भावों में सच्ची एकता, और उस सच्ची एकता ही से कल्पित पृथक्ता के भावों का फैलाव होने का निश्चय हो जाता है, दूसरे शब्दों में "अनेकों में एक और एक से अनेक" होने का जब यथार्थ अनुभव हो जाता है, तभी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है (३०)। हे कौन्तेय! अनादि होने के कारण और निर्गुण होने के कारण, यह अव्यय अर्थात् निर्विकार परमात्मा शरीर में रहता हुआ भी, न (कुछ) करता है और न लिपायमान होता है (३१)। जिस तरह सूक्ष्म होने के कारण आकाश सबमें रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता, उसी तरह देह में आत्मा (सूक्ष्म-रूप से) सर्वत्र रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता (३२)। हे भारत! जिस तरह एक सूर्य इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है, उसी तरह (एक) क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र (शरीर एवं जगत्) को प्रकाशित करता है (३३)। श्लोक ३१ से ३३ तक का तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक ही आत्मा अनेक रूपों में व्यक्त होता है, और उस एक ही आत्मा से अखिल विश्व का फैलाव होता है, परन्तु उस आत्मा का कोई आदि अथवा कारण नहीं है; और वह आत्मा सब-कुछ है, इसलिए गुण और गुणी का भेद न होने के कारण वह निर्गुण और निर्विकार है; और नाना शरीरों के रूप धारण करता हुआ भी कार्य-कारण का भेद न होने के कारण वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता; और उससे पृथक् कुछ भी न होने के कारण वह किसी से लिपायमान अथवा बन्धायमान नहीं होता, किन्तु आकाश की तरह सदा निर्लिप्त रहता है; और सूर्य की तरह सारे ब्रह्माण्ड को अपने सच्चिदानन्द-भाव से प्रकाशित करता है (३१ से ३३)। जो इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को, और भूतों के समुदाय-रूप जगत् के कारण—प्रकृति की असत्यता-रूप मोक्ष को, ज्ञान-रूपी चक्षु से याथातथ्य जान लेते हैं, वे परमात्मा को पाते हैं। तात्पर्य यह कि जो पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और

जीवात्मा अथवा प्रकृति और पुरुष के ऊपर कहे अनुसार कल्पित भेद और वास्तविक अभेद के रहस्य को तत्त्वतः जान लेते हैं, वे प्रकृति और उसके सब विस्तार को अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक अतः मिथ्या बनाव मात्र समझते हैं; और मिथ्या बनाव में प्रतीत होने वाले बन्धन भी मिथ्या ही होते हैं, इसलिए जिनको यह निश्चित ज्ञान हो जाता है, वे अपने को सदा मुक्त ही अनुभव करते हैं; अतः वे परमपद = परमात्म-भाव में स्थित हो जाते हैं (३४)।

स्पष्टीकरण—यह बात पहले कह आये हैं कि गीता किसी भी मत का तिरस्कार नहीं करती, किन्तु जिस मत की जहाँ तक पहुँच होती है, उसको वहाँ तक स्वीकार करती हुई उसमें जो त्रुटि होती है, उसे पूरा कर देती है। जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर और जगत्, अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के विषय के तात्त्विक विवेचन में सांख्य-दर्शन—वेदान्त-दर्शन के सिवाय—अन्य सब दर्शनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसने भिन्नता के सब भावों का एकीकरण करके जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष, इन दो मूल तत्त्वों में सबका समावेश कर दिया। परन्तु इससे आगे बढ़कर इन दो तत्त्वों का एकीकरण उसने नहीं किया। इस कमी को वेदान्त-दर्शन ने पूरी की, अर्थात् उसने जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का समावेश, सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया।

सांख्य-दर्शन जड़ प्रकृति को सत्व, रज और तम भेद से तीन गुणों की जननी, तथा नाना प्रकार के विकारों एवं कार्य-कारण भाव का प्रसार करने वाली मानता है; और पुरुष को चेतन, निर्गुण, निर्विकार, कार्य-कारण भावों से रहित और साथ ही प्रकृति के गुणों का भोक्ता मानता है; क्योंकि प्रकृति जड़ है, इस कारण उसमें स्वयं भोक्तापन बन नहीं सकता। सांख्य के मतानुसार पुरुष स्वयं निर्गुण और निर्विकार होता हुआ भी प्रकृति के गुणों का संग करके उनमें उलझ कर अपने को सुखी-दुखी मानता है, तथा जिस गुण में विशेष आसक्ति करता है, उसी के अनुसार ऊँची-नीची योनियों के शरीर धारण करता है। यहाँ तक सांख्य-दर्शन का मत वेदान्त-दर्शन को भी ग्राह्य है। परन्तु सांख्य-दर्शन का यह भी सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष दोनों वस्तुतः अलग-अलग, स्वतन्त्र, दोनों एक समान सत्, और दोनों स्वतन्त्र रूप से अनादि हैं; तथा जड़ प्रकृति में चेतन पुरुष की समीपता से क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे वह क्रियाशील होकर अपने गुणों के द्वारा जगत् का पसारा करती है, और उस पसारे से पुरुष को मोहित करके फँसाती है; परन्तु पुरुष जब प्रकृति के इस जाल से अलग होकर अपना छुटकारा कर लेता है, तब कैवल्य-पद-रूप मोक्ष पा

लेता है। सांख्य का यह द्वैत-सिद्धान्त वेदान्त को मान्य नहीं है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि सबका अपना-आप = आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म, अपनी इच्छा अथवा कल्पना से एक तरफ़ निरन्तर बदलते रहने वाली जड़ प्रकृति-रूप होकर, उसके द्वारा जगत् के नाना प्रकार के मायिक बनाव करता है, और दूसरी तरफ़ अपने सत्-चित्-भाव से पुरुष अर्थात् जीव-रूप होकर उस मायिक बनाव को धारण करता है तथा उसे चेतना युक्त करता है। जड़ प्रकृति परिवर्तनशील, उपजने-मिटने तथा घटने-बढ़ने आदि विकारों वाली होने के कारण मिथ्या अर्थात् असत् है, और चेतन पुरुष अथवा जीवात्मा, परमात्मा का सत्-चित-भाव है, इसलिए वह सदा एक समान बना रहने वाला नित्य एवं निर्विकार सत् है। व्यष्टि-भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा जब तक अपने समष्टि भाव की कल्पना रूप प्रकृति के मायिक बनाव को सच्चा मान कर उसमें तादात्म्य-सम्बन्ध रखता है, अर्थात् अपने को प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर मानता है, तब तक अपने को सुखी-दुखी आदि विकारों युक्त मानता है, तथा गुणों के सम्बन्ध के अनुसार नाना योनियों के शरीर धारण करता है, परन्तु जब उक्त प्रकृति को अपनी ही कल्पना का खेल समझ कर अपने को उस खेल का आधार, उसको सत्ता देने वाला तथा उसे चेतना युक्त करने वाला अनुभव कर लेता है, तब उसे कोई सुख-दुःख नहीं होता, न उसके लिए विवशता से किसी योनि में शरीर धारण करना ही शेष रहता है। वह अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव करके सबकी एकता-स्वरूप परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है। अपने यथार्थ स्वरूप के अनुभव के लिए उसको किसी से अलग होने या किसी को छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि छोड़ने के लिए उससे वस्तुतः भिन्न दूसरा कुछ होता ही नहीं।

अस्तु, इस विषय में सांख्य का मत जहाँ तक अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के अनुकूल पड़ता है, उसे ग्रहण करके उसमें जो त्रुटि है, उसे अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्तानुसार पूरा करते हुए भगवान् इन दोनों सर्वोच्च दर्शनों का इस प्रकार सामञ्जस्य करते हैं कि सबका अपना-आप एक, नित्य एवं सत्य आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा कल्पना-शक्ति से दो भावों में व्यक्त होता है:—एक सत्-चित्-आनन्द भाव—जिसको सातवें अध्याय में जीव-भाव वाली परा प्रकृति, इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्रज्ञ, सांख्य की परिभाषा में पुरुष और आगे पन्द्रहवें अध्याय में अक्षर कहा है; और दूसरा असत्-जड़ विकारवान् भाव—जिसको सातवें अध्याय में अपर प्रकृति, इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्र, सांख्य की परिभाषा में प्रकृति और आगे पन्द्रहवें अध्याय में क्षर कहा है; ये दोनों भाव अनादि हैं, अर्थात् इनके विषय में

यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक समय में उत्पन्न हुए। कारण यह है कि अनादि आत्मा की इच्छा का यह खेल, काल में सीमाबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि काल स्वयं उसकी (अपरा) प्रकृति से उत्पन्न होता है। परमात्मा की परा-प्रकृति-रूप पुरुष की सत्ता से (अपरा) प्रकृति द्वारा उत्पन्न सत्व, रज और तम भेद से तीनों गुणों की कमी-बेशी के तारतम्य-रूप गुण-वैचित्र्य से जगत् के नाना प्रकार के बनाव बनते हैं; और प्रकृति के उक्त गुण-वैचित्र्य ही से कार्य-कारण-भाव, अर्थात् अमुक कारण से अमुक कार्य हुआ—यह भाव होता है; तथा उसीमे जगत् के अनन्त प्रकार के भेद एवं विकार उत्पन्न होते हैं। परा प्रकृति-रूप चेतन पुरुष, अपरा जड़ प्रकृति के गुणों का संग करके, अर्थात् उसके साथ तद्रूप होकर, अपने को गुणों से युक्त मान कर, नाना प्रकार से शरीर धारण करके उक्त गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न नाना प्रकार के भोग भोगता है। सत्वगुण में विशेष आसक्त होकर वह सात्विक शरीर धारण करता है, रजोगुण में विशेष आसक्त होकर राजस शरीर और तमोगुण में विशेष आसक्त होकर तामस शरीर धारण करता है; तथा अपने-आपको सुखी-दुखी, विकारवान् एवं बन्धनयुक्त अनुभव करता है। प्रकृति में जो कुछ क्रियाएँ होती हैं वे चेतन पुरुष की सत्ता से होती हैं, क्योंकि चेतन के बिना जड़ प्रकृति अकेली कुछ भी नहीं कर सकती। अतः जगत् का सारा बनाव प्रकृति और पुरुष के संयोग से बनता है। क्षेत्रज्ञ-रूप पुरुष, क्षेत्र-रूप सब शरीरों में रहता हुआ, बुद्धि-रूप से शरीरों का ज्ञाता अथवा द्रष्टा होता है; अपनी चेतनता से शरीर के अंगों को चेतना युक्त रखता है; अपनी एकता से भिन्न-भिन्न अंगों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए रखता है; मनरूप से सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषय भोगने की शक्ति से युक्त करता है; और स्वामीभाव से सबको प्रेरणा देता है और सब पर शासन करता है। जिस प्रकार बिजली के प्रवाह (Current) से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं—लेम्पों से रोशनी होती है, पंखों से हवा चलती है, मोटरों से अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे होते हैं, इत्यादि; यद्यपि कार्य भिन्न-भिन्न औज़ारों अथवा उपकरणों द्वारा होते हैं, परन्तु उन सबमें शक्ति बिजली के प्रवाह (Current) की होती है; उसी तरह चेतन पुरुष की सत्ता से जड़ प्रकृति के बनावों द्वारा जगत् के सब कार्य होते हैं। सब शरीरों में रहने वाला वह चेतन पुरुष सबका अपना-आप वस्तुतः परमात्मा ही है, और वह एक ही अनेक रूपों में विस्तृत होता है, तथा वह सदा सबमें और सर्वत्र, एक समान रहता है। किसी बड़े शरीर में वह बड़ा नहीं होता और छोटे शरीर में वह छोटा नहीं होता; उच्च कोटि के शरीर में वह उच्च नहीं होता और हीन कोटि के शरीर में हीन नहीं होता; पवित्र शरीर में वह पवित्र नहीं होता और मलिन में मलिन नहीं होता; शरीरों के विकारों से उसमें कोई विकार नहीं होता; शरीरों

के सुखी-दुखी होने से वह सुखी-दुखी नहीं होता; शरीरों की उत्पत्ति से वह उत्पन्न नहीं होता और शरीरों के नाश से वह नष्ट नहीं होता; तथा शरीरों के घटने-बढ़ने से उसमें कोई घटा-बढ़ी नहीं होती—वह सदा सम और निर्विकार रहता है। वह जगत् के सब प्रकार के व्यवहारों को सूर्य की तरह समान रूप से प्रकाशित करता है, यानी जगत् की प्रतीति उसीसे होती है; और जगत् के अनन्त प्रकार के बनावों के बनते एवं विगड़ते रहने पर भी वह आकाश की तरह अलिप्त और एक-सा—सम बना रहता है।

सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा की एकता, नित्यता, सत्यता एवं पूर्ण समता का इस प्रकार का अनुभव; कई लोगों को ध्यान-योग अर्थात् पातञ्जल राज-योग के अभ्यास द्वारा चित्त को एकाग्र करने से होता है; कई लोगों को बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार करने से होता है; और कई लोगों को निस्स्वार्थ-भाव से लोक-सेवा के कर्म करने से होता है। इस तरह अपनी-अपनी योग्यता के अभ्यास करने से अन्तःकरण की द्वैत-भाव-रूपी मलिनता दूर हो जाने पर अपने-आपमें सबकी एकता एवं समता का अनुभव शेष रह जाता है। इन तीन साधनों से आत्मानुभव प्राप्त करने की जिनकी योग्यता नहीं होती, वे श्रद्धापूर्वक सबके आत्मा = परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता एवं समता के उपदेशादि सुन कर परमात्मा की उपासना द्वारा आत्मा-परमात्मा तथा अखिल विश्व की एकता का अनुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

जिनको ऊपर कहे अनुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा प्रकृति-पुरुष, जगत्-जगदीश्वर और जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होकर सबकी एकता के साम्य-भाव का अनुभव हो जाता है, अर्थात् जिनको यह निश्चय हो जाता है कि जगत् में पृथक्ता और विषमता के जितने भाव हैं, वे सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा की कल्पना-रूप प्रकृति के मायिक बनाव मात्र हैं, अतः वे असत् हैं; और उन नाना असत् मायिक बनावों में जो एक, सत् एवं सम भाव है, वह सबका आधार, सबका प्रेरक एवं सबका स्वामी है और वह सबका अपना-आप = आत्मा है—वे समत्वयोगी संसार के सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमसहित साम्य-भाव से स्वतन्त्रता पूर्वक करते हुए सब प्रकार की उन्नति करते हैं, और वे ही अपने-आपके उद्धारकर्ता अर्थात् स्वयं परब्रह्म-परमात्म-स्वरूप होते हैं (ईशोपनिषद् मं० १-२ और ६-७); और जो लोग इसके विपरीत अपने-आपको दूसरों से पृथक्, एक तुच्छ एवं दीन-हीन जीव अथवा व्यक्ति मानते हैं, और पृथक्ता के विपरीत ज्ञान-युक्त दूसरों के साथ राग-द्वेष, घृणा-तिरस्कार आदि विषमता के आचरण करते

हैं, वे किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते, किन्तु सदा अज्ञान-अन्धकार में पड़े हुए उत्तरोत्तर अपना पतन करते हैं, अतः वे आत्म-हत्यारे होते हैं (ईशोपनिषद् मं० ३), और नाना प्रकार के क्लेशों से परिपूर्ण दीनता के भावों के दल-दल में फँसे रहते हैं। मनुष्य आप ही अपना उद्धार करने वाला और आप ही अपना पतन करने वाला है। अतः जिनको उक्त आत्म-घात से बच कर अपना उद्धार करना हो, उनको उक्त "एक में अनेक और अनेकों में एक" के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करके, उसके आधार पर अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य-भाव से करने-रूपी समत्व-योग में स्थित होना चाहिए।

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

चौदहवाँ अध्याय

तेरहवें अध्याय में प्रकृति-पुरुष के वर्णन में भगवान् ने कहा था कि गुण, विकार और कार्य-कारण-भावों की उत्पत्ति प्रकृति से होती है, और पुरुष प्रकृति के गुणों के संग से सुख-दुःख आदि भोगता है और ऊँच-नीच शरीर धारण करता है। अब इस चौदहवें अध्याय में पहले इस बात की पुष्टि करके कि प्रकृति और पुरुष मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) से भिन्न नहीं हैं, फिर प्रकृति के फैलाव और उसके गुणों के संग से पुरुष अपने को किस तरह सुखी-दुखी, बद्ध-मुक्त तथा उन्नत-अवनत मानता है, और किस तरह उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट शरीर धारण करता है, उसका विस्तार-पूर्वक खुलासा करके, अन्त में गुणों की उलझन से ऊपर रहने वाले गुणातीत जीवनमुक्त समत्वयोगी की स्थिति का वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि (सब) ज्ञानों में परम उत्तम ज्ञान फिर से कहता हूँ, जिसे जान कर सब मुनि लोग यहाँ से परम सिद्धि पा गये। तात्पर्य यह कि भगवान् कहते हैं कि इससे पहले के अध्यायों में जिस परम उत्तम ज्ञान का वर्णन किया था, उसका फिर से विस्तार-पूर्वक खुलासा करता हूँ; इसी ज्ञान को प्राप्त करके विचारशील लोग मुक्त हुए हैं (१)। इस ज्ञान के अवलम्बन

से मेरे साथ एकत्व-भाव को प्राप्त होकर (मनुष्य) संसार में न तो जन्मते हैं और न मरण की व्यथा से पीड़ित होते हैं। तात्पर्य यह कि इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य—परमात्म-स्वरूप हो जाता है, फिर उसे विवशता पूर्वक जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता (२)। हे भारत ! महद्-ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, जिसमें मैं गर्भ रखता हूँ, उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि मैं अपने क्षेत्रज्ञ अथवा चेतन पुरुष भाव से क्षेत्र-रूप अपनी जड़ प्रकृति में चेतना अथवा स्फुरणा-रूप बीज डालता हूँ, जिससे, अर्थात् उस जड़-चेतन के संयोग से जगत् के नाना प्रकार के मायिक बनाव बनते हैं (३)। हे कौन्तेय ! सब योनियों में जो-जो नाना रूपों वाले बनाव अथवा शरीर उत्पन्न होते हैं उनकी प्रकृति माता है और मैं बीज देने वाला पिता हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् के जो अनन्त प्रकार के बनाव बनते हैं उन सबको, मेरे सत्-चित्-भाव की सत्ता, चेतना एवं स्फुरणा-रूप बीज को धारण करके, मेरी जड़ प्रकृति प्रसव करती है (४)। हे महाबाहो ! प्रकृति के उत्पन्न सत्व, रज और तम ये गुण देह में अविकारी देही अर्थात् जीवात्मा को बाँधते हैं। तात्पर्य यह कि प्रकृति और पुरुष के उपरोक्त संयोग से जो-जो बनाव बनते हैं, उनमें जो प्रकृति का जड़-भाव है, वह विकार वाला है, और जो पुरुष का चेतन-भाव है, वह वस्तुतः अविकारी है, परन्तु प्रकृति के सत्व, रज और तम भेद वाले तीन गुण, उस अविकारी चेतन पुरुष को नाना रूपों वाले शरीरों में उलझाते हैं (५)। हे अनघ ! उनमें से निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण प्रकाशवान् और सुख-रूप सत्वगुण, सुख के संग से तथा ज्ञान के संग से (जीवात्मा को) बाँधता है। तात्पर्य यह कि उक्त तीनों गुणों में से सत्वगुण का स्वभाव निर्मल यानी दिव्य अथवा उज्ज्वल होने के कारण वह प्रकाश अथवा बोध एवं सुख का हेतु होता है; इसलिए वह चेतन जीवात्मा को ज्ञान और सुख में आसक्ति कराकर उलझाता है (६)। हे कौन्तेय ! तृष्णा और संग को उत्पन्न करने वाले रजोगुण को रागात्मक अर्थात् आकर्षण रूप जान; वह देहधारी जीवात्मा को कर्मों के संग से बाँधता है। तात्पर्य यह कि रजोगुण आकर्षण अथवा खिंचाव-रूप राग-धर्मी है, अतः उससे सांसारिक पदार्थों और विषयों में प्रीति और उनकी प्राप्ति की तृष्णा उत्पन्न होती है, जिनके लिए प्राणी कर्म करने में उलझा रहता है (७)। और हे भारत ! सब देहधारियों को मोह में डालने वाले तमोगुण को अज्ञान-जन्य समझ, वह (जीवात्मा को) प्रमाद अर्थात् विवेकशून्यता अथवा मूढ़ता, आलस्य और नींद से बाँधता है। तात्पर्य यह कि तमोगुण अज्ञान-रूप होने के कारण मोह उत्पन्न करने वाला है, अतः वह प्राणियों को अविचार, भूल, मूढ़ता अथवा जड़ता, आलस्य और नींद में उलझाये रखता

है (८)। हे भारत ! सत्वगुण सुख में जोड़ता है, रजोगुण कर्म में (प्रवृत्ति कराता है), और तमोगुण ज्ञान को ढाँक कर प्रमाद अर्थात् मूढ़ता में जोड़ता है। तात्पर्य यह कि देहधारियों को सत्वगुण सुख का उपभोग कराने वाला, रजोगुण क्रियाशील रखने वाला और तमोगुण विचारशून्य एवं मूढ़ बनाये रखने वाला है (९)। हे भारत ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण की प्रधानता होती है; सत्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण की; एवं सत्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण की प्रधानता होती है। तात्पर्य यह कि शरीर में जब कभी सत्वगुण की प्रधानता होती है, तब रजोगुण और तमोगुण दबे हुए रहते हैं, जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब सत्वगुण और तमोगुण दबे हुए रहते हैं, और जब तमोगुण की प्रधानता होती है, तब सत्वगुण और रजोगुण दबे हुए रहते हैं (१०)। इस देह के सब द्वारों में जब ज्ञान-रूप प्रकाश उत्पन्न होता है, तब जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा हुआ है। तात्पर्य यह कि जब शरीर में सत्वगुण बढ़ा हुआ होता है तब बुद्धि, मन एवं ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है (११)। हे भरतश्रेष्ठ ! लोभ, कर्मों में प्रवृत्ति अर्थात् निरन्तर क्रियाशील रहना, आरम्भ अर्थात् नित-नये आडम्बर रचने के मनसूबे बाँधना, कर्म करने में सन्तोष न होना और विषयों तथा पदार्थों की चाह बनी रहना—ये रजोगुण की वृद्धि में होते हैं। तात्पर्य यह कि जब शरीर में रजोगुण बढ़ा हुआ होता है, तब सांसारिक विषयों और पदार्थों की प्राप्ति का लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, निरन्तर कर्म करते रहने की प्रवृत्ति होती है, नित-नये अड़ंगे खड़े करने के संकल्प उठते रहते हैं, काम करने में कभी तृप्ति नहीं होती और चाहनाएँ लगातार एक दूसरे के बाद उत्पन्न होती रहती हैं (१२)। हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश अर्थात् अज्ञान, अकर्मण्यता, मूढ़ता और मोह—ये तमोगुण के बढ़ने से उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि जब शरीर में तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, तब अन्तःकरण और इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, आलस्य से निकम्मे रहने, विवेकशून्यता अर्थात् कुछ भी विचार न करने अथवा असावधानी और मोह की दशा रहती है (१३)। जब सत्वगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय देहधारी (जीवात्मा) शरीर छोड़ता है तो उसे उत्तम विचारवानों के निर्मल लोक प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस समय शरीर में सत्वगुण की प्रबलता होती है, उस समय जिसका शरीर छूटता है वह पुण्यात्मा ज्ञानी लोगों के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म लेता है (१४)। रजोगुण (की प्रबलता) में शरीर छोड़ने वाला कर्मों में आसक्त रहने वाले लोगों में जन्म लेता है; और तमोगुण (की प्रबलता) में शरीर छोड़ने वाला मूढ़ योनियों

में जन्म लेता है। तात्पर्य यह कि जब शरीर में रजोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय शरीर छूटने पर, जो लोग रात-दिन कर्मों में लगे रहते हैं, उनके घर में दूसरा जन्म होता है; और जिस समय तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय मरने से पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि ज्ञान-शून्य मूढ़ योनियों में जन्म होता है (१५)। सुकृत अर्थात् सात्विक कर्म का फल सात्विक, निर्मल (सुख-रूप) कहा गया है, और राजस कर्म का फल दुःख, (तथा) तामस कर्म का फल अज्ञान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जो लोग सात्विक कर्म करते हैं, वे सुखी होते हैं; राजस कर्म करने वालों को दुःख होता है और तामस कर्म करने वाले अज्ञान में ही पड़े रहते हैं (१६)। सत्वगुण से ज्ञान होता है, रजोगुण से लोभ आदि होते हैं और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं (१७)। सत्वगुण-प्रधान लोग ऊपर को जाते हैं, रजोगुणी बीच में ठहरते हैं, (और) निकृष्ट गुण की वृत्ति वाले तामसी लोग नीचे को जाते हैं। तात्पर्य यह कि जिनमें सत्वगुण की प्रधानता होती है वे उन्नत होते हैं और तमोगुण की प्रधानतावालों का अधःपतन होता है, तथा रजोगुण की प्रधानता वालों की स्थिति इन दोनों के बीच में रहती है (१८)। जब द्रष्टा पुरुष गुणों के सिवाय और किसी को कर्ता नहीं देखता, और (अपने-आप = आत्मा को) गुणों से परे जानता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि विवेकी पुरुष जब यह अनुभव कर लेता है कि जगत् का सारा खेल तीन गुणों के परस्पर में वर्तने से ही होता है, और अपने-आप = आत्मा को गुणों से ऊपर, गुणों का द्रष्टा, उनका आधार एवं उनका स्वामी समझता है, तब वह परमात्म-स्वरूप हो जाता है (१९)। देह की उत्पत्ति कराने वाले इन तीन गुणों से अतीत होने पर देही अर्थात् पुरुष. जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से मुक्त होकर, अमृत अर्थात् अक्षय-आनन्द को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि शरीरों की उत्पत्ति के कारण प्रकृति के तीन गुण ही हैं, अर्थात् तीन गुणों के परस्पर गुणन की विचित्रता से नाना प्रकार के शरीर होते हैं; अतः जो पुरुष इन तीन गुणों का अतिक्रमण कर जाता है, उस पर शरीर के जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोगादि से ग्रस्त होने के दुःखों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—वह इन दुःखों से अलिप्त एवं अविचलित रहता है, और वह परमानन्द-परमात्म-स्वरूप हो जाता है (२०)।

अर्जुन बोला कि हे प्रभो! इन तीन गुणों से अतीत पुरुष के क्या-क्या लक्षण होते हैं? उसके आचरण कैसे होते हैं? और वह इन तीन गुणों से परे कैसे रहता है? तात्पर्य यह कि भगवान् ने जब यह कहा कि सब कर्म प्रकृति के तीन गुणों से ही होते हैं, और शरीर के कारण भी उक्त तीन गुण ही हैं—गुणों के बिना

कुछ भी नहीं होता; और जो पुरुष इन गुणों से परे होता है, वही मुक्त होता है; तब यह शङ्का अवश्य उठती है कि, जब कि गुणों के बिना न तो शरीर रहता है और न कुछ व्यवहार ही होते हैं, तो गुणातीत अर्थात् गुणों से रहित हो जाने वाले पुरुष का शरीर कैसे रहता है और वह आचरण किस तरह करता है? दूसरे शब्दों में शरीर के रहते मनुष्य गुणातीत अर्थात् गुणों से रहित कैसे हो सकता है? तथा उस गुणातीत पुरुष की पहचान कैसे हो? क्योंकि पहचानने के लिए चिन्ह भी गुणों से ही होते हैं। अर्जुन के प्रश्न का यही आशय है, जिसके उत्तर में भगवान् इस विषय का आगे खुलासा करते हैं (२१)। श्री भगवान् बोले कि प्रकाशरूप सत्वगुण, प्रवृत्तिरूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण के प्राप्त होने पर जो उनसे द्वेष नहीं करता,

और उनकी निवृत्ति की इच्छा नहीं रखता; उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणों से विचलित नहीं होता; "गुण ही गुणों में वर्तते हैं" यह समझ कर जो अविचल रूप से स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख में सम अर्थात् एक समान अविचलित रहने वाला; अपने-आपमें मस्त; मिट्टी, पत्थर, सोने तथा प्रिय और अप्रिय को समान जानने वाला; धैर्य से युक्त; और अपनी निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु मित्र के विषय में एक समान रहने वाला; एवं सब आडम्बरों का परित्याग करने वाला है—वह गुणातीत कहलाता है।

तात्पर्य यह कि अर्जुन की उपरोक्त शङ्का का समाधान करने के लिए भगवान् कहते हैं कि गुणातीत होने का अभिप्राय गुणों से सर्वथा अलग होकर निर्गुण होने का नहीं है, किन्तु गुणों से ऊपर उठ कर उनमें उलझे विना, उनके स्वामी-भाव से उनको अपने आधीन रखते हुए उनके द्वारा जगत् के व्यवहार करने का है। जो इस प्रकार गुणों से परे अथवा गुणातीत होता है, वह न तो किसी गुण से और न गुणों के कार्य अथवा विस्तार से द्वेष करता है, और न उसे उनसे निवृत्त होने की ही इच्छा रहती है;

क्योंकि वह गुणों और उनके विस्तार को अपनी ही कल्पना का खेल समझता है, इसलिए उसे उनसे कोई बाधा नहीं होती; अतः वह तीनों गुणों में यथायोग्य वर्तता हुआ भी निःशंक एवं अविचलित रहता है। गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न होने वाले जितने भी द्वन्द्व-भाव—सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, उत्कृष्ट-निकृष्ट, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र आदि होते हैं, उनके विषय में उसका अन्तःकरण सम*

---

* द्वन्द्वों में सम रहने का खुलासा छठे अध्याय के श्लोक ७ से ९ तक तथा बारहवें अध्याय में "समता" के स्पष्टीकरण में देखिए।

बना रहता है। किसी भी प्रकार की अनुकूलता-प्रतिकूलता में उसका धैर्य नहीं टूटता; क्योंकि उसको यह अनुभव रहता है कि यह सब गुणों की विचित्रता के खेल के सिवाय और कुछ नहीं है। इस गुण-वैचित्र्य के दिखावटी आडम्बरों में उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती (२२-२५)। और जो अनन्य-भाव के भक्ति-योग से मेरी उपासना करता है, वह इन गुणों से अतीत होकर ब्रह्म-रूप हो जाता है; क्योंकि अविनाशी एवं अविकारी ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का और ऐकान्तिक सुख का आश्रय मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि सबके अन्दर "मैं" रूप से रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा के एकत्व-भाव की उपासना करने से मनुष्य स्वयं परमात्मा-स्वरूप हो जाता है, फिर उसके लिए गुणों का कोई विकार शेष नहीं रहता; क्योंकि "मैं" रूप से 'सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा = परमात्मा सब प्रकार के विकारों से रहित ब्रह्म है; वही सबका आधार होने के कारण सबको धारण करने वाला धर्म है; और वही सदा आनन्द-रूप होने के कारण दुःखरहित पराकाष्ठा का सुख है। इन सबकी सिद्धि सबके अपने-आप = आत्मा से होती है (२६-२७)।

स्पष्टीकरण—तीन गुणों के पृथक्-पृथक् स्वभाव तथा उनके पृथक्-पृथक् कार्यों का वर्णन करने के पहले, भगवान् यह स्पष्ट कर देते हैं कि "मैं" सबका आत्मा ही अपनी इच्छा अथवा कल्पना से जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष-रूप होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना-रूप खेल करता हूँ। "मैं" सबका आत्मा अपने पुरुष-रूप पिता-भाव से प्रकृति-रूप माता-भाव में सृष्टि-रचना का स्फुरण-रूप बीज डाल कर जगत् का प्रसव करता हूँ, अर्थात् मेरे सत्-चित्-भाव-रूप पुरुष की सत्ता पाकर मेरी जड़ प्रकृति सत्व, रज और तम भेद से तीन गुणों को प्रसव करती है, जिनके परस्पर के गुणन से अनन्त प्रकार के जगत् के बनाव बनते हैं; और पुरुष इन तीन गुणों के परस्पर के गुणन से उत्पन्न होने वाले बनावों में उलझ कर अपने को सुखी-दुखी आदि विकारों से युक्त मानता है। यद्यपि पुरुष मेरा सत्-चित्-भाव होने के कारण उसकी सत्ता ही से सब बनाव बनते हैं, इसलिए वस्तुतः वह इन गुणों का स्वामी होता है, परन्तु वह अपने स्वामी-भाव को भूल कर प्रकृति के गुणों के इन बनावों में ही तादात्म्य कर लेता है, अर्थात् अपने-आपको तीन गुणों का कोई विशेष बनाव यानी शरीर ही मान लेता है, अतः शरीर के साथ लगी हुई नाना प्रकार की उपाधियों के कारण अपने को सुखी, दुखी, छोटा, बड़ा, धनी, गरीब, ऊँचा, नीचा आदि अनेक प्रकार के विकारों वाला तथा भाँति-भाँति के बन्धनों से बंधा हुआ अनुभव करता है। जिस तरह कोई राजा स्वप्न में अपने को एक अत्यन्त ही निर्बल,

निर्धन, विपद्ग्रस्त एवं भिखारी अनुभव करके दुखी होता है; उसी तरह पुरुष, अपने ही संकल्प से अपने को सुखी, दुखी आदि विकारों युक्त मान कर व्याकुल होता है। सत्वगुण प्रकाश अथवा ज्ञान-रूप है, अतः प्रत्येक वस्तु एवं विषय के ज्ञान, प्रकाश अथवा बोध होने का कारण सत्वगुण ही है—चाहे वह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा हो अथवा अन्तःकरण द्वारा; और वह ज्ञान ही सुख का जनक होता है, इसलिए सत्वगुण से ज्ञान और सुख होता है, और वह पुरुष को ज्ञान और सुख में उलझाता है। रजोगुण आकर्षण, क्रिया अथवा हलचल-रूप है, इसलिए सब भूत-प्राणियों एवं जगत् के पदार्थों का पारस्परिक खिंचाव अथवा प्रीति, तथा हलचल अर्थात् क्रियाशीलता रजोगुण से ही होती है; अतः रजोगुण पुरुष को जगत् के बनावों की प्रीति में और नाना प्रकार की क्रियाओं में उलझाता है। तमोगुण जड़ता, स्थिरता एवं अन्धकाररूप है, इसलिए उससे आलस्य, मूढ़ता, मोह, भूल, नींद, अकर्मण्यता, स्थिति-पालकता एवं विचार-शून्यता आदि होती हैं, अतः तमोगुण पुरुष को उपरोक्त मूढ़ता, आलस्य आदि में उलझाता है। यद्यपि पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव होने के कारण, इन तीनों में से किसी भी गुण का अभाव किसी भी दशा में नहीं होता—तीनों ही निरन्तर बने रहते हैं, परन्तु इनकी कमी-बेशी बनी रहती है; कभी सत्वगुण की प्रधानता होती है, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की। जब एक गुण की प्रधानता होती है, तब दूसरे गुण उससे दबे हुए रहते हैं। जब शरीर में सत्वगुण की प्रधानता होती है, तब सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है, अन्तःकरण में दूसरों के साथ एकता का प्रेम-भाव होता है, बुद्धि में विवेक होता है, मन में शुभ संकल्प उठते हैं, चित्त में अच्छे संस्कारों की स्मृति होती है। जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब अन्तःकरण में दूसरों से पृथक्ता-जन्य राग-द्वेष के भावों की प्रबलता, कर्मों में प्रवृत्ति, पदार्थों के संग्रह का लोभ, तृष्णा और असंतोष उत्पन्न होते रहते हैं। और तमोगुण की प्रधानता में मूढ़ता, आलस्य, अकर्मण्यता, स्थिति-पालकता, निद्रा आदि दबाते रहते हैं। सत्वगुण की प्रधानता में यदि शरीर छूटता है तो दूसरा जन्म पुण्यवान् उन्नत विचारों वाले ज्ञानी पुरुषों के समाज में होता है। रजोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर निरन्तर क्रियाशील रहने वाले अथवा कर्मों में आसक्ति रखने वाले लोगों के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म होता है; और तमोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर जड़ पदार्थों के रूप में स्थिति होती है, अथवा पशु-पक्षी आदि विवेक-शून्य योनियों में जन्म होता है। सात्विक कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २३) से सुख, राजस कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २४) से दुःख और तामस कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २५) से जड़ता अथवा मूर्खता उत्पन्न होती है। सारांश यह कि सत्वगुण ऊँचा उठाने वाला है, अतः वह सब

प्रकार की उन्नति का कारण है; तथा तमोगुण नीचे गिरानेवाला है, अतः वह अधोगति का कारण है; और रजोगुण दोनों के बीच में रहता है, अतः वह सत्वगुण की समीपता से उन्नति में सहायक होता है, और तमोगुण की समीपता से अधोगति में सहायक होता है।

जो पुरुष इस प्रकार गुणों की विचित्रता के रहस्य को समझ कर, इस गुण-वैचित्र्य को ही जगत् की भिन्नता के अनन्त प्रकार के बनावों का कारण जानता है, तथा अपने-आपको इन गुणों से परे एवं इनका आधार अनुभव करता है, वह इन तीन गुणों की उलझन से रहित एवं शारीरिक विकारों एवं बन्धनों से मुक्त होकर परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

परन्तु गुणों से परे होने अथवा उनसे ऊपर उठने या उनसे मुक्त होने का यह तात्पर्य नहीं है कि तीन गुणों से सर्वथा रहित होकर पूर्ण निर्गुण होने से ही मनुष्य मुक्त होता है; क्योंकि शरीर और जगत् तीन गुणों के गुणन से ही होते हैं, अतः शरीर और जगत् के रहते तीन गुणों से सर्वथा रहित होना बन नहीं सकता; और जब तक शरीर है, तब तक ही गुण-वैचित्र्य के रहस्य को समझने और अपने-आपको उससे परे अनुभव करने की योग्यता होती है। इस विषय का अच्छी तरह स्पष्टीकरण करने के लिए अर्जुन की शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि, गुणों से परे अथवा गुणातीत होने का यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य गुणों से सर्वथा रहित होकर शरीर ही छोड़ दे। वास्तव में गुणातीत पुरुष वह है, जो तीनों गुणों को अपना कल्पित खेल समझ कर गुणों के स्वामीभाव से उनका यथायोग्य उपयोग करता हुआ भी उनमें नहीं उलझता, तथा उनका उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। सत्वगुण के द्वारा वह ज्ञान और सुख का स्वयं अनुभव करता है तथा दूसरों को कराता है; रजोगुण के द्वारा वह नाना प्रकार के लोक-संग्रह के व्यवहार करता है; और तमोगुण के द्वारा वह विश्राम और नींद भी लेता है; परन्तु सब कुछ करता हुआ भी वह निर्विकार और अविचल रहता है; इसलिए उसे किसी भी गुण से द्वेष करने या उससे निवृत्त होने की इच्छा ही नहीं होती, किन्तु सबका समावेश उसके अपने-आपमें ही हो जाता है। गुणों से उत्पन्न सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों को अपनी कल्पना समझ कर वह इनमें एक समान अविचलित रहता है। दूसरों से पृथक् उसका व्यक्तित्व नहीं रहता, इसलिए अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसे किसी भी गुण का आश्रय करके किसी प्रकार के आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु सर्वत्र अपने-आपका अनुभव करते हुए वह अपने-आपमें स्थित एवं मस्त रहता है।

उपरोक्त गुणातीत अवस्था, सबके आत्मा = परमात्मा की अनन्य-भाव से उपासना करने से सहज ही प्राप्त होती है; क्योंकि मनुष्य जैसी उपासना करता है वैसा ही हो जाता है; अतः बारहवें अध्याय में विधान की हुई उपासना के अवलम्बन से, जब सारे भेद मिट कर सर्वत्र एकत्व-भाव का अनुभव हो जाता है, तब गुणों की पृथक्ता का समावेश "मैं" रूप से सबमें रहने वाले, सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा में हो जाता है। वह सबका अपना-आप सबका आत्मा = परमात्मा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, अतः वह सदा एक-सा बना रहता है; और वह सबका आधार है, अर्थात् सबकी सिद्धि अपने-आपसे होती है—अपने-आपके बिना किसी की सिद्धि नहीं होती। इसलिए सबकी एकता एवं सबके आधार, परमात्मा-स्वरूप अपने-आप = आत्मा के यथार्थ अनुभव की ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर फिर गुणों का कोई बन्धन नहीं रहता।

॥ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

अखिल विश्व की एकता के आत्मज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् ने तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति-पुरुष के विवेचन के रूप में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का ज्ञान-विज्ञान कहा, और फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष अथवा जड़-चेतन, सबका समावेश सबके अपने-आप, एक एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया; और चौदहवें अध्याय में अपने जड़ और चेतन-भाव के संयोग से उत्पन्न तीन गुणों के विस्तार का वर्णन करके, तीन गुणों से ऊपर सबके एकत्व-भाव ब्रह्म-स्वरूप अपने-आपमें स्थित होने वाले गुणातीत पुरुष के लक्षण कहे। अब इस पन्द्रहवें अध्याय में जगत् की भिन्नता के कल्पित अथवा मायिक बनावों की असत्यता अर्थात् मिथ्यापन को कल्पित अश्वत्थ वृक्ष की उपमा द्वारा समझा कर उसमें ममत्व की आसक्ति से रहित होने, और सबके एकत्व-भाव, सत्य एवं नित्य आत्मा अथवा परमात्मा में स्थिति करने का उपदेश देते हैं; और साथ ही जीव-भाव और ईश्वर-भाव की अलग-अलग व्याख्या करके, फिर दोनों की पूर्ण एकता सिद्ध करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि ऊपर की तरफ़ जड़, (और) नीचे की तरफ़ शाखावाले (संसार-वृक्ष) को अश्वत्थ (और) अव्यय कहते हैं; (और) वेदों के मन्त्र जिस (संसार-वृक्ष) के पत्ते हैं, उसको जो (इस प्रकार) जानता है, वह वेद का जाननेवाला है। तात्पर्य यह कि संसार की उत्पत्ति सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प से होती है, और आत्मा अथवा परमात्मा सबके ऊपर है, इसलिए उस संसार-वृक्ष का मूल ऊपर को और उसकी शाखाओं का फैलाव नीचे को कहा गया है; और उसके रूप निरन्तर बदलते रहते हैं, इसलिए उसे अश्वत्थ (कल तक जिसके रहने का भरोसा नहीं) कहते हैं; तथा एकत्व-भाव में वह सदा बना ही रहता है, अर्थात् उसका प्रवाह कभी टूटता नहीं, इसलिए उसको अव्यय भी कहते हैं। कर्मकाण्डात्मक वेदादि-शास्त्रों ने संसार में अनेक प्रकार के सुख होने के वर्णन करके उसे बहुत ही शोभायमान बना रखा है, इसलिए वे उस संसार-वृक्ष के पत्ते कहे गये हैं; क्योंकि वृक्ष की शोभा पत्तों ही से होती है; जो इस प्रकार उस संसार-वृक्ष के रहस्य को जानता है वही सच्चा ज्ञानी है (१)। उस (संसार-वृक्ष) की शाखाएँ (सत्वादि) गुणों से बढ़ती हुई ऊपर और नीचे को फैल रही हैं; जिनमें (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-रूपी) विषयों के अङ्कुर निकल रहे हैं; और (उसकी) जड़ें नीचे को भी गहरी चली गई हैं, (वे) मनुष्य-लोक में कर्म के बन्धनों से बाँधने वाली हैं। तात्पर्य यह कि सात्विक, राजस और तामस भेद से ऊँची-नीची योनियों अथवा ऊँचे-नीचे के लोकों के रूप में उस संसार-वृक्ष की शाखाएँ सब-ओर फैली हुई हैं, और वे ऊँची-नीची योनियाँ अथवा ऊँचे और नीचे के लोक-रूपी शाखाएँ तीन गुणों के गुणन से पुष्ट हो रही हैं, और पाँच विषयों के संयोग से नये-नये शरीर-रूपी अंकुर निकाल कर बढ़ रही हैं; तथा नाना प्रकार की वासना-रूपी उस संसार-वृक्ष की जड़ें नीचे की तरफ़ भी मज़बूती के साथ जम रही हैं, जिन (वासनाओं) के कारण मनुष्य कर्मों के बन्धनों से बन्धे रहते हैं (२)। यहाँ न तो इसके रूप का, न इसके अन्त का, न इसकी आदि का और न इसकी स्थिति का ही कुछ पता लगता है; अत्यन्त मज़बूती से जमी हुई जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को दृढ़ असंग शस्त्र से काट कर; फिर उस पद की खोज करना चाहिए, जिसमें गये हुए फिर नहीं लौटते; और ऐसी भावना करनी चाहिए कि जिस आदि पुरुष से (इस संसार-वृक्ष की) सदा से प्रवृत्ति चली आ रही है, उस ही को मैं प्राप्त हो रहा हूँ। तात्पर्य यह कि संसार-रूपी वृक्ष के नाना भाँति के कल्पित बनाव निरन्तर बदलते रहते हैं—एक क्षण के लिए भी एक-से नहीं रहते, तथा जिसकी जैसी कल्पना होती है, उसको वे उसी तरह प्रतीत होते हैं, इसलिए लौकिक ज्ञान के साधनों अर्थात् मन और इन्द्रियों द्वारा इसके यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग सकता; और यह भी नहीं जाना जा सकता

कि इसका आरम्भ कब, किस प्रकार, किसके द्वारा और क्यों हुआ ? तथा इसका अन्त कब, किस प्रकार और किससे होगा ? और यह किसके आधार पर कैसे स्थित है ? क्योंकि ये सब प्रश्न देश, काल, वस्तु और क्रिया को लेकर होते हैं, और देश, काल, वस्तु एवं क्रिया भी कल्पित जगत् के अन्तर्गत ही है, इसलिए न तो ये प्रश्न ही ठीक बन सकते हैं और न इनका ठीक-ठीक उत्तर ही हो सकता है। यद्यपि यह कल्पित संसार-वृत्त इस प्रकार अद्भुत रहस्यमय है, तथा इसके बनाव सर्वथा अस्थिर होने के कारण असत्य हैं; परन्तु जिस आत्मा अथवा परमात्मा के संकल्प के आधार पर यह अवलम्बित है, वह इसका मूल सत्य है, इसलिए इसका मूलोच्छेद नहीं हो सकता; इस कल्पित प्रपंच की उलझन से छूटने का एक मात्र यही उपाय है कि इसको सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक खेल समझ कर, मनुष्य इसके नाना प्रकार के बनावों में आसक्ति न रखे; और जिससे इस खेल का पसारा हुआ है, उस सबके आत्मा=परमात्मा का अनुभव प्राप्त करे, अर्थात् यह अनुभव करे कि यह संसार सबके अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का खेल-मात्र है, अपने-आपसे भिन्न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; ऐसा करने से फिर इस संसार-प्रपंच की कोई उलझन शेष नहीं रहती (३-४)। जो मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने संग-दोष को जीत लिया है, जो निरन्तर अध्यात्म-विचार में लगे रहते हैं, जिनकी कामनाएँ सर्वथा निवृत्त होगई हैं, और सुख-दुःख संज्ञा वाले द्वन्द्वों से जो मुक्त हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय पद को पहुँचते हैं। तात्पर्य यह कि जगत् के कल्पित बनाव से आसक्ति हटाकर आत्म-स्वरूप में वे ही पुरुष स्थित हो सकते हैं, जो अध्यात्म-विचार से युक्त होकर शरीर के सङ्ग से उत्पन्न होने वाले मान और मोह के विकारों तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों पर विजय पा लेते हैं तथा जिनको किसी प्रकार की कामनाएँ नहीं रहतीं (५)। उस पद को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता, वह मेरा परम धाम है। तात्पर्य यह कि जगत् की कल्पित भिन्नताओं का सच्चा एकत्व-भाव, सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा स्वतः प्रकाश-स्वरूप है; वह सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु उसके प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं; अथवा वह सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा आँखों* से देखा नहीं जा सकता, मन* से उसकी कल्पना नहीं हो सकती और वाणी* से उसका वर्णन नहीं हो सकता—वह केवल अपने अनुभव का विषय

* आँख, मन और वाणी के अधिदेव अर्थात् समष्टि-भाव क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि हैं, इसलिए यह अर्थ भी बन सकता है।

है। वह अपने-आपका यथार्थ अनुभव ही परम धाम है, जिसकी प्राप्ति होने पर फिर जगत् की भिन्नताओं के बनावों की उलझन नहीं होती (६)।

स्पष्टीकरण—सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा कल्पना के मायिक बनाव-रूप इस संसार का रहस्य भगवान् कल्पित वृक्ष का रूपक बाँध कर समझाते हैं। लौकिक (इन्द्रियगोचर) वृक्ष का बीज अथवा मूल नीचे होता है, और उसका धड़ तथा शाखाएँ ऊपर को होती हैं, परन्तु इस कल्पित अथवा मायिक वृक्ष का मूल ऊपर, और धड़ तथा शाखाएँ नीचे की तरफ़ कही गई हैं; जिसका भावार्थ यह है कि संसार का मूल कारण सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना है, और परमात्मा सबसे ऊपर है, इसलिए संसार-रूपी वृक्ष का मूल ऊपर को कहा है; परमात्मा से ऊपर कुछ नहीं होता, जो कुछ होता है सो सब उससे नीचे ही होता है; इसलिए इस कल्पित वृक्ष का फैलाव नीचे की ओर कहा है। यदि इस कल्पित वृक्ष के रूपक को शरीर पर घटाया जाय तो प्रत्येक शरीर का आरम्भ चेतना-शक्ति के केन्द्र—सिर से होता है, और उसका पोषण भी सिर में स्थित मुख आदि ऊपर की इन्द्रियों द्वारा ही होता है; इसलिए मस्तक ही इसका मूल स्थान है। शरीर अथवा पिण्ड, ब्रह्माण्ड के एक छोटे-से मान का नमूना है, इसलिए जो व्यवस्था पिण्ड की है, वही ब्रह्माण्ड की है। संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है—कल क्या होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए इस वृक्ष का नाम अश्वत्थ रखा गया है; और इस कल्पित संसार के नाना भाँति के बनावों का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है, कभी बंद नहीं होता, इसलिए एकत्व-भाव में इस वृक्ष को अव्यय अर्थात् अखूट कहा है। वृक्ष के पत्ते होते हैं, जिनसे वह सुशोभित होता है, और पत्तों से ही वह सुरक्षित रहता है; अतः इस संसार-वृक्ष के वेदादि-शास्त्र पत्ते हैं, जो कि इसके विषय के नाना प्रकार के चित्ताकर्षक साहित्य से इसे शोभायमान बनाते हैं (गी अ० २ श्लो० ४२) तथा इसमें जीवों को मोहित रख कर इसकी रक्षा करते हैं। जगत् में ऊँची-नीची नाना प्रकार की योनियाँ होती हैं, तथा स्वर्गादि लोक ऊपर की तरफ़ और पाताल आदि लोक नीचे की तरफ़ फैले हुए हैं; वे ही इस कल्पित वृक्ष की, ऊपर और नीचे फैली हुई डालियाँ कही गई हैं। जिस प्रकार जल के सींचने से वृक्ष पुष्ट होता है, उसी प्रकार तीन गुणों के विस्तार से सींचा जाकर यह संसार पुष्ट होता है। जिस प्रकार वृक्ष के नये-नये अंकुर निकलने से वह बढ़ता है, उसी प्रकार भूत-प्राणियों के नाना प्रकार के विषय-भोगों से शरीर उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे इस संसार की वृद्धि होती है। जिस तरह वृक्ष अपनी शाखाएँ नीचे की तरफ़ पसारता है और उनसे पृथ्वी में दूसरी

जड़ें जमाकर मज़बूत होता है, उसी तरह कल्पित संसार की जड़ें मनुष्यों की नाना प्रकार की वासनाओं से तथा उन वासनाओं युक्त कर्म करते रहने से दृढ़ता से गहरी जमी हुई हैं। आत्मा से भिन्न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व न होने के कारण आत्मज्ञान के बिना केवल लौकिक ज्ञान से इसका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जाता—इसके जस रूप की लौकिक दृष्टि से जाँच की जाय, वही कल्पित अतः मिथ्या सिद्ध होता है; इसलिए इसका कोई आदि, अन्त और मध्य भी नहीं जाना जा सकता। इस संसार वृक्ष को इस प्रकार कल्पित समझ कर इसके नाना प्रकार के भिन्नता के बनावों से प्रीति हटाकर, तथा अध्यात्म-विचार से व्यक्तित्व के अहंकार और ममत्व की आसक्ति तथा सांसारिक पदार्थों एवं विषयों की कामना से रहित होकर, जिसके संकल्प अथवा इच्छा से यह पसारा हुआ है, उस सबकी एकता-स्वरूप सबके आत्मा = परमात्मा के अनुभव-रूप परमपद में स्थित होना चाहिए। वह परमपद अपने-आपका अनुभव-रूप होने के कारण स्वतः प्रकाशित है—उसको प्रकाशित करने अथवा अनुभव कराने वाला दूसरा कोई नहीं है; और वह आँखों से देखने का, मन से कल्पना करने का तथा वाणी से कहने का विषय नहीं है। उस स्वप्रकाश अपने-आपके यथार्थ अनुभव-रूप परमपद में स्थित होने पर फिर इस जगत् के नाना प्रकार के कल्पित बनावों का बन्धन नहीं रहता।

+ + +

अब भगवान् इस कल्पित जगत् के मोह में उलझने वाले जीवात्मा के तथा परमात्मा के अलग-अलग स्वरूप का और दोनों की एकता का निरूपण करके फिर जीव, जगत् और ईश्वर—सबका समावेश अर्थात् सबकी एकता, सबके अपने आप = आत्मा अथवा परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम में करके आत्मज्ञान के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

अर्थ—मेरा ही सनातन अंश जीव-लोक में जीव-भाव होकर, प्रकृति में रहने वाली, मन को आदि लेकर छः इन्द्रियों को खींच लेता है। ईश्वर, अर्थात् प्रकृति का स्वामी व्यष्टि-भावापन्न आत्मा (जीवात्मा), जिस शरीर को धारण करता है और जिसको छोड़ कर निकलता है, (उस समय) जिस तरह वायु (गन्ध वाले पदार्थों से) गन्ध को ले जाता है, उसी तरह (यह) इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जीभ,

नाक और मन में रहकर इनके द्वारा विषयों को भोगता है। तात्पर्य यह है कि सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा व्यष्टि-भाव से जीव-रूप होकर जब नाना प्रकार के शरीर धारण करता है, तब अपनी अपरा प्रकृति से एक मन और पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों के वासनामय लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर से युक्त होता है; फिर जब स्थूल शरीर धारण करता है तब उस वासनामय लिंग शरीर से स्थूल शरीर-रूप होता है, तथा जब स्थूल शरीर को छोड़ता है तब उस लिंग शरीर को लेकर निकलता है। जिस तरह हवा, गन्ध वाले पदार्थों में से गन्ध को लेकर चलती है, उसी तरह स्थूल शरीर धारण करते और छोड़ते समय जीवात्मा उक्त लिंग शरीर को साथ रखता है, और मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगता है (७-९)। शरीर से निकलते हुए अथवा शरीर में रहते हुए अथवा भोग भोगते हुए अथवा गुणों से युक्त हुए को भी मूर्ख लोग नहीं देखते, (केवल) ज्ञान-रूपी नेत्र वाले ही देखते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी लोगों को शरीर छोड़ते हुए, शरीर में रहते हुए, तथा सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त होकर विषयों को भोगते हुए भी अपने वास्तविक स्वरूप = आत्मा का ज्ञान रहता है, अर्थात् वे अनुभव करते हैं कि "मैं मन, इन्द्रियों एवं शरीर का स्वामी, अज, अविनाशी एवं अविकारी आत्मा हूँ, और मन आदि के सूक्ष्म शरीर को लेकर स्थूल शरीर धारण करता हूँ और छोड़ता हूँ, तथा नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता हूँ"; परन्तु अज्ञानी लोगों को इस प्रकार आत्मा का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु वे अपने आपको शरीर का पुतला ही समझ कर शरीर के साथ अपना जन्मना और शरीर के साथ ही मरना, तथा शरीर के विकारों से विकारवान् होना एवं अपने को परवशता से इनमें बँधा हुआ मानते हैं (१०)। यत्न करने वाले समत्वयोगी लोग इस (आत्मा अथवा परमात्मा) को अपने-आपमें स्थित देखते हैं, परन्तु मलिन अन्तःकरण वाले मूर्ख लोग प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं देखते। तात्पर्य यह कि जो लोग सबकी एकता की समत्व-बुद्धि से सबके साथ एकत्व-भाव का आचरण करते हैं, वे अपने-आपको मन, इन्द्रियों एवं शरीर आदि का स्वामी अथवा ईश्वर अनुभव करते हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि पृथकता के मिथ्या ज्ञान से मलिन होती है, वे अज्ञानी लोग भेद-भाव से विषमता के आचरण करते हुए, चाहे कितना ही प्रयत्न करें, परन्तु उनको उपरोक्त आत्मानुभव नहीं हो सकता (११)। सूर्य में रहने वाला जो तेज अखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जो तेज चन्द्रमा में है, और जो तेज अग्नि में है, वह तेज मेरा ही समझ (१२)। मैं पृथ्वी में व्याप्त होकर अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ, रस-रूप सोम होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ (१३)। मैं प्राणियों के शरीरों में रहता हुआ वैश्वानर अर्थात् जठराग्नि होकर प्राण-अपान वायु से युक्त हुआ चार प्रकार के आहार

को पचाता हूँ (१४)। और मैं सबके हृदय में रहता हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा उनका अभाव होता है; और सब वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ; एवं वेदान्त का कर्त्ता और वेदों के जानने वाला भी मैं ही हूँ (१५)। श्लोक १२ वें से १५ वें तक का तात्पर्य यह है कि ७ वें से ११ वें श्लोक तक व्यष्टि-जीव-भाव का स्वरूप कह कर इन श्लोकों में भगवान् अपने समष्टि—ईश्वर अथवा परमात्म-भाव का वर्णन करते हैं कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप से जो भी कुछ संसार है, वह " मैं " रूप से सबके अन्दर रहने वाले समष्टि आत्मा = परमात्मा का ही बनाव है; "मैं" ही तेज-रूप होकर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि द्वारा सारे विश्व को प्रकाशित करता हूँ, "मैं" ही पृथ्वी-रूप होकर स्थावर-जंगम सब भूतों को धारण करता हूँ; "मैं" ही रस-रूप होकर सब खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करता और बढ़ाता हूँ; और "मैं" ही सब प्राणियों के शरीरों में जठराग्नि-रूप होकर, पृथ्वी से उत्पन्न, जल से उत्पन्न, तेज से उत्पन्न तथा वायु से उत्पन्न, अथवा खाने, पीने, चूसने एवं चाटने योग्य—चार प्रकार के आहार को पचाता हूँ। दूसरे शब्दों में "मैं" ही खाद्य पदार्थ हूँ और "मैं" ही खाने वाला हूँ। सब प्राणियों के हृदय में रह कर सब प्रकार की चेष्टाएँ "मैं" ही करवाता हूँ; प्रतिक्षण परिवर्तनशील, अनित्य एवं जड़ शरीरों के अन्दर भी "मैं" सत्-चेतन आत्मा सदा एक समान रहता हूँ, इसलिए पहले के अनुभवों की स्मृति अर्थात् याददाश्त का कारण "मैं" ही हूँ; और "मैं" सत्-चेतन आत्मा ही वर्तमान के अनुभवों के ज्ञान का कारण हूँ; एवं भूल तथा अज्ञान का कारण भी "मैं" सत्-चेतन आत्मा ही हूँ, क्योंकि भूल और अज्ञान भी अचेतन में नहीं हो सकते। वेदादि सब शास्त्रों के अवलंबन से जिस अन्तिम लक्ष्य अर्थात् सत्य वस्तु को जानना चाहिए, वह "मैं" ही हूँ, अर्थात् शास्त्रों में जो भी कुछ वर्णन है वह सब "मेरा" ही है। वेदान्त अर्थात् जिसमें जानने का अन्त अथवा ज्ञान की परिसमाप्ति होती है, वह सबका अपना-आप "मैं" ही हूँ; और वेद का जानने वाला अर्थात् ज्ञाता भी "मैं" ही हूँ (१२ से १५)। इस जगत् में क्षर अर्थात् निरन्तर बदलने वाला नाशवान्, और अक्षर अर्थात् सदा एक-सा रहने वाला अविनाशी—ये दो पुरुष अर्थात् शक्तियाँ हैं; सब भूत, क्षर (नाशवान्) और कूटस्थ अर्थात् उन सब भूतों का आधार, अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है। परन्तु इन दोनों से उत्तम पुरुष दूसरा है; वह परमात्मा कहा जाता है, जो सदा एक-सा रहने वाला ईश्वर, तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबको धारण करता है। तात्पर्य यह कि यह जगत् परमात्मा की जड़ (अपरा) और चेतन (परा) प्रकृति का खेल है। इसमें जो अपरा प्रकृति का अनन्त भेदोंवाला भौतिक बनाव है, वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं नाशवान् है; और इस भौतिक बनाव के अन्दर रहने वाला इसका आधार परा

प्रकृति-रूप सत्-चेतन जीव-भाव है वह अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी है। ये दोनों प्रकृतियाँ सबके आत्मा = परमात्मा ही की दो शक्तियाँ हैं, इसलिए वह परमात्मा इनसे उत्तम कहा जाता है; और वह ईश्वर (परमात्मा) सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर सबको धारण करता हुआ भी निर्विकार रहता है (१६-१७)। क्योंकि "मैं" क्षर अर्थात् निरन्तर बदलने वाली अपरा प्रकृति-रूप जड़-भाव से परे, और अक्षर अर्थात् सदा एक समान रहने वाली परा प्रकृति-रूप चेतन पुरुष अथवा व्यष्टि जीव-भाव से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोकों और वेदों में "मैं" पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। तात्पर्य यह कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले सबके आत्मा = परमात्मा में क्षर और अक्षर, जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष, दोनों का समावेश हो जाता है; क्षर-भाव वाली अपरा प्रकृति सबके आत्मा = परमात्मा का मायिक खेल मात्र है, इसलिए वह परमात्मा इस दिखाव से परे, इसका आधार कहा जाता है; और अक्षर अर्थात् जीव-भाव वाली परा प्रकृति वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु उसका व्यष्टि-भाव ही है, अतः उस (व्यष्टि) जीव-भाव अथवा पुरुष-भाव की अपेक्षा (समष्टि) परमात्म-भाव उत्तम कहा जाता है; इसलिए भगवान् कहते हैं कि सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझे लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम कहते हैं (१८)। जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सब-कुछ जानने वाला सब प्रकार से मुझे ही भजता है। तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार क्षर और अक्षर, जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष को, सबके अन्दर "मैं" रूप से रहने वाले पुरुषोत्तम-स्वरूप "मेरी" ही इच्छा अथवा संकल्प के दो भाव समझ कर, मुझ पुरुषोत्तम में सबकी एकता का अनुभव करता है, उसे सर्वत्र सबके अपने-आप, सबके आत्मा-स्वरूप "मेरा" ही अनुभव हो जाता है, इसलिए वह सब-कुछ जानने वाला सर्वज्ञ होता है (१९)। इस प्रकार हे अनघ ! मैंने यह गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय शास्त्र कहा है; हे भारत ! इसे समझ कर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य होता है। तात्पर्य यह कि सबकी एकता का प्रतिपादन करने वाला यह सत्य शास्त्र अत्यन्त ही गहन और सूक्ष्म है; इस सत्य शास्त्र के रहस्य को जो अच्छी तरह समझ लेता है, वह पूर्ण हो जाता है, और फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता (२०)।

स्पष्टीकरण—जीवात्मा और परमात्मा की एकता के विषय में पहले बहुत कुछ वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में जीवात्मा का स्वरूप परमात्मा की तरह एक, अज, अविनाशी, नित्य, शाश्वत, सर्वव्यापक, अचल, सनातन, अनादि और अनन्त कहा। सातवें अध्याय में जीवात्मा को भगवान् ने अपनी परा प्रकृति कहा। तेरहवें अध्याय में अपने ही को क्षेत्रज्ञ कह कर फिर प्रकृति-पुरुष के वर्णन में गुण-

विकार और कार्य-कारण-भाव जड़ प्रकृति के धर्म बताये, और पुरुष अर्थात् जीवात्मा को प्रकृति के गुणों का भोक्ता एवं परम-पुरुष परमात्मा कहा (गी० अ० १३ श्लो० २२)। अब उसी विषय का फिर से खुलासा करते हुए भगवान् कहते हैं कि जीव मेरा ही अंश है; वह प्रकृति से उत्पन्न मन और सूक्ष्म इन्द्रियों के लिंग शरीर से युक्त होकर स्थूल शरीर में रहता हुआ विषयों को भोगता है। यहाँ "मेरा अंश" कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि जीवात्मा-परमात्मा से निकला हुआ—अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह—कोई टुकड़ा है। यहाँ अंश से मतलब व्यष्टि-भाव से है, जो अपने समष्टि-भाव से वस्तुतः अलग नहीं होता। जिस तरह समुद्र में छोटी-बड़ी अनन्त लहरें होती हैं, वे समुद्र से भिन्न नहीं होतीं—लहरों से समुद्र के टुकड़े नहीं हो जाते, क्योंकि लहरें वस्तुतः समुद्र ही हैं; अथवा जिस तरह बर्तनों और मकानों के अन्दर जो पोल-रूप आकाश होता है, वह बाहर के महा-आकाश से भिन्न नहीं होता—बर्तनों और मकानों में जो आकाश का अंश आ जाता है, उससे आकाश के टुकड़े नहीं हो जाते, किन्तु आकाश सब दशाओं में एक ही रहता है; अथवा जिस तरह राष्ट्र अथवा जाति का व्यक्ति उस राष्ट्र अथवा जाति का अंश होता है, परन्तु उस राष्ट्र अथवा जाति से भिन्न नहीं होता, प्रत्युत राष्ट्र अथवा जाति-रूप ही होता है; उसी तरह सबके आत्मा = परमात्मा में व्यष्टि जीव-भाव और समष्टि ईश्वर अथवा ब्रह्म-भाव होते हुए भी सब एक ही है, भिन्नता कुछ नहीं है। अजन्ता आदि गुफ़ा-मन्दिरों में पर्वतों को काटकर जो बहुत-सी मूर्तियाँ बनाई हुई हैं, वे पर्वत से पृथक् नहीं हैं, किन्तु पर्वत ही हैं; उसी तरह यह सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनन्त नामों और रूपों का बनाव है। सबका आत्मा = परमात्मा ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि-रूप होकर प्रकाश करता है; वही पृथ्वी-रूप होकर सब भूत-प्राणियों को धारण करता है; वही नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थ-रूप होता है; वही उनको खाता और पचाता है; वही शरीर-रूप होता है; वही शरीर के अन्दर निवास करता है; वही बुद्धि होकर विचार करता है; वही मन होकर मनन करता है; वही चित्त होकर चिन्तन करता है; वही अहंकार होकर अहंकार करता है; और वही इन सब भावों का अपने में लय कर लेता है; वही ज्ञाता अर्थात् जानने वाला है; वही ज्ञान अर्थात् जानने की क्रिया है; और वही ज्ञेय अर्थात् जानने की वस्तु है; ज्ञान के जितने साधन हैं, उनसे यही रहस्य जानने योग्य है। जो सबकी एकता के निश्चय से समत्व-योग का आचरण करता है, उसको जीवात्मा = परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है; परन्तु जिनकी बुद्धि भेद-ज्ञान से दूषित रहती है, जिससे वे विषमता के आचरण करते हैं, उनको जीवात्मा-परमात्मा की उपरोक्त एकता का अनुभव नहीं हो सकता।

जिन जड़ और चेतन भावों से जगत् के अनन्त प्रकार के बनाव होते हैं, वे दोनों भाव सबके आत्मा = परमात्मा ही के हैं; उनमें नामों और रूपों वाला जड़-भाव परिवर्तनशील एवं नाशवान् है; और चेतन-भाव सदा एक-सा बना रहने वाला है। जो मनुष्य व्यष्टि-भाव के अहंकार से ऊपर उठ कर उन दोनों भावों की एकता का अनुभव अपने-आपमें कर लेता है, अर्थात् नाम-रूपात्मक जड़-भाव को परिवर्तनशील एवं अनित्य दिखाव मात्र समझ कर उसमें मोहित नहीं होता; और चेतन-भाव को अपना अंश समझ कर अपने-आपमें उसका समावेश समझता है, उसकी पुरुषोत्तम संज्ञा होती है। अतः जो ज्ञानवान् पुरुष अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त के शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर अपने-आपको इस प्रकार सबकी एकता-स्वरूप पुरुषोत्तम अनुभव करता है, उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता—यही पुरुषार्थ की परमावधि अथवा चरम सीमा है, और यही ज्ञान की पराकाष्ठा एवं अन्तिम गति है।

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

सोलहवाँ अध्याय

सबकी एकता के ज्ञान-विज्ञान का निरूपण, सातवें अध्याय से आरम्भ करके, पहले भक्ति अथवा उपासना के विधान में श्रद्धा को प्रधानता देकर किया गया, और फिर तेरहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक दार्शनिक विवेचन करके उसकी समाप्ति की गई। उस निरूपण के बीच-बीच में उक्त ज्ञान-विज्ञान के आधार पर, अर्थात् सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव से, संसार के व्यवहार करने का वर्णन भी प्रसंगानुसार यथा-स्थान विविध प्रकार से किया गया है। अब भगवान् उक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव-युक्त किये जाने वाले आचरणों का, तथा उसके विरुद्ध सबकी पृथक्ता के मिथ्या ज्ञान-युक्त विषमता के आचरणों का तुलनात्मक विवेचन आगे के तीन अध्यायों में करते हैं, ताकि लोग भेद-भावजन्य विषमता के आचरणों को छोड़ कर सबकी एकता के साम्य-भाव के आचरणों में प्रवृत्त हों; क्योंकि जब तक सबकी एकता के ज्ञान का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, अर्थात् उक्त ज्ञान के अनुसार सबके साथ एकता के साम्य-भाव के आचरण करने में जब तक प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक उससे कोई लाभ नहीं होता। इस सोलहवें अध्याय से उस तुलनात्मक विवेचन का आरम्भ करते हैं; जिसमें, जिन लोगों के पूर्वजन्म में किये हुए समत्व-योग के अभ्यास के शुभ संस्कारों के कारण यहाँ दैवी प्रकृति के शरीर होते हैं, तथा जिनके पूर्वजन्म के अशुभ संस्कारों के कारण यहाँ आसुरी प्रकृति के शरीर होते हैं, उन दोनों के आचरणों का विवेचना-त्मक वर्णन विस्तार-पूर्वक करते हैं। यहाँ पर इस विषय का खुलासा कर देना आव-श्यक प्रतीत होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार यहाँ जिस प्रकृति का शरीर प्राप्त होता है, वही प्रकृति जन्मभर वैसी ही बनी रहे, यह आवश्यक नहीं है। शिक्षा, संगति और पुरुषार्थ से मनुष्य अपनी प्रकृति में बहुत-कुछ परिवर्तन कर सकता है। अच्छी शिक्षा, सत्संग और सत्पुरुषार्थ से मनुष्य अपनी आसुरी प्रकृति को शनैः-शनैः बदल कर दैवी बना सकता है, और कुशिक्षा, कुसंगति और विपरीत पुरुषार्थ से मनुष्य दैवी प्रकृति को बदल कर आसुरी बना सकता है। इसलिए अपनी उन्नति के इच्छुक व्यक्तियों को प्रयत्नपूर्वक सुशिक्षा एवं सत्संग प्राप्त करना, तथा शुभ पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए।

जिन लोगों की बुद्धि सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार को सहज ही ग्रहण नहीं कर सकती, उन साधारण लोगों के लिए भी आगे के तीन अध्याय अत्यन्त उपयोगी एवं लाभदायक हैं; क्योंकि इनमें सर्वसाधारण के रात-दिन के व्यवहारों की विस्तृत व्याख्या करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार के व्यवहारों से मनुष्य अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति कर सकता है, और किस प्रकार के व्यवहारों से अपना पतन कर लेता है। इन तीन अध्यायों में दार्शनिक तत्त्वज्ञान के विचारों की इतनी गहराई नहीं है कि जिनके समझने में कठिनाई का सामना करना पड़े। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति—चाहे स्त्री हो या पुरुष—को चाहिए कि यदि पहले के अध्यायों के निरूपण हृदयङ्गम न हो सकें तो इन अध्यायों में विशेष रूप से मन लगाकर इनका अध्ययन करे, और अवनति करने वाले आचरणों का त्याग कर उन्नति करने वाले व्यवहारों में लगे।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

अर्थ—अभय अर्थात् निडर होना; सत्त्व-संशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण को राग, द्वेष, झूठ, कपट, ईर्षा आदि मलिनताओं से दूषित न रखना; ज्ञान-योग-व्यवस्थिति अर्थात् बुद्धि को सबकी एकता के ज्ञान*युक्त साम्य-भाव में स्थित रखना; दान अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्विक दान देने की प्रवृत्ति; दम† अर्थात्

* दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के विवरण का स्पष्टीकरण देखिए।

† बारहवें अध्याय में दम का स्पष्टीकरण देखिए।

इन्द्रियों को अपने वश में रखना; यज्ञ अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्विक यज्ञ करना; स्वाध्याय॰ अर्थात् विद्याध्ययन करना; तप अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन के द्वारा सात्विक तप यानी शिष्टाचार की प्रवृत्ति; आर्जव अर्थात् सरलता॰; अहिंसा॰ अर्थात् शरीर, मन और वाणी से किसी को शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा न देना, और किसी की आजीविका में आघात न पहुँचाना; सत्य॰ अर्थात् सच बोलना तथा सचाई का व्यवहार करना; अक्रोध अर्थात् क्रोध† के वश में न होना; त्याग अर्थात् आगे अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्विक त्याग†; शान्ति† अर्थात् मन की शीतलता; अपैशून्य॰ अर्थात् किसी की निन्दा अथवा चुगली न करना; प्राणियों पर दया† अर्थात् दुखी प्राणियों पर दया करना, अलोलुपत्व अर्थात् अति लोभ॰ न करना; मार्दव॰ अर्थात् मधुरता; ह्री अर्थात् बुरे कामों में लज्जा॰ रखना; अचपलता॰ अर्थात् निकम्मी चेष्टाएँ न करना; तेज॰ अर्थात् प्रभावशालीपन; क्षमा† अर्थात् दूसरों के अपराधों का बदला लेने का भाव न रखना; धृति अर्थात् धैर्य॰ अथवा अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्विकी धृति; शौच† अर्थात् शरीर की शुद्धता; अद्रोह अर्थात् किसी से द्वेष† न करना; और अतिमानी न होना अर्थात् अपने बड़प्पन का अनुचित अभिमान† न करना—(ये लक्षण), हे भारत ! दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगों के होते हैं, अर्थात् दैवी प्रकृति के लोगों में ये गुण होते हैं (१-३)। दंभ॰ अर्थात् मन में कुछ हो और बाहर कुछ और ही दिखाकर लोगों को भुलावा अथवा धोखा देना, अथवा वास्तविकता के विरुद्ध आडम्बर करके लोगों पर अपना मिथ्या प्रभाव या रोब जमाना, अथवा भीतर कुछ भी न होते हुए भी ऊपर से थोथे दिखाव का ढोंग करना; दर्प॰ अर्थात् अपने धन, मान, बल, यौवन, कुलीनता, पवित्रता, विद्वत्ता आदि के घमण्ड में दूसरों को दबाना अथवा लोगों का तिरस्कार करना; अभिमान† अर्थात् अपने बड़प्पन, उच्चता, श्रेष्ठता, कुलीनता, बुद्धिमत्ता, धन, पद, प्रतिष्ठा, धार्मिकता आदि का अहङ्कार रखना; क्रोध† अर्थात् अपने मन के अनुकूल कोई बात न होने पर क्रोध के वश होकर आप तपना तथा दूसरों को तपाना; पारुष्य॰ अर्थात् सूखे लक्कड़ की तरह कठोर, रूखा एवं ऐंठा हुआ रहना; और अज्ञान अर्थात् सत्यासत्य के विवेक से रहित होना—(ये लक्षण), आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगों के होते हैं, अर्थात् आसुरी प्रकृति के लोगों में ये गुण होते हैं (४)। दैवी सम्पत्ति मोक्ष का कारण और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है। हे पाण्डव ! तू तो दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है,

---

॰ आगे स्पष्टीकरण में इन भावों का खुलासा देखिए।

† बारहवें अध्याय में इन भावों का स्पष्टीकरण देखिए।

(इसलिए) चिन्ता मत कर। तात्पर्य यह कि जो लोग दैवी सम्पत्ति के गुणों से युक्त होते हैं, अर्थात् उपरोक्त दैवी सम्पत्ति के आचरण करते हैं, वे मुक्त अथवा स्वतन्त्र हो जाते हैं; और जो आसुरी सम्पत्ति के आचरण करते हैं, वे अनेक बन्धनों से बँधे हुए पराधीन रहते हैं; तू तो दैवी सम्पत्ति से युक्त है, इस कारण तेरे लिए कोई बन्धन नहीं है; तू चिन्ता मत कर (५)।

स्पष्टीकरण—दैवी और आसुरी प्रकृतियों के तुलनात्मक वर्णन का सूत्रपात नवमें अध्याय के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकों में कर दिया गया था। वहाँ भगवान् ने कहा था कि दैवी प्रकृति के महात्मा लोग अनन्य-भाव से मेरा भजन करते हैं, अर्थात् मुझ परमात्मा को सारे विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम करते हैं; और राक्षसी एवं आसुरी प्रकृति के लोग अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार में आसक्त होकर सबकी एकता-स्वरूप मेरा तिरस्कार करते हैं*। यहाँ पर उस विषय की विस्तृत व्याख्या की गई है। छठे अध्याय के ४१ वें श्लोक से ४४ वें श्लोक तक के वर्णनानुसार पूर्वजन्म में समत्व-योग के अभ्यास में लगे रहने वाले लोगों को इस जन्म में सात्विकी प्रकृति का शरीर प्राप्त होता है, और साधारणतया उनके आचरण सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त होते हैं, जिससे उनके कर्मों के बन्धन कम होते जाते हैं, और उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अन्त में वे सब बन्धनों से मुक्त होकर परमात्म-भाव में स्थित हो जाते हैं। एक तरफ़ सबकी एकता के ज्ञान के अभ्यास से सात्विक आचरण बनते हैं, और दूसरी तरफ़ इन सात्विक आचरणों से सबकी एकता का ज्ञान बढ़ता और दृढ होता है—इस प्रकार यह दोनों ही परस्पर में सहायक अथवा उपकारी-उपकार्य होते हैं। "अभय" से लेकर "नातिमानिता" तक दैवी प्रकृति के जो २६ गुण कहे हैं, उनके आचरण ज्ञान-योग की व्यवस्था से, अर्थात् सबकी एकता की समत्व-बुद्धि से किये जायँ, तभी वे सात्विक अर्थात् सुख-दायक होते हैं; परन्तु यदि ये ही आचरण पृथक्ता के राग-द्वेष आदि भावों से किये जायँ तो वे राजस-तामस अर्थात् दुःखदायक एवं बन्धन के हेतु हो जाते हैं। इसी अभिप्राय को भगवान् ने प्रथम श्लोक में "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" के बाद "ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः" कह कर स्पष्ट कर दिया है। इस विषय का खुलासा बारहवें अध्याय के श्लोक १३ वें से २० वें तक के स्पष्टीकरण में कर आये हैं। जिन आचरणों का स्पष्टीकरण वहाँ नहीं हुआ है, उनका यहाँ किया जाता है।

अभय

अपने कर्तव्य-कर्म करने में किसी प्रकार का इहलौकिक अथवा पारलौकिक,

---

* नवमें अध्याय में उक्त श्लोकों का स्पष्टीकरण देखिए।

दृष्ट अथवा अदृष्ट भय न रखना; यदि अपने कर्तव्य-पालन में शरीर के छूटने, अर्थात् मृत्यु हो जाने तक की भी आशंका हो तो भी नहीं डरना, क्योंकि शरीर तो नाशवान् ही है और आत्मा अमर है, इसलिए वास्तव में डर का कोई कारण नहीं है; लोक-हित के कार्यों में और आत्मिक उन्नति के उद्योग में किसीसे भी न डरना, तथा ऐसा करने में शरीर पर आपत्ति आने की संभावना हो तो भी न घबराना; तथा दूसरों को भी इस प्रकार के कामों में सहायता देकर और इस तरह की शिक्षा देकर अभय करना—यह अभय का सच्चा स्वरूप है; और इस प्रकार निर्भय होना दैवी प्रकृति के पुरुषों का सबसे पहला लक्षण है। परन्तु राजसी-आसुरी आचरण करने में तथा दूसरों पर अत्याचार करने में निर्भय हो जाना, और दुष्ट-दुराचारियों को कुकर्म करने में निर्भय कर देना—यह अभय का दुरुपयोग है; दैवी प्रकृति के बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार अभय का विरुद्धाचरण नहीं करते। अभय का यह तात्पर्य नहीं है कि अनर्थ करने में किसी का डर न रख कर मनुष्य उद्दण्ड एवं ढीठ हो जाय, तथा दूसरों को भी अनर्थ करने में स्वच्छन्द कर दे। इसी तरह निर्भय होने का यह तात्पर्य भी नहीं है कि निडर होने के घमण्ड में सबकी अवहेलना और तिरस्कार करके लड़ाइयाँ खरीदी जायँ, अथवा समुचित कारण के बिना अपने को ख़तरे (जोखम) में डाला जाय।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति

स्वयं अपने में तथा दूसरों में, अर्थात् संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में एक ही आत्मा परमात्मा एक समान व्यापक है, जो अपने में है वही दूसरों में है, एक आत्मा अथवा परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, यह जगत्-प्रपंच उस एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूपों का बनाव है—यह निश्चय बुद्धि में निरन्तर रखना, और सबकी एकता के इस निश्चय-पूर्वक अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार साम्य-भाव से करना तथा अपने वास्तविक आप = आत्मा अथवा परमात्मा से भिन्न किसी भी पदार्थ अथवा विषय में ममत्व की आसक्ति न रखना और न उनसे सुख की प्राप्ति की ही आशा करना—यह सच्चा ज्ञान-योग है; दैवी प्रकृति के मनुष्य इस प्रकार के ज्ञान-योग में अवस्थित रहते हैं। परन्तु मुँह से तो आत्मज्ञान और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की बातें बनाना तथा शास्त्रार्थ करना, किन्तु व्यवहार उसके अनुसार कुछ भी न करना, अर्थात् मुँह से अपने को "आत्मा" अथवा "ब्रह्म" कहना, और साथ ही शरीर तथा शरीर की नाना प्रकार की उपाधियों का अभिमान रखना, तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों एवं पदार्थों में अत्यन्त आसक्त रहना; और दूसरों

को भिन्न समझ कर उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद-भाव के आचरण करके, तथा सांसारिक पदार्थों एवं विषयों में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनर्थ और कुकर्म करना—यह ज्ञान-योग का दुरुपयोग एवं पाखण्ड है।

स्वाध्याय

ज्ञान की वृद्धि एवं बुद्धि को सूक्ष्म करने के लिए, तथा लोक-सेवा के निमित्त अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए, एवं अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करने के लिए वेदादि सत्-शास्त्रों तथा अन्य प्राचीन एवं नवीन विद्याओं एवं भाषाओं का अध्ययन करना और लोक-हित के लिए उनका उपयोग एवं प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय है; दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष इस प्रकार स्वाध्याय में लगे रहते हैं। परन्तु केवल ग्रन्थों को रटकर कण्ठ कर लेना, अथवा अनेक ग्रन्थ पढ़ते ही जाना, और बुद्धि से कुछ भी काम न लेना, अर्थात् बुद्धि को ग्रन्थों के गिरवी रख कर केवल शास्त्रों के कीड़े बन जाना; अपनी बुद्धि से उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करके उनसे वास्तविक लाभ न उठाना; शास्त्रों की प्रक्रियाओं को याद करके वाद-विवाद ही में लगे रहना; पढ़ी हुई विद्याओं के वास्तविक अर्थ की तरफ़ विचार न करके उनके सूखे कलेवर का अध्ययन करते रहना, तथा बहुत शास्त्रों के ज्ञाता अर्थात् पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय का दुरुपयोग अथवा उसका विपर्यास है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात् सीधा रखना, अपनी तरफ़ से किसी के साथ छल, कपट, टेढ़ेपन, ऐंठन, रुखाई अथवा कूट-नीति के भाव चित्त में न रखना, तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—यह सच्ची सरलता है; दैवी प्रकृति के महापुरुष इस प्रकार सरल स्वभाव के होते हैं। परन्तु मूर्खों, दंभियों, ठगों, धूर्तों तथा दुष्टों के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनसे प्रभावित हो जाना एवं उनके फंदे में फंस जाना, और उनके कुकर्मों को न पहचान कर उन पर विश्वास करके अपने कर्तव्य बिगाड़ देना—यह सरलता का दुरुपयोग एवं भोंदूपन है।

अहिंसा

प्राणीमात्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इस निश्चय से मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी प्राणी को बिना कारण अपनी तरफ़ से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना; अपने भोग-विलास अथवा विनोद के लिए, अथवा प्रमादवश किसी के शरीर से प्राणों का विछोह न करना, न करवाना; तथा किसी की आजीविका में बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है; दैवी प्रकृति के सज्जन

इस प्रकार अहिंसा-व्रत के व्रती होते हैं। परन्तु किसी को किसी बड़े कष्ट से बचाने के लिए थोड़ा कष्ट भी न देना; किसी बड़ी हिंसा को रोकने के लिए थोड़ी हिंसा न करना; किसी श्रेष्ठ की रक्षा के लिए दुष्ट को दण्ड न देना; यदि कोई दुराचारी अपनी आर्थिक शक्ति से दूसरों पर अत्याचार करता हो तो उसकी आर्थिक शक्ति न छीनना; उच्च कोटि के प्राणियों की रक्षा के लिए हीन कोटि के जीवों को न मारना; कोई किसी दुःखदायक प्राणी को लोक-हित के लिए दण्ड देता हो तो मिथ्या दया के वश होकर उसको सहन न कर सकना और उसको रोकने का प्रयत्न करना—अथवा हिंसा के पाप के भय से अपने कर्तव्य-कर्मों की अवहेलना करना—यह अहिंसा का दुरुपयोग एवं वस्तुतः हिंसा है।

अहिंसा-धर्म के विषय में केवल आधिभौतिक दृष्टि से ही विचार करने के कारण, कई भावुक लोगों में बड़ा भ्रम फैला हुआ है, और अहिंसा एवं दया के दुरुपयोग से बहुत-से अनर्थ हो रहे हैं। समाज की सुव्यवस्था के लिए, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार अपने कर्तव्य-कर्म करने में यदि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राणियों की हिंसा का सम्बन्ध आ जाय तो कर्तव्य-कर्म त्याग दिये जाते हैं; विषैले जन्तु और क्रूर जानवर मनुष्य-समाज तथा उपयोगी पशुओं की हानि करते रहें तो भी उन्हें मारना हिंसा समझी जाती है; डाकुओं, दुष्टों, दुराचारियों, समाजद्रोहियों तथा खूनियों को प्राणदण्ड देकर उनको कुकर्म करने से रोकना तथा उनसे समाज की रक्षा करना, और चोरों, ठगों, पाखण्डियों एवं कुकर्मियों की आर्थिक शक्ति छीनने में सहायक होना तथा उनको उचित दण्ड दिलाना भी अहिंसा-धर्म से विमुख होना माना जाता है; इसी तरह दुष्ट-दुराचारियों से भले मनुष्यों की तथा असहाय गरीबों की रक्षा करने के लिए उनको मारना या दण्ड देना भी अहिंसा-धर्म के विरुद्ध समझा जाता है—यह अहिंसा-धर्म का विपर्यास है।

यह जगत् सबके आत्मा = परमात्मा की त्रिगुणात्मक माया का खेल है, और इस मायिक खेल की सुव्यवस्था के लिए जिस शरीर की जैसी योग्यता हो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। संसार में सभी प्राणी एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं, इसलिए हिंसा से सर्वथा रहित कोई भी नहीं हो सकता। अतः जिस हिंसा से जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था बनी रहे वह वास्तव में हिंसा नहीं होती; और जिस अहिंसा से जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था बिगड़ती हो वह वास्तव में अहिंसा नहीं होती। अस्तु, बिना कसूर तथा बिना उचित कारण के किसी निरापराध प्राणी का प्राण शरीर से अलग कर देना, या उसको कष्ट देना, या उसकी वृत्ति छीनना

अवश्य ही हिंसा है; परन्तु परिणाम के बड़े सुख या बड़े लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से एक बार थोड़ी देर के लिए किसी को कष्ट दिया जाय—जिस तरह फोड़ा मिटाने के लिए उसे काट देना, भयानक रोग से बचाने के लिए टीका देना, अजीर्ण के बीमार को भोजन न देना, इत्यादि; अथवा बड़ी हिंसा रोकने के लिए थोड़ी हिंसा करना, अथवा उच्च कोटि के जीवों की रक्षा के लिए हीन कोटि के जीवों को मारना—जिस तरह मनुष्यों के प्राण बचाने के लिए हिंसक एवं हानिकर जन्तुओं को मारना; भले आदमियों की प्राण-रक्षा के लिए किसी हत्यारे अथवा डाकू को मार देना—इस प्रकार की हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं होती, प्रत्युत वह अहिंसा ही होती है।

सत्य

सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना; किसी को हानि पहुँचाने अथवा किसी का अनिष्ट करने अथवा किसी को ठगने के उद्देश्य से, अथवा समुचित कारण के बिना झूठ कभी न बोलना; सबके साथ सचाई का व्यवहार करना; झूठे व्यवहार से किसी को धोखा, भुलावा एवं मानसिक कष्ट न देना—यह वास्तविक सत्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार सत्य का आचरण करते हैं। परन्तु जिन सत्य वचनों से दूसरों को बिना कारण ही उद्वेग उत्पन्न होता हो, अथवा वाणी की कठोरता से दूसरों के चित्त पर आघात पहुँचता हो, अथवा जिन सत्य वचनों से लोगों का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहङ्कार और हठ से बोलना; तथा जिस सचाई के व्यवहार से झूठों, ठगों, दुष्टों, धूर्तों तथा अत्याचारियों को उनके दुष्ट आचरणों और अत्याचारों में प्रोत्साहन मिलता हो—यह सत्य नहीं किन्तु सत्य का विपर्यास—असत्य है।

जो सत्य हित का विरोधी हो वह वस्तुतः सत्य हो ही नहीं सकता; क्योंकि हित की बात एवं हित का व्यवहार किसी समय सत्य या प्रिय न हो तो उससे किसी की हानि नहीं होती; परन्तु अहित की बात एवं अहित का व्यवहार यदि सत्य और प्रिय भी प्रतीत हो तो उससे हानि के सिवाय लाभ नहीं होता। अतएव प्रधान लक्ष्य हित पर ही रखना चाहिए। सबके लिए हितकर वाणी और हितकर आचरण वास्तव में सत्य ही होते हैं। केवल मुख से उच्चारण कर देने मात्र से कोई बात सत्य या झूठ नहीं होती, किन्तु सत्यता या असत्यता, बोलने एवं व्यवहार करने वाले के भाव और उससे होने वाले परिणाम पर निर्भर होती है।

अपैशून्य (दूसरों की निन्दा अथवा चुगली न करना)

किसी की मान-प्रतिष्ठा, धन अथवा साख (मातबरी) को हानि पहुँचाने

के उद्देश्य से, अथवा अन्य प्रकार के कष्ट देने के निमित्त उसकी पीठ पीछे निन्दा या चुगली करना, अथवा झूठी गवाही देना—यह पैशून्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसा नहीं करते। परन्तु किसी के सच्चे दोषों अथवा चालबाज़ियों अथवा छल, कपट, पाखण्ड आदि से दूसरों को हानि पहुँचती हो तो उस हानि से लोगों को बचाने के उद्देश्य से, जिनको हानि पहुँचती हो उन्हें सावधान करना, तथा उन दोषों और चालबाजियों अथवा पाखण्ड आदि को प्रकट कर देना—यह पैशून्य का सदुपयोग है; और दैवी प्रकृति के लोग, लोक-हित के लिए इसका यथावसर उपयोग करते हैं।

निर्लोभ

सांसारिक पदार्थों में आत्मा से भिन्न सुख समझ कर अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक येन-केन-प्रकारेण धनादि पदार्थों का संग्रह करने में ही लगे रहना, और संग्रह किये हुए पदार्थों को अपने तथा दूसरों के हित के लिए तथा आवश्यक कामों के निमित्त न लगाना—यह लोभ है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार का लोभ नहीं करते। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति की लालसा रखना; लोगों से प्रेम करने, सबका हित करने और अपने कर्तव्य-कर्म करने में सन्तोष न रखना; लोक-हित के कामों में लगाने के लिए धनादि पदार्थों का संग्रह करना, तथा अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभ का सदुपयोग है। इस प्रकार का लोभ दैवी प्रकृति के पुरुष भी करते हैं।

मृदुता

साधारणतया लोगों के साथ मधुरता, कोमलता और नम्रतायुक्त प्रेम का वर्ताव करना, जिससे उनके अन्तःकरण में प्रसन्नता हो; मीठी बोली बोलना; बिना कारण किसी के दिल को चोट लगे अथवा किसी को नागवार गुज़रे, ऐसी चेष्टा न करना—यह मृदुता का वर्ताव है; दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार मधुरता का वर्ताव किया करते हैं। परन्तु आसुरी प्रकृति के क्रूर एवं दुष्ट लोगों से उपरोक्त मधुरता का वर्ताव करने से उनकी क्रूरता तथा दुष्टता बढ़ती है, अतः ऐसे लोगों के साथ दैवी प्रकृति के पुरुष मृदुता का वर्ताव नहीं करते।

लज्जा

अपने कर्तव्य के विरुद्ध, अनुचित और बुरे काम करने में ग्लानि रखना सच्ची लज्जा है; दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार की लज्जा से शोभित होते हैं। परन्तु अपने

कर्तव्यों के पालन करने में, तथा लोक-हित के सात्विक व्यवहारों में मूर्ख लोगों की टीका से लज्जित होकर उनमें त्रुटि करना; अथवा अपने कर्तव्य-कर्मों को नीचे दर्जे का अथवा हीन कोटि का समझ कर उनसे ग्लानि करके उनकी उपेक्षा करना—यह लज्जा का दुरुपयोग एवं कर्तव्य-विमुखता है।

अचपलता

अपने कर्तव्य-कर्मों में मन न लगाकर दूसरी निरर्थक चेष्टाएँ करते रहना; किसी एक निश्चय पर स्थिर न रह कर क्षण-क्षण में बदलते रहना; और किसी एक स्थान पर अथवा किसी एक स्थिति में थोड़ी देर के लिए भी न टिकना—यह चपलता है; दैवी प्रकृति के लोग इस तरह चपल नहीं होते। परन्तु अपने कर्तव्य-कर्म करने में फुर्ती और तत्परता रखना, आलस्य व प्रमाद न करना, और आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार उनमें फ़ेरफ़ार करते रहना—यह चपलता का सदुपयोग है। इस प्रकार की चपलता बुद्धिमान् कार्यकर्ताओं के लिए आवश्यक है।

तेज

किसी से दब कर अन्तःकरण के विरुद्ध कोई अनुचित काम न करना तथा अपने कर्तव्य को न छोड़ना; जो अपने मातहत हों, उनसे उनके कर्तव्य-कर्म समुचित रूप से करवाने, तथा अपनी पत्नी, सन्तान, शिष्य, प्रजा आदि जो अपने संरक्षण में हों, उनको विपरीत आचरणों से रोकने के लिए उन पर उचित प्रभाव रखना—यह सच्चा तेज है; दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसे तेज से दीप्त रहते हैं। परन्तु अपने तेजस्वीपन के अभिमान में बिना कारण ही दूसरों पर रोब जमाना, तथा दूसरों को अनुचित रूप से दबाना—यह तेज का दुरुपयोग एवं अत्याचार है।

धैर्य

सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि अनुकूल-प्रतिकूल द्वन्द्वों, एवं शारीरिक कष्टों तथा आपत्तियों से व्याकुल होकर धीरज न छोड़ना, और अपने कर्तव्य-कर्मों में दृढ़ता और उत्साह के साथ आरूढ़ रहना—यह धैर्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार धैर्यवान् होते हैं। परन्तु कष्ट और विपत्तियों को टालने की सामर्थ्य होते हुए भी उत्साहहीन होकर चुपचाप बैठे रहना; तथा जिस काम में सफलता तथा लाभ होने की कोई संभावना न दीखे, उसे भी करते ही जाना, उसे बदलने की चेष्टा करने में अनावश्यक विलम्ब करना—यह धैर्य नहीं, किन्तु प्रमाद है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस तरह प्रमादी नहीं होते।

× × ×

जो लोग पूर्वजन्म की बुरी वासनाओं को लेकर यहाँ जन्मते हैं, उनके शरीर आसुरी प्रकृति के होते हैं। उनमें साधारणतया व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ़ा हुआ और अत्यन्त दृढ़ होता है, जिसके कारण वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों ही में आसक्त रहते हैं। वे लोग दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए, दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता एवं क्रोध आदि से दूसरों को ठगते, दबाते और कष्ट देते रहते हैं। यद्यपि साधारणतया यह दम्भ, दर्प आदि के दुष्ट भाव आसुरी प्रकृति के लोगों में ही होते हैं, परन्तु कभी-कभी लोक-हित के निमित्त, ऐसे आसुरी प्रकृति के लोगों को दबाने के लिए, इन्हीं भावों का उपयोग करना श्रेष्ठाचार होता है, और दैवी प्रकृति के लोगों को भी इनका उपयोग करना आवश्यक होता है। इसलिए इस विषय का भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

दम्भ

छल-कपट करके लोगों को धोखा देना; मन में कुछ हो और ऊपर से कुछ और ही बताकर किसीको ठगना; जो गुण अपने में न हों, उनके होने की डींगें हाँक कर, तथा भीतर से मलिन, पापाचारी अथवा वस्तुतः धनहीन होते हुए भी ऊपर से पवित्र, धर्मात्मा अथवा धनवान होने का ढोंग करके लोगों को भुलावा देना और अपना कलुषित स्वार्थ साधना—यह दम्भ है; और यह आसुरी प्रकृति के पुरुषों का प्रधान लक्षण है। ऐसे दम्भ अथवा पाखण्ड से दूसरों का तथा स्वयं दम्भ करने वाले का भी अनिष्ट होता है। परन्तु दुष्ट, दुराचारी, आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोगों के अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए, और विशेष करके अपनी तथा अपने संरक्षण में आये हुओं की रक्षा करने के लिए उन दुष्टों से छल-कपट का व्यवहार करना, तथा दम्भ से उनको भुलावा देना आवश्यक एवं न्याय-संगत होता है। भगवान् ने स्वयं १० वें अध्याय में "द्यूतं छलयतामस्मि" कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि छल करने वालों को छल से ही जीतने के लिए सबसे बड़ा छल जुआ भी "मैं" परमेश्वर ही हूँ। इस प्रकार छल का उपयोग दैवी प्रकृति के सज्जन भी किया करते हैं; परन्तु यह छल किसी निर्दोष व्यक्ति को हानि पहुँचाने की नीयत से अथवा द्वेष-भाव से नहीं किया जाता; किन्तु लोगों के तथा स्वयं छल करने वालों के हित को लक्ष्य में रखते हुए जगत् की सुव्यवस्था के लिए किया जाता है। कभी-कभी मूर्खों और बालकों को हानि से बचाने के लिए छल करना आवश्यक होता है—जैसे कि मूर्खों को कुमार्ग से बचाने तथा बुरी आदतें छुड़ाने के लिए उनको लालच देकर भुलावा देना, तथा बालक को औषधि देने के लिए मिठाई दिखाना, आदि—यह छल का सदुपयोग एवं श्रेष्ठाचार है।

दर्प

अपनी जाति, कुल, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, धन, परिवार, सत्ता, ऐश्वर्य, बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, धर्म, तप, रूप, यौवन आदि शरीर की उपाधियों का मिथ्या घमण्ड करके दूसरों का अपमान एवं तिरस्कार करना, तथा दूसरों को तुच्छ अथवा नीच समझ कर दबाना, और सबकी अवहेलना करना—यह दर्प अथवा घमण्ड है। आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोग इस प्रकार घमण्डी होते हैं। इस तरह दूसरों को तुच्छ समझने वाले घमण्डी लोग स्वयं तुच्छ होते हैं। परन्तु आसुरी-राक्षसी प्रकृति के घमण्डी लोगों के साथ व्यवहार करने में उनसे भी अधिक घमण्ड का दिखाव करके उनके घमण्ड को चूर करना; तुच्छ सांसारिक सुखों के लिए रजोगुणी-तमोगुणी पुरुषों के सामने दीनता न करने का आत्म-गौरव रखना; स्वावलम्बी होना तथा अपनी परिस्थिति में मस्त रहना; किसी से दबकर या डरकर अपने कर्तव्य-कर्म से न हटना—यह घमण्ड का सदुपयोग है। दैवी प्रकृति के श्रेष्ठाचारी पुरुष समाज की सुव्यवस्था के लिए यथावसर इसका उपयोग करते हैं। परन्तु उनका वह घमण्ड का बर्ताव केवल दिखाव मात्र होता है; साधारण लोगों से वे कभी घमण्ड का बर्ताव नहीं करते, और उनके अन्तःकरण वस्तुतः घमण्ड से दूषित नहीं होते।

पारुष्य (रूखापन, कठोरता)

लोगों के साथ बर्ताव करने में रुखाई, कठोरता अथवा अकड़न का भाव रखना तथा ऐंठे हुए रहना; मुँह से रूखे, कठोर एवं कर्कश वचन बोलना—यह पारुष्य है, और आसुरी प्रकृति के लोगों का एक लक्षण है। परन्तु उन्हीं आसुरी प्रकृति के लोगों की रुखाई और अकड़न मिटाने के लिए उनके साथ इसी प्रकार का बर्ताव करना आवश्यक एवं उचित होता है; अतः उनके साथ बर्ताव करने में दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष भी उक्त पारुष्य का दिखाव यथावसर किया करते हैं।

× × ×

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अर्थ—इस (मनुष्य) लोक में दो प्रकार के लोग होते हैं—एक दैवी प्रकृति के, दूसरे आसुरी प्रकृति के; हे पार्थ! (उनमें से) दैवी प्रकृति वालों का वर्णन विस्तार-पूर्वक पहले कर दिया, (अब) आसुरी प्रकृति वालों का (वर्णन) सुन। तात्पर्य यह कि देवों और असुरों का कोई अलग लोक अथवा देश नहीं होता, न उनकी कोई विशेष जाति ही होती है, और न वे साधारण मनुष्यों से विलक्षण आकृतियों अथवा विलक्षण रूपों वाले होते हैं, जैसा कि बहुत से भोले लोग मानते हैं, किन्तु इसी मनुष्य समाज में जो उपरोक्त (श्लोक १ से ३ तक कहे हुए) दैवी सम्पत्ति के गुणों से युक्त होते हैं वे देव हैं, और जो (चौथे श्लोक में कहे हुए) आसुरी सम्पत्ति के गुणों से युक्त होते हैं वे असुर हैं। दैवी प्रकृति के मनुष्यों के आचरणों का वर्णन दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के विवरण में, बारहवें अध्याय में भक्त के विवरण में, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के विवरण में, तथा इस अध्याय के आरम्भ में दैवी सम्पत्ति के विवरण में विस्तार-पूर्वक कर आये हैं। आसुरी प्रकृति के मनुष्यों के आचरणों का विस्तृत वर्णन अब आगे किया जाता है। राक्षसों का समावेश आसुरी प्रकृति के मनुष्यों में ही होता है, अर्थात् जो उग्र आसुरी प्रकृति के नास्तिक† लोग होते हैं वे ही राक्षस कहे जाते हैं (गी० अ० ९ श्लो० १०-११ का स्पष्टीकरण देखिए) (६)। आसुरी प्रकृति के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते, उनमें न पवित्रता होती है, न आचार, (और) न उनमें सत्य ही रहता है। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के नास्तिक† लोग इस बात कुछ भी विचार नहीं करते कि कौनसी चेष्टाएँ प्रवृत्तिरूप* और कौनसी निवृत्तिरूप* होती हैं? किस तरह के आचरणों से बन्धन होता है और किस तरह के आचरणों से मोक्ष? और कौनसे कर्म अच्छे होते हैं और कौनसे बुरे? दूसरे शब्दों में लोगों की भलाई-बुराई की वे कुछ भी परवाह नहीं करते, किन्तु अपनी मनमानी करते हैं। समाज की सुव्यवस्था उनके लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखती। अतः वे गुण-कर्म-विभागानुसार किसी भी वर्ण के शास्त्रविहित कर्मों को यथावत्

---

† यहाँ नास्तिक शब्द का तात्पर्य उन दैवी प्रकृति के भौतिक-वादी सज्जनों से नहीं है जो यद्यपि चार्वाक आदि भौतिक मतों को मानते हैं, और ईश्वर, मजहब एवं परलोक आदि में विश्वास नहीं रखते, परन्तु लोक-हित के व्यवहारों में लगे रहते हैं और अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह पालन करते हैं। जो लोग आस्तिक होने का झूठा दम भरते हैं परन्तु आचरण इन श्लोकों में वर्णित राक्षसों और असुरों जैसे करते हैं, वे वास्तव में परम नास्तिक हैं (आगे स्पष्टीकरण देखिए)।

* चौथे अध्याय के श्लोक १६ वें से १८ वें तक का स्पष्टीकरण देखिए।

नहीं करते, किन्तु जिन चेष्टाओं से उनको अपने प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों की प्राप्ति होने का निश्चय होता है, उन्हें ही करते हैं। उनका अन्तःकरण दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, द्वेष आदि विकारों से सदा ग्रसित रहने के कारण मलिन रहता है, एवं उनका शरीर तथा रहन-सहन अत्यन्त मैला-कुचैला रहता है, एवं सभ्यता और शिष्टता के आचरणों से वे सर्वथा शून्य होते हैं, क्योंकि देह-अभिमान, स्वार्थपरता, ऐंठन, कठोरता एवं उजड्डपन उनमें कूट-कूटकर भरे हुए रहते हैं, और झूठ बोलने तथा झूठे व्यवहार करने में वे कुशल होते हैं—सत्य के महत्त्व को वे कुछ समझते ही नहीं (७)। वे कहते हैं कि जगत् असत्य, आधार-रहित और बिना ईश्वर का है; काम-वासना के कारण नर और मादा के संयोग से उत्पन्न होता है इसके सिवाय दूसरा अदृष्ट हेतु इसका क्या हो सकता है ? तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग केवल प्रत्यक्ष-वादी होते हैं; अदृष्ट आत्मा अथवा परमात्मा को वे नहीं मानते। उनके मत में न कोई आत्मा है, न कोई ईश्वर, न कोई पुण्य है, न पाप; आत्मा, ईश्वर, परलोक एवं पुण्य-पाप का अदृष्ट फल आदि सब कल्पनाएँ झूठी हैं; जो कुछ है वह (भौतिक) स्थूल जगत् ही है; शरीरों के जन्म से पहले कुछ भी नहीं होता और मरने के बाद कुछ शेष नहीं रहता; काम-वासना से प्रेरित नर और मादा के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और मरने पर उसकी समाप्ति हो जाती है; इस तरह जगत् का प्रवाह आप ही चलता रहता है; इसके सिवाय इसका कोई अदृष्ट अथवा सूक्ष्म कारण नहीं है, और न कोई इसका अदृष्ट अथवा सूक्ष्म आधार ही है। इसलिए स्थूल शरीरों के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों के साधन जिस तरह भी बन सकें, उसी तरह करते रहना चाहिए; इसके सिवाय और कुछ भी कर्तव्य नहीं है। खाने-पीने, विषय भोगने एवं ऐशो-आराम करने के सिवाय किसी अदृष्ट अथवा सूक्ष्म विषय पर विचार करने की उनके नज़दीक कोई आवश्यकता नहीं रहती (८)। इस दृष्टि का अवलंबन किये हुए (वे) उग्र कर्म करने वाले तथा (सबका) अहित यानी बुरा करने वाले, विवेकहीन, मूर्ख लोग जगत् का क्षय करने के लिए ही होते हैं। तात्पर्य यह कि इस तरह स्थूल शरीर और इसके विषय-भोगों ही को सब-कुछ मानने, तथा स्थूल शरीर ही में आसक्ति रखने वाले प्रत्यक्ष-वादी नास्तिक लोगों को सत्यासत्य एवं अच्छे-बुरे का कुछ भी विवेक नहीं होता; अतः वे अपने शारीरिक सुखों और विषय-भोगों के लिए चोरी, डकैती, ठगी, लूट-खसोट, ज़बरदस्ती, झूठ, कपट, पाखण्ड आदि अत्यन्त उग्र कर्म करके लोगों पर जुल्म करते हैं। वे लोग समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न करने और जनता को पीड़ा देने के ही कारण होते हैं, इसके सिवाय उनसे किसी भी प्रकार की भलाई नहीं होती (९)।

आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोगों का वर्णन तीन श्लोकों में करके अब आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोगों का वर्णन करते हैं, जो प्रत्यक्ष के दृष्टिगोचर विषयों के अतिरिक्त परोक्ष के सुखों तथा अदृष्ट विषयों में भी अन्ध-विश्वास रखते हैं।

कभी समाप्त न होने वाली कामनाओं के आधीन होकर दंभ, अभिमान और मद में ग्रस्त हुए (आसुरी प्रकृति के लोग) मूढ़ता से झूठी भावनाओं का आसरा लेकर (अन्ध-विश्वास से) अपवित्र व्रतों में प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोग इहलौकिक दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष के तथा पारलौकिक अदृष्ट अथवा परोक्ष के सांसारिक सुखों, एवं धन, मान, कुटुम्ब-परिवार आदि की अनन्त प्रकार की कामनाओं में दिन-रात उलझे रहते हैं; और कामनाएँ लगातार एक के बाद दूसरी नित-नयी उत्पन्न होती रहती हैं, इसलिए उनकी कभी पूर्ति नहीं होती। उन कामनाओं की सिद्धि के लिए वे लोग मिथ्या विश्वासों के आधार पर नाना प्रकार के मलिन कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं; अर्थात् मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि के मैले मन्त्र साधने, देवी-देवताओं के नाम पर पशुओं की बलि देने, रात के समय श्मशान आदि अपवित्र स्थानों में जाकर भैरव, योगिनी एवं भूत-प्रेतादि को जगाने का ढोंग करके मैले मन्त्रों को जपने, उनके नाम पर अपवित्र एवं मादक खान-पान करने, तथा अश्लील अंगों की पूजा करके ग्लानि उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ करने में लगे रहते हैं; अथवा तामसी तप से शरीर को कृश करते हैं; और नख, केश आदि बढ़ाकर एवं नहाना-धोना आदि बंद करके मैले-कुचैले रहते हैं। इस प्रकार अत्यन्त मलिन एवं पापकर्म करते हुए भी वे बड़े पवित्र एवं धर्मात्मा होने का ढोंग करते हैं, और चौके-चूल्हे आदि की छूआछूत का बड़ा पाखण्ड करते हैं; अपनी पवित्रता, धार्मिकता एवं कुलीनता का बहुत अभिमान करते हैं, और उस मद में चूर हुए दूसरों का अपमान और तिरस्कार करते हैं (१०)। जन्मभर बनी रहने वाली अनन्त प्रकार की चिन्ताओं में ग्रसित हुए, "विषय-भोग ही सब-कुछ हैं" इस निश्चय से उन्हीं में दिन-रात लगे रहने वाले, आशाओं के सैंकड़ों बन्धनों में जकड़े हुए, काम-क्रोध-परायण (वे असुर लोग) विषय-भोगों की पूर्ति के निमित्त अन्याय से धन-संग्रह की चेष्टाएँ करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वे असुर लोग विषय-सुखों को ही सब-कुछ मानते हैं, इसलिए इस जन्म में विषय-भोगों की प्राप्ति और उनकी रक्षा के लिए, तथा परलोक में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के लिए जन्मभर इतनी चिन्ताओं में डूबे रहते हैं कि जिनका कभी अन्त नहीं होता। विषय-भोगों की आशाएँ एक के बाद दूसरी लगातार बनी ही रहती हैं, उन आशाओं की फाँसियों से वे कभी निकल ही नहीं सकते; और उन विषय-भोगों की पूर्ति के लिए, समुचित

परिश्रम किये बिना तथा किसी भी प्रकार की लोक-सेवा किये बिना, चोरी, ठगी, ज़ोर-ज़ुल्म एवं मठ-मर्दी से अथवा धूर्तता, झूठ, कपट, छल, छिद्र आदि चालाकियों अथवा हथफेरियों से तथा नाना प्रकार के अन्यायपूर्ण उपायों से निर्बलों को सताकर अथवा उन्हें दबाकर, अथवा भोले-भाले लोगों को अपने चंगुल में फँसाकर धोखे अथवा भुलावे से उनका धन ऐंठ-ऐंठकर उसके संग्रह करने में लगे रहते हैं (११-१२)। आज मैंने यह (मनोरथ) प्राप्त कर लिया, यह मनोरथ अर्थात् इच्छित पदार्थ (मुझे) प्राप्त हो जायगा, यह धन मेरे पास है और यह भी फिर मेरा हो जायगा, इस शत्रु को मैंने मार लिया और दूसरों को भी मारूँगा, मैं ईश्वर अर्थात् सर्व-सामर्थ्यवान् हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ, मैं बड़ा धनवान् (और) बड़ा कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आमोद-प्रमोद करूँगा—इस प्रकार अज्ञान से मोहित, मन की अनेक प्रकार की कल्पनाओं के भ्रम में पड़े हुए एवं मोहजाल में खूब ही फँसे हुए, विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त (वे आसुरी प्रकृति के मनुष्य) मलिन नरक में गिरते हैं। तात्पर्य यह कि वे आसुरी प्रकृति के लोग अपने मन में रात-दिन यही मनसूबे बाँधा करते हैं कि आज मैंने इतनी धन-सम्पत्ति प्राप्त कर ली, इतनी फिर आनेवाली है, मेरे पास इस समय इतनी सम्पत्ति जमा हो चुकी है और भविष्य में इतनी अवश्य प्राप्त हो जायगी; अमुक शत्रु को मैंने मार लिया अथवा उस पर विजय पा ली, जो बाकी बचे हैं उनको फिर पछाड़ दूँगा; मैं सबसे अधिक शक्तिसंपन्न हूँ, दुनिया के सब भोग मेरे ही लिए हैं, सब सिद्धियाँ मेरे दरवाज़े हाथ बाँधे खड़ी हैं, मेरे समान न कोई बलवान् है न कोई सुखी; मैं सबसे अधिक धनवान् हूँ, मेरा कुल सबसे ऊँचा और बहुत बड़ा है; संसार में मेरी बराबरी करने वाला कोई नहीं है; धन, मान एवं भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए मैं यज्ञ करके बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दूँगा, जिनसे मेरी बहुत अधिक प्रतिष्ठा और कीर्ति होगी, तथा उनके फल-स्वरूप मुझे धन, मान एवं भोग्य पदार्थ प्राप्त होंगे, फिर मैं खूब ऐशो-आराम, आमोद-प्रमोद करके इतनी मौज उड़ाऊँगा कि जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। इस प्रकार मूर्खता से भरे हुए खयाली किले बाँधते रहने वाले, शारीरिक विषयों में आसक्त आसुरी प्रकृति के लोग अन्त में महान दुःखदायक भयानक नरकों में गिरते हैं, अर्थात् उनकी बड़ी दुर्दशा होती है (१३-१६)। अपने बड़प्पन के मिथ्या घमण्ड में ऐंठे हुए, धन और मान में मतवाले (आसुरी प्रकृति के लोग) दंभ से, अर्थात् केवल लोक-दिखावे के निमित्त तथा लोगों में रोब जमाने के लिए, शास्त्र-विधि से रहित नाम मात्र के यज्ञ करते हैं। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के लोग अपने मन में अपने बड़प्पन, धर्मात्मापन, विद्वत्ता, कुलीनता, श्रेष्ठता, तपस्वीपन आदि के घमण्ड से ऐंठे रहते हैं और दूसरों का

तिरस्कार करते हैं; तथा उनके पास थोड़ा या बहुत जो कुछ धन आदि होता है, और उस धन आदि के कारण लोगों में जो प्रतिष्ठा होती है—उसके नशे में मतवाले होकर दूसरे लोगों को तुच्छ समझते हैं। संसार में धर्मात्मा कहलाने के लिए वे लोग यज्ञों के आडम्बर करते हैं; परन्तु वे यज्ञ नाममात्र के होते हैं, न तो उनमें उनकी श्रद्धा होती है और न शास्त्र की विधि ही (१७)। अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से भरे हुए, दूसरों में दोष देखने वाले (वे) ईर्षालु लोग, अपने तथा दूसरों के शरीरों में रहने वाले मुझ (परमात्मा) से द्वेष करते हैं। तात्पर्य यह कि दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार, बड़प्पन, कुलीनता, धार्मिकता, विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एवं शारीरिक बल आदि के घमण्ड में चूर, तथा नाना प्रकार की कामनाओं से उत्पन्न होने वाले क्रोध से भरे हुए, वे आसुरी प्रकृति के लोग सदा अपनी बड़ाई करने तथा दूसरों के दोष निकालने में तत्पर रहते हैं, तथा वे दूसरों से ईर्षा-द्वेष करते रहते हैं; और परमात्मा सबमें व्यापक है, इसलिए वह द्वेष सबके आत्मा = परमात्मा के साथ ही होता है (१८)। उन द्वेष करने वाले दुष्ट, पातकी, अधम पुरुषों को "मैं" संसार में सदा आसुरी योनियों में ही पटकता हूँ। तात्पर्य यह कि सबके साथ द्वेष करने वाले उन दुष्ट प्रकृति के नीच पापियों को "मैं" सबका आत्मा = परमात्मा उनके पापाचार के फलस्वरूप बिल्ली, कुत्ते, सिंह, व्याघ्र, सर्प, शूकर, गीध, बाज, चील आदि हिंसक पशु-पक्षियों की पापयोनियों में गिराता हूँ (१९)। हे कौन्तेय ! वे मूढ लोग जन्म-जन्म में उन आसुरी योनियों को प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर उत्तरोत्तर नीचे ही गिरते रहते हैं। तात्पर्य यह कि उन पापयोनियों को भुगतते हुए वे मूर्ख लोग उत्तरोत्तर अधोगति ही की तरफ़ लुढ़कते रहते हैं; उन्हें कभी अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्म-भाव के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती (२०)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अर्थ—काम, क्रोध और लोभ (ये) तीन प्रकार के नरक के दरवाज़े बुद्धि का नाश करने वाले हैं; इसलिए इन तीनों को त्यागना चाहिए। हे कौन्तेय! इन तीन अन्धकारमय दरवाज़ों से मुक्त होकर, (जो) मनुष्य अपने कल्याण-का आचरण करता है, तो उससे (वह) परम गति को जाता है। तात्पर्य यह कि काम, क्रोध और लोभ मनुष्य को अधोगति-रूप नरक में ले जाने वाले हैं, इसलिए इनकी आधीनता से छूटना चाहिए; जो इनके आधीन नहीं होते, वे ही कल्याण-कारक आचरण करके परम पद को पहुँच जाते हैं, अर्थात् परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं (२१-२२)। जो शास्त्र* की विधि को छोड़ कर मनमानी करता है उसको न सिद्धि अर्थात् किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त होती है, न सुख और न परम गति ही। इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था के विषय में, अर्थात् कौनसा कर्म करना चाहिए और कौनसा नहीं करना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए तुझे शास्त्रों* को प्रमाण मानना चाहिए; शास्त्रों* में जो विधान किया हुआ है, उसे समझ कर तुझे इस संसार में कर्म करना चाहिए। तात्पर्य यह कि जो लोग पहले के दो श्लोकों में कहे हुए काम, क्रोध और लोभ के वश होकर अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में वर्णित वर्ण-व्यवस्थानुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, किन्तु उसके विरुद्ध पृथकता के भाव से अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, लोगों को हानि पहुँचाने और दुःख देने वाली मनमानी चेष्टाएँ करते हैं, वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते; न उनको सच्ची सुख-शान्ति मिलती है और न उन्हें कल्याण की प्राप्ति ही होती है। इसलिए भगवान् अर्जुन को लक्ष्य करके सबको उपदेश देते हैं कि परमात्मा की एकता एवं सर्व-व्यापकता के सच्चे ज्ञान के आधार पर अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म की व्यवस्था बाँधने वाले जो अभेद-प्रतिपादक सार्वजनिक सत्-शास्त्र हैं—जैसे ज्ञानकाण्डात्मक वेद, उपनिषद् एवं गीता आदि—वे ही कर्तव्या-कर्तव्य के विषय में यथार्थ प्रमाण हैं; अतः उन सत्-शास्त्रों के यथार्थ तात्पर्य को, और

---

* यहाँ "शास्त्र" शब्द का अभिप्राय आत्मा अथवा परमात्मा की एकता एवं सर्वव्यापकता के अभेद-प्रतिपादक उपरोक्त सार्वजनिक शास्त्रों से ही है, क्योंकि गीता में सर्वत्र सबकी एकता के आधार पर सांसारिक व्यवहार करने ही का विधान है। पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में अभेद-प्रतिपादक उपदेश को ही शास्त्र कहा है, और तेरहवें अध्याय के चौथे श्लोक में भी इन्हीं का उल्लेख किया है, भेद-वाद के साम्प्रदायिक शास्त्रों को तो अनेक स्थलों पर त्याज्य कहा है; इसलिए यहाँ पर भेद-वाद के शास्त्रों के विधान को ग्राह्य मानना, पूर्वापर के सामंजस्य के विरुद्ध पड़ता है। सारांश यह कि अभेद-प्रतिपादक शास्त्रों का विधान ही यहाँ अभिप्रेत है।

उनमें किये हुए विधान को अच्छी तरह समझ कर प्रत्येक मनुष्य को उनके अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करते रहना चाहिए।

स्पष्टीकरण—आसुरी प्रकृति के लोगों के आचरणों का जो वर्णन श्लोक ७ से २० तक किया गया है, उसका स्पष्टीकरण उक्त श्लोकों के अर्थ और तात्पर्य में अच्छी तरह कर दिया गया है। पाँचवें अध्याय के श्लोक १८ के स्पष्टीकरण में साम्य-भाव के आचरणों के विवेचन में, और नवमें अध्याय के श्लोक ९-१० के स्पष्टीकरण में राक्षसी-आसुरी प्रकृति के लोगों के आचरणों के प्रकरण में भी इस विषय का काफ़ी खुलासा हो चुका है; इसलिए यहाँ उसे दुहरा कर तूल बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से कहनी है कि गीता व्यावहारिक वेदान्त का कर्तव्य-शास्त्र है। इसमें भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य के लिए एवं मनुष्य-समाज के लिए जीवन-यात्रा का वह सच्चा और निश्चित मार्ग बताया है, कि जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य एवं मनुष्य-समाज अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की उन्नति अथवा अवनति उसके आचरणों पर निर्भर है; इसलिए इस अध्याय में भगवान् ने दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का साथ-साथ वर्णन किया है, ताकि अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति चाहने वाले लोग इस विषय को अच्छी तरह समझ कर आसुरी सम्पत्ति के आचरणों को छोड़ें और दैवी सम्पत्ति के आचरणों में प्रवृत्त हों। भगवान् ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि दैवी सम्पत्ति के आचरणों से मनुष्य स्वतन्त्र होकर सब प्रकार की सुख-शान्ति को प्राप्त होता है, और आसुरी सम्पत्ति के आचरणों से मनुष्य पराधीन होता है और अपना पतन करता है। इसलिए यहाँ पर हमको यह देखना चाहिए कि इस समय हम लोग जो आचरण करते हैं, वे दैवी सम्पत्ति के हैं अथवा आसुरी सम्पत्ति के? क्योंकि मनुष्य जब तक अपनी कमजोरियों और अवगुणों की खोज न करके केवल दूसरों ही के दोषों को देखता है और उन पर टीका-टिप्पणी करता है, तब तक न तो उसकी कमजोरियाँ और अवगुण दूर होते हैं और न वह अपनी उन्नति ही कर सकता है। यदि हम इस वर्णन को केवल सरसरी तौर पर पढ़ कर ही रह जायँ, और इस पर गहरे विचार पूर्वक आत्म-अन्वेषण न करें, तथा इसका यह अभिप्राय निकालें कि देव और असुर हमसे भिन्न किसी विशेष जाति के प्राणी होते हैं, जिनके ऐसे स्वभाव एवं ऐसे आचरण होते हैं, तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होगा; क्योंकि देव अथवा असुर हमसे भिन्न किसी अन्य जाति के प्राणी नहीं हैं, न कोई उनका अलग लोक है और न उनका कोई अलग समाज ही, किन्तु हममें से ही कई लोग दैवी प्रकृति के होते हैं और

कई आसुरी प्रकृति के—इस बात को भगवान् ने इस वर्णन के आरम्भ ही में स्पष्ट रूप से कह दिया है। इसलिए इस वर्णन पर हमको गंभीरता से विचार करना चाहिए, और इसमें जो दैवी एवं आसुरी आचरण कहे हैं, और जो आचरण हम कर रहे हैं, उनका मिलान करके देखना चाहिए कि हमारे आचरण कैसे हैं? क्या वे असुरों के-से तो नहीं हैं?

यदि हम अपने पूर्वजों के बड़प्पन और उनकी उन्नत अवस्था के अभिमान को उन्हीं के लिए छोड़ कर अपनी वर्तमान दशा पर शुद्ध अन्तःकरण से गंभीरता-पूर्वक विचार करें तो अत्यन्त खेद के साथ हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान समय में हम लोगों के अधिकांश आचरण उपरोक्त वर्णन के अनुसार राक्षसों एवं असुरों के-से हो रहे हैं। राक्षस उनको कहते हैं जो कि दूसरों को रुला-रुलाकर खाते हैं। वर्तमान समय में हम लोगों में से जो गुरु, पुरोहित आचार्य, साधु, महन्त, पण्डे, पुजारी आदि धर्म का व्यवसाय करने वाले लोग हैं अर्थात् जो धर्म के ठेकेदार हैं; और जो राज्य-शासन के अधिकारी—सरकारी अफ़सर, राजे-महाराजे, जागीरदार, ओहदेदार आदि सत्ताधारी अर्थात् जो राज्य-शासन के ठेकेदार हैं; तथा जो बड़े-बड़े लक्ष्याधीश एवं कोट्याधीश श्रीमन्त लोग हैं यानी जो धन के ठेकेदार हैं; एवं जो अलग-अलग जातियों के पंच हैं यानी जो समाज के ठेकेदार हैं; उनके आचरणों की तरफ़ दृष्टि डालें तो उनमें अधिकतर ये ही लक्षण पाये जाते हैं। उन लोगों में से अधिकांश को इस बात का ज्ञान भी नहीं रहा है कि हमारा सच्चा कर्तव्य क्या है? हमारे अलग-अलग कार्य-विभाग की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था किस उद्देश्य से बनाई गई थी, और हम उस व्यवस्था का यथावत् पालन करते हैं कि नहीं? और उनमें यह विचारने की योग्यता भी नहीं रही कि जो आचरण हम इस समय कर रहे हैं वे उचित हैं या अनुचित? समाज की सुव्यवस्था एवं सुख-शान्ति पर उन आचरणों का क्या प्रभाव पड़ता है? तथा पारस्परिक सेवा करने का जो हमारा मुख्य कर्तव्य है, उसे हम पूरा करते हैं कि नहीं?

अधिकतर धर्म के ठेकेदार लोगों का प्रधान लक्ष्य, जिस तरह हो सके, साधारण जनता से धन ऐंठना और अपनी सेवा करवाना मात्र रह गया है, और उसके प्रत्युपकार में उसे अज्ञानान्धकार में अपने आधीन रख कर पुरुषार्थ-हीन एवं स्वतन्त्र विचार करने के अयोग्य बनाये रखना ही है। जनता कभी इनके चंगुल से बाहर न निकल जाय, इसलिए ये लोग अपने मनमाने भेद-वाद के शास्त्र भोले लोगों को सुनाया करते हैं, जिनमें इकतरफ़े अपने स्वार्थ की बातें होती हैं। श्रद्धालु लोगों का शास्त्र के नाम पर ही अन्ध-विश्वास होता है—चाहे वे शास्त्र कितने ही

ऊट-पटाँग क्यों न हों; अतः इन कपोल-कल्पित शास्त्र-रूप शस्त्रों से ये धर्म के ठेकेदार लोग खूब शिकार करते हैं। उपनिषद्, गीता एवं वेदान्त-सूत्र आदि सत्-शास्त्रों के सच्चे अर्थ को कोई न समझले कि जिससे इनकी पोल खुल जाय—इस बात की ये लोग खूब सावधानी रखते हैं। अपने मनमाने भेद-वाद के शास्त्रों के सहारे से ये लोग जनता का सर्वस्व तक छीन लेते हैं—विशेषकर स्त्रियों का जो सतीत्व-रूपी अमूल्य धन होता है, उसे ही हर लेते हैं। यजमान अथवा शिष्य के पास खाने के लिए अन्न भी न हो और पहिनने के लिए वस्त्र भी न हो, परन्तु ये लोग तो उनसे अपने मनमाने धर्म का दण्ड चुकाये बिना नहीं रहते। चाहे कोई चोरी करके धन लावे या किसी को ठग कर अथवा अपना सब-कुछ गिरवी रख कर कर्ज़ उठावे या भीख माँग कर लावे, और चाहे घर के बाल-बच्चे भूखे ही क्यों न मरें, परन्तु इन लोगों की भेंट-पूजा करनी तो लाज़मी होती है। जब किसी के घर में मृत्यु होती है तो उस रोने-चिल्लाने के बीच ही में ये लोग बड़े हर्ष-उत्साह से तरह-तरह के मिष्टान्न भोजन करते हैं। जिसकी मृत्यु हुई हो वह चाहे कितनी ही छोटी उमर का हो, अथवा उसके मरने से घर तबाह हो गया हो और बाल-बच्चे रुल गये हों, उनके पालन-पोषण का कुछ भी प्रबन्ध न हो, तथा उसकी विधवा स्त्री का जीवन नष्ट हो गया हो, परन्तु उस करुणा-जनक दशा पर भी इनको कोई तरस नहीं आता—ये तो अपनी मूछों पर ताव देते हुए माल उड़ाकर दक्षिणा ऐंठ ही लेते हैं। यदि कोई इनकी आज्ञानुसार इनकी माँगों की पूर्ति न करे तो ये लोग क्रोध से आगबबूला हो जाते हैं, और गालियाँ एवं श्राप देकर, तथा इस लोक एवं परलोक दोनों के बिगड़ जाने की धमकी देकर बेचारे को विवश कर देते हैं। इनके अन्तःकरण में न किसी बात की ग्लानि होती है, न इन्हें किसी की करुणा-जनक अवस्था पर दया ही आती है। यद्यपि ये लोग दूसरों का तिरस्कार करने के लिए छुआछूत का ढोंग खूब करते हैं, परन्तु इनके अपने शरीर और कपड़ों की शुद्धता जरा भी नहीं रहती; ये लोग अधिकतर इतने मैले-कुचैले रहते हैं कि जिनसे साफ़-शुद्ध रहने वाले आदमियों को घृणा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। नैतिकता अथवा शिष्टाचार से इन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। सत्य बोलने और सत्य व्यवहार करने को ये लोग कुछ भी महत्त्व नहीं देते। झूठ, कपट, छल, छिद्र, धोखेबाजी आदि से लोगों को फँसाना और अपना उल्लू सीधा करना ही इनका एकमात्र लक्ष्य रहता है। यद्यपि ये लोग दूसरों को तो ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखने का उपदेश देते हैं और बात-बात में ईश्वर और धर्म की दुहाई देकर उनका भय दिखाते हैं, तथा नास्तिकों की खूब ही निन्दा करते हैं; परन्तु आप पूरे नास्तिक होते हैं। ये लोग स्वयं ईश्वर और धर्म को नहीं मानते—यदि मानते तो इस तरह के राक्षसी आचरण कदापि नहीं करते। धर्मभीरु लोगों का ईश्वर और धर्म पर विश्वास बनाये रखने

में भी इनका यही प्रयोजन होता है कि ईश्वर और धर्म के नाम पर खूब स्वार्थ साधा जाय। इनका दावा है कि इनको धनादि पदार्थ देने से और इनकी सेवा-शुश्रूषा एवं पूजा करने से वे सब ईश्वर को पहुँचती हैं, जिससे ईश्वर प्रसन्न होकर उनके पाप क्षमा कर देता है, धन-धान्य-पुत्रादि सुखों की सारी सामग्रियाँ देता है, शत्रुओं पर विजय कराता है और मरने के बाद स्वर्ग और मोक्ष भी देता है; इस तरह भोली-भाली जनता को मिथ्या विश्वास दिलाकर ये लोग ठगते हैं। ये लोग ईश्वर के भी ठेकेदार बन जाते हैं—ठेकेदार ही नहीं किन्तु स्वयं ईश्वर के प्रतिनिधि होने का भी दावा करते हैं। ये लोग परलोक के ठेकेदार बनकर, पारलौकिक सुख और स्वर्ग आदि की प्राप्ति करवाने का भी ठेका लेते हैं, और श्रद्धालु लोगों को यह भुलावा देकर कि यहाँ जो कुछ इनको दिया जाता है, उससे कई गुना अधिक परलोक में मिलता है, उनसे बहुत-सा धन-माल एवं अपने उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु दान के रूप में लेते हैं; परन्तु ये लोग खुद परलोक को नहीं मानते—यदि मानते तो परलोक में देने के लिए इतना क़र्ज़ा अपने सिर पर नहीं उठाते। भगवान् ने आसुरी सम्पत्ति का जो सबसे पहला लक्षण दंभ अथवा पाखण्ड कहा है, सो इससे बड़ा पाखण्ड और क्या हो सकता है? इनका सबसे बड़ा अनर्थ तो यह है कि ये लोग श्रद्धालु शिष्यों और सेवकों के विवेक-रूपी भीतरी नेत्र फोड़ देते हैं जिससे वे सत्यासत्य का विचार करने योग्य भी नहीं रहते, और अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप के अज्ञान-अन्धकार में रह कर सदा परावलम्बी एवं नाना प्रकार के बन्धनों से जकड़े रहते हैं, जिससे उनकी आत्मा ही की हत्या होती है। धर्मभीरु लोगों को गर्भाधान से लेकर मरने के बाद भी बहुत काल तक अपने बन्धनों से बाँधे रखने के लिए इन्होंने इतने जाल फैला रखे हैं कि वे इनसे किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं पा सकते, और संसार का कोई कार्य भी इनके बिना अथवा इनकी आज्ञा के बिना सम्पादित नहीं कर सकते।

जो राज्य-शासन के ठेकेदार हैं, उनमें भी अधिकांश लोगों के आचरण राक्षसी एवं आसुरीपन के हैं। किसान लोग कड़ी गरमी और दारुण शीत में सालभर तक घोर परिश्रम करके जिस फ़सल को तैयार करते हैं, उसमें से अधिकांश ये लोग अनेक प्रकार के करों (टेक्सों) के रूप में उनसे छीन लेते हैं, और उन बेचारों के पास बहुत ही थोड़ा बचता है; अतः उन्हें बाल-बच्चों सहित आधे पेट भूखे रह कर ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है। प्रजा चाहे कितनी ही भूखों मरे, वस्त्रहीन, गृहहीन होकर ऋतुओं की दारुणता से तड़फ़ती रहे; उससे इन लोगों के मन में करुणा अर्थात् दया उत्पन्न नहीं होती—ये लोग तो प्रजा से कर वसूल करके अपने शराब, कवाब, रण्डियों से नाच-गान एवं ऐशो-आराम तथा शिकार आदि में मस्त रहते हैं। ग्रामीण जनता

पर छोटे-बड़े ओहदेदारों एवं राज्य-कर्मचारियों के अत्याचार अत्यन्त ही भयंकर होते हैं; किसी राज्य-कर्मचारी का आगमन (दौरा) ग्रामवासियों को यमराज के आगमन-सा अनुभव होता है—न प्रजा के धन की कुशल होती है, न मान की, न शरीर की और न स्त्रियों के सतीत्व की ही। इनके अपने अत्याचारों के अतिरिक्त दूसरे धनी लोग भी अपने धन के ज़ोर से इनसे चाहे जैसे अत्याचार करवा सकते हैं। न्याय-विभाग केवल धनवानों के लिए है। न्याय प्राप्त करने के लिए कोर्ट-फीस के अतिरिक्त वकीलों और कौंसिलियों की फीस इतनी भारी होती है कि साधारण लोगों की तो न्यायालयों तक पहुँच होनी ही अत्यन्त कठिन होती है, क्योंकि वकील-कौंसिलियों के बिना किसी की भी सुनवाई नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त न्याय प्राप्त करने के लिए दूसरे इतने खर्च—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में लगते हैं कि जिनका कोई हिसाब नहीं। तात्पर्य यह कि ग़रीबों के लिए न्याय की प्राप्ति असंभव-सी है।

धन के ठेकेदार लोग भी प्रायः राक्षसी-आसुरी आचरण करने में दूसरों से पीछे नहीं रहते। ये लोग अपने हथकण्डों से साधारण लोगों के अत्यन्त परिश्रम से उत्पन्न किये हुए पदार्थों की हेरा-फेरी अर्थात् लेवा-बेची से धन-संग्रह करते हैं, और फिर उसी धन को भोले-भाले ग़रीब लोगों को अधिकाधिक सूद पर देकर उन्हें सदा के लिए अपनी गुलाम बना लेते हैं। सूद के रूप में कर्ज़े से कई गुना अधिक वसूल कर लेने पर भी कर्ज़ा ज्यों का त्यों बनाये ही नहीं रखते, किन्तु बढ़ाये जाते हैं, और जो ग़रीब आदमी एक बार इनके चंगुल में फँस जाता है, वह फिर कभी उससे निकल नहीं सकता। ग़रीबों का जो कुछ धन और माल उक्त धर्म और शासन के ठेकेदारों की लूट-खसोट से बच जाता है, वह सब ये साहूकार लोग हड़प जाते हैं, और वे बेचारे सब ऐसे ही रोते-बिलखते इन साहूकारों की गुलामी में जीवन व्यतीत करते हैं। ये धनाढ्य लोग अपने धन के जोर से अपने लाभ के लिए कभी लोगों की जीवन-यात्रा के आवश्यकीय पदार्थों का संग्रह करके उन्हें महंगा कर देते हैं, और कभी अपनी सुविधानुसार उन्हें सस्ता कर देते हैं, जिससे साधारण जनता को बड़ी हानि और कष्ट उठाने पड़ते हैं। अपने धन के ज़ोर से ये लोग धर्म के ठेकेदारों और राज्य के ठेकेदारों तथा समाज के ठेकेदारों द्वारा बड़े-बड़े अनर्थ और ज़ुल्म करवाते हैं।

समाज के ठेकेदार पंच लोगों के राक्षसी-आसुरी आचरणों की तुलना पूर्वकथित तीन प्रकार के ठेकेदारों से की जाय तो ये भी अपने क्षेत्र में दूसरों से कम नहीं उतरते। ये लोग अपने-अपने समाज के जाति-भाइयों पर इतना आतंक जमाये रखते हैं कि वे बेचारे सदा इनसे कांपते रहते हैं; ये लोग जब चाहें तब उनको सामाजिक दण्ड दे देते हैं, और सामाजिक बहिष्कार का अस्त्र साधारण लोगों की गर्दन के

सामने सदा तैयार रखते हैं। शादी और ग़मी अर्थात् विवाह और मृत्यु से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी कामों में पंच लोगों की आज्ञा एवं उनका सहयोग अत्यावश्यक होता है। यदि पंचों की अनुमति बिना कोई कुछ कर ले तो वह दण्डनीय होता है। अतः इन अवसरों पर पंचों की खूब बन आती है। जब किसीके घर में मृत्यु हो जाती है, तब तो इनके पौबारह हो जाते हैं। मृत्यु छोटी उमर के नौजवान की हो, या बड़ी उमर वाले की, उसके पीछे बिरादरी अथवा समाज को खिलाना लाज़मी होता है, और समाज को खिलाने के लिए पँचों की दुहायती (आज्ञा) पहले लेनी पड़ती है; उस समय ये लोग उन्हें खूब तंग करते हैं। जिसके घर में मृत्यु होती है उससे गरज़-खुशामद करवाने के अतिरिक्त, काफ़ी रिश्वतें लिये बिना ये लोग प्रायः दुहायती (आज्ञा) नहीं देते। फिर उस रोने-चिल्लाने के हाहाकार के बीचमें बैठ कर ये लोग माल उड़ाते और प्रसन्न होते हैं। मरने वाले का तो घर तबाह हो जाता है, और विधवा के लिए तथा बालकों के लिए रोटी का भी कोई प्रबन्ध नहीं रहता, परन्तु ये पंच लोग, जिस तरह मुरदा लाशों पर गिद्ध मंडराते हैं, उसी तरह उन बेचारे दुखियाओं पर मंडराते हैं। अनेक अवसरों पर कर्ज़ उठाकर बिरादरी को खिलाया जाता है, जिससे बेचारी विधवाओं एवं बच्चों का जीवन ही कर्ज़ देनेवालों के गिरवी होकर नष्ट हो जाता है; परन्तु बिरादरी के पंच लोगों को इस तरह की करुणाजनक स्थिति पर न कोई तरस आता है, न ग्लानि ही; इनकी निष्ठुरता एवं कठोरता में कोई अन्तर नहीं आता। एक मरने वाले के पीछे अनेकों को मुरदा बनाकर ये लोग प्रसन्न होते हैं। रोते, चिल्लाते और सिसकते हुए कुटुम्बियों के घर पर इस प्रकार माल उड़ाना कितना नृशंस राक्षसी आचरण है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यदि कोई ऐसे अवसरों पर बिरादरी की जीमनवार न करे तो वह समाज में रह नहीं सकता, उसका फ़ौरन बहिष्कार कर दिया जाता है; इसलिए लाचार होकर लोगों को बेमौत मरना पड़ता है। परन्तु ये पंच लोग इस प्रकार के अत्याचार करके भी किसी की किसी प्रकार की सेवा अथवा सहायता नहीं करते, न ये लोग किसी प्रकार से किसी के काम में ही आते हैं। यदि कोई ग़रीब जाति-भाई विपद्ग्रस्त हो या किसी भयंकर रोग से पीड़ित हो तो ये लोग उसकी तरफ़ देखते भी नहीं; परन्तु जब वह मर जाता है तब फ़ौरन उसके घर जाकर दीन-दुखी कुटुम्बियों से बिरादरी की जीमनवार करवाने का आयोजन आरम्भ कर देते हैं।

उपरोक्त चारों प्रकार की ठेकेदारियाँ एक-दूसरे के अत्याचारों में सहायक होती हैं, और एक-दूसरे की मान्यता बढ़ाती हैं। धर्म के ठेकेदार शासकों, धनियों तथा

पंचों के अत्याचारों पर धर्म की छाप लगा देते हैं, अर्थात् उनके कृत्यों को शास्त्रानुकूल बताकर, उनको न मानने से धर्म के नाश होने, ईश्वर के क्रुद्ध होने, तथा नरक में पड़ने के भय का हौआ खड़ा कर देते हैं। राज्य के कानूनों में धर्म की व्यवस्थाओं, धन के अधिकारों और समाज के रीति-रिवाजों को प्रधानता दी जाती है, और शासक-वर्ग इन लोगों की बड़ी ख़ातिर करता है। धनिक लोग धर्म-व्यवसायियों, शासकों और पंचों को धन की सहायता देकर उनके अत्याचारों में सहायक होते हैं तथा उनको अपने अनुकूल रखते हैं। और समाज के पंच लोग धर्म के ठेकेदारों, शासकों और धनिकों के अनुकूल रह कर अपनी सत्ता, प्रतिष्ठा एवं गौरव बनाये रखते हैं, और अपनी-अपनी जाति के लोगों पर उक्त तीनों प्रकार की ठेकेदारियों का आतंक जमाये रखने में सहायक होते हैं।

साधारण जनता प्रायः अपने नेताओं का ही अनुसरण करती हुई उनके बनाये हुए मार्ग पर चलती है। इसलिए समाज के नेता, जो उपरोक्त चार प्रकार के ठेकेदार लोग होते हैं, उन्हीं के आचरणों के अनुरूप साधारण जनता के आचरण होना स्वाभाविक है। साधारण जनता में अपने नेताओं जितनी सामर्थ्य न होने के कारण वह यदि अत्यन्त उग्र राक्षसी प्रकृति के आचरण न कर सके, तो भी आसुरी प्रकृति के आचरण करने में तो भरसक कसर नहीं रखती। हम लोगों के अत्याचारों का सबसे बड़ा शिकार तो हमारा ही आधा अंग अर्थात् स्त्री जाति है, जिसको हम लोग जन्म से लेकर मरणपर्यन्त पूर्ण रूप से पददलित रख कर मनुष्यता के अधिकारों से ही वंचित रखते हैं। यद्यपि स्त्री और पुरुष, दोनों के मेल से सृष्टि होती है, और दोनों ही गार्हस्थ्य एवं समाज के आधे-आधे अङ्ग हैं, एवं दोनों की एक समान आवश्यकता है; परन्तु हमारे समाज में पुत्र-जन्म पर तो बड़े-बड़े हर्षोत्सव किये जाते हैं, और पुत्री के जन्म पर शोक मनाया जाता है; मानो स्त्री के बिना ही पुरुष कहीं आकाश से टपक पड़ते हैं, अथवा वृक्षों में लग जाते हैं। हममें से कई लोग तो धन की एवज़ में कन्याओं को बेचते हैं, और दूसरे लोग धन के साथ उनको लेते हैं, अर्थात् धन लिये बिना उनसे विवाह नहीं करते; दोनों ही सौदों में उन बेचारियों की बड़ी दुर्दशा होती है। धन के कारण ही उनकी क़दर होती है—धन बिना उनका कोई मूल्य नहीं होता।

पुरुषों के अधिकार और उनकी स्वेच्छाचारिता बेहद है; परन्तु स्त्री को सदा ही पददलित एवं मनुष्यता के सारे अधिकारों से वंचित रखना ही सनातन मर्यादा मानी जाती है। पुरुष एक स्त्री के मरने पर और उसके जीवित रहते भी अनेक स्त्रियाँ ब्याह सकता है—इससे उसके धर्म और मर्यादा में कोई कमी नहीं आती; परन्तु स्त्री के शरीर में अठगुना काम होने पर भी वह एक पति के मरने पर दूसरा विवाह

नहीं कर सकती। यदि काम के वश होकर किसी पुरुष से सहवास कर ले, अथवा दुराचारी पुरुषों द्वारा फुसलाई जाकर या ज़बरदस्ती भ्रष्ट कर दी जाय, तो वह जन्मभर के लिए पतित हो जाती है, और कुल्टा एवं व्यभिचारिणी आदि नाना प्रकार के लांछनों से लांछित एवं कलंकित की जाती है; परन्तु उसे भ्रष्ट करने वाले दुराचारी पुरुषों की प्रतिष्ठा और धार्मिकता में रत्तीभर भी फ़र्क नहीं आता। इस समाज में पुरुष सब प्रकार से सम्पन्न होता हुआ भी स्त्री के बिना अकेला जीवन-यात्रा करने में असमर्थ समझा जाता है—उसकी सेवा करने वाली और मरने के बाद रोने वाली, एक अथवा एक से अधिक स्त्रियों का होना हर हालत में ज़रूरी है; उसके लिए पुत्र उत्पन्न करना भी लाज़मी है, ताकि वह बुढ़ापे में काम आवे, और मरने के बाद भी परलोक में पिण्डोदक के रूप में खाना-पीना पहुँचाती रहे; और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने के लिए भी पत्नी को साथ रखना अनिवार्य रखा गया है। परन्तु स्त्री अबला एवं अशिक्षिता होने के कारण उसके लिए सब अवस्थाओं में पुरुषों के संरक्षण में रहना आवश्यक होते हुए भी, पति-विहीना एवं निःसंतान विधवा पुनर्विवाह करके सनाथ एवं सुरक्षित नहीं बन सकती; मानो विधवा होने पर वह पत्थर की पुतली हो जाती है, इसलिए न तो उसे प्राकृतिक वेगों को शान्त करने की आवश्यकता रहती है, न उसे अपने रक्षण एवं पालन करने वाले पुरुष (पति) की, और न उसे बुढ़ापे में शुश्रूषा करने वाली संतान की ही आवश्यकता रहती है; और मरने के बाद (शायद पत्थर हो जाने से) उसे पिण्डोदक की भी आवश्यकता न रहती होगी? धार्मिक कृत्यों का तो स्त्री को कोई अधिकार ही नहीं रखा।

पुरुष चाहे कितने ही विवाह किये हुए हो, अथवा अविवाहित (कुआँरा) हो या विधुर (रंडवा) हो, कितना ही आचरणहीन अथवा दुराचारी हो—वह कभी अमांगलिक नहीं होता; परन्तु स्त्री का एक बार विवाह-संस्कार होने के बाद यदि तुरन्त ही पति मर जाय, तो भी वह दुर्भागिनी सदा के लिए अशुभ एवं तिरस्कृता हो जाती है—चाहे वह कितनी ही सदाचारिणी, सती, साध्वी तथा तपस्विनी क्यों न हो, परन्तु वह किसी भी मांगलिक माने जाने वाले कार्य में सम्मिलित नहीं हो सकती। यदि ऐसे अवसरों पर अकस्मात् उसका मुँह दीख जाय तो यह महान् अनिष्टकारक (अपशुकन) माना जाता है। हाँ, रोने और पुरुषों की बीमारी आदि के कष्टों में उनकी सेवा करने के लिए वह अवश्य ही काम आती है। एक विधुर भाई किसी अड़ोस-पड़ोस की सुहागिन स्त्री से रक्षा-बन्धन और तिलक करवाना अपने लिए मंगलदायक समझता है, परन्तु अपना सदा शुभ चाहने वाली, सहोदरा विधवा बहिन से वह तिलक एवं रक्षा-बन्धन नहीं करवाता। यदि कोई विधवा पुनर्विवाह

करके पुनः सौभाग्यवती हो जाय, तब तो उसका घर और समाज दोनों से काला मुँह हो जाता है—वह मंगल और अमंगल, सबसे गयी-गुज़री समझी जाती है। कितना अन्याय है कि यह सर्व-श्रेष्ठ मानव-देह, पशु-पक्षियों आदि से भी हीन और अशुभ मानी जाती है। हिंसक पशु-पक्षी भी अपनी संतानों के साथ बड़ा प्रेम रखते हैं; परन्तु हम लोग अपनी ही संतानों अर्थात् कन्याओं पर इतनी नृशंसता करते हुए भी बड़े धर्मात्मा, बड़े कुलीन, बड़े शिष्ट एवं सभ्य होने का घमण्ड करते हैं।

नीच जाति के माने जाने वाले ग़रीब भाइयों के साथ हम इतना घृणित वर्ताव करते हैं और उन पर इतने अत्याचार करते हैं कि मानो वे मनुष्य ही नहीं हैं। उनके दर्शन करने से भी हम अपवित्र हो जाते हैं, और यदि उनका स्पर्श हो जाय तब तो हमारे क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहता। हमारी निर्दयता के कारण उनको सुखपूर्वक एक वक्त खाना और शान्ति से रहना भी नसीब नहीं होता। हम लोग, मूर्तियों अथवा चित्रों को ईश्वर अथवा देवता-स्वरूप समझ कर, उनके लिए बढ़िया से बढ़िया खाने, पीने, पहिनने, रहने आदि अनेक प्रकार के भौतिक सुखों की सामग्रियाँ तैयार करने में पदार्थों का बे-हिसाब अपव्यय करना; नदियों, समुद्रों तथा तालावों आदि में दूध, दही आदि मनुष्योपयोगी पदार्थ बहा देना; और अग्नि में घृत, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थ जला देना; तथा देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त बेचारे अबोध एवं मूक पशुओं की बलि देकर (बध करके) खा जाना, बड़े ही धार्मिक कृत्य मानते हैं; परन्तु अपने शारीरिक परिश्रम से अत्यन्त कठिन एवं घृणोत्पादक लोक-सेवा करने वाले दीन-हीन एवं पददलित नर-नारी भूखे-प्यासे मरें, अथवा वस्त्रहीन एवं गृहहीन होने के कारण ऋतुओं की कठोरताजन्य शारीरिक क्लेशों से पीड़ित रहें, तो कोई अधर्म नहीं मानते, और उनके लिए कुछ भी व्यवस्था करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। अपने मरे हुए संबंधियों के पीछे श्राद्ध आदि के बड़े-बड़े भोज करना, तथा बहुत समय पहले के मरे हुए पितरों के निमित्त जल के नाले बहा देना, और पशु-पक्षियों के पीने के लिए जलादि के विशेष स्थान बनवा कर उनके लिए पानी पीने का प्रबन्ध कर देना तो अपने लिए बड़ा ही पुण्य-कार्य मानते हैं; परन्तु मुरदे जानवरों तथा कूड़े-करकट साफ़ करने की अत्यावश्यकीय लोक-सेवा करने के कारण अन्त्यज अथवा चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) को स्वास्थ्यकर एवं सादा भोजन करने तथा स्वच्छ पानी पीने के अधिकारी भी नहीं मानते। सर्पों जैसे विषैले जन्तुओं, गधों और कुत्तों जैसे मलिन पशुओं, चीलों और कौओं जैसे हिंसक पक्षियों, तथा कीड़ों, चींटियों और मछलियों जैसे क्षुद्र जीवों की पूजा करके उनको अच्छे-अच्छे मनुष्योचित पदार्थ खिलाना सना-

तन धर्म समझा जाता है; परन्तु अछूत माने जाने वाले स्त्री-पुरुषों को उनकी अतुलनीय सेवाओं के बदले थोड़ा-बहुत बचा-खुचा बासी-खूसी, सड़ा-गला, निकम्मा एवं उच्छिष्ट अन्न तिरस्कार-सहित फेंक दिया जाता है, जिससे उनका पेट नहीं भरने के कारण विवश होकर उन्हें अखाद्य वस्तुएँ खानी पड़ती हैं—जिसके लिए उलटे वे ही दोषी ठहराये जाते हैं। देवस्थानों और भोजनालयों आदि पवित्र माने जाने वाले स्थानों में बिल्ली, चूहे, मक्खी, कीड़े, चींटी आदि जन्तु प्रवेश करके मैला फैलाते रहें, उससे धर्म में कोई त्रुटि नहीं आती और न चौका ही बिगड़ता है, परन्तु एक अछूत माने जाने वाले नर-नारायण की देह की कहीं छाया भी पड़ जाय तो चौका और धर्म दोनों ही बिगड़ जाते हैं।

अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिए तथा अपनी मान-प्रतिष्ठा और बड़प्पन का थोथा ढोल पीटने के लिए हम लोग कई प्रकार के राजसी-तामसी ठाठ के धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों के समारोह किया करते हैं, जिनमें अनाप-शनाप धन का अपव्यय करते हैं, जिसकी पूर्ति के लिए १२ वें श्लोक में कहे हुए अन्यायपूर्ण साधनों से धन-संचय करते हैं। सारांश यह कि १० वें श्लोक से १८ वें श्लोक तक जो आसुरी प्रकृति के लक्षण कहे हैं वे अधिकांश में हम लोगों पर ही घटते हैं।

उपरोक्त वर्णन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हम लोग सबके-सब ही उपरोक्त आसुरी-राक्षसी प्रकृति के हैं। हममें से बहुत से लोग दैवी प्रकृति के भी हैं, जिनके कारण ही समाज का महत्त्व कुछ-कुछ अब तक भी बना हुआ है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव में किसी भी एक गुण का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। परन्तु सत्वगुण-प्रधान प्रकृति के सज्जन पुरुष वर्तमान में बहुत थोड़े अर्थात् अपवाद-रूप में हैं। जो ऐसे सम्माननीय अपवाद हैं उनसे समाज का गौरव है। परन्तु यहाँ उनकी प्रशंसा करने का कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ अपने अवगुणों पर ध्यान देकर उनको दूर करने के प्रयत्न में लगाने का प्रसंग है, इसलिए उन अवगुणों का प्रदर्शन ही आवश्यक है। अवगुणों को छिपाये और दबाये रखने से वे दूर नहीं हो जाते। अपने भूतकाल की श्रेष्ठता और बड़प्पन के ढोल पीटने, और वर्तमान की शोचनीय अवस्था को छिपाये रखने से काफ़ी से अधिक हानि हो चुकी है। अब उस मिथ्या अहंकार और दम्भ के लिए समय नहीं रहा है। इसलिए अपनी निर्बलताओं को निकाल कर आत्म-शुद्धि करनी चाहिए, और भगवान् के उपदेशों के अनुसार अहंकार, घमण्ड, ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से ऊपर उठ कर, तथा भिन्नता के भावों को छोड़ कर सबके साथ एकता के प्रेम का वर्ताव करने में लगना चाहिए।

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

सत्रहवाँ अध्याय
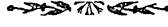
सोलहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने काम, क्रोध और लोभ को सब पापों का मूल बताकर फिर यह कहा कि जो लोग इनके वश होकर सत्-शास्त्रों के विधानानुसार अपने कर्तव्य-कर्म न करके मनमाने आचरण करते हैं, उनका यह लोक तथा परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं; इसलिए काम, क्रोध और लोभ को जीत कर सत्-शास्त्रों में वर्णित सबकी एकता के प्रेम सहित अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म सबको करना चाहिए। इस पर यह शङ्का होती है कि जो लोग काम, क्रोध और लोभ के वश होकर पापाचरण करें, उनकी दुर्दशा होना तो ठीक है; परन्तु जो लोग श्रद्धापूर्वक धार्मिक कृत्य करने में सत्-शास्त्रों की विधि के पाबन्द न रहें, उनकी क्या दशा होती है? क्योंकि श्रद्धा का महत्त्व तो गीता में अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है; अतः श्रद्धापूर्वक धार्मिक कृत्य करने वालों की दुर्दशा नहीं होनी चाहिए। अर्जुन के उक्त आशय के प्रश्न के उत्तर में भगवान् इस अध्याय में श्रद्धा के सात्विक, राजस और तामस भेदों का खुलासा करके बताते हैं, कि मनुष्य की श्रद्धा अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होती है, और जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसी के अनुसार उसके जीवन की स्थिति होती है। इसी प्रसंग में फिर आगे भोजन के सात्विक, राजस और तामस भेदों का वर्णन करते हैं, क्योंकि मनुष्य के भोजन का प्रभाव उसके स्वभाव पर पड़ता है। फिर आगे यज्ञ, तप और दान के भी सात्विक, राजस और तामस भेदों की व्याख्या करते हैं, क्योंकि चौदहवें अध्याय में कह आये हैं कि सत्वगुण ज्ञान और सुख का कारण है, रजोगुण दुःख का और तमोगुण अज्ञान एवं अवनति का कारण है; और मनुष्य-शरीर में यह योग्यता होती है कि वह विचार द्वारा मन को वश में करके सात्विक आहार और सात्विक यज्ञ, दान, तप आदि से अपने स्वभाव को सात्विक बना सके, जिससे सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थिति होकर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति हो सके।

यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सात्विक आहार, यज्ञ, तप और दान का जो वर्णन आगे किया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि इसका उद्देश्य इन कृत्यों की परोक्ष फल देने वाली धार्मिकता का विवेचन करना नहीं है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य समाज की सुव्यवस्था, अर्थात् लोक-संग्रह में इनकी

उपयोगिता बताने का है। सारांश यह कि सात्विक आहार, यज्ञ, तप और दान समत्व-योग के प्रधान साधन हैं।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण! जो (पुरुष) शास्त्र-विधि को छोड़ कर श्रद्धा से युक्त हुए, यजन अर्थात् धार्मिक कृत्य करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी है—सात्विकी, राजसी या तामसी? तात्पर्य यह कि जो लोग सत्-शास्त्रों में वर्णित सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करने के विधान पर ध्यान न देकर केवल श्रद्धा के आधार पर हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, नित्य-कर्म आदि धार्मिक कृत्यों में लगे रहते हैं, उनके जीवन की स्थिति सात्विक, राजस और तामस में से कौनसी होती है (१)? श्री भगवान् बोले, कि देहधारियों की वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी; उसको सुन। हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने-अपने स्वभावानुसार होती है; यह पुरुष श्रद्धामय है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है। तात्पर्य यह कि अर्जुन ने पूछा था कि जो लोग श्रद्धापूर्वक धार्मिक कृत्य करते हैं, उनके जीवन

की स्थिति किस प्रकार की होती है ? उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की श्रद्धा अथवा भावना ही अपने-अपने पूर्व के संस्कारानुसार सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है, और जिसकी जैसी श्रद्धा अथवा भावना होती है, उसीके अनुसार उसका जीवन सात्विक, राजस और तामस होता है; क्योंकि मनुष्य श्रद्धा अथवा भावनामय ही होता है (२-३)। सात्विक लोग देवों की आराधना करते हैं, राजसी लोग यक्षों एवं राक्षसों की, और तामसी लोग प्रेतों एवं भूतगणों की पूजा करते हैं। तात्पर्य यह कि सात्विकी श्रद्धा वाले लोग सबकी भलाई अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त जगत् को धारण करने वाली दैवी शक्तियों की आराधना करने के लिए इस अध्याय के श्लोक ११ वें में वर्णित सात्विक यज्ञ करते हैं, तथा माता-पिता आदि प्रत्यक्ष देवों की निस्स्वार्थ-भाव से पूजा करते हैं। राजसी श्रद्धा के लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओं की सिद्धि के लिए धन-सम्पत्ति के अधिकारी माने जाने वाले कुबेरादि अदृष्ट यक्षों की उपासना करते हैं, तथा प्रत्यक्ष में धनवान् मनुष्यों की खुशामद करते हैं; और अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए द्वेष-पूर्वक हिंसा करने वाले अदृष्ट राक्षसों की उपासना करते हैं, तथा सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी एवं राक्षसी प्रकृति के मनुष्यों का आश्रय लेकर उनका अनुकरण करते हैं। और तामसी श्रद्धा के लोग परलोक-गत अदृष्ट प्रेतों और भूतों को मान कर उनकी उपासना करते हैं, अर्थात् मरे हुए पितरों के निमित्त श्राद्ध-तर्पण आदि पितृ-कर्म करते हैं; और पांचभौतिक पदार्थों में देवी-देवता, भैरव, भूत आदि की भावना करके उनका पूजन करते हैं, अथवा भौतिक जड़ पदार्थों ही को सब-कुछ मान कर भौतिकता (Materialism) के उपासक होते हैं (४)। जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम, राग और हठ-पूर्वक सत्-शास्त्रों के विरुद्ध घोर तप करते हैं, (वे) मूर्ख लोग शरीर में स्थित भूत-समुदाय को कृश करते हैं, और शरीर के अन्दर रहने वाले मुझको भी (कष्ट देते हैं); उनको आसुरी श्रद्धा के जानो। तात्पर्य यह कि जो अत्यन्त उग्र तामसी प्रकृति के मूर्ख लोग अपने तपस्वी होने के अहंकार से और लोगों में तपस्वी कहलाने के लिए, तथा दुष्ट मनोरथों की सिद्धि के लिए, हठ और दुराग्रह-पूर्वक तप करने का ढोंग करके कठिन व्रत एवं उपवास आदि करने द्वारा भूख-प्यास आदि से शरीर को सुखाते हैं, तथा सरदी में नंगे रह कर शरीर पर ठंडी जलधारा डालने और गरमी में पंचधूनी तापने, सूलियों पर सोने अथवा औंधे लटकने आदि से शरीर और जीवात्मा को घोर कष्ट देने वाले उग्र तप करते हैं; उनकी श्रद्धा आसुरी * होती है (५-६)।

---

* सोलहवें अध्याय के श्लोक १० वें का तात्पर्य देखिए।

स्पष्टीकरण—इन श्लोकों में उन लोगों के जीवन की स्थिति का वर्णन किया गया है, जो केवल श्रद्धा-विश्वास के आधार पर धार्मिक कृत्य आदि किया करते हैं। चौदहवें अध्याय में कह आये हैं कि यह जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है, इसलिए इसके सभी व्यवहार त्रिगुणात्मक होते हैं। उसी सिद्धांत के अनुसार धार्मिक कृत्य करने वाले श्रद्धालु लोगों की श्रद्धा भी सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है। जिनकी सात्विकी श्रद्धा होती है वे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की किसी भी प्रकार की कामना के बिना, निस्स्वार्थ-भाव से लोक-हित के लिए संध्या-वन्दन, पंचमहायज्ञ, हवन, पूजा-पाठ आदि धार्मिक कृत्य करना आवश्यक समझ कर, उनके द्वारा जगत् को धारण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियों का यजन-पूजन करते हैं, जिनसे उनको यह विश्वास होता है कि देवता लोग प्रसन्न होकर सबकी आवश्कताएँ पूरी करेंगे; तथा वे सात्विक-श्रद्धावान् लोग अपने माता-पिता, गुरु, अतिथि, एवं जिनमें दैवी सम्पत्ति के गुण पूर्णतया विद्यमान् हों, ऐसे पुरुष—जो प्रत्यक्ष देव माने जाते हैं, उनकी भी निस्स्वार्थ-भाव से, श्रद्धा एवं आदर-सत्कारसहित सेवा-शुश्रूषा आदि करते हैं। जिनकी राजसी श्रद्धा होती है वे लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओं की पूर्ति के निमित्त, जो धन-सम्पत्ति देने वाले परोक्ष देवता माने जाते हैं और जिन्हें यक्ष कहते हैं—उनको प्रसन्न करने के लिए सकाम कर्मकाण्ड करते हैं, तथा अपने शत्रुओं का नाश करने और दूसरे लोगों को दबाने के लिए अदृष्ट राक्षसी शक्तियों की कल्पना करके मैले मन्त्रों आदि द्वारा उनकी उपासना करते हैं; और वे राजसी श्रद्धा के लोग प्रत्यक्ष में भी उपरोक्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए धनी लोगों की तथा दुष्ट अत्याचारी शक्ति-सम्पन्न लोगों की खुशामद करते हैं एवं उनके अनुयायी बनते हैं। जो तामसी श्रद्धा के लोग हैं वे अपने मरे हुए सम्बन्धियों को भयावनी प्रेत-योनि प्राप्त होने की कल्पना करके उनसे डरते हुए, उनको प्रसन्न करने के लिए उनका पूजन करते हैं, तथा परलोक-गत पितरों को इस लोक के पदार्थ पहुँचाने के अन्ध-विश्वास से नाना प्रकार के श्राद्ध तथा पितृ-कर्मों के समारोह करते हैं, एवं उन पितरों की संवत्सरी आदि के दिन उनको याद कर-करके रोने और शोक मनाने द्वारा उनकी उपासना करते हैं; और वे तामसी श्रद्धा के लोग भौतिक जड़ पदार्थों में ही देवी-देवता, भूत, भैरव आदि की मान्यता करके उनसे अपने मनोरथों की सिद्धि होने की आशा से उनका पूजन करते हैं; अथवा पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश-रूप पंच महाभूतों के संमिश्रण के बनाव ही को सब-कुछ मान कर इन जड़ पदार्थों के ममत्व में निमग्न रहते हैं, अर्थात् भौतिक विज्ञान के अनन्य भक्त होते हैं। और जो आसुरी प्रकृति के लोग होते हैं, उनकी श्रद्धा अत्यन्त उग्र तामसी

होती है; वे लोग हठ और दुराग्रह से शरीर को पीड़ा देकर उसे कृश करने वाली नाना प्रकार की तपस्याएँ करते हैं, जिनसे स्वयं उनको तथा दूसरे लोगों को बहुत कष्ट होता है, और उनकी अन्तरात्मा में सदा अशान्ति बनी रहती है। इस तरह अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार वे लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के यजन-पूजन, उपासनाएँ अथवा तपस्याएँ करते रहते हैं, और जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसी ही उसके जीवन की स्थिति होती है; अर्थात् सात्विकी श्रद्धावालों का जीवन ज्ञान और सुखमय होता है; राजसी श्रद्धावालों का जीवन विक्षिप्त और दुःखयुक्त होता है; और तामसी श्रद्धावाले लोगों का जीवन मूढ़ता अथवा जड़ता-रूप अज्ञान-अन्धकारमय होता है। मनुष्य को जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि यह तीन प्रकार की श्रद्धा व्यष्टि शरीरों में अहंभाव रखने वाले साधारण मनुष्यों की कही गई है, आत्मज्ञानी समत्वयोगी तीनों प्रकार की श्रद्धाओं से परे होता है; क्योंकि वह गुणों के आधीन नहीं होता, किन्तु गुणों का स्वामी होता है—यह बात चौदहवें अध्याय में कह आये हैं। उसके लिए अपने से भिन्न धार्मिक क्रियाएँ कुछ रहती ही नहीं; न उसके जीवन की स्थिति किसी प्रकार की श्रद्धा पर ही अवलम्बित रहती है।

\+ \+ \+

अब आगे के श्लोकों में सात्विक, राजस और तामस-भेद से तीन प्रकार के आहार, तीन प्रकार के यज्ञ, तीन प्रकार के तप और तीन प्रकार के दान का वर्णन किया जाता है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियं ॥ १० ॥

अर्थ—और आहार भी सबको (अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार) तीन प्रकार का प्रिय होता है; (इसी प्रकार) यज्ञ, तप तथा दान भी (तीन प्रकार के) होते हैं; उनके अलग-अलग भेद के इस वर्णन को सुन (७)। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसदार, चिकने, अधिक ठहरने वाले और हृदय को बल देने वाले आहार सात्विक व्यक्ति को प्यारे होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस खान-पान से शरीर की आयु, विवेक, बल और स्वास्थ्य बढ़ें, जिससे सुख की वृद्धि हो, और परस्पर में प्रेम-भाव बढ़े, जिसमें मधुर-रस तथा घृत-मक्खन आदि चिकने पदार्थों की प्रधानता हो, तथा जिससे बहुत काल तक तृप्ति बनी रहे, एवं जो हृदय को बलदायक हो—वह भोजन सात्विक होता है। सात्विकी प्रकृति के लोगों को ऐसा भोजन प्यारा लगता है, और जो लोग अपने में सत्वगुण की वृद्धि करना चाहें उनको ऐसा भोजन करना चाहिए (८)। कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, दाह उत्पन्न करने वाले आहार—जो दुःख, शोक तथा रोग के देने वाले होते हैं, वे (राजस आहार) राजस स्वभाव के व्यक्ति को प्यारे लगते हैं। तात्पर्य यह कि बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत खारे, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे तथा शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले खान-पान से उत्तेजना, दुःख और शोक उत्पन्न होते हैं, तथा उस भोजन से अनेक प्रकार की बिमारियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः वह राजस भोजन है। ऐसे भोजन से रजोगुण की वृद्धि होती है, और रजोगुणी प्रकृति के लोगों को इस प्रकार के भोजन प्रिय एवं अच्छे लगते हैं (९)। ठंडा-बासी, नीरस, दुर्गन्धियुक्त, बिगड़ा हुआ, झूठा और अशुद्ध भोजन तामसी लोगों को प्यारा होता है। तात्पर्य यह कि जो भोजन बहुत देर का पकाया हुआ हो, जिसका रस सूख गया हो, जिसमें दुर्गन्धि उत्पन्न होगई हो, जिसका स्वाद बिगड़ गया हो, जो दूसरे किसी ने खाकर छोड़ा हो अथवा दूसरे किसी का चखा हुआ हो, जो अच्छी तरह साफ किया हुआ न हो, किन्तु मैला-कुचैला हो—वह तामस भोजन है। ऐसे भोजन से तमोगुण की वृद्धि होती है, और तामसी प्रकृति के लोगों को यह भोजन अच्छा लगता है (१०)।

स्पष्टीकरण—जगत् के व्यवहार के लिए भोजन की व्यवस्था भी अत्यावश्यक है, क्योंकि शरीर का अस्तित्व भोजन पर ही निर्भर है, भोजन करने से ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने व्यापार करने योग्य होते हैं, भोजन के बिना सभी शिथिल और व्याकुल हो जाते हैं, फिर इनसे कुछ भी नहीं हो सकता। अच्छे अथवा बुरे भोजन का असर शरीर, इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि पर इतना पड़ता है कि जैसा भोजन किया जाता है, उसी के अनुसार मनुष्य का स्वभाव बन जाता है। इसलिए खान-पान के विषय में मनुष्य को बहुत ही सावधानी और संयम

रखने की आवश्यकता है। सात्विक भोजन से सत्वगुण की वृद्धि होती है, राजस भोजन से रजोगुण की और तामस भोजन से तमोगुण की वृद्धि होती है, सात्विकी प्रकृति के लोगों को सात्विक भोजन, राजसी प्रकृति के लोगों को राजस भोजन और तामसी प्रकृति के लोगों को तामस भोजन प्यारे लगते हैं। परन्तु अपनी सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालों को प्रयत्न-पूर्वक राजस-तामस आहारों से यथाशक्य बचे रह कर सात्विक आहार करना चाहिए। क्योंकि सत्वगुण ही ज्ञान और उन्नति का कारण है।

मधुर रस की प्रधानता वाला, स्वादिष्ट, ताजा और चिकना भोजन—जिसके खाने से बहुत देर तक तृप्ति और तरावट बनी रहे, तथा जो हृदय को बल देने वाला हो—सात्विक होता है। ऐसे भोजन से मनुष्य की आयु दीर्घ होती है, बुद्धि निर्मल अर्थात् सात्विकी होती है, शरीर बलवान् एवं स्वस्थ रहता है; और जिस मनुष्य का शरीर आरोग्य एवं बलवान् होता है, बुद्धि सात्विकी होती है और आयु दीर्घ होती है, वही संसार में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की उन्नति कर सकता है, जिससे वह स्वयं सुखी हो सकता है और दूसरों को भी सुख दे सकता है, तथा वही दूसरों से प्रेम कर सकता है, एवं स्वयं दूसरों का प्रेम प्राप्त कर सकता है।

जो लोग कड़वे, खट्टे, खारे, तीखे, रूखे, जलते हुए और दाह उत्पन्न करने वाले राजस भोजन करते हैं, उनका स्वभाव उत्तेजनापूर्ण एवं चिड़चिड़ा होता है, शरीर कई प्रकार के रोगों से ग्रसित रहता है; अतः उनका जीवन दुःख और शोक से परिपूर्ण रहता है, और वे दूसरों को भी दुखी एवं शोकयुक्त करते हैं।

जो ठंडा, बासी, सूखा, नीरस, सड़ा, गला, बदबू देनेवाला, झूठा और अशुद्ध (मैला) तामस अहार करते हैं, वे आलस्य और प्रमाद में ही जीवन व्यतीत करते हैं—वे कुछ भी उन्नति करने योग्य नहीं रहते।

यहाँ भोजन के त्रिगुणात्मक भेद की व्याख्या करने में खाद्य पदार्थों के विशेष नामों का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न-जातियों के लोगों के भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थ होते हैं। संसार में अधिकांश लोग मांसाहारी हैं और कुछ लोग निरामिषभोजी—शाकाहारी हैं। गीता सार्वजनिक एवं सार्वदेशिक अर्थात् सार्वभौम शास्त्र है, इसलिए इसमें किसी विशेष देश अथवा विशेष जाति के लोगों के विशेष खाद्य पदार्थों का उल्लेख न करके साधारणतया भोजन के गुणों ही से उसके सात्विक, राजस और तामसपन की व्याख्या कर दी गई है। जिस पदार्थ में जिस तरह के गुण हों, उसीके अनुसार उसका उपरोक्त सात्विक, राजस और तामसपन समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पदार्थों के संस्कार करने, अर्थात् उन्हें पकाने आदि की विधि, और उनके उपयोग के अनुसार उनके गुणों में कमी-बेशी अथवा फ़ेरफ़ार भी हो जाता है। उदाहरणार्थ—मिश्री, शहद, दूध, मलाई, मक्खन, घी आदि मधुर रस वाले एवं चिकने पदार्थ यद्यपि साधारणतया सात्विक होते हैं, परन्तु बहुत काल तक पड़े रहने से, अथवा अधिक पकाने से, अथवा कम पकाने से, अथवा मात्रा से अधिक खा लेने से वे ही राजस-तामस हो जाते हैं। इसी तरह अजीर्ण आदि बिमारियाँ हो जाने पर कड़वे, खट्टे, खारे, तीखे आदि राजस पदार्थ खाना भी हितकर होता है, और रूखा भोजन पथ्य होता है, तथा किसी अवसर पर ताजा भोजन न मिले तो बासी एवं सूखे भोजन से भूख की ज्वाला शान्त करके शरीर की रक्षा करना श्रेयस्कर होता है। यदि किसी दूसरे के घर भोजन किया जाता है, तो उसके आचरणों का असर भी भोजन पर पड़ता है, तथा भोजन बनाने वाले की प्रकृति का भी थोड़ा-बहुत असर अप्रत्यक्ष रूप से भोजन में आये बिना नहीं रहता। इसलिए भगवान् ने भोजन के किसी विशेष पदार्थ की कैद नहीं रखी है, किन्तु साधारणतया आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले भोजन को सात्विक कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि चाहे खाद्य पदार्थ कुछ भी हों, उनमें ये गुण होने से वे सात्विक होते हैं; दूसरी तरफ़ रोग, दुःख, शोक, आलस्य और प्रमाद के बढ़ाने वाले खाद्य पदार्थ राजस और तामस होते हैं।

मनुष्य के स्वभाव पर खान-पान का गहरा प्रभाव पड़ता है; इसलिए आर्य-संस्कृति में खाद्याखाद्य के विषय में बहुत बारीकी से विचार किया गया है और आहार की शुद्धि पर बड़ा ज़ोर दिया गया है। यहाँ तक विधान किया गया है कि नीति से उपार्जन किये हुए आहार से बुद्धि निर्मल रहती है, और अनीति से प्राप्त आहार से बुद्धि मलिन होती है; तथा दुराचारी मनुष्य के घर का एवं दुराचारी मनुष्य के हाथ का भोजन करना मना है। परन्तु वर्तमान समय में आर्य-संस्कृति को मानने वाले लोग आहार-शुद्धि के रहस्य पर समुचित विचार नहीं करते, अतः खान-पान के विषय में बहुत ही विपर्यास हो गया है।

पुराने विचारों के अन्ध-परम्परावादी लोग खान-पान के विषय में केवल छुआछूत, जाति-पांति और कच्ची-पक्की आदि के विचारों को ही विशेष महत्त्व देते हैं—खाने-पीने की सामग्री के गुण-अवगुण तथा उसकी शुद्धता पर बहुत कम ध्यान देते हैं। दूसरी तरफ नई रोशनी के लोग आहार-शुद्धि के विचार को ही ढकोसला मानते हैं, अतः जो कुछ स्वादिष्ट लगे और फ़ैशन के अनुकूल हो, उस पदार्थ के खाने-पीने से कोई परहेज़ नहीं करते। इसलिए आहार की व्यवस्था बहुत बिगड़ रही है;

जिसके परिणाम-स्वरूप जनता की आयु, बल और स्वास्थ्य क्षीण हो रहे हैं, नाना प्रकार के रोगों की भरमार है, बुद्धि राजसी-तामसी हो रही है, और देश में दुःख एवं दरिद्रता का साम्राज्य है।

× × ×

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

अर्थ—"शास्त्र-विधि के अनुसार यज्ञ करना ही कर्तव्य है" इस प्रकार मन के दृढ़-विश्वास पूर्वक, फल की इच्छा से रहित पुरुषों द्वारा जो यज्ञ किया जाता है—वह सात्विक यज्ञ है। तात्पर्य यह कि अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में यज्ञ का जो यह विधान है कि "दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के भाव की पशु-वृत्ति को समष्टि-भाव-रूपी ब्रह्माग्नि में होम कर, व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में मिला देने का यज्ञ करना प्रत्येक मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है," उसको अच्छी तरह समझ कर और उस पर मन में दृढ निश्चय रखके, दूसरों से पृथक् अपनी किसी भी स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर, लोक-हित के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म (चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक) करना—सात्विक यज्ञ है (११)। और फल के उद्देश्य से, तथा दंभ अर्थात् लोक-दिखावे के मिथ्या आडम्बर करने के लिए भी, जो यज्ञ किया जाता है, हे भरतश्रेष्ठ! उस यज्ञ को राजस यज्ञ जान। तात्पर्य यह कि भेद-वाद के शास्त्रों में मन लुभाने वाले रोचक वचनों द्वारा विधान किये हुए, जो काम्य-कर्म, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाते हैं (गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४), अथवा लोगों में धर्मात्मा कहलाने के लिए व्यक्तित्व का अहंकार बढ़ाने वाले हवन-अनुष्ठान आदि नाना प्रकार के धार्मिक कृत्यों का जो आडम्बर किया जाता है—वह राजस यज्ञ है (१२)। (सत्-शास्त्रों की) विधि से हीन, (भूखों के लिए) अन्न-दान से रहित, (सत्-शास्त्रों के) मन्त्रों के बिना, (गरीबों के लिए कुछ भी दान) दक्षिणा न देकर, अश्रद्धा से किया जाने वाला यज्ञ तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में यज्ञ का जो विधान ऊपर कहा

गया है, उसके अभिप्राय को कुछ भी न समझ कर, उसके विपरीत, मूल्यवान् खाद्य पदार्थों से भूखों के पेट की ज्वाला शान्त न करके, जो मूढ़ता से हवन के नाम पर अग्नि में उन पदार्थों को जलाया जाता है, और अभेद-प्रतिपादक वेदों तथा उपनिषदों के वचनों की अवहेलना करके स्वार्थी लोगों की चिकनी-चुपड़ी बातों के जाल में फंस कर यज्ञ के नाम से जो पशुओं की हत्या और द्रव्य का अपव्यय किया जाता है, जिससे किसी का भी लाभ अथवा उपकार नहीं होता—वह तामस यज्ञ है (१३)।

स्पष्टीकरण—इन तीनों श्लोकों में जो तीन प्रकार के यज्ञों की व्याख्या की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि सच्चा यज्ञ वह है, जो अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में विधान किया गया है। उन शास्त्रों का सिद्धान्त है कि यह सारा जगत् एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ अपनी एकता के प्रेमपूर्वक सहयोग रखते हुए, जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ अवश्य करना चाहिए। परन्तु इस एकता के रहस्य के अज्ञान के कारण मनुष्य में जो दूसरों से अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव रहता है, वह मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन है, क्योंकि पशु-शरीर में बुद्धि का विशेष विकास नहीं होता, इसलिए उसको सबकी एकता का ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु मनुष्य-शरीर में बुद्धि का विकास होने पर भी, वह यदि अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव में डूबा रहे तो यह उसका मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने व्यक्तित्व के भाव-रूपी पशुपन को सबकी एकता-स्वरूप परमात्म-भाव-रूपी अग्नि में होमने का यज्ञ करे, अर्थात् वह वेदों और उपनिषदों के अभेद-प्रतिपादक मन्त्रों में श्रद्धा करके सबकी एकता के विश्वास-पूर्वक अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर अपने स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थों के अन्तर्गत समझे; तथा सबकी भलाई एवं सबके हित में अपनी भलाई एवं अपना हित समझ कर सबके हित की भावना से अपने-अपने शरीर की योग्यतानुसार चातुर्वर्ण्य-विहित अपने कर्तव्य-कर्म करे; अथवा ईश्वर की उपासना करे तो इस भाव से करे कि ईश्वर सबका कल्याण करे, सबको सुबुद्धि दे, सबको श्रेष्ठाचारी बनावे, इत्यादि; और हवन आदि द्वारा देवताओं की आराधना करे तो उन देवताओं को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा की अनेक शक्तियाँ समझ कर उनसे सबकी आवश्यकताएँ पूरी होने के भाव से उनकी आराधना करे। तात्पर्य यह कि जो धार्मिक कृत्य किये जायँ, वे भी दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार से तथा केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव से न किये जायँ, किन्तु अपने को जगत्-रूपी विराट् शरीर का एक अंग समझ कर सबकी भलाई का लक्ष्य रखते हुए किये जायँ;

और जो खाद्य-सामग्री अपने पास हो, उसे असमर्थ भूखे लोगों को उनकी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए बाँट कर आप खाय; तथा जो धन-सम्पत्ति अपने पास हो, उसे दीन-दुखी लोगों के कष्ट-निवारण करने तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता देने के उपयोग में लाते हुए स्वयं उसका उपयोग करे—यह सच्चा सात्विक यज्ञ है।

इसके विपरीत, इस लोक तथा परलोक में व्यक्तिगत भोगैश्वर्य आदि प्राप्त करने की कामना से, अथवा अन्य किसी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि के लिए, जो पृथक् व्यक्तित्व के भाव में दृढता कराने वाले भेद-वाद के शास्त्रों में विधान किये हुए सकाम हवन, अनुष्ठान, यजन-पूजन आदि के आडम्बर किये जाते हैं, और उन धार्मिक कृत्यों से धर्मात्मा कहलाने का जो ढोंग किया जाता है; तथा जिन अज्ञानी लोगों की अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में श्रद्धा नहीं होती, वे यज्ञ के वास्तविक तात्पर्य को नहीं समझते हुए, मूल्यवान् खाद्य-पदार्थों को भूखों को न खिलाकर अग्नि में जला देते हैं; तथा जो लोग धूर्त एवं स्वार्थी मनुष्यों के फंदे में पड़कर उनके कहने पर देवी-देवताओं अथवा भूतों को प्रसन्न करने के मिथ्या विश्वास से पशुओं को होमते एवं उनकी बलि चढ़ाते हैं, तथा अन्य धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्म-काण्डों के समारोह किया करते हैं, जिनमें द्रव्य की अपार बरबादी होती है, परन्तु उस बरबादी से दीन-दुखियों के कष्ट-निवारण में कोई सहायता नहीं पहुँचती, न किसी का कोई उपकार अथवा किसी प्रकार की सेवा ही होती है—केवल कुपात्रों को उनके दुराचारों में प्रोत्साहन मिलता है—इस तरह के आडम्बर राजस-तामस यज्ञ हैं, जो वास्तविक यज्ञ नहीं किन्तु उनका विपर्यास एवं उनकी विडम्बना मात्र हैं।

वर्तमान में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि इस देश में प्रायः सच्चे सात्विक यज्ञों का अभाव-सा है, और इसके विपरीत राजस-तामस यज्ञों की भरमार हो रही है। जब तक यह व्यवस्था नहीं सुधरती, तब तक अवनति और दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता।

+ + +

अब तप के सात्विक, राजस और तामस भेदों की व्याख्या करने से पहले भगवान् शरीर, वाणी और मन से किये जाने वाले तीन प्रकार के तप का वर्णन करते हैं, जिस पर अच्छी तरह विचार करने से निश्चय होता है कि गीता में शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया है—काया को कष्ट देने वाली चेष्टाओं को वास्तविक तप नहीं माना है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—देव, ब्राह्मण, बड़े और बुद्धिमान् का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—(यह) शारीरिक तप कहा जाता है। तात्पर्य यह कि माता, पिता, गुरु, अतिथि, और स्त्री के लिए पति, तथा जिन व्यक्तियों में दैवी सम्पत्ति के गुणों की अधिकता हो—इन सबको प्रत्यक्ष देव मान कर, इनका यथायोग्य आदर-सत्कार एवं सेवा-शुश्रूषा आदि द्वारा पूजन करना ※, तथा अठारहवें अध्याय के ४२ वें श्लोक में वर्णित गुणोंवाले ब्राह्मणों का, तथा जो आयु, विद्या, ज्ञान आदि गुणों में बड़े हों उनका, तथा जो अपनी बुद्धिमत्ता के लिए विख्यात हों ऐसे लोगों का, आदर-सत्कार एवं सेवा शुश्रूषा आदि रूप से पूजन करना; शरीर को पवित्र और निर्मल रखना; किसी से टेढ़ेपन, रूखेपन अथवा अकड़न का वर्ताव न करना; इन्द्रियों के सभी विषयों में—खासकर स्त्री-पुरुष के संयोग के विषय में—संयम रखना; कोई ऐसा व्यवहार नहीं करना कि जिससे किसी निर्दोष प्राणी को बिना कारण पीड़ा या हानि हो—ये शरीर के तप हैं (१४)। ऐसे वचन बोलना, कि जिनसे उद्वेग उत्पन्न न हो, तथा जो सच्चे, प्यारे एवं हितकर हों, और विद्याध्ययन के अभ्यास में लगे रहना—यही वाणी का तप कहा जाता है। तात्पर्य यह कि वचन ऐसे बोलना कि जिनसे

※ मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, पातिव्रत आदि गुणों का विशेष विवरण बारहवें अध्याय के स्पष्टीकरण में देखिए।

बिना कारण किसी के मन में उद्वेग उत्पन्न न हो, और जो सत्य होने के साथ-साथ प्यारे, मीठे और हितकर हों, अर्थात् वाणी में कठोरता, कडुआपन, टेढ़ापन एवं रूखापन न हो, तथा किसी की बुराई करने के भाव न हों; और विद्याध्ययन करना—यही वाणी का तप है (१५)। मन की प्रसन्नता, सौम्य-भाव, मननशीलता, संयम और अन्तःकरण की शुद्धि—यह मन का तप कहा जाता है। तात्पर्य यह कि मन को सदा प्रसन्न, शान्त और शीतल बनाये रखना; जो विषय देखे या सुने उनका अच्छी तरह मनन करना; विषयों में आसक्त न होना; तथा छल-कपट, दम्भ, कुटिलता आदि मलिन भावों से रहित होना—यह मन का तप है (१६)। फल की इच्छा से रहित और सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़े हुए मनुष्यों द्वारा परम श्रद्धा से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्विक कहलाता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव से युक्त होकर, ऊपर कहा हुआ तीन प्रकार का तप अर्थात् शिष्टाचार, इस सात्विक श्रद्धा से किया जाय कि उक्त शिष्टाचार का पालन करना अपना सच्चा कर्तव्य है, तथा उसमें किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्विक तप होता है (१७)। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने के निमित्त पाखण्ड से किया जाता है, उस अस्थिर और अनिश्चित तप को यहाँ राजस (तप) कहा है। तात्पर्य यह कि आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा भेंट-पूजा की प्राप्ति के उद्देश्य से अथवा केवल लोक-दिखावे के लिए उपरोक्त तप अथवा शिष्टाचार का जो ढोंग कपट-पूर्वक किया जाता है, वह चंचल और अनिश्चित होता है—कभी किया जाता है, कभी नहीं किया जाता; कभी किसी प्रकार से किया जाता है, कभी दूसरे किसी प्रकार से; जिस समय जिस तरह करने से सत्कार, मान, पूजा अथवा धन की प्राप्ति होने की आशा होती है, उस समय उस प्रकार से किया जाता है, और जब ऐसी आशा नहीं होती, तब नहीं किया जाता—वह राजस तप होता है (१८)। मूर्खतापूर्ण दुराग्रह से शरीर और मन को पीड़ा देकर, अथवा दूसरों का बुरा करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे तामस (तप) कहते हैं। तात्पर्य यह कि व्रत-उपवास आदि करके भूखे-प्यासे रहने द्वारा, अथवा सर्दी-गरमी सहन करने द्वारा शरीर को क्लेश देनेवाला जो तप हठ अथवा दुराग्रह से किया जाता है, अथवा जो दूसरों के मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि के खोटे उद्देश्य से किया जाता है—वह तामस तप होता है (१९)।

स्पष्टीकरण—श्लोक १४ से १९ तक तप का जो वर्गीकरण किया गया है, वह वास्तव में आर्य-संस्कृति के शिष्टाचार का संक्षिप्त संग्रह है। भगवान् शिष्टाचार को ही तप मानते हैं। माता, पिता, गुरु, अतिथि(पाहुने) और स्त्री के लिए पति—

इन प्रत्यक्ष देवों की, तथा जिन सज्जनों में दैवी सम्पत्ति के गुणों की प्रधानता हो उनकी, तथा विद्या और विनय से सम्पन्न श्रेष्ठाचारी ब्राह्मणों की, तथा बड़े-बूढ़ों की, एवं बुद्धिमान् पुरुषों की विनम्र-भाव से आदर-पूर्वक वन्दना और सेवा-शुश्रूषा करना, उनका लिहाज़ रखना, उनके साथ कोई ऐसा वर्ताव न करना कि जिससे उनके मन में आघात पहुँचे या वे अप्रसन्न हों; शरीर को स्वच्छ रखना तथा साफ़-सुथरे वस्त्र पहिनना—मैले-कुचैले न रहना; लोगों के साथ सरलता, नम्रता और मधुरता का वर्ताव करना, किसी से कठोरता, रूखेपन, लापरवाही, निष्ठुरता अथवा कुटिलता का वर्ताव न करना; सभी इन्द्रियों के विषयों में संयम रखना, किसी भी इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर कोई अनुचित व्यवहार न करना—खासकर अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के सिवाय अन्य किसी स्त्री अथवा पुरुष के साथ सहवास-सम्बन्धी किसी प्रकार की चेष्टा न करना; अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा बिना कारण ही किसी भी प्राणी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना तथा किसी की जान-बूझकर हानि न करना; सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, अपनी तरफ़ से किसी को चुभने वाले अथवा उद्वेग उत्पन्न करने वाले अथवा किसी का तिरस्कार अथवा अपमान करने वाले अथवा कडुए एवं रूखे वचन मुख से नहीं कहना; सद्विद्याओं और सत्-शास्त्रों का अध्ययन करना; मन को सदा प्रफुल्लित, शान्त और शीतल रखना; दूसरों की बातों को अच्छी तरह ध्यान देकर सुनना, उनका तिरस्कार न करना; मन को चंचल होने से रोकना, तथा कूड़, कपट, छल आदि विकारों से रहित रखना—यह आर्य-संस्कृति का शिष्टाचार है। यह शिष्टाचार भी अपनी किसी प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि के उद्देश्य से अथवा केवल ऊपरी दिखावे-मात्र के लिए न हो, किन्तु सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक और कर्तव्य समझ कर सहज स्वभाव से किया जाय, तभी यह सच्चा तप कहा जाता है। यदि यही शिष्टाचार अपनी किसी प्रकार की मान-बड़ाई अथवा स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से कपट के साथ किया जाय तो वह तप नहीं होता, किन्तु पाखण्ड होता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि गीता में उपरोक्त शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया है। वर्तमान समय में आम-तौर से तप का जो अभिप्राय शरीर को सुखाने, शिथिल करने अथवा पीड़ा देने की नाना प्रकार की चेष्टाएँ करना समझा जाता है—जिस तरह निराहार एवं निर्जल व्रत-उपवास आदि करना, शीत काल में आश्रय और वस्त्ररहित रहना तथा शरीर पर ठंडा पानी डालना, गरमी में कड़ी धूप में तपती हुई रेत में और अग्नि के सम्मुख बैठना यानी पंचधूनी तापना, कठिन और नुकीली चीज़ें शरीर में चुभाना, दीर्घ काल तक खड़े रहना या कठिन आसन करके किसी एक स्थिति में बैठे रहना, पैर ऊपर और सिर नीचे करके औंधे लटकना, कंकर-पत्थर की भूमि पर लेटना, नख-केश आदि बढ़ाना, शरीर पर

ख़ाक रमाना और मैले-कुचैले रहना आदि, जिनसे ऐसा करने वाले स्वयं क्लेश पाते हैं और दूसरों को भी पीड़ा देते हैं—इस तरह के हठ और दुराग्रह को भगवान् ने तामस व आसुरी तप कहा है, जिससे समाज में अव्यवस्था एवं आतङ्क फैलने के सिवाय और कुछ भलाई नहीं होती ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—दान अवश्य देना चाहिए, इस भाव से देश, काल और पात्र का विचार करके, बदले में उपकार न करने वाले को जो दान दिया जाता है—वह सात्विक दान कहा गया है । तात्पर्य यह कि मनुष्य को जो पदार्थ प्राप्त होते हैं, वे उसके अकेले के प्रयत्न से नहीं होते, किन्तु सबके सहयोग से होते हैं; इसलिए किसी भी पदार्थ पर केवल अपना ही अधिकार नहीं समझना चाहिए, किन्तु उसमें सबका साझा समझ कर, जिसको उस पदार्थ की अत्यन्त आवश्यकता हो, उसे निस्स्वार्थ-भाव से देना अपना कर्तव्य समझना चाहिए; और जिसको दान दिया जाय, उसके बदले में उससे कोई अपना काम करवाने अथवा किसी प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि करने की, तथा मान और कीर्ति की, अथवा इस लोक तथा परलोक के फल की किसी प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए; दूसरे शब्दों में दान देने में सट्टे का भाव नहीं रखना चाहिए; परन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिस देश में, जिस काल में और जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की अत्यन्त आवश्यकता हो और जिसके बिना वह कष्ट पाता हो, अथवा जिसके बिना उसका अनिष्ट होता हो अर्थात् वह अपनी यथार्थ उन्नति न कर सकता हो, और जिस दान को प्राप्त करके वह अपना हित कर सकता हो, अर्थात् जिसका सदुपयोग करके वह अपनी तथा दूसरों की भलाई कर सकता हो—इस तरह का दान देना सात्विक दान है (२०) । परन्तु प्रत्युपकार अर्थात् बदले में अपना किसी भी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए, अथवा फल के उद्देश्य से, तथा क्लेश पाकर जो दान दिया जाता है—वह राजस दान कहा गया है । तात्पर्य यह कि जिस दान में उपरोक्त कर्तव्य-पालन का भाव न हो, किन्तु अपनी किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि के प्रयोजन से, अथवा

इस लोक तथा परलोक के परोक्ष फल मिलने के उद्देश्य से जो दान दिया जाय, अथवा अपनी उदारता दिखाने तथा कीर्ति प्राप्त करने के लिए अपनी सामर्थ्य से अधिक, अथवा क़र्ज़ लेकर जो दान दिया जाय, जिससे स्वयं देनेवाले को कष्ट भोगना पड़े— वह राजस दान है (२१)। अयोग्य देश और अयोग्य काल में कुपात्रों को सत्कार के बिना, तिरस्कार-पूर्वक जो दान दिया जाता है—वह तामस दान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिस देश और जिस काल में जिन व्यक्तियों को जिस पदार्थ की आवश्यकता ही न हो, अथवा जिसके बिना उनको कोई कष्ट, हानि या अनिष्ट न हो, अथवा जिसके देने से उसका दुरुपयोग होता हो, अथवा जिस दान से दान लेने वाले का तथा दूसरों का अनिष्ट होता हो और जनता में अनाचार बढ़ता हो, तथा जो दान दानीपन के अहंकार से दूसरों का तिरस्कार करके दिया गया हो—वह तामस दान होता है (२२)।

स्पष्टीकरण—यज्ञ और तप की तरह दान भी समाज की सुव्यवस्था के लिए बहुत ही आवश्यक है; परन्तु वही दान समाज के लिए हितकर होता है, जो उपरोक्त सात्विक भाव से दिया जाता है; अर्थात् देने वाले के मन में यह भाव हो कि "मेरे पास जो भी कुछ देने योग्य है, वह मुझे सबके सहयोग से प्राप्त हुआ है, इसलिए इसमें सबका साझा है, और वह मेरी ही तरह दूसरों के भी उपयोग में आना चाहिए"—इस विचार से वह अपने अधीनस्थ पदार्थों को दूसरों के हित के लिए दे; और उनके देने में न तो अपने व्यक्तित्व का अहंकार रख कर लेने वालों पर कोई एहसान का भाव दिखावे, और न उनसे किसी प्रकार का बदला लेने अथवा किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि करने के भाव रखे; तथा इस बात की बहुत सावधानी रखे कि जो कुछ दिया जाय उसका अच्छी तरह सदुपयोग हो, अर्थात् वह न तो निरर्थक जाय और न उससे किसीकी हानि अथवा बुराई हो; और इस तरह का दान न दिया जाय कि दान देने वाला खुद तथा उसके बाल-बच्चे दीन होकर कष्ट पावें और क़र्ज़दार हो जावें; दूसरी तरफ़, अपने दान देने के घमण्ड में दूसरों को ताने दे-देकर अथवा दूसरों का अपमान करके उन्हें लज्जित एवं उद्विग्न न करे।

दान के विधान के मुख्य दो प्रयोजन हैं—एक तो दाता को त्याग का अभ्यास होता है, जिससे उसकी ममत्व की आसक्ति कम होती है; और दूसरा, जिन लोगों के पास अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन न हों तथा जिनमें अपनी वास्तविक उन्नति करने की सामर्थ्य न हो, उनको दूसरे लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार सहायता देकर उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति कराने तथा उनकी वास्तविक उन्नति कराने में सहयोग दें, ताकि समाज और जगत में

अनुचित विषमता-जन्य अव्यवस्था उत्पन्न न हो, किन्तु समता एवं सुख-शान्ति बनी रहे। इसलिए दान की योग्यता का माप उसकी मात्रा से नहीं होता, किन्तु देने वाले के भाव, देने की विधि और दान के उपयोग से होता है। अधिक सामर्थ्यवालों के अधिक मात्रा के दान की जितनी योग्यता होती है, उतनी ही कम सामर्थ्यवालों के कम मात्रा के दान की होती है—यदि दान उपरोक्त सात्विक भाव से देश, काल और पात्र का अच्छी तरह विचार करके दिया जाय। अतः थोड़ी सामर्थ्यवालों को यह संकोच कदापि न करना चाहिए कि इसमें से क्या दिया जाय, अथवा इतने-से दान से क्या उपकार होगा? जिनके पास द्रव्यादि पदार्थ न हों—विद्या, बुद्धि, बल, कला, ज्ञान आदि गुण हों, वे अपने उन गुणों का दान कर सकते हैं। जैसे, विद्वान् लोग विद्या पढ़ाने द्वारा, बुद्धिमान् लोग सद्विचारों एवं सुसम्मतियों द्वारा, बलवान् लोग निर्बलों की भय से रक्षा करने द्वारा, कलावान् लोग कलाओं को सिखाने द्वारा लोगों का हित कर सकते हैं और ज्ञानी पुरुष ज्ञान के उपदेशों द्वारा लोगों को संसार-भय से मुक्त करने का लाभ पहुँचा सकते हैं। अभय-दान की महिमा सब दानों से अधिक है। परन्तु वर्तमान समय में इस देश के लोगों का ध्यान दान के इस यथार्थ सिद्धान्त की तरफ़ बहुत कम रहता है, इसलिए राजस-तामस दान की बहुत भरमार हो रही है।

जो पुराने विचार के लोग धार्मिक अन्ध-विश्वासों में कट्टरता रखते हैं, वे दान को, या तो एक धार्मिक विधि मानते हैं, या उसे इस लोक तथा परलोक में सुख-सम्पत्ति प्राप्त कराने का साधन समझते हैं। इसलिए उनका दान इस प्रकार का होता है, कि जिससे या तो उनके माने हुए धर्म का सम्पादन एवं उसकी पुष्टि और विस्तार हो; या उनका दान सट्टे के रूप में होता है, जिससे दान के बदले में उससे कई-गुना अधिक मूल्य भविष्य में—इस लोक में अथवा परलोक में मिलने की आशा होती है। उनकी समझ में दान देने के योग्य देश प्रायः तीर्थस्थान ही होते हैं; और ग्रहण, संक्रान्ति, एकादशी, अमावस्या आदि पर्व, और यज्ञोपवीत, विवाह एवं मृत्यु आदि संस्कारों के अवसर ही दान के योग्य काल होते हैं; तथा दान के पात्र केवल ब्राह्मण, गुरु, आचार्य, साधु, संन्यासी आदि धर्म के ठेकेदार एवं भिखमंगे ही होते हैं। जिन तीर्थस्थानों पर बहुत-से मठ, मन्दिर, धर्मशालाएँ आदि पहले ही विद्यमान होती हैं—जिनका अधिकतर उपयोग पण्डे-पुजारियों और दुराचारी महन्तों की धींगा-मस्ती में होता है—प्रायः वहीं पर ये लोग उसी तरह की संस्थाएँ अधिकाधिक बनवाते रहते हैं, और वहाँ पर निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी लोगों को बिना परिश्रम किये खाने, पीने, रहने और पहिनने-ओढ़ने का सामान मिलने के लिए एक-

दूसरे से बढ़कर छेत्र (क्षेत्र अर्थात् अन्नसत्र) लगाते रहते हैं। उन मन्दिरों में
भोग-प्रसाद तथा पूजन-अर्चन की ढेर-की-ढेर सामग्रियाँ पहुँचाते रहते हैं, और दूध,
दही, घी, खाण्ड आदि मूल्यवान् खाद्य पदार्थ नदियों में बहाते हैं। उपरोक्त पर्वों
तथा उत्सवों के अवसर पर उक्त ब्राह्मण, साधु आदि भिखमंगों को मिष्टान्न भोजन
करवाकर दक्षिणाएँ देते हैं, और पण्डे-पुरोहितों को मूल्यवान् वस्त्राभूषणों की
पहरावनियाँ पहिनाकर, तथा अन्नदान, गोदान, सुवर्णदान, भूमिदान आदि देकर
अपने परलोक की यात्रा के लिए सामान करने की दिलजमई कर लेते हैं; तथा धर्मा-
चार्यों, मठाधीशों, मण्डलेश्वरों, महन्तों आदि को बड़ी-बड़ी रकमों तथा बहुमूल्य
वस्तुओं की भेंटें दे-देकर उनसे स्वर्ग और मोक्ष का सौदा करते हैं। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-
ग्रहण, कुंभी, अर्धकुंभी आदि पर्वों पर नहाने के लिए लाखों नर-नारी तीर्थ-स्थानों,
एवं नदी-समुद्रों पर जाते हैं, जिनमें इस प्रकार के दान देने के अतिरिक्त लाखों रुपये
प्रतिवर्ष रेलवे के किराये के दे दिये जाते हैं। भारतवर्ष में इस तरह के दान में प्रतिवर्ष
करोड़ों रुपये व्यय होते हैं।

दूसरी तरफ जो नयी रोशनी के लोग हैं, उनका दान विशेष करके कीर्ति अथवा
किसी उपाधि आदि की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य को लेकर होता है; अथवा
धनाढ्य देशों की नकल करके इस प्रकार का दान होता है, कि जिससे साधारण जनता
के लिए बाग-बगीचे, खेल-तमाशे, सैर-सपाटे आदि के आयोजन होते हैं, जिनके
परिणाम-स्वरूप लोगों में विलासिता की आदतें पड़ जाती हैं और शरीर की आवश्य-
कताएँ बढ़कर जीवन बहुत खर्चीला हो जाता है।

इस प्रकार राजसी-तामसी दोनों में लगने वाली इतनी बड़ी धन-राशि का
सदुपयोग किया जाकर, यदि वह वस्तुतः दुखियों का दुःख-निवारण करने, गरीबों की
वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने तथा उनकी हर प्रकार की उन्नति करने में लगाई
जाय तो देश की दरिद्रता शीघ्र ही दूर हो सकती है।

जिन लोगों के पास विद्या, कला, बुद्धि, बल, ज्ञान आदि गुणों की विशेषता
होती है, वे पूरे मूल्य बिना अपने उन गुणों से किसी को लाभ पहुँचाना नहीं चाहते;
इसलिए जिनके पास धन नहीं होता, वे इन गुणों के लाभ से वंचित रहते हैं।
सारांश यह कि समाज की सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति के
सभी साधन एक मात्र धन पर निर्भर हैं, और यदि धन के दान का सदुपयोग किया
जाय तो सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति के साधन उपलब्ध हो सकते हैं।
इसलिए धन का दान करने में बहुत विचार और सावधानी की आवश्यकता है।

इस समालोचना का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस देश में सात्विक दान का सर्वथा अभाव है। हमारे यहाँ ऐसे अनेक दानी सज्जन भी हैं, जिनके सात्विक दान से लोगों का बहुत उपकार हो रहा है और जिनके लिए देश को बड़ा गौरव है; परन्तु ऐसे महानुभावों की संख्या बहुत थोड़ी है, इसलिए राजस-तामस दान की तुलना में सात्विक दान की मात्रा बहुत कम है।

\+ \+ \+

यज्ञ, तप और दान के सात्विक, राजस और तामस भेदों का अलग-अलग वर्णन करके, अब भगवान् प्रत्येक काम करने में सबकी एकता के अद्वैत-सिद्धान्त को याद रखने के लिए, सबकी एकता-स्वरूप—ब्रह्म के सूचक "ओं तत्सत्" मंत्र के उच्चारण-पूर्वक यज्ञ, तप और दान आदि सब कर्म करने का विधान करते हैं; क्योंकि जो भी कुछ कर्म किये जाते हैं, वे वास्तव में सात्विक तभी होते हैं, जब कि उनमें सबकी एकता का ब्रह्म-भाव हो; अनेकता के भाव से किये हुए सात्विक व्यवहार भी राजस-तामस हो जाते हैं। इसलिए इस मूल मंत्र के उच्चारण-पूर्वक व्यवहार करने से सबके एकत्व-भाव=ब्रह्म अथवा परमात्मा की स्मृति बनी रहती है, जिससे सभी व्यवहारों में सात्विकता आती है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अर्थ—"ओं-तत्-सत्" यह तीन प्रकार का निर्देश ब्रह्म का कहा गया है; पूर्वकाल में इससे ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की व्यवस्था की गई थी। तात्पर्य यह कि "ओं", "तत्" और "सत्" ये तीन शब्द सबके एकत्व-भाव, सबके आत्मा, सत्-चित्-आनन्द परमात्मा अथवा ब्रह्म के सूचक हैं। अतः इन तीन शब्दों के समूह "ओं तत्सत्" मन्त्र के द्वारा सबकी एकता को लक्ष्य में रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के लिए, ब्राह्मण आदि चार वर्ण, वेदादि शास्त्र, और सबकी अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म-रूप यज्ञ का विधान, समाज-सङ्गठन के आरम्भ काल ही में किया गया था (२३)। इसलिए विद्वान् पुरुषों के यज्ञ, दान और तप की विधिवत् क्रियाएँ सदा "ओं" का उच्चारण करके हुआ करती हैं। तात्पर्य यह कि "ओं" शब्द आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि सारी त्रिपुटियों की एकता-स्वरूप परमात्मा का सूचक है, अतः विद्वान् पुरुष सदा इस "ओं" शब्द के उच्चारण-पूर्वक सबकी एकता का स्मरण रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के लिए पूर्वकथित सात्विक यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ किया करते हैं (२४)। "तत्" इस शब्द का उच्चारण करके फल की चाह छोड़ कर मोक्षार्थी जन यज्ञ, तप और दान आदि की अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि "तत्" शब्द भी सबके आत्मा = परमात्मा का सूचक है, अतः मुमुक्षु लोग इस "तत्" शब्द द्वारा परमात्मा का चिन्तन करते हुए परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त कर्म करते हैं, और उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना नहीं रखते (२५)। सत्-भाव और श्रेष्ठ-भाव में "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है; और हे पार्थ ! इसी प्रकार उत्तम कर्मों के लिए भी "सत्" शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् प्रवृत्ति को भी "सत्" कहते हैं, और उनके निमित्त का कर्म भी "सत्" कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी भी वस्तु या विषय या व्यक्ति या घटना के अस्तित्व अर्थात् "होने", और उसकी सत्यता के लिए, तथा किसी भी वस्तु, विषय, व्यक्ति अथवा व्यवहार की श्रेष्ठता अर्थात् अच्छेपन के लिए "सत्" शब्द का प्रयोग होता है; और सबके एकत्व-भाव, सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व ही वस्तुतः "सत्" है, और वही वास्तव में श्रेष्ठ अर्थात् अच्छा है, इसलिए "सत्" शब्द परमात्मा का वाचक है; अतः सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की सर्वत्र अवस्थिति के बोध कराने वाले "सत्" शब्द के प्रयोग-पूर्वक जो उत्तम कार्य किये जाते हैं, वे सत्-कर्म कहलाते हैं; तथा सात्विक यज्ञ, तप और दान सबके आत्मा = परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होते हैं, इसलिए इनकी प्रवृत्ति भी "सत्" कही जाती है; और उक्त यज्ञ, तप एवं दान के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वे भी

सत्-कर्म ही कहलाते हैं; अतः "सत्" शब्द के उच्चारण-पूर्वक यज्ञ, तप एवं दान आदि कर्म करने से सद्भाव-रूप सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की स्मृति रहती है; इसी से सब कर्म सात्विक होते हैं (२६-२७)। श्रद्धा के बिना जो हवन किया हो, जो (दान) दिया हो, जो तप किया हो और जो (कुछ) किया हो, हे पार्थ ! वह असत् कहा जाता है; उससे न परलोक सधता है और न यह लोक। तात्पर्य यह कि उपरोक्त सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा में श्रद्धा अर्थात् विश्वास न रख कर पृथक् व्यक्तित्व के भाव से तथा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से जो राजस-तामस हवन, दान, तप तथा और जो कुछ कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् होते हैं; उनसे न तो इस लोक में अर्थात् इस जन्म में किसी प्रकार का अभ्युदय होता है, और न मरने के बाद परलोक में श्रेय की प्राप्ति होती है (२८)।

स्पष्टीकरण—समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक जो यज्ञ, तप और दान करने का विधान प्रत्येक मनुष्य के लिए इस अध्याय में किया गया है, उसकी मनुष्यों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की अलग-अलग व्याख्या की गई। अब इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् यह निश्चित सिद्धान्त या मूल-मन्त्र बताते हैं, कि यज्ञ, तप, दान और जो भी कर्म सबकी एकता के विश्वासपूर्वक, सबके आत्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म का स्मरण करते हुए किये जाते हैं, उन्हीं से समाज और जगत् की सुव्यवस्था रहती है और वे ही सबके लिए हितकारक होते हैं, अतः वास्तव में वे ही सात्विक होते हैं; और जो यज्ञ, दान, तप अथवा किसी भी प्रकार के कर्म एकता के विश्वास से नहीं होते, किन्तु अनेकता को सच्ची मान कर पृथक् व्यक्तित्व के भाव से, अथवा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से किये जाते हैं, वे राजस-तामस होते हैं; उनसे किसी का हित नहीं होता, किन्तु उनका उलटा दुष्परिणाम होता है।

सब अनेकताओं का एकत्व-भाव जो सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म है, उसका सूचक मंत्र "ओं तत्सत्" है; क्योंकि "ओं" शब्द अ, उ, और म अक्षरों का समूह है, और यह तीन अक्षरों का समूह, जगत् की एकता-स्वरूप परमात्मा के सत्-चित्-आनन्द भाव का बोधक है; "तत्" शब्द का अर्थ "वह" आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म है; "सत्" शब्द का अर्थ "सत्य", "सदा विद्यमान रहनेवाला" एवं "श्रेष्ठ" है। इन तीन शब्दों के समूह का यह अर्थ होता है कि सबका एकत्व-भाव आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म सत्य एवं श्रेष्ठ है। इस "ओं तत्सत्" शब्द के उच्चारण से ब्रह्म अथवा परमात्मा की सर्वत्र एकता, सत्ता एवं श्रेष्ठता का स्मरण होता है; अतः उसका स्मरण करते हुए कर्म करने से वे कर्म किसी

का अनिष्ट करने वाले नहीं होते, किन्तु सबके हितकारक लोक-संग्रह के हेतु होते हैं। अतः सबकी एकता के निश्चय से अपनी-अपनी योग्यता के कर्म समाज और जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त करना—यही सात्विक आचरण है, और इसी से सबका कल्याण अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है।

॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

अठारहवाँ अध्याय
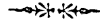
कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ाई आरम्भ होने के समय अर्जुन अपने स्वजन-बान्धवों को, मरने-मारने के लिए उद्यत देख कर प्रेम और करुणा के वश होकर एकदम घबड़ा गया, और उसे धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह हो गया, अर्थात् वह इस बात का निर्णय न कर सका कि इस विकट परिस्थिति में उसके लिए युद्ध करके इतने बड़े जन-समूह की हत्या का पाप सिर पर उठाना श्रेयस्कर है, अथवा राज्य की आशा छोड़ कर संन्यास ले लेना और भीख मांग कर निर्वाह करना श्रेयस्कर है? उसके अन्तःकरण का झुकाव संन्यास लेकर भीख पर निर्वाह करने की ओर अधिक रहा, इसलिए वह शस्त्र छोड़ कर बैठ गया, और भगवान् श्रीकृष्ण से कर्तव्याकर्तव्य के विषय में शिक्षा देने एवं सच्चा श्रेयस्कर मार्ग दिखाने की उसने प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ११ से आरम्भ करके, अर्जुन के निमित्त से सारे संसार को कर्म-त्याग की अपेक्षा कर्म-योग को ही श्रेष्ठ बताकर सबकी एकता के ज्ञानयुक्त, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने की शिक्षा दी। गीता का उपक्रम अर्थात् आरम्भ इस प्रकार हुआ है; और सत्रहवें अध्याय तक भगवान् ने सबकी एकता के उक्त सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करने के साथ-साथ उस एकता के ज्ञान की प्राप्ति के साधन कह कर, उस ज्ञानयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का विधान विविध प्रकार से किया।

यह अठारहवाँ अध्याय गीता का उपसंहार अर्थात् उसकी समाप्ति है। इसमें पहले के सत्रह अध्यायों का संक्षिप्त निचोड़ कह कर भगवान् अपने निश्चित निर्णय को पुष्ट करते हुए फिर से स्पष्ट शब्दों में ज़ोर देकर कहते हैं कि कर्मों का संन्यास कभी नहीं करना चाहिए, किन्तु अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म सबको अवश्य ही करते रहना चाहिए—इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ श्रेय की प्राप्ति कर सकता है। साथ ही मनुष्यों को अपने-अपने कर्तव्य-कर्म किस प्रकार से करने चाहिएँ कि जिससे उन्हें कोई बन्धन अथवा क्लेश न हो, किन्तु पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो—इस विषय का फिर से खुलासा करके गीता के उपदेश की समाप्ति करते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! अब मैं संन्यास का और त्याग का तत्त्व पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ । तात्पर्य यह कि यद्यपि कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग, और कर्म-योग के विषय में भगवान् ने पहले के अध्यायों में अपना स्पष्ट निर्णय दे दिया है, कि व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करना ही सच्चा संन्यास अथवा त्याग है, परन्तु उपसंहार में भगवान् से फिर असंदिग्ध शब्दों में अन्तिम निर्णय लेने के अभिप्राय से यह प्रश्न किया गया है (१) । श्री भगवान् बोले कि काम्य-कर्मों के त्याग को पंडित लोग संन्यास कहते हैं, और सब कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान् लोग त्याग कहते हैं । कई विचारशील पुरुष यह कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त है, इसलिए उसे त्याग ही देना चाहिए; और दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-सम्बन्धी कर्म नहीं त्यागना चाहिए । तात्पर्य यह कि प्रथम श्लोक में किये गये संन्यास एवं त्याग-विषयक प्रश्न के उत्तर में पहले भगवान् दूसरे विचारशील पण्डितों के मतों का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि कई लोग वैदिक काम्य-कर्मों के छोड़ देने को संन्यास कहते हैं, और कर्मों के फल के छोड़ने को कई लोग त्याग कहते हैं; दूसरे कई लोगों का मत है कि कर्म सभी दोषपूर्ण हैं, इसलिए सब कर्मों को छोड़ ही देना चाहिए; और अन्य कई लोगों का कहना है कि यज्ञ, तप और दान-सम्बन्धी धार्मिक कृत्य कभी नहीं छोड़ना चाहिए (२-३) । हे भरतश्रेष्ठ ! अब त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन; हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है । यज्ञ, दान और तप-सम्बन्धी कर्म त्यागने नहीं चाहिए किन्तु उन्हें करना ही चाहिए; यज्ञ, दान और तप विचारशील पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं । परन्तु हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फल को त्याग कर करने चाहिएँ, यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है । तात्पर्य यह कि भगवान् दूसरे लोगों का मत कह कर अब अपना निश्चित निर्णय कहते हैं, कि संन्यास अथवा त्याग भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है, जिसका अलग-अलग वर्णन आगे किया जायगा । परन्तु उसके पहले यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अपने शरीर, समाज अथवा जगत् की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के लिए अपने-अपने शरीर की योग्यता के चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म करने-रूप सात्विक यज्ञ, शिष्टाचार-रूप सात्विक तप और सात्विक दान-सम्बन्धी कर्म, जिनसे मनुष्य की व्यक्तित्व के भाव-रूपी मलिनता अथवा पशुवृत्ति मिट कर वास्तविक मनुष्यता प्राप्त होती है, उनको कदापि नहीं त्यागना

चाहिए; किन्तु उनको भी व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर करना चाहिए, यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है (४-६)। नियत कर्म का संन्यास करना उचित नहीं है; मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर के स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपना जो वर्ण हो, उस वर्ण के लिए नियत कर्म का त्याग किसी को भी नहीं करना चाहिए। जो कोई मूर्खता से अपने नियत कर्म का त्याग करता है वह त्याग तामस होता है (७)। "(कर्म करना) दुःखरूप ही है" ऐसा समझ कर, शारीरिक कष्ट के भय से जो कर्म त्याग देता है—वह राजस त्याग करने वाला त्याग के फल को नहीं पाता। तात्पर्य यह कि इस झूठी समझ से कि कर्म सब दुःख ही के हेतु होते हैं, और कर्म करने में शरीर को भी कष्ट और परिश्रम होता है, (इस भय से) जो अपने कर्तव्य-कर्म छोड़ देता है, वह उसका राजस त्याग होता है; उस त्याग से त्याग का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अर्थात् वह वास्तविक त्याग नहीं, किन्तु राग यानी स्वार्थ है (८)। हे अर्जुन! (कर्म) करना ही कर्तव्य है ऐसा समझ कर, जो नियत कर्म आसक्ति और फल को त्याग कर किया जाता है—वह सात्विक त्याग माना गया है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जो कर्म अपने लिए नियत हों, उनको अवश्य-कर्तव्य समझ कर करना, उनमें व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्विक त्याग है (९)। बुद्धिमान्, संशयरहित, सत्वगुणयुक्त, त्यागी पुरुष, अर्थात् नवमें श्लोक के अनुसार सात्विक त्याग करनेवाला व्यक्ति, अकुशल अर्थात् अकल्याणकर, दोषयुक्त, अथवा निकृष्ट माने-जाने वाले कर्म से द्वेष नहीं करता, और कुशल अर्थात् कल्याणकर, निर्दोष अथवा श्रेष्ठ माने जाने वाले कर्म में आसक्ति नहीं रखता। तात्पर्य यह कि जो उपरोक्त सच्चा सात्विक त्यागी पुरुष होता है, वह बड़ा बुद्धिमान्, संशयरहित एवं दृढ़-निश्चयवान् होता है, अतः उसका नियत कर्म यदि दोषयुक्त, हीन कोटि का, कष्ट-साध्य, अथवा दूसरों की अपेक्षा निकृष्ट माना जाने वाला—मैला-कुचैला एवं हिंसात्मक हो तो वह उससे द्वेष करके उसे त्याग नहीं देता; और उसका नियत कर्म यदि उच्च कोटि का, सुखसाध्य, अथवा दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाने वाला—मलिनता एवं हिंसा आदि दोषों से रहित हो तो वह उसमें विशेष आसक्त नहीं होता, किन्तु दोनों अवस्थाओं में एक समान रहता हुआ अपना कर्तव्य-कर्म यथावत् करता रहता है (१०)। क्योंकि (कोई भी) देहधारी कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतएव जिसने कर्मफल का त्याग किया है—वही त्यागी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि शरीर के रहते कर्म निःशेषतः किसी से भी छूट नहीं सकते—चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी; इसलिए सच्चा त्यागी वही है, जिसके कर्म केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-

सिद्धि मात्र के लिए ही नहीं होते, किन्तु जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त अर्थात् लोक-संग्रह के लिए होते हैं (११)। फल की कामना से कर्म करने वाले पुरुषों को कालान्तर में कर्म का अच्छा, बुरा और मिला हुआ तीन प्रकार का फल मिलता है; परन्तु (कर्मफल त्यागने वाले) संन्यासियों को कुछ भी फल नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि जो व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करते हैं, उनको अच्छे, बुरे और दोनों प्रकार के मिश्रित फल मिलते हैं; परन्तु जो व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर सात्विक भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करते हैं, उन सच्चे संन्यासियों को कर्मों के फल कभी भी कुछ बाधा नहीं देते (१२)।

× × ×

यहाँ तक भगवान् ने कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग की तात्विक मीमांसा करके प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म अवश्य करने का स्पष्ट आदेश किया। अब भगवान् बताते हैं कि कोई भी व्यक्ति अकेला कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, किन्तु प्रत्येक कर्म समष्टि शक्तियों के सहयोग से होता है; अतः कोई यह अहंकार करे कि "मैं कर्म करता हूँ" अथवा "मैं नहीं करूँगा" तो यह उसकी मूर्खता है, इसीसे बन्धन और दुःख होते हैं। परन्तु जो यह अहंकार नहीं करता, वह सब-कुछ करता हुआ भी मुक्त रहता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—हे महाबाहो ! सब कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धान्त में ये पांच कारण कहे गये हैं सो मुझसे जान। अधिष्ठान अर्थात् जिस स्थान में अथवा जिस

आश्रय में रह कर कर्म किया जाता है, वह स्थान अथवा आश्रय; कर्ता अर्थात् "मैं कर्म करता हूँ" इस प्रकार कर्म करने का अहंकार करने वाला व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा; विविध प्रकार के करण अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा काम करने के अनेक तरह के औज़ार अथवा हथियार आदि साधन; भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ; अर्थात् काम करने की नाना प्रकार की शैली अथवा युक्ति अथवा व्यापार; और पांचवाँ कारण यहाँ दैव, अर्थात् जगत को धारण करनेवाली सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ, एवं अदृष्ट अर्थात् पूर्व-कर्मों का संचित प्रभाव या प्रारब्ध भी है। शरीर, वाणी और मन से जो कुछ अच्छा या बुरा कर्म मनुष्य करता है, उसके ये पाँच साधन होते हैं। ऐसा होते हुए भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल अपने को ही कर्ता समझता है वह मूर्ख कुछ भी नहीं समझता। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो भी कुछ भला-बुरा कर्म करता है, उस कर्म के सम्पादित होने में सांख्य सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त पाँच कारण होते हैं; उन सबके संयोग से कर्म का सम्पादन होता है, और वे सब अनुकूल हों तभी कर्म सांगोपांग सिद्ध होता है, और तभी सफलता मिलती है। उनमें से यदि एक भी पूर्णतया अनुकूल न हो अथवा किसी में किसी प्रकार की त्रुटि हो तो कर्म की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती है। यदि काम करने का स्थान एवं आश्रय उपयुक्त न हो, काम में मन न लगे, उसके विषय में विचार करने में कमी या भूल हो, इन्द्रियें स्वस्थ न हों, काम करने के हथियार उपयुक्त न हों, काम करने की शैली ठीक न हो, क्रिया और युक्तियों की कुशलता न हो, और दैवी शक्तियाँ प्रतिकूल हों, एवं पूर्व-कर्मों के संचित प्रभाव-रूप प्रारब्ध बाधक हों तो कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जो मनुष्य अपनी राजस-तामस बुद्धि के कारण अहंकार करे कि "कर्मों का करने वाला केवल मैं ही हूँ, मेरे करने से ही कर्मों की सिद्धि होती है" और इस अहंकार से कर्मों को अपने लिए दुःख-रूप अथवा बन्धन-रूप समझ कर उन्हें त्यागता है, तो यह उसकी मूर्खता है; क्योंकि व्यक्तित्व के अहङ्कार से कर्म करने और उन्हें त्याग देने—दोनों ही अवस्थाओं में दुःख एवं बन्धन होता है (१३-१६)। जिसको यह भावना ही नहीं होती कि "मैं कर्म करता हूँ," और जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह इन लोकों को मारकर भी न तो मारता है और न बन्धता है। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी समत्वयोगी सम्पूर्ण जगत् को अपने से अभिन्न अनुभव करता है, अर्थात् कर्ता, कर्म और करण में वह सर्वत्र अभेद देखता है, इसलिए उसे कर्म करने में यह व्यक्तित्व का अहङ्कार नहीं रहता कि "मैं अमुक कर्म करता हूँ" अतः सबकी एकता के साम्य-भाव से वह अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के जो सांसारिक व्यवहार समाज और जगत् की सुव्यवस्था के लिए करता है, उनमें यदि लोगों का

संहार भी हो जाय, अर्थात् बहुसंख्यक लोगों की हत्या हो जाय तो भी वास्तव में वह हिंसा नहीं होती, और न वह आत्मज्ञानी समत्वयोगी हिंसा के पाप से बँधता है। अपने कर्तव्य-कर्म के सिवाय, यदि कोई अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा द्वेष-भाव से अथवा मूर्खता से किसी निर्दोष प्राणी को मारता है तो उससे हिंसा होती है, परन्तु आत्मज्ञानी समत्वयोगी के सभी व्यवहार लोक-हित के लिए होते हैं, उसका न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ होता है, न किसी व्यक्ति से राग अथवा द्वेष। समाज अथवा जगत् की सुव्यवस्था के लिए यदि वह दुष्ट पापियों को दण्ड देता है और मारता है, तो उससे लोक-हित होता है। उसकी दृष्टि व्यष्टि-शरीरों की पृथक्ता के भाव से परे सबके समष्टि-भाव पर रहती है। इसलिए समष्टि-हित के लिए व्यष्टि-शरीरों के मरने या कष्ट पाने को वह महत्त्व नहीं देता। वह जानता है कि वास्तव में मरना-जन्मना कुछ है नहीं, जीवात्मा एक शरीर का स्वांग छोड़ कर दूसरा स्वांग धारण करता है (गी० अ० २ श्लो० २२)। जिस तरह बाग का माली बाग की सुव्यवस्था के लिए हानिकारक घास-पात, पौधों और वृक्षों को समय-समय पर काटता और उनकी कलम करता है, उसी तरह सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष जगत् की सुव्यवस्था के लिए अनेक बार दुष्ट एवं हानिकारक प्राणियों का संहार करते हैं, इससे उनको हिंसा आदि का कोई पाप नहीं होता।

अर्जुन व्यक्तित्व के अहङ्कार के कारण युद्ध करने में हिंसा के पाप के भय से अपना उक्त कर्तव्य-कर्म छोड़ना चाहता था, उसी के लिए भगवान् कहते हैं कि आत्मज्ञान की समत्व-बुद्धि से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए करने में चाहे कितने ही लोग मारे जायँ, वास्तव में न तो वह हिंसा होती है और न उससे पापों का बन्धन ही होता है। हिंसा और बन्धन तो दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार से और अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए राग-द्वेषपूर्वक कर्म करने से होते हैं (१७)।

× × ×

अब कर्म करने से दुःख और बन्धन होने, तथा कर्म न करने से सुख और मोक्ष होने के भ्रम का और भी अधिक स्पष्ट रूप से निवारण करने के लिए भगवान् कर्म करने के सात्विक, राजस और तामस भावों की अलग-अलग व्याख्या करके बताते हैं, कि किस प्रकार से कर्म करने से दुःख अथवा बन्धन होते हैं, और किस प्रकार से कर्म करने से दुःख अथवा बन्धन नहीं होते, किन्तु सुख अथवा मोक्ष प्राप्त होता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

अर्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-रूप से कर्म की भीतरी प्रेरणा का तीन भेदों वाला सूक्ष्म स्वरूप है; और करण, कर्म और कर्ता-रूप से कर्म के बाहरी संपादन का तीन भेदों वाला स्थूल स्वरूप है। तात्पर्य यह कि कर्म करने की जब अन्तःकरण में प्रेरणा होती है, तब जिस कर्म के करने का मन में निश्चय होता है, वह कर्म का सूक्ष्म स्वरूप "ज्ञेय" है; तथा जिस विधि से कर्म करने का निश्चय होता है, वह निश्चित की हुई विधि "ज्ञान" है; और जो निश्चय करने वाला है, वह "ज्ञाता" है। इन तीनों के योग से कर्म करने की प्रेरणा होती है, अतः यह कर्म की प्रेरणा का तीन प्रकार का सूक्ष्म स्वरूप है। तथा जिन साधनों से कर्म किया जाता है, वह करण है; और जो क्रिया की जाती है, वह कर्म है; तथा कर्म करने वाला कर्ता है। इन तीनों के संयोग से कर्म का सम्पादन होता है; अतः यह कर्म-सम्पादन का तीन प्रकार का स्थूल स्वरूप है (१८)। ज्ञान, कर्म और कर्ता सांख्य शास्त्र में गुणों के भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं, उनको यथावत् सुन। तात्पर्य यह कि कर्म की प्रेरणा और कर्म-सम्पादन के जो तीन-तीन विभाग अठारहवें श्लोक में कहे हैं, वे भी सत्व, रज और तम, इन तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार के होते हैं; उनमें से करण का समावेश ज्ञान में, ज्ञेय का समावेश कर्म में, और ज्ञाता का समावेश कर्ता में करके सांख्य-शास्त्रानुसार उनकी अलग-अलग व्याख्या आगे की जाती है (१९)। जिस

(ज्ञान) से अलग-अलग सारे भूत-प्राणियों में एक, अविभक्त अर्थात् बिना बँटे हुए और सदा एक समान रहने वाले भाव का अनुभव होता है—उस ज्ञान को सात्विक (ज्ञान) समझ। तात्पर्य यह कि जगत् के नाना प्रकार के परिवर्तनशील एवं विषम बनावों में एक, अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा का अनुभव करना सात्विक ज्ञान है (२०)। जिस ज्ञान से मनुष्य सब भूत-प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को (वस्तुतः) पृथक्-पृथक् जानता है—उस ज्ञान को राजस ज्ञान समझ। तात्पर्य यह कि जगत् के नाना प्रकार के बनावों को वस्तुतः अलग-अलग जानना, अर्थात् अनेकता को सच्ची जानना—यह भेद-ज्ञान राजस ज्ञान है (२१)। और जो तात्त्विक विचार से शून्य, किसी हेतु अथवा युक्ति के बिना, एक ही कार्य को सब-कुछ मान कर उसी में आसक्त रहने का तुच्छ ज्ञान है—वह तामस ज्ञान कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो स्थूल पदार्थ मनुष्य की इन्द्रियों से प्रतीत होते हैं, वही सब-कुछ हैं, उनके सिवाय और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है—ऐसा मानना; तथा स्थूल शरीर और जगत् का कोई सूक्ष्म कारण अथवा आधार है कि नहीं, इस विषय में किसी युक्ति अथवा प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं समझना, एवं कुछ भी सूक्ष्म विचार न करना—यह कोरा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अस्थायी अतः मिथ्या होने के कारण बहुत ही तुच्छ है, और यह तामस ज्ञान कहा जाता है (२२)। फल की इच्छा और राग-द्वेष के बिना जो नियत कर्म, व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर किया जाता है—वह (कर्म) सात्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जिस वर्ण की योग्यता का कर्म अपने लिए नियत हो, वह कर्म व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के बिना, तथा अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष के भाव से रहित होकर, अर्थात् साम्य-भाव से किया जाता है—वह सात्विक कर्म कहा जाता है (२३)। और जो कर्म कामना की इच्छा रखने वाले अथवा अहंकारी मनुष्य के द्वारा अत्यधिक परिश्रम से किया जाता है, वह राजस कर्म कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा से एवं व्यक्तित्व के अहंकार से जो कर्म बहुत ही कष्ट उठाकर अर्थात् शक्ति से अधिक एवं बेहिसाब परिश्रम करके किया जाता है—वह राजस कर्म होता है (२४)। बन्धन अथवा परिणाम, क्षय, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके, (केवल) मूर्खता से जो कर्म आरंभ किया जाता है—वह (कर्म) तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इन बातों पर कुछ भी ध्यान न देकर कि इस कर्म में कितनी उलझन होगी तथा इसका आगे चलकर क्या नतीजा निकलेगा, इसमें समय, शक्ति और धन का कितना व्यय होगा तथा इससे क्या-क्या हानियाँ उठानी पड़ेंगी, और इसके सम्पादन में अपने को तथा दूसरों को कितना परिश्रम तथा कितना कष्ट उठाना होगा और

कितनी पीड़ा अथवा हिंसा होगी, तथा इसके सम्पादन करने की योग्यता और सामर्थ्य अपने में है कि नहीं?—केवल मूर्खता से जिस कर्म को उठा लिया जाता है—वह तामस कर्म होता है (२५)। आसक्ति से रहित, अहंकार की बातें न बनानेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त, सफलता और असफलता में निर्विकार रहने वाला कर्ता—सात्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो पुरुष किसी विशेष कार्य ही में इतना नहीं उलझ जाता कि जिससे दूसरी किसी बात का ध्यान ही न रहे; तथा जो अपने कर्तापन के अहंकार की डींगें नहीं हाँकता, किन्तु निरभिमानी और गंभीर रहता है; और काम करने में अड़चनों तथा कठिनाइयों का सामना होने पर विचलित एवं हताश नहीं होता, किन्तु धैर्य और उत्साह-पूर्वक अग्रसर होता रहता है; तथा काम कीसफलता होने पर हर्ष से फूल नहीं जाता और असफलता होने पर उदास अथवा व्याकुल नहीं होता—वह सात्विक कर्ता है (२६)। रागी अर्थात बहुत आसक्त, कर्मों के फल की चाह रखने वाला, अत्यन्त लोभी, हिंसा अथवा पीड़ा देने वाला, मलिन आचरणों वाला, हर्ष और शोक से युक्त कर्ता राजस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए अत्यन्त लोभ के वश होकर दिन-रात कर्म करने ही में लगा रहने वाला; अपने तथा दूसरों के शरीर को पीड़ा देकर तथा दूसरों को हानि पहुँचाकर भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि करने वाला; छल, कपट, झूठ, फ़रेब, कुटिलता आदि खोटे व्यवहार करने वाला; तथा अनुकूलता में हर्ष से फूल कर कुप्पा होने वाला, और प्रतिकूलता में बहुत शोकयुक्त होकर व्याकुल होने वाला कर्ता—राजस होता है (२७)। काम में मन न लगाने वाला, प्राकृत स्थिति ही में रहने वाला, अकड़ा हुआ, मूर्ख एवं दग़ाबाज़, दूसरों की हानि करने वाला, आलसी, व्याकुल रहने वाला और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो दत्तचित होकर मनो-योग से काम नहीं करता, अथवा काम के अन्दर न घुस कर केवल सरसरी तौर से उसे करता है; जो प्राकृत अवस्था अथवा वर्तमान स्थिति में ही पड़ा रहता है—समय की गति एवं परिस्थिति के अनुसार आगे नहीं बढ़ता, अथवा उन्नति करने में अग्रसर नहीं होता, एवं कार्य-शैली में समयानुकूल फ़ेरफ़ार नहीं करता; जो अपनी समझ अथवा स्थिति-पालकता के अभिमान में अकड़ा रह कर दूसरों के सत्परामर्श का लाभ नहीं उठाता तथा दूसरों से शिक्षा नहीं लेता; जो मूर्ख एवं धोखेबाज़ होता है; जो बिना कारण ही दूसरों का कार्य बिगाड़ने में लगा रहता है; जो आलस्य से ग्रसित होकर काम में तत्परता नहीं रखता; जो उत्साहहीनता, संशय और चिन्ता से ग्रसित एवं व्याकुल रहता है; और जो थोड़े काम को बहुत लम्बा कर देता है, अर्थात् मिनटों में पूरे होने वाले काम में घंटे लगा देता है—वह तामस कर्ता कहा जाता है (२८)। हे धनंजय! बुद्धि का तथा धृति का भी गुणों के

अनुसार तीन प्रकार का सारा भेद अलग-अलग कहता हूँ, सो सुन। तात्पर्य यह कि ज्ञान, कर्म और कर्ता की तरह बुद्धि और धृति भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है, उसके भेद आगे अलग-अलग कहे जाते हैं (२६)। प्रवृत्ति अर्थात् कर्म करने, और निवृत्ति अर्थात् कर्म से रहित होने, कार्य अर्थात् कौनसा काम करना चाहिए, और अकार्य अर्थात् कौनसा काम नहीं करना चाहिए, भय अर्थात् किस बात से डरना चाहिए, और अभय अर्थात् किस बात से नहीं डरना चाहिए, बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है, (इनके रहस्य को) जो बुद्धि यथार्थ रूप से जानती है, हे पार्थ! वह (बुद्धि) सात्विकी है। तात्पर्य यह कि जिस व्यवसायात्मिका बुद्धि में सबकी एकता का सात्विक ज्ञान होता है, वही इस बात का यथार्थ निर्णय कर सकती है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर करने की प्रवृत्ति वस्तुतः निवृत्ति है, और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करना अथवा उन्हें त्यागना वस्तुतः प्रवृत्ति है; इसी तरह अपने शरीर की योग्यता के अनुसार अपने लिए जो कर्म नियत हों, उन्हें जगत् और समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के लिए करना अवश्य-कर्तव्य है, और इसके विरुद्ध जिन कर्मों के करने की अपनी योग्यता नहीं है और जिनसे जगत् और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है, उन्हें करना अकर्तव्य है; तथा दूसरों से पृथक्ता के भाव से राग-द्वेषपूर्वक आचरण करना भय और बन्धन का हेतु होता है, और सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से आचरण करना अभय और मोक्ष का हेतु होता है; अतः इस प्रकार यथार्थ निर्णय करने वाली बुद्धि सात्विकी होती है (३०)। हे पार्थ! जिस बुद्धि से (मनुष्य) धर्म और अधर्म को, तथा कार्य और अकार्य को अयथार्थ-रूप से जानता है—वह बुद्धि राजसी है। तात्पर्य यह कि राजसी बुद्धि वाले मनुष्य का, धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में एक-सा निश्चय नहीं होता—वह कभी किसी कृत्य को धर्म मानता है, कभी उसी को अधर्म मान लेता है, और कभी किसी कृत्य को अधर्म मानता है, कभी उसी को धर्म मान लेता है; इसी तरह कभी किसी आचरण को अपने करने योग्य अर्थात् कर्तव्य-कर्म मानता है, कभी उसी आचरण को अपने न करने योग्य—अकर्तव्य मानता है, और कभी किसी आचरण को अपने न करने योग्य—अकर्तव्य मानता है, तो कभी उसी आचरण को अपने करने योग्य—कर्तव्य मान लेता है; इस तरह राजसी बुद्धि से किसी भी बात का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता (३१)। हे पार्थ! मोह से आच्छादित जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, तथा सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही समझती है—वह

तामसी बुद्धि है। तात्पर्य यह कि तामसी बुद्धि के अज्ञानी मनुष्य सब बातों का उलटा अर्थ करके अधर्म को ही धर्म मानते हैं, अर्थात् सत्रहवें अध्याय के चौथे श्लोक में कहे हुए तामसी श्रद्धा के यजन-पूजन को, तथा उसी अध्याय के पांचवें, छःठे और उन्नीसवें श्लोक में वर्णित आसुरी-तामसी तप को, और उसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में वर्णित तामसी यज्ञ को, एवं बाईसवें श्लोक में वर्णित तामसी दान को और इस अध्याय के सातवें श्लोक में वर्णित तामसी त्याग को धर्म मानते हैं, जो वस्तुतः अधर्म हैं—वह विपरीत समझ वाली बुद्धि तामसी होती है (३२)। सबकी एकता के साम्य-भाव में निरन्तर लगी रहने वाली जो धृति मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापारों को धारण करती है, हे पार्थ! वह सात्विकी धृति है। तात्पर्य यह कि जिस धारणा से मन, प्राण और इन्द्रियों के सारे व्यापार अर्थात् जीवन के सभी व्यवहार सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त निरन्तर होते रहें—वह सात्विकी धृति है (३३)। और हे अर्जुन! जिस धृति से फल का अभिलाषी मनुष्य धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है—वह राजसी धृति है। तात्पर्य यह कि दृष्ट अथवा अदृष्ट, अर्थात् इस लोक अथवा परलोक के सुखों की प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर मनुष्य जिस धारणा से धार्मिक कर्मकाण्डों में, तथा इन्द्रियों के विषय-भोगों में, एवं द्रव्योपार्जन के साधनों में लगा रहता है—वह राजसी धृति है (३४)। हे पार्थ! बेसमझ मनुष्य जिस धृति से नींद, भय, शोक, खेद और मद को नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी होती है। तात्पर्य यह कि तामसी प्रकृति के मूढ़ पुरुष जिस तामसी धारणा के कारण दीर्घ काल तक नींद लेते रहते हैं, सदा भयभीत रहते हैं, चिन्ता तथा पश्चात्ताप करते रहते हैं, और नशे आदि से मतवाले रहते हैं, और इन दुर्गुणों को छोड़ना ही नहीं चाहते—वह तामसी धृति है (३५)।

+ + +

उपरोक्त श्लोकों में भगवान् ने यह प्रतिपादन किया कि सबकी एकता के सात्विक ज्ञान-युक्त, सात्विक भाव से, सात्विक बुद्धि और सात्विक धृति द्वारा सात्विक कर्म करने से दुःख या बन्धन नहीं होता, प्रत्युत वे कर्म सुख एवं मोक्ष के हेतु होते हैं; और पृथक्ता अथवा मूढ़ता के राजस-तामस ज्ञान से, राजस-तामस भाव से, राजसी-तामसी बुद्धि और राजसी-तामसी धृति के द्वारा राजस-तामस कर्म करने से दुःख एवं बन्धन होता है। अब जिन लोगों का ख़याल है कि मनुष्य को वास्तविक आवश्यकता तो सुख-प्राप्ति की है, और वह सुख इन्द्रियों के विषय-भोगों में, तथा नींद, आलस्य और प्रमाद में पड़े रहने में प्रत्यक्ष ही दीखता है; अतः सात्विक ज्ञान, सात्विक कर्म आदि के झमेले में पड़ने की क्या आवश्यकता है?

निरन्तर विषय-भोगों में अथवा नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में ही क्यों न आयु बिताई जाय ? उनका उक्त भ्रम मिटाने के लिए भगवान् सुख के भी सात्विक, राजस और तामस भेद बताकर कहते हैं, कि आत्मज्ञान का सात्विक सुख ही सच्चा सुख है; विषय-भोग, नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में प्रतीत होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है, किन्तु वह तो सुखाभास मात्र है, अतः वह मिथ्या और दुःख का हेतु है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुख के भी तीन भेद मेरे से सुन, जिसमें अभ्यास द्वारा रमण करने अर्थात् वर्तने से दुःख का अन्त हो जाता है । तात्पर्य यह कि आगे के तीन श्लोकों में जो कहा है कि, सात्विक सुख पहले दुःखदायक प्रतीत होने पर भी उसका परिणाम अच्छा होता है, राजस सुख पहले अच्छा लगता है परन्तु उसके परिणाम में दुःख होता है, और तामस सुख मोह-रूप है—इस रहस्य को सदा स्मरण रखते हुए, तरह-तरह के सुखों में यथायोग्य वर्तते हुए भी मनुष्य को दुःख नहीं होता (३६) । जो पहले (साधन काल में) विष के समान प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है, वह आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से होने वाला सुख सात्विक कहा जाता है । तात्पर्य यह कि सच्चा सात्विक सुख वह है जो आत्मज्ञान के द्वारा अन्तःकरण की प्रसन्नता से होता है; वह यद्यपि पहले साधन-अवस्था में कडुआ अथवा नीरस प्रतीत होने के कारण ज़हर-सा लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत-सा होता है, क्योंकि आत्मा आनन्द-घन है, इसलिए आत्मा-नुभव का सुख अक्षय और एक-सा रहता है, और उस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख नहीं होता (३७) । इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने से जो सुख होता है, वह पहले (भोग-काल में) तो अमृत के समान प्रतीत होता है, पर परिणाम में ज़हर के तुल्य होता है—वह राजस सुख कहा गया है । तात्पर्य यह कि विषय-भोगों में

जो सुख प्रतीत होता है, उस सुख का अनुभव केवल भोग-काल ही में होता है, भोगों के अनन्तर वह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि उसके परिणाम में अवश्य ही दुःख होता है, और उसके नाश होने का भय बना रहता है, तथा दूसरों का सुख अपने से अधिक देख कर अन्तःकरण में जलन भी होती है; इसलिए वह दुःखमिश्रित एवं दुःख-परिणामवाला सुख* राजस सुख माना जाता है (३८)। जो सुख आरम्भ में तथा परिणाम में भी, अर्थात् सब अवस्थाओं में आत्मा को मोह में फँसाता है, और निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होने वाला है—वह (सुख) तामस कहा गया है। तात्पर्य यह कि नींद, आलस्य अथवा मूढ़ावस्था का जो सुख है, उससे बुद्धि विवेकशून्य रहती है, जिससे जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है; अतः उससे मनुष्य का सब प्रकार से पतन हो जाता है—वह तामस सुख कहा जाता है (३९)।

× × ×

कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग की तात्त्विक मीमांसा करके, तथा सात्त्विक भाव से कर्म करने की व्यवस्था देकर, कि जिससे सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ, सच्चे एवं अक्षय सुख को प्राप्त हो सकता है, अब भगवान् इस बात की फिर से पुष्टि करते हैं कि यह सारा विश्व सबके आत्मा = परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और इस खेल की सुव्यवस्था के लिए उक्त तीन गुणों के तारतम्य के अनुसार मनुष्यों की अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनाई गई है; उक्त व्यवस्था के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करने से न कोई कर्म उत्तम अथवा शुभ है, और न कोई कर्म निकृष्ट अथवा अशुभ है किन्तु सभी कर्म श्रेष्ठ ही होते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने-आपको सबके आत्मा = परमात्मा से अभिन्न—उसी का व्यष्टि-भावापन्न अंश अनुभव करता हुआ, इस खेल में अपना साझा समझ कर इसमें जो पार्ट अपने ज़िम्मे हो, उसे कर्मों के स्वामी-भाव से बजाकर इस खेल के सम्पादन में सहयोग दे।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

---

* पांचवें अध्याय के श्लोक २१ से २३ तक के स्पष्टीकरण में सुख-दुःख की व्याख्या देखिए।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अर्थ—पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओं में भी ऐसा कोई सत्त्व अर्थात् पदार्थ नहीं है, जो कि प्रकृति के इन तीन गुणों से रहित हो। तात्पर्य यह कि विश्व में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी पदार्थ हैं, वे सब त्रिगुणात्मक हैं, अर्थात् सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है—तीन गुणों से रहित कुछ भी नहीं है (४०)। हे परन्तप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार बँटे हुए हैं। तात्पर्य यह कि समाज की सुव्यवस्था के लिए तीनों गुणों की

कमी-वेशी के भेद के कारण मनुष्यों के जो अलग-अलग स्वभाव होते हैं, उनके अनुसार उनके चार विभाग किये गये हैं, जिनकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा रखी गई है, और उनके अलग-अलग गुणों के अनुसार उनके लिए अलग-अलग कर्तव्य-कर्म नियत किये गये हैं (४१)। शम* अर्थात् मन का संयम, दम* अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह, तप अर्थात् सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन का सात्विक तप यानी शिष्टाचार, शौच* अर्थात् भीतरी और बाहरी पवित्रता, क्षान्ति अर्थात् क्षमाशीलता*, आर्जव† अर्थात् सरलता, ज्ञान अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान, विज्ञान अर्थात् सांसारिक पदार्थों का तात्विक विज्ञान, और आस्तिकता अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा में विश्वास—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर में सत्वगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी स्वभाव ही से सांसारिक पदार्थों एवं विषयों में आसक्ति कम होती है, और वे श्रेष्ठाचारी, पवित्र, क्षमाशील, सरल स्वभाव वाले एवं आत्मविश्वासी होते हैं, और आत्मा-परमात्मा की एकता के ज्ञान और सांसारिक पदार्थों के विज्ञान (Science) में वे कुशल होते हैं। इसलिए उनमें शिक्षा-सम्बन्धी कामों की विशेष योग्यता होती है; अतः सदाचारयुक्त ज्ञान (अध्यात्म-विद्या) और विज्ञान (भौतिक पदार्थ-विद्या) की शिक्षा, प्रचार एवं नाना प्रकार के आविष्कार करने द्वारा, तथा उक्त ज्ञान-विज्ञान की उन्नति करने द्वारा, लोक-सेवा करने वाले ब्राह्मण वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (४२)। शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कार्य-कुशलता अथवा नीति-निपुणता, युद्ध में पीछे न हटना, दान देने की प्रवृत्ति और ईश्वर-भाव, अर्थात् ईश्वर की तरह सबकी एकता के प्रेम और साम्य-भाव से न्यायपूर्वक प्रजा का रक्षण और शासन करना—क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, सत्वगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनमें स्वभाव ही से शक्ति, साहस, निर्भीकता आदि गुणों की विशेषता होने के कारण वे शूरवीर, तेजस्वी, धैर्यवान्, नीति-निपुण, कार्य-कुशल, युद्ध से न घबड़ाने वाले, दान देने में उदार, और सबकी एकता के साम्य-भाव से प्रेम और न्याय-पूर्वक प्रजा का रक्षण और उस पर शासन करके समाज की सुव्यवस्था रखने योग्य होते हैं; इसलिए जनता की रक्षा एवं उस पर शासन करके समाज को सुव्यवस्थित रखने की लोक-सेवा करने वाले क्षत्रिय वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (४३)। खेती, गौपालन और व्यापार, वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; और सेवा

---

* शम, दम, शौच और क्षमा का स्पष्टीकरण बारहवें अध्याय में देखिए।

† आर्जव का स्पष्टीकरण सोलहवें अध्याय में देखिए।

करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, तमोगुण की समानता एवं सत्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें खेती करने, पशुओं का पालन करने, तथा वाणिज्य-व्यापार आदि द्वारा जन-समाज के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करके उनका व्यवसाय करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए लोगों के जीवन के उपयोगी पदार्थों की पूर्ति करने की लोक-सेवा करने वाले वैश्य वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है। और जिन मनुष्यों के शरीर में तमोगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और सत्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए कारीगरी, मज़दूरी आदि शारीरिक श्रम की लोक-सेवा करने वाले शूद्र वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है* (४४)। अपने-

* चार प्रधान वर्णों में से प्रत्येक में गुणों के न्यूनाधिक्य की मात्रा के अनुसार कार्य करने की योग्यता के बहुत से भेद होते हैं। जिस तरह, ब्राह्मण वर्ण में बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं, शास्त्राचार्यों, विज्ञानाचार्यों एवं आविष्कर्ताओं से लेकर, साधारण योग्यता के शिक्षकों आदि तक बहुत-सी श्रेणियाँ होती हैं। क्षत्रिय वर्ण में सम्राटों, राजा-महाराजाओं, जागीरदारों और आफ़िसरों से लेकर साधारण फ़ौजी सिपाहियों और चपरासियों तक अनेक दर्जे होते हैं। वैश्य वर्ण में बड़े-बड़े साहूकारों, कोठीदारों, कम्पनियों और कारखानों के धन-कुबेर मालिकों, दुकानदारों, फेरी करने वालों, एवं गुमाश्तों, दलालों, तथा खेती का काम करने वाले जमींदारों से लेकर छोटे-छोटे किसानों तक बहुत-से दर्जे होते हैं। इसी तरह शूद्र वर्ण में सूक्ष्म कलाओं, मशीनों एवं निर्माण-कला के चतुर इञ्जीनियरों से लेकर साधारण मज़दूरों, और कूड़ा-कर्कट साफ़ करने का हीन माना जाने वाला पेशा करने वाले लोगों तक बहुत-सी श्रेणियाँ होती हैं।

संसार में सभी भूत-प्राणियों के नर और मादा-रूप से दो भाग होते हैं, और दोनों के संयोग अथवा मेल से सृष्टि का सारा व्यापार होता है। अस्तु, मनुष्य-समाज के भी पुरुष और स्त्री-रूप से दो अङ्ग होते हैं, और दोनों के संयोग एवं मेल ही पर समाज का अस्तित्व निर्भर रहता है। पुरुष दाहिना अर्थात् प्रबल (विशेष शक्ति-सम्पन्न) अङ्ग है, और स्त्री बायाँ, अर्थात् निर्बल (कम शक्ति-सम्पन्न) अङ्ग है, अतः स्त्री अपने समान गुणों वाले पुरुष की सहधर्मिणी एवं सहचारिणी होती है। इसलिए स्त्री का वर्ण पुरुष से अलग नहीं रखा गया है; किन्तु जिस वर्ण अथवा जिस पेशे के पुरुष की वह सहधर्मिणी हो, उसी को सहयोग और सहायता देने और उसकी घर-गृहस्थी का कार्य करने द्वारा लोक-सेवा करना ही स्त्री के लिए नियत कर्म है।

अपने कर्मों में अच्छी तरह लगा हुआ मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है; अपने कर्मों में लगे रहने से जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है सो सुन। जिससे संसार की प्रवृत्ति हो रही है, और जिससे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है, उस (सबके आत्मा = परमात्मा) का अपने कर्मों द्वारा पूजन करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति करता हुआ स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा इच्छा-शक्ति से प्रवृत्ति-रूप होकर जगत् का सब खेल करता है, अतः यह जगत् प्रवृत्ति अथवा कर्म-रूप है; और सब भूत-प्राणी सबके आत्मा = परमात्मा से अभिन्न होते हैं, इस कारण अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करना सबके लिए आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है। सबके अपने-अपने कर्म करने से ही जगत्-रूपी खेल का सम्पादन ठीक-ठीक हो सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न शरीरधारी को अपने समष्टि-भाव के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा अपने समष्टि-भाव से सहयोग करने-रूप उसका पूजन अवश्य करना चाहिए। अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा-रूप यज्ञ करने ही से सबके समष्टि-भाव = परमात्मा का पूजन होता है, और इसी पूजन से व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करता हुआ, सब प्रकार के भेद मिटाकर अपने समष्टि (परमात्म) भाव का अनुभव करने रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति का यही यथार्थ साधन है और यही उसकी सच्ची उपासना है। इस अभेद-उपासना को छोड़ कर व्यक्तित्व के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए की जाने वाली नाना प्रकार की भेदोपासना से परमात्मा की सच्ची पूजा नहीं होती (४५-४६)। दूसरों के धर्म का आचरण (यदि) उत्तम (प्रतीत) हो, और उसकी अपेक्षा अपने धर्म का आचरण निकृष्ट (प्रतीत) हो तो भी (अपने लिए) वही श्रेष्ठ है; स्वाभाविक नियत कर्म करने से पाप नहीं लगता (४७)। हे कौन्तेय! स्वाभाविक कर्म यदि दोषयुक्त हो तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि सभी आरम्भ दोष से उसी तरह घिरे हुए हैं, जिस तरह धुएँ से अग्नि (४८)। सर्वत्र अनासक्त बुद्धि से मन को वश में किये हुए, एवं कामना से रहित (समत्वयोगी), सात्विक त्याग-रूप संन्यास के द्वारा निष्कर्म की परम सिद्धि को पाता है (४९)। श्लोक ४७ से ४९ तक का तात्पर्य यह है कि अर्जुन को युद्ध करने का अपना क्षात्र-धर्म पालन करने में निर्दयता और हिंसा आदि अनेक दोष प्रतीत होते थे, अतः उसे छोड़ कर अहिंसात्मक भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना उसको श्रेष्ठ जँचता था, यानी वह दूसरों के कर्म करने में प्रवृत्त होना

चाहता था। उसकी इस मानसिक दुर्बलता को दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं कि, जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त मनुष्यों के भिन्न-भिन्न गुणों की योग्यता के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनाई गई है, ताकि लोग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार अपने-अपने कर्म करके आपस में एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा करते हुए उन्नति करें और कल्याण को प्राप्त हों। इस प्रकार लोक-सेवा के भाव से करने पर उपरोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सबके कर्म अपने-अपने स्थान में आवश्यक अतः श्रेष्ठ होते हैं। जिसकी अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार जैसी योग्यता हो उसके लिए वे ही कर्म उत्तम हैं, इसलिए अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने में हिंसा आदि का कोई पाप नहीं लगता। इस संसार में ऐसा कोई व्यवहार नहीं है कि जो सर्वथा निर्दोष हो; क्योंकि संसार जोड़े के रूप में है, और गुण-दोष का भी जोड़ा होता है, अतः सभी व्यवहार गुण एवं दोष-युक्त ही होते हैं। किसी व्यवहार में कोई गुण होता है और कोई दोष, और किसी व्यवहार में दूसरा कोई गुण एवं दोष होता है। दोषयुक्त दृष्टि से देखने पर सभी व्यवहार दोषयुक्त प्रतीत होते हैं। वास्तव में कर्म में निज का न कोई गुण होता है और न कोई दोष; गुण अथवा दोष कर्ता के भाव से उत्पन्न होते हैं। जो कर्म दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त दूसरों के हित एवं समाज की सुव्यवस्था की अवहेलना करके किया जाता है, वह यदि ऊपर से निर्दोष प्रतीत होता हो तो भी वास्तव में वह सदोष ही होता है; और जो कर्म अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यतानुसार समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-सेवा के उद्देश्य से उपरोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के आधार पर किया जाता है, वह यदि हिंसा आदि के कारण दोषयुक्त प्रतीत होता हो, तो भी वास्तव में वह निर्दोष एवं श्रेष्ठ होता है; अतः उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति के बिना, एवं दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की चाहना से रहित होने के सात्विक त्याग-युक्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने वाला समत्वयोगी वस्तुतः अकर्ता ही होता है; उसको कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता, अतः वह सदा मुक्त रहता है (४७ से ४९)। हे कौन्तेय! (उपरोक्त निष्कर्म की) सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, और जो ज्ञान की परा निष्ठा है, सो संक्षेप में मेरे से जान। तात्पर्य यह कि पूर्वकथित अपनी-अपनी योग्यता के नियत कर्म करता हुआ मनुष्य सात्विक त्याग-रूप संन्यास द्वारा निष्कर्म की परम सिद्धि को पाता है,उसीसे ब्रह्म-भाव अथवा परमात्म-भाव में स्थिति होती है—यही ज्ञान की पूर्णावस्था है, और इसी बात को संक्षेप से फिर आगे कहते हैं (५०)। शुद्ध अर्थात् आत्मनिष्ठ सात्विक बुद्धि से सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़कर,

सात्विक धृति से अन्तःकरण का संयम करके, शब्दादिक विषयों की आसक्ति छोड़ कर, तथा राग और द्वेष को दूर करके, निरुपाधिक देश में रहने वाला, हलका भोजन करने वाला, वाणी, शरीर और मन को संयम में रखने वाला, एवं सदा ध्यान-योग में लगा रहने वाला, अर्थात् परमात्मा की सर्वव्यापकता का निरन्तर ध्यान रखने वाला, वैराग्य से युक्त हुआ, अहंकार, दुराग्रह, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममता से रहित, शान्त पुरुष ब्रह्म-स्वरूप होने के योग्य होता है (५१-५३)। ब्रह्म-भाव को प्राप्त हुआ, प्रसन्न अन्तःकरण वाला मनुष्य न शोक करता है, न आकांक्षा रखता है, (और) सब भूतों में सम होकर सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरी परा भक्ति को पाता है, अर्थात् भक्त और भगवान् का भेद मिटाकर आत्म-स्वरूप हो जाता है (५४)। "मैं" (सबका आत्मा) जो कुछ हूँ और जैसा हूँ, भक्ति के द्वारा (वह) मुझको तत्त्वतः जान लेता है; इस प्रकार मुझे यथार्थ रूप से जान लेने पर तुरन्त (मुझमें) समा जाता है (५५)। (सबके आत्मा-स्वरूप) मेरे आश्रय में रह कर अर्थात् आत्मा = परमात्मा की एकता के निश्चय के आधार पर सब कर्मों को करता हुआ भी (मनुष्य) मेरी अर्थात् सबके आत्मा—सबके वास्तविक आपकी प्रसन्नता से अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त होता है (५६)। श्लोक ५१ से ५६ तक का तात्पर्य यह है कि, श्लोक ४० से ५० तक परमात्मा की सर्वव्यापकता अर्थात् सबकी एकता के निश्चय-युक्त अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त होने का जो प्रतिपादन किया गया है, और उस सबकी एकता का अनुभव प्राप्त करने के लिए राज-योग के अभ्यास का जो साधन छठे अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है, उसीको भगवान् यहाँ संक्षेप से दुहराकर कहते हैं कि उस साधन से आत्मा = परमात्मा एवं अखिल विश्व की एकता का अनुभव प्राप्त होता है; अथवा सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक वर्णन की हुई सबके आत्मा = परमात्मा की भक्ति के द्वारा भी आत्मा = परमात्मा अथवा सबकी एकता का अनुभव होता है। आत्म-ज्ञान की परिभाषा में जिसे जीव-ब्रह्म की एकता के अनुभव-रूप ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, भक्ति की परिभाषा में उसे ही परमात्मा की परा भक्ति कहते हैं। यहाँ पर भगवान् इस बात को फिरसे अच्छी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि इस प्रकार आत्मा = परमात्मा के अभेद, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त करके भी, मनुष्य को अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म कभी नहीं छोड़ने चाहिएँ, किन्तु उक्त परमात्म-भाव की स्थिति ही में जगत्-रूपी अपने खेल की सुव्यवस्था के लिए अपने शरीर की योग्यता के कर्म स्वतंत्रता-पूर्वक करके अपने वास्तविक आप = आत्मा अथवा परमात्मा को प्रसन्न करना चाहिए; आत्मा अथवा

परमात्मा की प्रसन्नता ही से शान्ति, पुष्टि और तुष्टि-रूप शाश्वत पद की प्राप्ति होती है (५१ से ५६)। मन से सब कर्मों का मुझ में संन्यास करके, मेरे परायण हुआ, समत्व-बुद्धि का अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें ही चित्त को लगाये रख। मुझमें चित्त लगाये रखने से मेरी प्रसन्नता से तू सब कठिनाइयों एवं आपत्तियों से पार हो जायगा; परन्तु यदि तू अहंकार से नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझको अखिल विश्व में एक समान व्यापक समझने की साम्य-बुद्धि से, मेरे खेल-रूप इस जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करता हुआ, सबके एकत्व-भाव-स्वरूप मुझ परमात्मा में निरन्तर मन लगाये रख; ऐसा करने से, अपने कर्तव्य-कर्मों में हिंसा आदि के पाप का, धर्म-नाश का, तथा दूसरे अनेक प्रकार के संकटों का जो तुझे भय और शोक है, वह सब आत्मानुग्रह-रूप मेरी कृपा से दूर हो जायगा। परन्तु यदि तू अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार से अपने कर्तव्य-कर्म, सबकी एकता के साम्य-भाव से करने के मेरे इस उपदेश को नहीं मानेगा और युद्ध नहीं करेगा तो तेरा अवश्य ही सर्वनाश हो जायगा; क्योंकि अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार से अपने कर्तव्य से विमुख रहने वाले का यह लोक तथा परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं (५७-५८)। यदि अहं-कार के वश होकर तू ऐसा मानता है कि "मैं नहीं लड़ूँगा" तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, (क्योंकि) प्रकृति तुझे अवश्य (युद्ध में) लगावेगी (५९)। हे कौन्तेय! तू मोह के कारण जिसे, अर्थात् जिस कर्म को, नहीं करना चाहता है, उसे अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू विवश होकर करेगा (६०)। हे अर्जुन! ईश्वर अपनी माया से, (कर्मों के चक्र-रूप) यन्त्र पर चढ़े हुए सब भूत-प्राणियों को घुमाता हुआ सब भूत-प्राणियों के हृदय में स्थित है (६१)। हे भारत! तू सब प्रकार से उसी की शरण में जा; उसके प्रसाद से परम शान्ति के शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा (६२)। श्लोक ५९ से ६२ तक का तात्पर्य यह है कि परमात्मा एवं अखिल विश्व के साथ अपनी एकता के तथ्य पर दुर्लक्ष्य करके, अपने पृथक् व्यक्तित्व के देह-अभिमान से यदि कोई यह अहंकार करता है कि "मैं अपना कर्तव्य-कर्म नहीं करूँगा" तो यह उसका मिथ्या अहंकार है; क्योंकि यह शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने के कारण कर्म-रूप है, इसलिए जिस शरीर के जो स्वाभाविक गुण होते हैं, उनके अनुसार उसको कर्म करने ही पड़ते हैं; देहाभिमान रखते हुए कोई कर्मों की परम्परा से छूट नहीं सकता। यदि दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के देहाभिमान से कोई अपने स्वाभाविक कर्मों से हटना चाहता है तो उसका सर्वनाश हो जाता है; क्योंकि देह-अभिमान से प्रकृति की आधीनता दृढ होती है,

जिससे मनुष्य प्रकृति अथवा माया के बन्धनों में बंध जाता है, और बिना इच्छा के भी ज़बरदस्ती कर्म करने में घसीटा जाता है। सब शरीरों का स्वामी—आत्मा अथवा परमात्मा प्रत्येक शरीर के अन्तःकरण में रहता हुआ प्रत्येक शरीर के स्वभाव के अनुसार उससे चेष्टाएँ करवाता रहता है। अतः जो प्राणी अपने को आत्मा से पृथक् केवल मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियाँ, और इन सबका समूह-रूप एक विशेष शरीर ही मानता है—अपने को शरीर का स्वामी, शरीर का प्रेरक = आत्मा नहीं मानता—वह सदा परतन्त्रता से कर्मों के चक्कर पर चढ़ा हुआ भ्रमता ही रहता है। यदि वह किसी विशेष प्रकार के कर्म से जी चुराता है तो दूसरे प्रकार के कर्म में उलझता है। यदि अपने स्वाभाविक कर्म को व्यवस्थित रूप से नहीं करता तो अव्यवस्थित रूप से उसे करना पड़ता है; किन्तु देहाभिमानी प्राणी के शरीर का स्वभाव कभी छूट नहीं सकता—किसी न किसी रूप में स्वभाव का पालन अवश्य करना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य अपने को मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और इन्द्रियों आदि के समूह-रूप शरीर का स्वामी = आत्मा समझता है, वह शरीर द्वारा सब प्रकार के स्वाभाविक कर्म स्वतन्त्रता से विधिवत् करता हुआ भी उनके आधीन नहीं होता, किन्तु कर्मों को अपना खेल समझता है, इस कारण उसे कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता। इसलिए अपने को शरीरों का स्वामी = आत्मा समझ कर, सबके आत्मा = परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार को सबके एकत्व-भाव = ईश्वर में जोड़ कर इस संसार-रूपी खेल में अपने-अपने शरीर के स्वाभाविक कर्म सबको यथायोग्य अवश्य करना चाहिए, जिससे पूर्णतया शान्ति बनी रहे। पृथक्ता के व्यक्तित्व के अहंकार से अथवा देहाभिमान से शरीर के स्वाभाविक कर्म छोड़ने से कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती (५९ से ६२)।

इस प्रकार मैंने तुझे यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान कहा है; इस पर पूर्ण रूप से अच्छी तरह विचार करके (फिर) तेरी जो इच्छा हो वह कर। तात्पर्य यह कि अध्याय २ श्लोक ११ से लेकर अध्याय १८ श्लोक ६२ तक भगवान् ने अनेक दार्शनिक विचारों, सारगर्भित युक्तियों एवं व्यवहार-विज्ञान के आधार पर कर्तव्या-कर्तव्य का जो विस्तृत विवेचन किया है, वह बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर विचार का विषय है; इसलिए भगवान् कहते हैं कि इसको केवल सरसरी तौर से सुन कर अथवा पढ़ कर ही निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए; तथा ये "मेरे" वचन होने के कारण इनको अन्ध-श्रद्धा ही से प्रामाणिक नहीं मान लेना चाहिए; किन्तु आदि से लेकर अन्त तक इस उपदेश की प्रत्येक बात पर पूर्ण रूप से गहरा विचार करना चाहिए, और अच्छी तरह विचार करने के बाद फिर जिसको जो अच्छा लगे सो करे। इस कथन से स्पष्ट होता है कि गीता में अन्ध-श्रद्धा अथवा विचार-परतन्त्रता के लिए कुछ भी गुञ्जाइश

नहीं है। आरम्भ से लेकर अन्त तक इसमें बुद्धि-योग अथवा विचार-स्वतन्त्रता ही को प्रधानता दी गई है; यहाँ तक कि प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा, क्षमा, शम, दम, तप, त्याग, शौच, सरलता आदि दैवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणों में भी बुद्धि-योग, अर्थात् सबकी एकता की साम्य-बुद्धि का सम्पुट साथ-साथ लगाया हुआ है*। अर्जुन भगवान् का परम भक्त था, उनमें उसकी अचल श्रद्धा थी, इसलिए वे जो कुछ कह देते, उसे ही वह प्रमाण मान कर उसके अनुसार आचरण करता; परन्तु गीता का उपदेश, भेद-वाद के धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक शास्त्रों की तरह ऐसा संकुचित, अनुदार एवं दुर्बल नहीं है कि जिसके लिए अन्ध-विश्वास की आवश्यकता हो, और जो मनुष्य की बुद्धि को दबाकर उसे विचारशून्य पशु बना देवे। यह उपदेश इतना व्यापक, इतना उदार एवं इतना निःशंक है कि प्रत्येक मनुष्य—चाहे वह किसी भी जाति का हो, किसी भी धर्म, किसी भी सम्प्रदाय और किसी भी मत का अनुयायी हो, अथवा किसी भी देश का वासी हो—इसमें प्रतिपादित विषयों की युक्ति, तर्क एवं विचार द्वारा अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करे और फिर उसे जो अच्छा लगे सो करे। गीता का सिद्धांत है कि मनुष्य अपनी बुद्धि को सर्वथा शास्त्रों अथवा ग्रन्थों के सुपुर्द करके निश्चिन्त न हो जाय, किन्तु जो भी कुछ करे वह अच्छी तरह विचार-पूर्वक करे। दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में यही विशेषता है कि उसमें विचार-शक्ति का विकास होता है; इसलिए मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह प्रत्येक काम विचारपूर्वक करे। यदि मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का उपयोग न करके पशुओं की तरह अन्धाधुन्ध काम करे, अथवा सर्वथा दूसरे लोगों का अथवा शास्त्रों का अनुयायी होकर उनके वशवर्ती हो जाय तो वह एक प्रकार से पशु ही हो जाता है। ज्ञानी महापुरुष एवं सत्-शास्त्र मनुष्य को विचार करने में सहायता देने एवं बुद्धि बढ़ाने के लिए हैं, न कि उसकी बुद्धि अथवा विचार-शक्ति छीन कर उसे पशु बना देने के लिए (६३)।

× × ×

अर्जुन का मोह अर्थात् हृदय की दुर्बलता मिटाने के प्रसंग को लेकर प्रत्येक मनुष्य के लिए जीवन-यात्रा का जो श्रेयस्कर मार्ग है, वह भगवान् ने विस्तारपूर्वक यहाँ तक बताया, और उपदेश के आरम्भ में तथा बीच-बीच में भी बुद्धि-योग को प्रधानता देते हुए अन्तमें यही कहा कि "मैंने जो कुछ कहा है, उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर जो अच्छा लगे वह करो"—इस प्रकार सर्वत्र बुद्धि-योग अथवा विचार-स्वातन्त्र्य को प्रधानता दी। अब आगे के तीन श्लोकों में थोड़े-से

---

* बारहवें और सोलहवें अध्यायों में इन आचरणों का स्पष्टीकरण देखिए।

सारगर्भित एवं मार्मिक शब्दों में सारी गीता का निचोड़ कह कर इस उपदेश की समाप्ति करते हैं। इन अन्तिम शब्दों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता कि गीता कोरा धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अथवा मत-मतान्तरों का ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि बहुत-से लोग मानते हैं; किन्तु भगवान् का यह दिव्य एवं महान् क्रान्तिकारी उपदेश मनुष्य-मात्र को सब प्रकार की पराधीनताओं, अन्धविश्वासों, मानसिक दुर्बलताओं एवं दासताओं के बन्धनों से मुक्त करके पूर्ण निर्भय, निःशंक, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी एवं दृढ़-निश्चययुक्त कर्तव्यपरायण बना कर सब प्रकार की उन्नति के शिखर पर चढ़ाने वाला कर्तव्य-शास्त्र है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अर्थ—फिर भी (एक) सबसे अधिक गुह्य मेरा परम (रहस्यमय) वचन सुन, क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्यारा है, इसलिए मैं तेरे हित के निमित्त कहता हूँ। मुझमें मन वाला हो, अर्थात् मैं परमात्मा ही सब-कुछ हूँ, यह मन में दृढ़ निश्चय रख; मेरा भक्त हो, अर्थात् सबको एक ही परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ प्रेम कर; मेरा यजन कर, अर्थात् अखिल विश्व को मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य-कर्म कर; मेरी वन्दना कर, अर्थात् मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबको नमस्कार कर और सबके साथ नम्रता का व्यवहार कर; मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि, (ऐसा करने से) तू मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) को प्राप्त होगा; तू मुझ (सर्वात्मा) को बहुत प्यारा है, अर्थात् मेरा ही व्यष्टि-भाव है। सब धर्मों का परित्याग यानी पूर्णतया त्याग करके तू एक मेरी शरणमें आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। तात्पर्य यह कि भेद-भाव के साम्प्रदायिक धर्म-शास्त्रों के विधानानुसार अर्जुन को युद्ध करने से अपने जाति-धर्म और कुल-धर्म के नाश होने का, हत्या के पाप लगने का, नरकों में गिरने का, तथा पितरों के लिए पिण्डोदक क्रियाओं के लुप्त होने आदि का बड़ा भय तथा शोक हो रहा था (गी० अ० १ श्लोक ३६ से ४६); और अर्जुन की तरह दूसरे विचार-

शील कार्यकर्त्ता भी भेदवाद के शास्त्रों में वर्णित धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि विषयों की उलझनों में पड़े हुए इसी प्रकार शोक और मोह से ग्रसित रहते हैं; क्योंकि जैसा कि पहले कह आये हैं, भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों में कर्तव्य-अकर्तव्य अथवा धर्म-अधर्म की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है, और धर्म के स्वरूप का निर्णय एक-दूसरे से विलक्षण किया गया है—यहाँ तक कि अनेक स्थलों पर परस्पर-विरोधी निर्णय मिलते हैं, जिनसे विचारशील मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है (गी० अ० २ श्लोक ५२-५३)। इसलिए गीता में भगवान् ने अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय का निश्चित निर्णय करके इस अध्याय के श्लोक ६३ में कह दिया है, कि बुद्धिमान् मनुष्य को मेरे कहे हुए इस गूढ़ रहस्य पर अच्छी तरह विचार करके अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। अब उपदेश के अन्त में भगवान् सबके हित के लिए फिरसे थोड़े-से सारगर्भित वाक्यों में अपने निश्चित निर्णय को स्पष्ट शब्दों में साफ़-साफ़ दुहराते हैं, कि पृथक्ता के भावों को दृढ़ एवं पुष्ट करने वाले भेद-वाद के जितने साम्प्रदायिक धर्म अथवा मज़हब हैं, वे सब मनुष्य को अत्यन्त संकुचित सिद्धान्तों, अलग-अलग धार्मिक कर्मकाण्डों एवं ईश्वरोपासना की पृथक्-पृथक् व्यवस्थाओं, तथा परोक्ष स्वर्ग-नरक के अन्ध-विश्वासों में उलझाये रखते हैं, और अपनी-अपनी साम्प्रदायिक चार-दीवारी के पशु बनाये रख कर उनमें बाँधे रखते हैं—उस घेरे के बाहर निकल कर स्वतन्त्र विचार करने का अवकाश ही नहीं देते। इन साम्प्रदायिक धर्मों के जंजाल में रहने वाले मनुष्य, अपने शरीरों के जो स्वाभाविक धर्म होते हैं उनको भूल कर पीछेसे जोड़े हुए अथवा लगाये हुए कल्पित धर्मों में दृढ़ आसक्ति कर लेते हैं, जिनसे उनके पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ़ जाता है। जिस तरहः—"मैं अमुक धर्म अथवा अमुक मज़हब अथवा अमुक सम्प्रदाय अथवा अमुक मत का अनुयायी हूँ; मेरी अमुक जाति, अमुक कुल, अमुक आश्रम एवं अमुक पद है; मैं बड़ा कुलीन, बड़ा प्रतिष्ठित, बड़ा धर्मात्मा, बड़ा भक्त, बहुत पुण्यवान् एवं बहुत बुद्धिमान् हूँ" इत्यादि; और इस प्रकार के व्यक्तित्व के अहङ्कार से मनुष्य नाना प्रकार के बन्धनों में जकड़ा रहता है, जिनसे उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता, और न उसे अपने सच्चे स्वरूप—परमात्म-भाव के अनुभव-रूप सच्ची शान्ति अथवा मुक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को इन भेद-वाद के सारे धर्मों की उलझन से ऊपर उठ कर सबके एकत्व-भाव, सबके अपने-आप, सर्व-व्यापक, सबके आत्मा = परमात्मा की शरण लेनी चाहिए, अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव प्राप्त करना चाहिए; और नाना रूपों में प्रतीत होने वाले अखिल विश्व को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप समझ कर अपने पृथक् व्यक्तित्व को

सबके साथ जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार पृथक्ता के भावों से ऊपर उठ कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय-युक्त सबके साथ यथायोग्य प्रेम† का वर्ताव करने से तथा अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करने से अर्थात् अपने-अपने शरीरों की योग्यता के कर्तव्य-कर्म करते रहने से सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मनुष्य परमात्म-स्वरूप हो जाता है (६४-६६)।

स्पष्टीकरण—सबके आत्मा = परमात्मा के पूर्ण कला के अवतार, व्यावहारिक वेदान्त के मूर्तिमान् स्वरूप, पूर्ण समत्वयोगी भगवान् श्रीकृष्ण का दिया हुआ गीता का सार्वजनिक, सर्वहितकर, कल्याणकारी, निष्पक्ष, निःशङ्क एवं स्पष्ट उपदेश यहाँ पर समाप्त होता है। भगवान् के इस उपदेश के अन्तिम तीन श्लोक अत्यन्त ही मार्मिक रहस्य से भरे हुए हैं। अतएव प्रत्येक पाठक-पाठिका को इन तीन श्लोकों के "गुह्यतम परम रहस्य" मय भाव पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

अर्जुन अपने स्वजन-बान्धवों के मारे जाने की आशङ्का से प्रेम और दया से द्रवीभूत होकर अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध से खिन्न हो गया था और राज-पाट आदि सब-कुछ छोड़-छाड़ कर संन्यास लेकर भीख पर निर्वाह करने को तैयार हो गया था, और अहिंसात्मक सत्याग्रह करने का प्रस्ताव उसने भगवान् के सामने उपस्थित किया था। इस पर भगवान् ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश देकर, जगत् और समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के लिए सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने का उपदेश दिया। इस अठारहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा की हुई सब शङ्काओं का फिरसे संक्षेपतया समाधान करते हुए, संन्यास और त्याग का तत्त्व समझाया और हिंसा तथा अहिंसा, कर्मों के अच्छेपन और बुरेपन एवं धर्म और अधर्म आदि का विवेचन करके अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने की आवश्यकता और उसकी विधि का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया, और साथ ही यह भी कहा कि इस संसार में कोई भी मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने स्वाभाविक कर्म छोड़ नहीं सकता। यदि कोई कर्म-त्याग का मिथ्या अहङ्कार करता है तो सबके एकत्व-भाव = प्रकृति अथवा ईश्वर के आधीन होकर उसे ज़बरदस्ती अपने स्वाभाविक कर्म करने पड़ते हैं। अन्त में ६३ वें श्लोक में यह भी कहा है कि, "मैंने जो कुछ कहा है, उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर तुझे जो अच्छा लगे सो कर।"

प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा, क्षमा, त्याग, वैराग्य, संयम, सन्तोष, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, बन्धन, मोक्ष आदि का जिस तरह का अर्थ आम तौर से

† प्रेम का स्पष्टीकरण बारहवें अध्याय में देखिए।

लगाया जाता है, और जिनके लिए अर्जुन अपने कर्तव्य-कर्म से हटने को तैयार हुआ था, वे सब विशेष करके अव्यावहारिक धार्मिक भावनाओं पर अवलम्बित हैं। भेद-वाद के सभी साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों एवं मतों में यही उपदेश रहा करता है कि शत्रु, मित्र, सज्जन, दुर्जन, अपने, पराये—सबके साथ एक समान प्रेम का वर्ताव करो; प्राणीमात्र पर दया करो; दुष्टों, अन्यायियों, हिंसकों आदि की भी तन, मन और वचन से हिंसा मत करो; किसी को किसी प्रकार का कष्ट तन, मन और वचन से मत दो और किसी की हानि मत करो; यदि कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने करदो; अपने स्वत्वों और अधिकारों की परवाह मत करो; सब-कुछ मिथ्या समझ कर त्याग दो; संसार से वैराग्य करो; ब्रह्मचर्य रखो; सच बोलो; लोभ मत करो; दान-पुण्य करो; अपने (साम्प्रदायिक) धर्म का पूरी तरह पालन करो; इस तरह करने से स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष होगा; ऐसा न करने से नरक में गिरोगे, बन्धन में रहोगे, इत्यादि। सभी मत इन आचरणों को सदाचार (Morality) मानते हैं। परन्तु व्यवहार में सभी मज़हबों और मतों के अनुयायी इनका आचरण बहुत ही कम करते हैं—अधिकांश लोग इनके विपरीत आचरण करते हैं। ये धार्मिक व्यवस्थाएँ प्रायः कहने, सुनने और पुस्तकों में लिखी रहने मात्र के लिए ही रहती हैं। कारण यह कि, यद्यपि प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा आदि सात्विक गुण हैं, परन्तु ये वास्तव में सात्विक तभी होते हैं जब कि सारे विश्व की एकता के दृढ निश्चय से, अथवा सारे विश्व को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप समझकर इनका यथायोग्य साम्य-भाव से आचरण किया जाय*।

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्म (मज़हब) एवं मत इस सिद्धान्त की प्रायः उपेक्षा करते हैं कि यह विश्व सबके आत्मा = परमात्मा की त्रिगुणात्मक इच्छा अथवा प्रकृति का बनाव है, और इसमें जो भी कुछ है, सब अन्योन्याश्रित अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले तथा एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं; इसलिए कोई भी व्यक्ति अथवा समाज रजोगुण-तमोगुण से सर्वथा रहित होकर केवल सात्विक नहीं हो सकता, और न यह जगत् रजोगुण-तमोगुणप्रधान प्राणियों से शून्य हो सकता है। जिस व्यक्ति अथवा समाज में सत्वगुण की प्रधानता होती है उसमें एकता के भाव बढ़े हुए होते हैं; विद्या, बुद्धि और बल अर्थात् वीरता की अधिकता होती है; और वही व्यक्ति अथवा समाज रजोगुण-तमोगुणप्रधान प्राणियों पर शासन करता है और उनकी अपेक्षा अधिक सम्पत्तिशाली, अधिक सुखी और अधिक उन्नत होता है; और

---

* बारहवें और सोलहवें अध्यायों में इन भावों के सदुपयोग-दुरुपयोग का खुलासा देखिए।

वही अधिक जीवित रहता है। जो लोग इस तथ्य की उपेक्षा करके केवल भेद-वाद की धार्मिक भावनाओं के अनुसार पृथक्ता के भाव से उपरोक्त सात्विक आचरण करने का प्रयत्न करते हैं, वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति उनके प्रतिकूल होकर उनका पतन कर देती है। इसलिए मनुष्य की सच्ची मनुष्यता इसी में है कि वह भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की अव्यावहारिक भावनाओं की उलझन से निकल कर एवं तीन गुणों के उपरोक्त रहस्य को जान कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय से उन सात्विक आचरणों का यथायोग्य उपयोग करे। इसीसे मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान् अपने इस उपदेश के अन्त में इस बात को विशेष ज़ोर के साथ कहते हैं कि "पृथक्ता को दृढ़ करने वाले सब भेद-वाद के धर्मों को कतई छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आ; सबकी एकता-स्वरूप मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, सोच मत कर।"

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की कट्टरता के कारण संसार में बहुत ही अनर्थ हुए और हो रहे हैं। भारतवर्ष दीर्घकाल से भेदवाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रधान अड्डा हो रहा है, इसलिए इस देश की बड़ी दुर्दशा हुई है। इस देश की अधोगति का यदि कोई प्रधान कारण है, तो वह नाना प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों का अन्ध-विश्वास ही है। यहाँ के लोग इन साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन में इतने फँसे हुए हैं कि संसार के सारे व्यवहारों पर धर्म ही को प्रधानता देते हैं और "धर्मभीरु" होना बड़े गौरव की बात समझते हैं। परिणाम यह हुआ कि यहाँ की साधारण जनता वास्तव में ही "भीरु" हो गई और प्रत्येक काम में कल्पित अदृश्य बातों का वहम करने और डरने लगी—यहाँ तक कि स्वतन्त्र विचार करने की हिम्मत भी इसमें नहीं रही। "यतो धर्मस्ततो जयः" तथा "धर्मो रक्षति रक्षितः" के नारे दिन-रात लगते रहने पर भी, हज़ारों साम्प्रदायिक धर्मों में से किसी ने इस देश की सहायता नहीं की और यह देश पराधीन एवं पीछे पड़ा हुआ, तरह-तरह के अत्याचारों का शिकार हो रहा है। इसलिए भारतवासियों को भगवान् का यह अन्तिम उपदेश अच्छी तरह हृदय से धारण करना चाहिए और अनेकता को बढ़ाने तथा दृढ़ करने वाले सब धर्मों को छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप भगवान् की शरण में जाने का विश्व-धर्म धारण करना चाहिए, अर्थात् आपस की फूट मिटाकर पूर्ण रूप से एकता करके, विद्या, बुद्धि और बल (वीरता) को बढ़ाना और सुसंगठित होना चाहिए। ऐसा करने से ही देश का उद्धार हो सकता है।

वर्तमान समय में "अहिंसात्मक सत्याग्रह" के सिद्धान्त पर बड़ा ज़ोर दिया

जा रहा है। यह भी एक प्रकार की धार्मिक भावना ही है; परन्तु यह सिद्धान्त नवीन नहीं है। अर्जुन को भी "हिंसात्मक सत्याग्रह" की ही सूझी थी; इसीलिए पहले अध्याय के ४५ वें श्लोक में उसने प्रस्ताव किया है कि "यदि मैं प्रतीकार से रहित होकर शस्त्र छोड़ दूँ और कौरव मुझे युद्ध में मार दें तो बहुत श्रेयस्कर होगा।" इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे बहुत फटकारा और इस प्रस्ताव को श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य नपुंसकता, और तुच्छ हृदय की दुर्बलता (कायरता) कह कर इसका खण्डन कर दिया और वीरता-पूर्वक युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा दी। वास्तव में इस संसार में सब-कुछ एक दूसरे के आश्रित यानी भोक्ता-भोग्य होने के कारण अहिंसा का जैसा अर्थ वर्तमान में लगाया जाता है, उस तरह सर्वथा अहिंसात्मक कोई भी नहीं हो सकता। **संसार में वे ही व्यक्ति अथवा समाज सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं, जिनमें पारस्परिक एकता हो और जो बुद्धिमान्, विद्वान् और बलवान् (वीर) हों। गीता के अन्तिम श्लोक में भी यही बात कही है कि "जहाँ सबकी एकता-स्वरूप योगेश्वर कृष्ण हैं, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति-स्वरूप धनुर्धारी अर्जुन है, वहाँ ही लक्ष्मी, विजय, वैभव और अटल नीति है।" यदि हम लोगों में ये गुण हैं तो हमको इनका सम्पादन करना चाहिए; क्योंकि इनके बिना हमारा सच्चा और स्थायी उद्धार कभी नहीं हो सकता।**

गीता पर जितनी टीकाएँ हैं, वे प्रायः किसी न किसी प्रकार की साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक (मज़हबी) अथवा मत-मतान्तरों की भावनाओं को लिये हुए हैं। इसलिए ६६ वें श्लोक के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' वाक्य को किसी में भी समुचित महत्त्व नहीं दिया गया है। सभी टीकाकारों ने खींचा-तानी करके अपने-अपने साम्प्रदायिक धर्मों एवं मतों को भगवान् के इस क्रान्तिकारी महा-वाक्य से बचाने की कोशिश की है; और 'मामेकं शरणं व्रज' वाक्य का, (जगत् से अलग) एक ईश्वर के शरण होने का अर्थ करके गीता का भक्ति-प्रधान उपसंहार माना है। परन्तु, जैसा कि गीता में सर्वत्र कहा गया है, यह एक व्यावहारिक वेदान्त का कर्तव्य-शास्त्र है, और इसमें सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करने का प्रतिपादन है; और जब कि इसके अन्त में भगवान् यह ज़ोरदार भूमिका बाँध कर कि "सबसे गुह्यतम मेरे परम रहस्यमय वचन फिर से सुन, तू मेरा अत्यन्त प्यारा है, इसलिए तेरे हित के लिए मैं कहता हूँ," फिर उसके बाद "सर्वधर्मान् परित्यज्य" का उपदेश देते हैं, तो इसी से इन वाक्यों का महत्त्व अच्छी तरह स्पष्ट होता है; और 'धर्मान्' के पहले 'सर्व' शब्द और 'त्यज्य' के पहले 'परि' उपसर्ग, इनके महत्त्व को और भी अधिक पुष्ट और दृढ़ करते हैं। सारांश यह कि

भगवान् की असंदिग्ध शब्दों में स्पष्ट घोषणा है कि भेद-वाद के सब साम्प्रदायिक-धर्मों को कतई छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आओ—अर्थात् सारे विश्व को सबके आत्मा = परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर विश्व की एकता के अनुभव-रूप विश्व-धर्म को स्वीकार करो, और अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करो; ऐसा करने से कोई पाप या बन्धन शेष नहीं रहेगा।

× × ×

गीता का उपदेश समाप्त करके भगवान् अब इसका माहात्म्य कहते हैं:—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

अर्थ—तप नहीं करने वाले को, भक्ति नहीं करने वाले को, सुनने की इच्छा नहीं रखने वाले को, तथा जो मेरी निन्दा करता है उसको, यह (गुह्य ज्ञान) तुझे कभी न कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि सबकी एकता के ज्ञान-युक्त सांसारिक व्यवहार करने के समत्व-योग अथवा व्यावहारिक वेदान्त के उपरोक्त उपदेश का पात्र वही होता है, जो कि सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्विक तप यानी शिष्टाचार से युक्त हो; जिसके अन्तःकरण में परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् के साथ प्रेम हो; और जिसको इस उपदेश के सुनने की सच्ची जिज्ञासा हो; तथा जिसकी भगवान् श्रीकृष्ण में श्रद्धा हो—ऐसे पुरुषों को ही उपदेश देने से लाभ होता है। इसके विपरीत गुणों वाले पुरुषों को इस गूढ़ ज्ञान का उपदेश देना निरर्थक ही नहीं किन्तु अनेक अवसरों पर बहुत हानिकर होता है; क्योंकि वे लोग इस रहस्य को ठीक-ठीक समझ नहीं सकते, अतः इसका उलटा अर्थ लगाकर बड़ा अनर्थ कर सकते हैं; इसलिए ऐसे लोगों को यह उपदेश कदापि नहीं देना चाहिए। किन्तु इस उपदेश को सुनने की इच्छा रखने वालों में पहले शिष्टाचार, प्रेम, जिज्ञासा और भगवान् श्रीकृष्ण में श्रद्धा उत्पन्न करके फिर उन्हें इसका रहस्य कहना चाहिए (६७)। जो इस परम गुह्य (रहस्य) को मेरे भक्तों को समझा कर कहेगा, वह मेरी परा भक्ति करके निस्संदेह मुझे ही प्राप्त होगा। मनुष्यों में उससे अधिक दूसरा कोई भी मेरा अतिशय प्रिय

करने वाला नहीं है, और न पृथ्वी में दूसरा कोई मुझे उससे अधिक प्रिय होगा। तात्पर्य यह कि जो योग्य पात्रों को मेरे इस अतीव गूढ़ उपदेश के रहस्य को अच्छी तरह समझा कर कहेगा और इस ज्ञान का प्रचार करेगा, वह मेरा परम भक्त होगा, उसके जैसा मेरा प्रिय कार्य करने वाला दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, और न भूमण्डल में उससे अधिक कोई मुझे विशेष प्यारा कभी होगा। इस गीता-ज्ञान का प्रचार करने वाला ही मेरा सच्चा भक्त है, अतः वह मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा (६८-६९)। जो कोई हम दोनों के इस धर्म-रूप संवाद का अध्ययन करेगा, "उसने ज्ञान-यज्ञ से मेरी पूजा की है" ऐसा मैं मानूँगा। और जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त, एवं दोष-दृष्टि से रहित होकर (इसको) सुनेगा, वह भी (पापों से) छूट कर पुण्य-कर्म करने वालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि जो इस गीता-शास्त्र का अच्छी तरह विचार-पूर्वक अध्ययन करेगा, वह आत्म-ज्ञान के अभ्यास में लगने के कारण सबके आत्मा = परमात्मा का ज्ञान-यज्ञ द्वारा पूजन करेगा; और जो इसको श्रद्धा और आदर-पूर्वक एकाग्र-चित्त से सुनेगा, वह भी बुरे कर्म करना छोड़ कर श्रेष्ठ आचरणों में लगेगा, इसलिए उसकी भी श्रेष्ठ गति होगी (७०-७१)। हे पार्थ ! क्या तूने एकाग्र-चित्त से यह उपदेश सुना है ? और हे धनञ्जय ! क्या तेरा अज्ञान और कर्तव्याकर्तव्य का मोह पूर्णतया नष्ट हो गया है ? तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते हैं कि देहाभिमान से उत्पन्न, तेरे हृदय की दुर्बलता और मोह के मिटाने के उद्देश्य से जो गीता का उपदेश सुनाया गया, उसे तूने अच्छी तरह ध्यानपूर्वक दत्तचित्त होकर सुना कि नहीं ? और उससे तेरे हृदय की दुर्बलता और मोह मिटाने का प्रयोजन सिद्ध हुआ कि नहीं (७२) ? अर्जुन बोला कि हे अच्युत ! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे (अपने स्वरूप की) स्मृति प्राप्त हुई; मैं संदेह से रहित होकर स्थित हूँ; आपका कहना करूँगा। तात्पर्य यह कि भगवान् के प्रश्न के उत्तर में अर्जुन कहता है कि देहाभिमान के कारण मुझे अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का अज्ञान हो जाने से हृदय दुर्बल होकर कर्तव्याकर्तव्य के विषय में जो मोह हो गया था, वह अपने वास्तविक स्वरूप की पुनः स्मृति हो आने से दूर हो गया; अब मुझे कुछ भी संदेह नहीं रहा है, अतः आपने जो उपदेश दिया है उसी के अनुसार मैं करूँगा (७३)।

सञ्जय बोला कि इस प्रकार वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन के अद्भुत एवं रोमांच उत्पन्न करने वाले इस संवाद को मैंने सुना। श्री वेदव्यास की कृपा से मैंने यह परम गुह्य समत्व-योग स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को कहते हुए साक्षात् सुना। हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और कल्याणकर

संवाद को स्मरण कर-कर के मैं बार-बार हर्षित होता हूँ; और हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के अत्यन्त अद्भुत उस रूप को याद कर-कर के भी मुझे महान् आश्चर्य और बार-बार हर्ष होता है। तात्पर्य यह कि सञ्जय, महाराज धृतराष्ट्र से कहता है कि महर्षि वेदव्यास ने कृपा करके जो मुझे मनो-योग की दिव्य-दृष्टि दी, उससे मैंने, स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कहे हुए समत्व-योग के इस आश्चर्यजनक और अत्यन्त गुह्य उपदेश को प्रत्यक्ष सुना, जिससे मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो रहा है, और इस कल्याणकर संवाद को याद करके मैं रह-रह कर हर्षित हो रहा हूँ; तथा भगवान् ने अर्जुन को जो अपना अद्भुत विश्वरूप दिखाया, उसे भी मैंने उक्त मनो-योग की दिव्य-दृष्टि से देखा, जिसे याद कर-करके मुझे उसकी अलौकिकता के कारण अतीव आश्चर्य हो रहा है, और साथ-साथ उससे सबकी एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण हर्ष भी हो रहा है (७४-७७)।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है, वहाँ लक्ष्मी एवं शोभा, विजय, वैभव एवं ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है—ऐसा मेरा मत है। तात्पर्य यह कि जहाँ सबकी एकता के साम्य-भाव की पूर्णता-स्वरूप महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ युक्तिसहित शक्ति-स्वरूप अर्जुन है; दूसरे शब्दों में जहाँ सबकी एकता का साम्य-भाव है और जहाँ विद्या, बुद्धि और बल है, वहाँ ही निश्चयपूर्वक राज-लक्ष्मी रहती है, वहीं सब प्रकार की शोभा और कीर्ति है, वहीं विजय होती है, वहीं वैभव और ऐश्वर्य है और वहीं अटल नीति है। जहाँ एकता नहीं, तथा विद्या, बुद्धि और बल नहीं, वहाँ दरिद्रता, अकीर्ति, पराजय, दासता, दीनता और मूर्खता का अविचल साम्राज्य रहता है (७८)।

॥ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

※ गीता का व्यावहारिक अर्थ समाप्त ※

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥
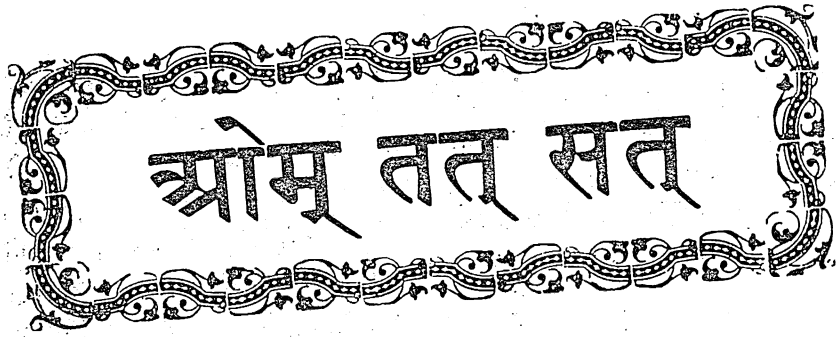
ओम् तत् सत

सेठ रामगोपाल जी मोहता

की

लिखी हुई गीता-सम्बन्धी

दूसरी पुस्तक

"गीता-विज्ञान"

पृष्ठ संख्या—८४

छपाई व कागज—अति सुन्दर

दाम डाक-व्यय सहित—सिर्फ =)॥

दूसरा परिवर्धित और संशोधित संस्करण १०,०००

पहला संस्करण हरद्वार के कुम्भ के अवसर पर ८ हज़ार छापा गया था। उसके हाथों-हाथ समाप्त हो जाने के बाद यह दूसरा संस्करण १० हज़ार छापा गया है। पिता-पुत्र के संवाद-रूप में गीता के अनुसार संसार के व्यवहार करने का बहुत संक्षिप्त, सरल और सुन्दर खुलासा हृदयग्राही ढंग से इस छोटी-सी पुस्तिका में किया गया है। विद्यार्थियों, नवयुवकों और साधारण पढ़े-लिखे लोगों के लिए यह पुस्तिका गीता का वास्तविक रहस्य समझने के लिए पूरी तरह सहायक हो सकती है। जब कि युवकों में नास्तिकवाद की प्रवृत्ति बढ़कर धर्म-कर्म और शास्त्रों पर से उनका विश्वास उठता चला जा रहा है, तब ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकों की विशेष ज़रूरत है। यह छोटी-सी पुस्तक युवकों में श्रद्धा, सच्ची आस्तिकता और आत्म-विश्वास की भावना फूँकने और उनका चरित्र-निर्माण करने में विशेष रूप से सहायक हो सकती है।

पुस्तक को छोटे-छोटे ४३ भागों में गीता में वर्णित विषयों के अनुसार बाँटा गया है। इससे यह और भी सरल, सुन्दर और हृदयग्राही बन गई है।

निवेदन

केवल प्रचार की दृष्टि से और कम से कम साधनवान् के लिए भी उन्हें सुलभ बनाने के लिए पुस्तकों की कीमत नाममात्र रखी गई है। आपके शहर के पुस्तक-विक्रेता के पास न मिले, तो नीचे के पते से पुस्तकों के दाम के टिकिट या मनीआर्डर से नियत दाम भेज कर मँगा लीजिए। वी० पी० से मँगाने में ५-६ आना अधिक खर्च आयगा, इसलिए वी० पी० का आर्डर मत दीजिए। कुछ मित्र मिल कर एक साथ अधिक पुस्तकें मँगावें, तो और भी अधिक सुभीता रहेगा।

अधिक पुस्तकें मँगाने पर उचित रियायत दी जाती है। अधिक प्रतियाँ रेल से भेजी जा सकती हैं। इसलिए डाक-खर्च की अपेक्षा पुस्तकें भेजने में खर्च भी कम पड़ता है। पुस्तक-विक्रेताओं और एजेण्टों को भी यह रियायत दी जाती है।

पुस्तक-विक्रेताओं को "गीता का व्यवहार-दर्शन" की कम से कम ३ और "गीता-विज्ञान" की कम से कम १६ प्रतियाँ मँगानी चाहिएँ।

पुस्तक मिलने का पताः—

"गीता-विज्ञान"—कार्यालय
४० ए, हनुमान रोड,
नई दिल्ली।